MA HINDI-104(H

साहित्यक निबन्ध

DIRECTORATE OF DISTANCE EDUCATION

SWAMI VIVEKANAND
SUBHARTI UNIVERSITY
Meerut (National Capital Region Delhi)

साहित्यिक निबन्ध

MA HINDI–104(H)

Self Learning Material

Directorate of Distance Education

SWAMI VIVEKANAND SUBHARTI UNIVERSITY
MEERUT–250 005
UTTAR PRADESH

SLM Module Developed by :
Avdesh Sharma

Reviewed by :
Dr. Seema Sharma

Assessed by :
Study Material Assessment Committee, as per the SVSU ordinance No. VI (2)

Copyright © साहित्यिक निबन्ध Pragati Prakashan, Meerut

No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any meaning now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior permission from the publisher.

Information contained in this book has been published by Pragati Prakashan, Meerut and has been obtained by its authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the publisher and its author shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specially disclaim and implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by : Pragati Prakashan, 240 W.K. Road, Meerut – 250 001
Tel. 2640642, 2643636, 6544643, E-mail : pragatiprakashan@gmail.com

Typeset at : Pragati Laser Type Setters Pvt. Ltd., Meerut Printed at : Arihant Electric Press, Meerut

EDITION : 2020

Syllabus

उदेश्य –

- छात्र निबन्ध के स्वरूपों एव तत्वों का ज्ञान प्रात्त कर सकेगें।
- छात्र हिन्दी और भारतीय नाट्य क्षेंत्र में मोहन राकेश के योगदान का ज्ञान प्राप्त कर सकेगें

पाठ्यकम

ईकाई–1

- साहित्यिक निबन्ध – डॉ0 प्रताप नारायण टण्डन
- साहित्यिक निबंन्ध – डॉ0 गणपत चन्द्रगुप्त
- साहित्यिक निबन्ध – डॉ0 राजनाथ शर्मा
- साहित्यिक निबन्ध – डॉ0 सत्येन्द्र
- साहित्यिक निबन्ध – डॉ0 त्रिभुवन सिंह

ईकाई–2

- विशेष साहित्यकार : नाटककार मोहन राकेष
- विशेष साहित्यकार : नाटककार मोहन राकेष
- भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टि से नाटक के स्वरूप एवं तत्वों का परिचय
- मोहन राकेश कें व्यक्तित्व और कृतित्व
- हिन्दी नाट्य परंपरा का सामान्य परिचय–स्वातंत्र्योत्तर नाटक

ईकाई–3

- मोहन राकेश का नाट्य चिंतन
- मोहन राकेश की नाट्यकला : कथ्य–आधुनिक संवेदना, चरित्रांकन भाषा–संवाद योजना, मंचीयता
- हिन्दी और भारतीय नाट्य क्षेत्र में मोहन राकेश का योगदान

ईकाई–4

- मोहन राकेष का नाट्य चिंतन
- मोहन राकेष की नाट्यकला : कथ्य– आधुनिक संवेदना, चरित्रांकन भाषा–संवाद योजना, मंचीयता
- हिन्दी और भारतीय नाट्यक्षेत्र में मोहन राकेश का योगदान

विषय-सूची

1. हिन्दी नाट्य साहित्य का विकास 1-8
   1.1 प्रस्तावना
   1.2 उद्देश्य
   1.3. नाटक
   1.4. नाटक का वैशिष्ट्य
   1.5. संस्कृत नाट्य परम्परा
   1.6. लोकनाट्य और हिंदी नाट्य परम्परा
   1.7. हिन्दी नाट्य परम्परा
2. आधुनिक युग में हिन्दी नाट्य साहित्य का विकास और स्वरूप 9-17
   2.1 प्रस्तावना
   2.2 नाटक साहित्य और आधुनिक काल का स्वरूप
   2.3. भारतेन्दु युग में नाटक का स्वरूप
   2.4. प्रसाद युग में नाटकस
   2.5. प्रसादोत्तर युग
   2.6. स्वातन्त्र्योत्तर युग
   2.7. उपसंहार
3. मोहन राकेश : व्यक्तित्व एवं कृतित्व 18-55
   3.1 प्रस्तावना
   3.2 व्यक्तित्व
   3.3 कृतित्व
   3.4 कथेत्तर साहित्य
   3.5 निष्कर्ष
4. विशेष साहित्यकार : नाटककार मोहन राकेश 56-76
   4.1 प्रस्तावना
   4.2 मोहन राकेश के नाटक और रंगमंच की परिकल्पना
   4.3. नाटक और रंगमंच का संबंध
   4.4. नाटकों के प्रस्तुतिकरण को लेकर मोहन राकेश
   4.5. मोहन राकेश के नाटकों का मंचन
   4.6. मोहन राकेश के नाटक और रंगमंच
   4.7. मोहन राकेश के नाटकों में रंगमंचीय नए प्रयोग
   4.8. मोहन राकेश के नाटकों में दृश्य विधान में संकेत
   4.9. नाटक की रचना-प्रक्रिया तथा अभिनेयता
   4.10. मोहन राकेश का नाट्य-चिंतन रंगमंच सम्बन्धी अवधारणा
   4.11. मोहन राकेश का रंगमंचीय निर्देश
   4.12. ध्वनि संयोजन
   4.13. संगीत योजना
   4.14. वेशभूषा तथा रूप विन्यास
   4.15. अभिनय और अभिनेता
   4.16. रंगशिल्पगत तुलनात्मक अध्ययन
   4.17. रंगमंच और शिल्प
   4.18. रंगदीपन
   4.19. शब्द और रंग का मेल
   4.20. समकालीन हिन्दी रंगमंच और मोहन राकेश के नाटक
   4.21. उपसंहार
5. मोहन राकेश के नाटक और शिल्पगत दृष्टिकोण 77-84
   5.1. प्रस्तावना
   5.2 इतिहास और मिथक
   5.3. रंग निर्देश : रंगमंचीय नवीनता
   5.4. नाट्य शिल्प : नवीन शिल्प की खोज, प्रयत्न
   5.5. भाषा सौन्दर्य
   5.6. सम्वाद सौष्ठव
6. नाटक रचना प्रक्रिया : राकेश मोहन 85-110
   6.1. प्रस्तावना
   6.2. नाट्य वस्तु और विन्यास शिल्प
   6.3. चरित्र परिकल्पना और संरचना
   6.4. रसानुभूति का स्वरूप
   6.5. वस्तु संप्रेक्षण और रंगतंत्र पहचान
   6.6. नाट्य भाषा के विविध पक्षों की पहचान
   6.7. हरकत की भाषा
   6.8. प्रेक्षक संदर्भ और नाट्य संरचना
   6.9. नाटकीय संरचना
7. मोहन राकेश का नाट्य चिंतन 111-13
   7.1. प्रस्तावना
   7.2. कहानी साहित्य
   7.3. उपन्यास साहित्य
   7.4. निबंध साहित्य
   7.5. यात्रा विवरण, संस्मरण, डायरी और अनुवाद साहित्य
   7.6. नाटक एवं एकांकी साहित्य
   7.7. मोहन राकेश के नाटकों में जीवन सत्य
   7.8. मोहन राकेश के नाटकों में अस्तित्ववादी चिंतन
   7.9. मोहन राकेश के नाटकों में साहित्यिक चिंतन
   7.10. नाटककार और रंगमंच
   7.11. नाटक रचना प्रक्रिया
   7.12. नाटक भाषा योजना
8. मोहन राकेश की नाट्य कला 131-145
   8.1. प्रस्तावना
   8.2. मोहन राकेश के नाटक
   8.3. आधाढ़ का एक दिन
   8.4. लहरों के राजहंस कथा वस्तु का क्रमिक विकास
   8.5. आधे अधूरे
   8.6. पैर तले जमीन
9. आषाढ का एक दिन : एक विवेचना 146-171
   9.1. प्रस्तावना
   9.2. आषाढ का एक दिन-तात्विक विवेचन
   9.3. वस्तु-योजना
   9.4. पात्र का चरित्र-चित्रण
   9.5. कथोप कथन अथवा संवाद-योजना
   9.6. देशकाल वातावरण
   9.7. भाषा-शैली
   9.8. कहानी का उदेदश्य अथवा संवाद
   9.9. रंगमंच और अभिनेयता
   9.9. रंगमंच और अभिनेयता
   9.10. नाटक का सांराश
10. लहरों के राजहंस : एक विवेचना 172-239
   10.1 प्रस्तावना
   10.2 नाटक की कथावस्तु
   10.3 लहरों के राजहंस-प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दर्शन
   10.4 नाम की सार्थकता
   10.5 प्रतीकात्मकता
   10.6 काल्पनिकता एवं ऐतिहासिकता
   10.7 लहरो के राजहंस-उद्देश्य अथवा प्रतिपाद्य
   10.8 कथोपकथन अथवा संवाद-योजना
   10.9. लहरों के राजहंस-भाषा-शैली
   10.10 लहरों के राजहंस - और अभिनेयता
   10.11 लहरों के राजहंस की रंगमंचीयत
   10.12 पात्र का चरित्र-चित्रण
   10.13 श्यामसांग-अर्थवत्ता
11. आधे-अधूरे : नाटक में अभिव्यक्त संवेदना एवं शिल्प 240-300
   11.1 प्रस्तावना
   11.2 संवेदना की विविध परिभाषाएँ
   11.3 संवेदना की अवधारणा
   11.4 संवदेना के विविध रूप और 'आधे-अधूरे'
   11.5 आधे-अधूरे की अभिनेयता
   11.6 आधे-अधूरे की सम्वाद योजना
   11.7 आधे-अधूरे : उद्देश्य अथवा प्रतिपाद्य
   11.8 आधे-अधूरे : आधुनिकता
   11.9 आधे-अधूरे : युगबोध
   11.10 आधे-अधूरे : प्रयोगधर्मिता
   11.11 आधे-अधूरे की भाषा शैली
   11.12 पात्रों का चरित्र-चित्रण
   11.13 आधे-अधूरे और आधुनिक जीवन के प्रश्न
   11.14 आधे-अधूरे : चरित्र और समाज
   11.15 आधे-अधूरे और नाटकीय रंगमंचीय संदर्भ

इकाई

1

हिन्दी नाट्य साहित्य का विकास

संरचना

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3. नाटक
1.3.1 नाटक : अवधारणा एवं विकास यात्रा
1.3.2. अवधारणा एवं वैषिष्ट्य
1.3.3. नाटक की व्याख्या
1.4. नाटक का वैशिष्ट्य
1.5. संस्कृत नाट्य परम्परा
1.6. लोकनाट्य और हिंदी नाट्य परम्परा
1.7. हिन्दी नाट्य परम्परा

1.1. प्रस्तावना

सूर और तुलसी का भक्ति काल में जो स्थान है वही स्थान आधुनिक साहित्य में जयशंकर प्रसाद का है। प्रसाद जी ने हिन्दी साहित्य को व्यापक दृष्टिकोण और नवीन विषय प्रदान किया। प्रसाद जी ने द्विवेदी युगीन काव्यादर्श के विरूद्ध विद्रोह कर नवीन काव्य-धारा और गद्य विधाओं का लेखन प्रारम्भ किया, समकालीन समस्याओं के निराकरण के लिए प्रसाद ने प्राचीन भारतीय इतिहास का आश्रय लिया है। जयशंकर प्रसाद की गणना आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ कवियों में की जाती है, प्रसाद मूलत: कवि हैं परन्तु उन्होंने साहित्य की प्रत्येक विधा की रचना की है। कवि के पश्चात उनका नाटककार स्वरूप सर्वाधिक चर्चित रहा है। भारतीय साहित्य के इतिहास में 'नाटक' को पूर्ण साहित्य की गरिमा दी गयी है कहानी, कविता, नाटक में स्वत: ही समाहित हो जाते हैं। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में 'नाटक' की विस्तृत व्याख्या की गयी है। इस इकाई में आपको नाटक के स्वरूप, हिन्दी नाटक के इतिहास की विस्तृत जानकारी दी जा रही है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात आप—

- नाटक के स्वरूप को पहचान सकेंगे
- नाटके के सर्वमान्य तत्त्वों को जान सकेंगे
- हिन्दी नाटक के उद्भव को जान सकेंगे
- हिन्दी नाट्य साहित्य के विभिन्न चरणों का क्रमबद्ध ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे

1.3.1. नाटक : अवधारणा एवं विकास यात्रा

'नाटक' साहित्य की सर्वाधिक सशक्त एवं प्रभावशाली विधा है। नाटक दृश्य काव्य है। श्राव्य एवं दृ काव्यों में नाटक श्रेष्ट है। यह पंचमवेदन के नाम से जाना जाता है। रंगमंच इसका प्राण तत्व है। नाटक ह पाठकों एवं दर्शकों को सानुभूति होती है। रसानुभूति का अर्थ है अपना अस्तित्व भूलकर तन्मय हो जाना, आ से सामाजिक अपना तादात्मय स्थापित कर लेता है। नाटक की उपादेयता इसी में है कि सामाजिक उसे देख अधिक से अधिक आनंद प्राप्त कर सके। 'नाट्यशास्त्र' के प्रणेता भरतमुनि ने तो यहाँ तक माना है कि यो कर्म, सौरशास्त्र और समस्त शिल्पों का नाटक में समावेश है। नाटक के द्वारा देश की सांस्कृतिक परंपरा र रक्षा होती है। इतिहास, पुराण सभ्यता का विकास सभी कुछ नाटक के द्वारा हमारी आँखों के सामने उपस्थि होता रहता है। इसीलिए साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा वह बहुचर्चित एवं लोकप्रिय है। हिन्दी नाट आज अपनी प्रस्तुति एवं नवीनता को लेकर बहुचर्चित है।

1.3.2. अवधारण एवं वैशिष्ट्य

साहित्य और समाज एक दूसरे के पूरक हैं। 'नाटक' साहित्य का एक अभिन्न अंग माना जाता है। नाट और मानव जीवन का शाश्वत सम्बन्ध रहा है। यह संसार का एक रंगमंच है और मानव उसका शाश्वत पात्र है मानव जीवन के व्यापक संदर्भों और यथार्थ जीवन के विविध आयामों से विषय चुनकर वह समाज के लिए ह अपने रूप का निर्माण करता है। शब्दों तथा पात्रों की वेश-भूषा, आकृति, भाव-भंगिमा, क्रियाओं के अनुकरण और भावों के अभिनय तथा प्रदर्शन द्वारा दर्शक को समाज के यथार्थ जीवन के निकट लाता है। डा. विपिन गुप्त नाट्य को समाज के साथ रखते हुए कहते हैं कि "साहित्य में नाटक प्रत्यक्ष और समाजिक विधा है। दर्शक समुदाय नाटक द्वारा प्रायोजित जीवन को मंच पर घटित होते देखता है।"

कहने का आशय यह है कि नाटक समसामयिकता से जोड़ता है। तभी उसकी प्रासंगिकता कायम रहती है। इब्सन का कहना है कि—"नाटककार का काम है अपने समय और अपनी जाति को उद्वेलित करने वाले सामयिक एवं शाश्वत प्रश्नों को स्वयं समझना और दूसरों को समझाना। नाटक के विविध अर्थ और वैशिष्ट्य को अलग-अलग विद्वानों ने समझाने की चेष्टा की है। जिसमें भारतीय एवं पाश्चात्य चिंतकों का समावेश होता है।

1.3.3. नाटक की व्याख्या

हमारे यहाँ आचार्य भरतकृत 'नाट्यशास्त्र' नाट्य विधा का आदि ग्रंथ माना जाता है। उन्होंने नाटक को परिभाषित करते हुए कहा है कि—"त्रैलोकस्यास्य सर्वस्य नाट्यभावनुकीर्तनम।" अर्थात 'नाटक' तीनों लोकों के भावों का अनुकरण है।' इस परिभाषा से भारतीय नाट्य परंपरा में 'नाटक' को दैवीय उत्पत्ति से स्वीकार किया है। त्रेतायुग में देवताओं की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने पंचम् नाट्यवेद निर्माण किया। नाट्य वेद के निर्माण में ऋग्वेद से संवाद, यजुर्वेद से अभिनय सामवेद से संगीत और अथर्ववेद से रसतत्व ग्रहण कर पंचम् नाट्य वेद की रचना की। संस्कृत के महत्त्वपूर्ण विद्वान धनजंय के मतानुसार "अवस्था के अनुकरण को नाटक कहा जाना चाहिए।"

पश्चात्य चिन्तक अरस्तु के मतानुसार नाटक एक करूणांतिका है। उन्होंने ट्रेजेडी पर विचार करते हुए कहा है कि— "ट्रेजेडी उस व्यापार विशेष का अनुकरण है, जिसमें गम्भीरता और पूर्णता हो, जिसकी भाषा प्रत्येक प्रकार के कलात्मक अलंकारों से सुसज्जित हो, और जिसमें अनेक विभाषाएँ पाई जाती हों, जिसकी

शैली वर्णनात्मक न होकर दृश्यात्मक हो, जो करूणा और भय का प्रदर्शन करके इन मनोविकारों का उचित परिष्कार कर सके।''

हिन्दी नाटक के सबसे बड़े आलोचक डॉ. दशरथ ओझा ने नाटक की परिभाषा पर विचार करते हुए कहा है कि ''जब लोगो की क्रियाओं का अनुकरण अनेक भावों और अवस्थाओं से परिपूर्ण होकर किया जाए तो वह नाटक कहलाता है'' भारतेन्दु भी 'नाटक' नामक निबन्ध में नाटक के अर्थ एवं परिभाषा पर विचार किया है वे 'नाटक' शब्द संदर्भ और दिशाओं को नाट्यशास्त्र के साथ जोड़ते हैं। नाटक में 'नट' को महत्व देते हुए कहते हैं कि—विद्या के प्रभाव से अपने या किसी वस्तु के स्वरूप में फेर कर देनेवाले को या स्वयं दृष्टि लेखन के फिरने को। 'नाटक' में पात्रगण अपना स्वरूप परिवर्तन करके राजादिक स्वरूप धारण करते है वे केशविन्यास के पश्चात रंगभूमि में स्वीकार्य साधन हेतु फिरते है।'' नटों की क्रिया से भारतेन्दु का आशय अभिनय से है। जयशंकर प्रसाद 'काव्येषु नाटकं' रम्यम्'लेख में नाटक सम्बन्धी विचार प्रकट करते हुए कहते हैं कि ''दृश्यकाव्य का विकसित रूप है।.... हदय से अनुभूति करने के लिए कला के दो द्वार हैं, कान आँख। ईधर काव्य की अनुभूति नेमिचंद दृश्य और श्रव्य, दोनों प्रकार से होती है।''

नेमिचंद्र जैन ने 'रंगदर्शन' में नाटक को परिभाषित करने का प्रयास किया है। वे नाटक के बारे में लिखते हैं कि— ''अपनी मूल प्रवृत्ति की दृष्टि से नाटक वह सम्वादमूलक कथा है जिसे अभिनेता रंगमंच पर नाट्य व्यापार के रूप में दर्शक वर्ग के सामने प्रस्तुत करते है।'' मोहन राकेश नाटक में चिन्तन की अपेक्षा नाट्यरचना पर अधिक बल देते हैं। वे नाट्य रचना प्रक्रिया के सम्बन्ध में अपने निजी अनुभव के आधार पर लिखते हैं कि ''मेरे अन्दर और बाहर की शक्तियाँ एक ऐसी विवशता पैदा करती हैं, जिनके कारण मैं लिखने बैठ जाता हूँ। एक नाटककार के रूप मेरा कार्य, रचना को रूपाकार में ढालना ही नहीं, उसे पुनर्ग्रहण करना और गढ़ना ही नहीं, नाटक को सही परिप्रेक्ष्य में खेजना भी है। इस प्रकार 'नाटक' शब्द की और परिभाषा को लेकर चिन्तकों ने विचार किया है। एक बात यहाँ स्पष्ट हो जाती है कि 'नाटक' का मूल तत्व उनकी मंचीयता है, क्योकि नाट्य दृश्यकाव्य है। अत: नाटक का रगमंच पर खेला (अभिनित होना) आवश्यक है। कुछ भी हो लेकिन 'नाटक' साहित्य में अपने आप में महत्वपूर्ण स्थान रखने वाली विधा के रूप में है।

1.4 नाटक का वैशिष्ट्य

नाटक लोकतांत्रिक कला है, अत; इसका महत्त्व सभी कलाओं में अधिक है। यह जनता की धरोहर है, साथ ही उसके आनंद का आधार भी। सवाल नाटक के वैशिष्ट्य का है। आदिकाल से लेकर आजतक कई समीक्षकों ने नाट्य के वैशिष्ट्य को लेकर विचार किया है। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य की विशेषता को लेकर कहा है—

''लोकवृत्तनुरकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्।
उत्तमाध्यमध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्।।''

स्पष्ट है कि नाटक दृश्यकाव्य है काव्य का केवल श्रवण कर सकते हैं, परन्तु नाट्य का श्रवण करने से तो आनंद मिलता ही है, उसे हम आँखों से देख भी सकते हैं। यही इसकी विशेषता है। दशरथ ओझा नाटक के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं कि—''हमारे राष्ट्रीय जीवन में नाट्यकला का प्रमुख स्थान रहा है, स्पष्ट है कि—भारतीय संस्कृति के एकीकरण का श्रेय भारतीय नाटक को ही प्राप्त है। ''नाटक के वैशिष्ट्य एवं महत्त्व पर विचार करते हुए डॉ. मदनमोहन शर्मा द्वारा उद्धृत कथन में डॉ. गिरीश रस्तोगी कहत हैं कि—''साहित्य की अन्य विधाओं के परिप्रेक्ष्य में जब नाट्य विधा के अधिक उत्कृष्ट या विशिष्ट होने का

समर्थन करते हैं तो इसी आधार पर कि उसकी सम्प्रेषणीयता की पैठ मानव मन की गहराइयों तक अधि
है।"

नाटक के वैशिष्टय की ओर दृष्टि डालते हुए डॉ. विपिन गुप्त कहते हैं कि "प्रत्येक काव्य अपने आप
एक विशिष्ट विधा होती है, परन्तु नाटक का वैशिष्ट कुछ और ही है, क्योंकि यह एक कला की बनिस्ब
कलाओं विधाओं व शास्त्रों का समूह है।" नाटक एक सामान्य दर्शक को मात्र मनोरंजन देकर ही छोड़ न
देता उसकी अभिरूचियों, महत्त्वाकांक्षाओं का परिष्कार भी करता है। अत: नाटक मानव-जीवन के सर्वाधि
निकट भी है। भरत देसाई द्वारा उद्धृत कथन में डॉ रामकुमार वर्मा नाटक के महत्त्व पर विचार करते ह
लिखते हैं कि "नाटक साहित्य का सदगुण रूप है जिस प्रकार निराकार बह्म अपने वैभव का अभिज्ञान अवत
के माध्यम से भक्त को कराता है उसी प्रकार साहित्य का सौन्दर्य रंगमंच पर अवतरित होकर नाटक के रूप
प्रकट होता है। नाट्य रचना के दौरान नाटककार का साक्षात्कार सामूहिक अनुभूतियों से हो जाता है, नाटकक
अपनी अनुभूतियों को सबकी अनुभूतियों से जोड़ लेता है। उसकी दृष्टि वैयक्तिक सीमा से निकलकर सामूहि
हो जाती है। नाटक हमारे जीवनानुभवों का विस्तार करता है, हमें साधारणीकरण व्यापार के दूसरों
जीवनानुभवों में प्रवेश करने का अधिकार मिलता है और इस प्रकार हमें लगता है कि हमारा अनुभव क्षे
विस्तृत हो रहा है। इससे हमें संतोष मिलता है। नाटक की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो साहित्य की किसी
अन्य विधा में उपलब्ध नहीं होती। दृश्यत्व ही नाटक का मूल वैशिष्ट्य है, जो उसे अन्य साहित्यागों से सर्वथ
विलक्ष बना देती है। चाक्षुष प्रत्यक्ष होने के कारण ही नाटक के सभी तत्व कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध
आदि के तत्वों से अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्रभावशाली सिद्ध होते हैं। कथावस्तु का क्रमिक विकास जितन
स्पष्टता से नाटक में दिखाया जा सकता है वैसा अन्य साहित्य रूपों में नहीं। इसका कारण यह है कि नाटकी
कथा को अनेक दृश्यों में विभाजित कर उपस्थित किया जाता है। पात्र सभी विधाओं का एक अनिवार्य तत
माना जाता है। परन्तु नाटक में इसका सर्वाधिक महत्त्व है। क्योंकि नाटककार को सभी प्रसार के भावों विचा
को पात्रों के माध्यम से ही उपस्थित करना पड़ता है। संवाद मूलत: नाटक का ही अपरिहार्य तत्व है। नाटक
पूर्णत: संवादात्मक होता है। नाटक के लिए पात्रानुकूल भाषा-विधान परम अपेक्षित माना गया है। नाटक के
पात्र विभिन्न प्रकार के होते हैं, इसीलिए नाटकीय भाषा के प्रयोग में भी विविधता का होना जरूरी है। रंगमंच
नाटक के कलात्मक वशिष्ट्य का प्रमुख निर्धारित तत्व है। साहित्य के एक स्वतंत्र भेद 'दृश्य काव्य' के रूप
नाटक की प्रतिष्ठा का मूलाधार रंगमंच ही है। सामाजिकों को नाटकीय घटनाओं के सम्पर्क में लाने का का
रंगमंच द्वारा ही संभव हो पाता है। अत: रंगमंचीय होना नाटक का प्रधान लक्षण या विशेषता है।

1.5. संस्कृत नाट्य परम्परा

संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति को लेकर विद्वान असमंजस्य में है। बेबर और विंडिश ने यूनानी प्रभावो
पिशेल ने पुत्तलिका नृत्य (कठपुतली नृत्य) और लेबी फानक्षोडर, हिलेब्रा, हर्टेल, आल्डेबर्न आदि विद्वानों ने
वैदिक सूक्तों में संसकृत नाट्य की परंपरा को खोजा है। संस्कृत नाट्य परंपरा का जहा तक प्रश्न है
'नाट्यशास्त्र' ग्रन्थ के आधार पर संस्कृत के कई नाटककार सामने आए जिनमें महाकवि भास, शूद्रक
कालिदास, अश्वघोष, हर्षवर्धन, विशाखादत्त आदि प्रमुख रहे हैं। संस्कृत नाट्यकारों के सम्बन्ध में जयकुमार
जलन द्वारा उद्धृत कथन में धनंजय कहते हैं—"इन नाटककारों ने अपनी नाट्य-रचनाओं को भरत के
'नाट्यशास्त्र' एवं अन्य शास्त्रियों की नाट्यसीमा को ध्यान में रखते हुए रूपक के रूप में प्रस्तुत किया जिसक
स्पष्ट उल्लेख धनजंय के यहाँ दशरूपकम्—विधान के अन्तर्गत निरूपित है।

महाकवि भास द्वारा रचित तेरह रूपक प्राप्त होते हैं। संस्कृत नाट्य परंपरा में भास का महत्त्वपूर्ण
योगदान रहा है। उनके सारे नाटक महाभारत, रामायण और कल्पना के आधार पर रचे गये हैं। महाभारत पर

आधारित रूप को 'मध्यम व्यायोग', 'कर्णधार', 'दूतघटोत्कच', 'उरूभंग' 'पंचरात्र', 'दूतवाक्य' बाल चरित का समावेश होता है। रामायण के आधार पर रचित रूपकों में 'प्रतिमानाटक' और 'अभिषेक' नाटक आते हैं। जबकि काल्पनिक रूपकों में 'अविमारक' दरिद्रचारूदत्त, 'प्रतिज्ञा योगन्धरायण' और 'स्वप्नवासवद्त्तम्'आदि रूपकों का समावेश होता है। भास के बाद संस्कृत नाट्य परंपरा में शूद्रक का नाम आता है, उनके द्वारा रचित एक ही नाट्य रचना—'मृच्छकटिकम्'है। 'मृच्छकटिकम्' अपने ढंग की एक अनूठी रचना है। उनके महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए लक्ष्मीनारायण लाल लिखते हैं कि—"मृच्छकटिकम्' बहुत ही उच्चकोटि की रचना है। इसमें व्याप्त कथातत्व, घटनाचक्र, कार्य और उसकी गति और नाट्य-व्यापार इस सत्य को पूर्णरूप से बताते हैं कि संस्कृत रंगमंच की प्रकृति और परंपरा क्या थी।" शूद्रक के बाद महाकवि कालिदास का नाम महत्त्वपूर्ण है, उन्होंने तीन रूपक ग्रन्थों की रचना की—'मालविकाग्निमित्र', विक्रमोर्वशीय' और 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'। इन तीनों के केन्द्र में प्रेम है। कालिदास के नाटकों की मंचीयता को लेकर डा० लक्ष्मी नारायण लाल का कहना है कि "संस्कृत रंगमंच का संम्पूर्ण भावबोध, अर्थबोध, इनके नाटकों में मिला। काव्य, अभिनय, रंग, इन तीनों तत्वों का अद्भुत समन्वय और उसके उत्कर्ष उनके 'अभिज्ञानशाकुन्तलम' नाटक में मिला कालिदास के बाद विशाखादत्त द्वारा विरचित 'मुद्राराक्षस' नाटक भी संस्कृत नाट्यपरम्परा में उल्लेखनीय है। संस्कृत नाट्यन परम्परा में अन्तिम और महत्त्वपूर्ण नाटककार भवभूति है, जिसने नाट्यधारा में 'उत्तरामचरित' के माध्यम से एक नयी दृष्टि दी। उनके तीन नाटक उल्लेखनीय है—(1) मालतीमाधव (2) महावरी चरित (3) उत्तरामचरित। भवभूति के साथ लगभग संस्कृत नाटकों का स्वर्णयुग समाप्त हो जाता है। अंतिम चरण में कई रूपक (नाटक) लिखे गये, उनमें राजशेखर का 'बालरामायण' और जयदेव का 'प्रसन्नराघव' उल्लेखनीय है। संस्कृत नाटक की ऐतिहासिक परंपरा और मंचीयता पर विचार करते हुए डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल लिखते हैं कि—राजन्य संस्कृति उसका सौन्दर्यबोध यहीं से शुरू हुआ नाटक का लिखा जाना और उसका राजमंडप में राजभवन में अन्त: पुर में अभिनित होना। और यहीं से विकसित हुई संस्कृत नाट्यधर्मी परंपरा जिसके कलान्तर में नाटककार हुए भास, अश्रघोष, कालिदास और भवभूति।"

मध्यकाल में नाटक के दो रूप हमारे सामने आते हैं। एक धर्मिक नाट्य परंपरा और दो लोकनाट्य परंपरा। धार्मिक नाट्य परंपरा के अन्तर्गत 'रामलीला' और 'रासलीला' ये दो विकसित नाट्यरूप थे। मध्यकालीन नाट्य पंरपरा में लोकनाट्य अपने आप में एक अलग महत्त्व रखता है।

1.6 लोकनाट्य और हिन्दी नाट्य की परम्परा

ऐसा माना जाता है कि संस्कृत नाटकों की ह्रासोन्मुख परंपरा में पड़नेवाली खाई को लोकनाट्य ने पूरा किया है। डॉ० दशरथ ओझा का कहना है कि—"इसकी प्रेरणा स्वभावत: जन समुदाय में विद्यमान रही है, और यह भी निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि—साहित्यिक और जननाटक एक-दूसरे पर प्रभाव भी डालते रहे होंगे और इसका परस्पर आदान-प्रदान निरन्तर होता रहा होगा।" डॉ० मनदमोहन शर्मा द्वारा उद्धृत कथन में डॉ० दुर्गादिक्षित लोक नाट्य के बारे में लिखते हैं कि—"प्रकृति के यह उपादान ही लोकनाट्य के मूल उत्सव होने तथा ऋतु पर्व, दिन विशेष और लोक उत्सव के अवसरों पर, प्रकृति के सानिध्य में धार्मिक विधि के रूप में इसका उद्गम होने के कारण इसमें संदेह नही कि लोकनाट्य में लोकमानस के स्रोत अक्षुण्ण रूप में विद्यमान है। भक्तिपरक भावना से अद्भूत यह विधिनाट्य लोकनाट्य के सहज संस्कारों से अनुप्राणित हो तो आश्रर्य की बात नहीं।..... वह पुरातन काल से ही आज तक युगों के साथ अनेक थपेड़ों को झेलते हए अब भी अपने अस्तित्व के साथ लोक जीवन में सतत प्रवाह मान है।"

लोकनाट्य की प्राचीनता को लेकर डॉ. दशरथ ओझा का कहना है कि—"हमारी देशी भाषाओं में साहित्यिक नाटक के पूर्व जन नाटक शताब्दियों से अभिनित होते आ रहे थें। बंगला में 'यात्रा' एवं 'कीर्तनिया'

नाटक, बिहार में 'विदेशिया', अवधी, पूर्वी हिन्दी ब्रज तथा खड़ीबोली में 'रास', 'नौटंकी', 'स्वांग', 'भाँड राजस्थानी में 'रस', 'झुमर', 'ढोलामारू', गुजराती में 'भवाई', महाराष्ट्री में 'तमाशा' आंध्र की भाषा तमिल 'भगवतमेल' आदि नाटक विद्यमान थे। डॉ० बिन्दुभट्ट अपने 'आज के रंगनाटक' ग्रन्थ में लोकनाट्य की प्राचीन को लेकर लिखती हैं—"संस्कृत के रंगमंच के अभाव में एक दूसरा ही रंगमंच पनपा-लोकमंच जो आज अपने में प्राचीनता और अर्वाचीनता लिए हुए है।

1.7 हिन्दी नाट्य परम्परा

हिन्दी नाटक के आरम्भ के सम्बन्ध में तीन तरह की धारणाएँ सामने आयी हैं। कुछ अलोचक प्राचीन-मध्यकाल से नाटक की शुरूआत मानते हैं। जबकि कुछ लोग खडीबोली हिन्दी के जनक भारतेन्दु एवं उनकी कृतियों को इसका श्रेय प्रदान करते हैं, तो कुछ अलोचक संस्कृत के अनुदित नाटक से हिन्दी नाटक का प्रारम्भ मानते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी नाटक के आरंभिक विकास का स्वरूप संस्कृत के अनुदित नाटकों में खोजा है। उनका मत है कि—"हिन्दी नाट्य साहित्य को प्रेरणा संस्कृत नाट्य कृतियों से मिली है।' प्रथम नाट्य कृति के सम्बन्ध में शुक्लजी ने कहा है कि—"भारतेन्दु के पहले नाटक के नाम से दो चार ग्रन्थ ब्रजभाषा में लिए गये थे, उनमें महाराज विश्वनाथ सिंह के 'आनंद रघुनंदन' नाटक के छोड़ और किसी में नाटकत्व न था।" डॉ. नगेन्द्र का मत है कि—"आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास का श्रेय अंग्रेजी के संपर्क से हुआ।" डॉ. दशरथ ओझा ने "हिन्दी नाट्य परम्परा को प्राचीन माना है।" मिश्रबंधुओं ने हिन्दी नाट्य परम्परा का सम्बन्ध विद्यापति से जोड़ा है। डॉ. अब्दुर्रशीद ए. शेख हिन्दी नाट्य परम्परा पर विचार करते हुए 'हिन्दी नाटक-सौ वर्ष का सफरनामा' में लिखते हैं कि—"हिन्दी नाट्य साहित्य के प्रारंभिक नाटक संस्कृत नाटकों से प्रभावित रहे तद्उपरांत हिन्दी साहित्य के विकास के साथ-साथ उसमें रूपगत परिवर्तन भी आया और बाद का हिन्दी नाटक, अंग्रेज नाट्य परंपरा से प्रभावित हुआ। भारतेन्दु पूर्वयुग का हिन्दी नाट्य साहित्य संस्कृत नाट्य शैली और जन-नाट्य शैली का अनुकरण करता हुआ विकासोन्मुख हुआ उपर्युक्त विवेचकों के मतों से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि—हिन्दी नाट्यसाहित्य का मूलरूप पुराना है। परन्तु उनकी व्यवस्थित शुरूआत भारतेन्दु से होती है। समय-समय पर उसमें परिवर्तन और परविर्धन होता रहा है।

हिन्दी का पहला नाटक किसे माना जाय उसको लेकर विद्वान एक मत नहीं हैं। डॉ. दशरथ ओझा ने संवत 1289 में रचित 'गप सुकुमार रास' को हिन्दी का प्रथम उपलब्ध नाटक माना है। दूसरी ओर डॉ. ओझा ज्योतिरीज्जर कृत 'धूर्त समागम' तथा अब्दूल रेहमान कृत 'सेदंशरासक' को हिन्दी का प्रथम नाटक माना हैं। डॉ. विद्यापति ने तथा डॉ. भार्गव ने 1885 में अभिनित 'नग्न' तथा 'कुष्णाख्यान' को हिन्दी के प्रथम नाटक के रूप में स्विकृत किया है। भारतेन्दु ने अपने पिताश्री गोपालचन्द कृत नाटक 'नहुष' को हिन्दी का-प्रथम नाटक माना है। रीतिकाल में उपलब्ध नाटक 'इन्दरसभा' की रचना आगाहश्र हसन, अमानत ने की। 'इन्दर सभा' गीति-काव्य परंपरा का प्रथम नाटक माना जा सकता है। भाषा को लेकर विवाद है, अतः यह नाटक आदि नाटक नहीं कहा जा सकता है। 'इन्दर सभा' नामक नाटक की रचना मदारीलाल ने भी की हैं। यह नाटक 'अमानत' के 'इन्दर सभा' के निकट है। राजा लक्ष्मणसिंह का 'शकुन्तला' नाटक कालिदास के नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम' का शुद्ध अनुवाद है। डॉ. श्री कृष्णलाल इससे हिन्दी नाटक का प्रारम्भ मानते हैं। उनके महत्व पर विचार करते हुए डॉ. रणधीर उपाध्याय कहते है कि—"वस्तुतः हिन्दी का यह आदि नाटक हिन्दी नाट्य साहित्य का वह सीमा चिन्ह है जो युगों को जोड़ता है और उसी के साथ यह भी प्रमाणित करता है कि हिन्दी साहित्यि नाटकों का सूत्रपात संस्कृति की नाट्य परंपरा से हुआ है। "हिन्दी के प्रारंभिक नाटकों के बारे में डॉ. अब्दलर्रशीद शेख कहते है कि—"हम यहाँ इस बात को स्विकार करते हैं कि—भारतेन्दु व उनके

समकालीन पाट्कारों के सन्मुख आदर्श रूप में विश्वनाथ कृत 'आनन्द नघुनन्दन', गिरिधरदासकृत 'नहुष' और राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा अनुदिश 'शकुन्तला' ये तीन नाटक थे।''

जितना मतभेद हिन्दी के प्रारंभिक नाटक के बारे में है उतना मतभेद हिन्दी के प्रारंभिक नाटककार को लेकर नहीं है। प्रायः सभी नाट्य चिन्तकों ने यह स्वीकार किया है कि हिन्दी का प्रारंभिक नाटककार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही है। इस मत के सम्बन्ध में डॉ. विजयकान्त दुबे का कहना है कि ''भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एवं उनके समय के नाट्य लेखकों ने पहली बार इस आवश्यकता की पूर्ति की। उन्होंने अपने चारों ओर के जीवन और भारतीय पुराणों तथा इतिहास—सामग्री से सत्य ग्रहण कर हिन्दी नाट्य—वीणा के स्वर को झंकृत किया इसके स्पन्दन से मौलिक अनुदित—सभी प्राकर की नाट्य रचनाएं सामने आयी'' इस मत की पूष्टि करते हुए डॉ. वार्ष्णेय भी लिखते हैं कि—''वास्तव में सच तो यह है कि उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध में नवोत्थानकालीन भावना से प्रेरित संस्कृत और फिर अंग्रेजी साहित्य के अनुशीलन के फलस्वरूप और फिर से अनुकूल वातावरण पाकर-क्योंकि इस्लाम संस्कृति ने नाट्य साहित्य को कोई प्रोत्साहन प्रदान न किया था-नाट्य का जन्म हुआ।'' असल बात यह है कि काल की गति से भारतेन्दु पूर्व नाट्य वृक्ष सूख गया था, वह फिर अनके काल में पल्लवित हो उठा। भारतेन्दु ने अपनी कृतियों द्वारा अभिनेताओं और अभिनयशालाओं की खोई हुई प्रतिष्ठा को कायम किया है। भारतेन्दु के पूर्व हिन्दी नाट्य साहित्य की जो स्थिति थी उसका संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने से ऐसा लगता है कि अब तक हिन्दी नाटक अपना वास्तविक रूपाकार ग्रहण नहीं कर पाया था। अत: उनके पूर्ववर्ती नाटकों का एक ऐतिहासिक महत्त्व रह जाता है। हिन्दी नाटक का प्रथम उत्थान वस्तुत: भारतेन्दु के उदय के साथ ही उद्भव में आया। भारतेन्दु हरिश्चन्द तथा भारतेन्दु मण्डल के नाटककारों के बाद द्विवेदीयुग आता है। इस युग में मौलिक नाटकों का प्राय: अभाव रहा है। इस अभाव को जयशंकर प्रसाद ने पूरा किया है। प्रसाद ने अपनी नाट्य-रचनाओं के द्वारा एक ओर अतीत के गर्भ में छिपी भारतीय संस्कृति के उदात्त मूल्यों को वर्तमान जीवन-परिवेश से जोड़ने का प्रयास किया है तो दूसरी ओर रचनात्मक स्तर पर भावर-नाटककारों को दिशा-संकेत भी दिया है। इस प्रकार युग प्रवर्तक नाटककारों के साथ एक नये युग का निर्माण स्वीकार कर लिया गया है और प्रारम्भ से लेकर अबतक की नाट्य परम्परा को भारतेन्दुयुगीन नाटक, प्रसाद युगीन नाटक तथा प्रसादेत्तर कालीन नाटक जैसी संज्ञाओं के अन्तर्गत देखा जा रहा है।

संदर्भित पुस्तकें

स्वातन्त्रयान्तर हिन्दी नाटक	— डॉ० श्रीमती रीता कुमार
आधुनिक हिन्दी नाटकों में प्रयोग धर्मिता	— डॉ० सत्यवती त्रिपाठी
नाटक रंगमंच और मोहन राकेश	— डॉ० सुरेन्द्र यादव
आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य में काम मूलक संवेदना	— श्री रामबा महाजन
अग्नि सागर संवेदना पक्ष	— डॉ० वीरेन्द्र भारद्वाज
मानवीय परिभाषा कोश: साहित्य खंड	— श्री राय
कला का जोखिम	— निर्मल वर्मा
कथा बिम्ब	— हिमांशु जोशी
दिनमान साहित्य सिद्धांत और समालोचना	— डॉ० देवीप्रसाद गुप्त
एक प्रश्न: दो रूप	— किनरचन्द्र शर्मा

आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य	—	डॉ० देवराज
एक दुनिया समानान्तर	—	राजेन्द्र यादव
दिशाओं का परिवेश	—	राही मासूम रजा
प्रतिक्रियाएँ	—	डॉ० देवराज
कला का जोखिम	—	निर्मला वर्मा
हिन्दी नाटक	—	बच्चन सिंह
आधुनिक हिन्दी नाटक का संघर्ष तत्त्व	—	डॉ० सा० का० गायकवाड़
आधुनिक हिन्दी नाटक भाषिक एवं संवादीय संरचना	—	गोविन्द चातक
नाटक और यथार्थवाद	—	कमलिनी मेहता

प्रश्नबोध

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. नाट्यशास्त्र को रचयिता का नाम लिखते हुए ग्रन्थ की समीक्षा कीजिए।
2. साहित्य के स्वरूपों की व्याख्या कीजिए
3. नाटक साहित्य में संस्कृत नाट्य परम्परा का क्या योगदान है?

लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. 'नाटक' हिन्दी साहित्य की सर्वाधिक सशक्त एवं प्रभावशाली विधा है इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं?
2. भारतेन्दु हरिश्चन्द ने 'नाटक' नामक निबन्ध में क्या टिप्पणी की है?
3. विविध नाटककारों में नाटक की क्या परिभाषाएँ दी हैं?
4. नाटक दृश्यकाव्य है अथवा श्रव्यकाव्य अथवा दोनों? उदाहरण द्वारा स्पष्ट कीजिए।
5. लोकनाटय और हिन्दीनाटय की परम्परा के विषय में उल्लेख कीजिए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. डॉ० विपिनगुप्त ने नाटक के विषय में अपने क्या विचार रखे हैं?
2. आचार्य भरत ने अपने नाटयशास्त्र में नाटक की क्या परिभाषा दी है?
3. नेमिचन्द जैन द्वारा रचित कौन-सा ग्रन्थ नाटक की परिभाषा परिभाषित करता है?
4. नाटक के वैशिष्टय को लेकर भारत मुनि ने क्या कहा है?
5. डॉ० दशरथ ओझा ने किस ग्रंथ को हिन्दी का प्रथम उपलब्ध नाटक माना है?

इकाई

2

आधुनिक युग में हिन्दी नाट्य साहित्य का विकास और स्वरूप

संरचना

2.1 प्रस्तावना
2.2 नाटक साहित्य और आधुनिक काल का स्वरूप
2.3. भारतेन्दु युग में नाटक का स्वरूप
2.4. प्रसाद युग में नाटकस
    2.4.1. ऐतिहासिक नाटक
    2.4.2. पौराणिक नाटक
    2.4.3. कल्पनाश्रित नाटक
    2.4.4. अनुदित नाटक
2.5. प्रसादोत्तर युग
    2.5.1. ऐतिहासिक नाटक
    2.5.2. सामाजिक नाटक
    2.5.3. पौराणिक नाटक
    2.5.4. कल्पनाश्रित नाटक
2.6. स्वातन्त्रयोत्तर युग
    2.6.1 सामाजिक एवं सांस्कृतिक नाटक
    2.6.2. व्यक्तिवादी नाटक
    2.6.3. राजनैतिक नाटक
2.7. उपसंहार

2.1. प्रस्तावना

नाट्य लेखन की दशा में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन आया उसमें स्वातन्त्रय काल एक बहुत बड़ी विभाजक रेखा का काम करता है। भारतेन्दु ने जो कुछ सुधार हिन्दी नाटक में किया उसका अस्तित्व तत्कालीन नाटकों से प्रारम्भ होता है। इस इकाई में हम आधुनिक युग के नाट्य विकास पर अध्ययन करेंगे।

2.2. नाटक साहित्य और आधुनिक काल का स्वरूप

हिन्दी में नाटक के स्वरूप का समुचित विकास आधुनिक युग से आरम्भ होता है। सन् 1850 से अब तक के युग को हम नाट्य-रचना की दृष्टि से तीन खण्डों में विभक्त कर सकते हैं—(1) भारतेन्दु युग (1857–1900 ई.) (2) प्रसाद युग (1900–1930), और (3) प्रसादोत्तर युग (1930 से अब तक) इसमें से प्रत्येक युग का परिचय यहाँ क्रमशः प्रस्तुत किया जाता है।

2.3. भारतेन्दु युग में नाटक का स्वरूप

स्वयं बाबू हरिश्चन्द्र ने हिन्दी का प्रथम नाटक अपने पिता बाबू गोपालचन्द्र द्वारा रचित 'नहुष नाटक' (सन् 1841) को बताया है। किन्तु तात्विक दृष्टि से यह पूर्ववर्ती ब्रजभाषा पद्य नाटकों का ही परम्परा है। सन्1861 ई. में राजा लक्ष्मणसिंह ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अनुवाद प्रकाशित करवाया। भारतेन्दु जी का प्रथम नाटक 'विद्या-सुन्दर' (सन्1868 ई.) भी किसी बंगला के नाटक का छायानुवाद था। इसके अनन्तर उनके मौलिक व अनुवादित नाटक प्रकाशित हुए जिनमें पाखण्ड-विडम्बन (1872), वैदिकी हिंसा न भवति (1872), धनंजय-विजय, मुद्राराक्षस (1875), सत्य-हरीश्चन्द्र (1875), प्रेम योगिनी (875), विषस्य विषमौषधम् (1876), कर्पूर-मंजरी (1876), चन्द्रावली (1877), भारत दुर्दशा (1876), नील देवी (1877), अंधेर नगरी (1881) और सती-प्रताप (1884) आदि उल्लेखनीय है। भारतेन्दु के नाटक मुख्यत: पौराणिक, सामाजिक एवं राजनैतिक विषयों पर आधारित हैं। सत्य हरीश्चन्द्र, धनंजय-विजय, मुद्राराक्षस, कर्पूर-मंजरी ये चारों अनुवादित हैं। अपने मौलिक नाटकों में उन्होने सामाजिक कुरीतियों एवं धर्म के नाम पर होने वाले कुकृत्यों आदि पर तीखा व्यंग्य किया है। 'पाखण्ड-बिडम्बन', वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, इसी प्रकार के नाटक हैं। 'विषस्य-विषमौषधम, में देशी नरेशों की दुर्दशा, राष्ट्रभक्ति का स्वर उदघोषित हुआ है। इसमें 'अंग्रेज' को भारत-दुर्देव के रूप में चित्रित करते हुए भारतवासियों के दुर्भाग्य की कहानी को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें स्थान-स्थन पर विदेशी शासकों की स्वेच्छाचारिता, पुलिस वालों के दुर्व्यवहार, भारतीय जनता की मोहान्धता पर गहरे आघात किए गए हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को संस्कृत, प्राकृत, बंगला व अंग्रेजी के नाटक-साहित्य का अच्छा ज्ञान था। उन्होंने इन सभी भाषाओं में अनुवाद किए थे। नाट्यकला के सिद्धान्तों का भी उन्होने अध्ययन किया था, उन्होने अपने नाटकों में अभिनय की भी व्यवस्था की थी तथा उन्होने अभिनय में भाग भी लिया था इस प्रकार नाट्यकला के सभी अंगों का उन्हें पूरा ज्ञान और अनुभव था। यदि हम एक ऐसा नाटककार ढूंढे जिसने नाट्य-शास्त्र के गंभीर अध्ययन के आधार पर नाट्य-कला पर सैद्धान्तिक आलोचना लिखी हो, जिसने प्राचीन और नवीन, स्वदेशी और विदेशी नाटकों का अध्ययन व अनुवाद प्रस्तुत किया हो, जिसने वैयक्तिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक एवं मौलिक नाटकों की रचना की हो और जिसने नाटकों की रचना ही नहीं, अपितु उन्हें रंगमंच पर खेल कर दिखाया हो इन सब विशेषताओं से सम्पन्न नाटककार, हिन्दी में ही नहीं-अपितु समस्त विश्व-साहित्य में केवल दो चार ही मिलेंगे और उन सब में भारतेन्दु का स्थान सबसे ऊँचा होगा। उनकी शैली सरलता, रोचकता एवं स्वाभाविकता आदि गुणों से परिपूर्ण है।

भारतेन्दु युग के अन्य नाटककारों में लाला श्रीनिवास दास, राधाकृष्णदास, बालकृष्ण दास भट्ट, बद्रीनारायण चौधरी, प्रेमधन, राधाचरण गोस्वामी, प्रताप नारायण मिश्र आदि का नाम उल्लेखनीय है। लाला श्रीनिवास दास ने-'प्रहलाद चरित्र', रणधीर-प्रेम मोहिनी (1877), और संयोगिता-स्वयंवर (1855), की रचना की। इनमें सर्वश्रेष्ठ रचना 'रणवीर सिंह' और प्रेम-मोहनी है। इसका सुसंगठित, चरित्र-चित्रण स्वाभाविक तथा कथोपकथन वाताकुलित एवं परिस्थितियों के अनुसार है। लाला जी ने कहीं-कहीं प्रादेशिक भाषाओं का भी प्रयोग वातावरण को यथार्थ रूप देने के लिए किया है। इसे हिन्दी का पहला दु:खान्त नाटक भी माना गया है।

राधाकृष्ण के द्वारा रचित नाटकों में 'महारानी पदमावती (1883)' धर्मालाभ (1885) महाराणाप्रताप सिंह तथा राजस्थानकेसरी (1897) उल्लेखनीय है। जिसमें महारानी पदमावती का कथानक ऐतिहासिक है। जिसमें सतीत्व के गौरव की व्यंजना की गई है। धर्मालाभ में विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों का वार्तालाप दिखाते हुए अंत में सभी धर्मों की एकता का प्रतिपादन किया गया है। 'दुखिनी बाला' अनमेल विवाह के परिणामों को

व्यक्त करता है। इनका सर्वश्रेष्ठ नाटक 'महाराणाप्रताप सिंह' है जिसमें महाराणा के साहस, शोर्य, त्याग की व्यंजना अन्त्यन्त ओजपूर्ण शैली में की गई है। महाराणा का चरित्र स्वयं उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—

जब लौ तन प्राण न तब लौं मुख की मोड़ौं।

जब लौं कर में शक्ति न तब लौं शस्त्रहिं छोड़ौं।

जब लौं जिह्वा सरस दीन वच नाहिं उचारौ।

जब लौं धड़ पर सीस झुकावन नाहिं विचारौं।

महाराणा के साथ-साथ अकबर चरित्र को भी सहानुभूति के साथ उजागर किया है। बालकृष्ण भट्ट ने लगभग एक दर्जन मौलिक एवं अनुदित नाटक प्रस्तुत किए हैं। उनके मौलिक नाटकों में 'दमयंती स्वयंवर', 'वृहन्नला', 'वेणुसंहार', 'कलिराज', की सभा, 'रेल का विकट खेल' 'बाल विवाह', जैसा काम वैसा परिणाम', आदि उल्लेखनी हैं। इनमें अन्तिम चार प्रहसन है जिनमें अपने युग और समाज के विभिन्न वर्गों एंव परिस्थितियों पर व्यंग्य किया गया है। वस्तुत: प्रहसनों की परम्परा को आगे बढ़ाने में भट्ट जी का अद्‌भुत योगदान है। बद्रीनारायण 'प्रेमधन' ने समाज एवं राष्ट्र की विभिन्न परिस्थियों से प्रेरित होकर 'भरत सौभाग्य' (1888), 'प्रयागरामागमन' (1904), वारांगन-रहस्य' (अपूर्ण), वृद्ध विलाप' आदि नाटकों की रचना की जो राष्ट्र-सुधार की भावनाओं से अनुप्राणित है। इसी प्रकार राधाचरण गोस्वामी ने भी अनेक नाटकों की रचना की जैसे-सती चन्द्रवली' (1890), 'अमर-राठौर' (1894), 'श्रीदामा' (1904), 'बूढे मुंह मुंहासे' (1887)'भंग-तरंग' (1892)। इनमें प्रथम तीन को छोड़कर शेष प्रहसन हैं। जिसमें अपने युग की सामाजिक एवं धार्मिक बुराईयों की आलोचना व्यंग्यात्मक शैली में की गई है। प्रताप नारायण मिश्र के 'भारत-दुर्दशा' (1902), 'गो-संकट' (1886), हठी हमीर', 'कलिकौतुक रूपक', आदि भी राष्ट्र जागरण एवं समाज सुधार की प्रेरणा से रचित हैं, किन्तु नाट्य कला की दृष्टि से असाधारण कोटि के हैं। भारतेन्दु युग के अन्य मौलिक नाटक-रचियताओं में देवकीनन्द त्रिपाठी शलिग्राम, अम्बिकादत्त व्यास, जंगबहादुर मल्ल, बलदेव प्रसाद, तोताराम, ज्वालाप्रसाद मिश्र, दामोदर शास्त्री आदि का नाम उल्लेखनीय है देवकी नन्दन त्रिपाठी ने अनेक पौराणिक नाटकों एवं प्रहसनों की रचना की थी। उनके पौराणिक नाटक 'सीता-हरण' (1876), 'कंस वध' (1904), आदि हैं प्रहसनों की नामावली इस प्रकार है—'रक्षा बन्धन' (1878), 'एक-एक के तीन-तीन', 'स्त्री चरित्र' (1879), 'वैश्य-विलास', 'बैल छ: टके टके को', आदि। त्रिपाठी जी के पौराणिक नाटक उच्च कोटि के नहीं हैं, किन्तु प्रहसनों मे व्यंग्यात्मक शैली का विकास यथेष्ठ रूप में हुआ है। शालिग्राम ने भी 'अभिमन्यु वध' (1896), 'पुरू-विक्रम' (1906), 'मोरध्वज' (1890), आदि रोमांटिक नाटकों की रचना की थी, जो कलात्मक दृष्टि से समान्य कोटि के हैं। अम्बिकादत्त व्यास के दो नाटक-'भारत-सौभाग्य' 'गो संकट नाटक' (1886), युगीन परिस्थियों पर आधारित है। इसके अतिरिक्त उनके द्वारा रचित 'ललिता नाटिका', मन की उमंग', आदि भी उपलब्ध हैं। इनमें प्रेम और हास्य का सम्मिश्रण है। खड्‌ग बहादुर मल्ल ने भी 'महारास' (1885) 'हर तालिका' (1878), 'कल्प-वृक्ष' (1887), आदि पौराणिक नाटकों की रचना की हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त उनका एक प्रहसन 'भारते-भारत' (1888) भी उपलब्ध है। बलदेव प्रसाद मिश्र का 'मीराबाई' (1897), भक्ति-भाव से परिपूर्ण है इसमें बीच-बीच में मीरा के पदों का भी उपयोग किया गया है इसके अतिरिक्त तोताराम रचित 'विवाह विडम्बन' (1900), कृष्णदेव शरण सिंह' गोप' का 'माधुरी रूपक' (1888), दामोदर शास्त्री का 'रामलीला नाटक' (1869), ज्वाला प्रसाद मिश्र का 'सीता-बनवास' (1875), काशीनाथ खत्री के 'तीन ऐतिहासिक रूपक' (1884), आदि भी इस युग की उल्लेखनीय कृतियां हैं। प्रहसनों की परम्परा को आगे बढ़ाने की दृष्टि से किशोरी लाल गोस्वामी का 'चौपट-चपेट' (1891), गोपालराम

गहमरी का 'जैसे का तैसा', नवल सिंह का 'वेश्य नाटक', विजया नंद त्रिपाठी का 'महा अंधेर नगरी' (1895) बलदेव प्रसाद मिश्र का 'लल्ला बाबू' आदि उल्लेखीनय है इनमें समाज के विभिन्न वर्गों की कलुषित प्रवृत्तियें पर व्यंग्य किया गया है।

अनुवाद—इस युग में संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी के नाटकों के अनुवाद भी बहुत बड़ी संख्या में प्रस्तुत हुए। संस्कृत के कालिदास, भवभूति, शूद्रक, हर्ष आदि के नाटकों के हिन्दी अनुवाद लाला सीताराम देवदत्त तिवारी, नन्दलाल, ज्वालाप्रसाद मिश्र ने तथा बंगला के 'पदमावती', 'कृष्णकुमारी', 'बीरनारी' आदि क बाबू रामकृष्ण वर्मा, उदित नारायण लाल, ब्रजनाथ आदि ने प्रस्तुत किए। अंग्रेजी के शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद भी तोताराम रत्नचन्द्र, मथुराप्रसाद उपाध्याय आदि के द्वारा किए गए। वस्तुत: 19 वीं सदी के अन्त तक विभिन्न भाषाओं के अनेक उत्कृष्ट नाटकों के अनुवाद हिन्दी में प्रस्तुत हो गऐ थे, जिनकी परवर्ती नाटककारों को बड़ी प्रेरणा मिली।

2.4. प्रसद युग के नाटक

इस युग के नाटक-साहित्य को भी विषय गत प्रवृत्तियों की दृष्टि से चार वर्गों में विभक्त किया जा सकत है— 1. ऐतिहासिक, 2. पौराणिक, 3. काल्पनिक 4. अनुदित नाटक। इनमें से प्रत्येक वर्ग का संक्षिप्त परिचय यहां क्रमश: दिया जाता है।

2.4.1 ऐतिहासिक नाटक

इस युग के सर्व-प्रमुख नाटककार जयशंकर प्रसाद ने मुख्यत: एतिहासिक नाटकों की ही रचना की थी उनके नाटकों का रचना-क्रम इस प्रकार है—'सज्जन' (1910), 'कल्याणी-परिणय' (1912), 'करूणालय' (1913), 'प्रायश्चित' (1914), 'राजश्री' (1915), 'विशाख' (1921), 'अजातशत्रु' (1922), 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' (1926), 'स्कन्दगुप्त' (1928), 'एक घूँट' (1920), 'चन्द्रगुप्त' (1929), और 'ध्रुवस्वामिनी' (1933)। प्रसाद जी अपने जी अपने देश वासियों में आत्म-गौरव, स्वाभिमान उत्साह एवं प्रेरणा का संचार करने के लिए अतीत के गौरवपूर्ण दृश्यों को अपनी रचनाओं में चित्रित किया। यही कारण है कि उनके अधिकांश नाटकों का कथानक उस बौद्ध-युग से सम्बन्धित है। जबकि भारत की सांस्कृतिक-पताका विश्व के विभिन्न भागों में फहरा रही थी। प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति को प्रसाद ने बड़ी सूक्ष्मता से प्रस्तुत किया है उसमें केवल उस युग की स्थूल रेखाएं ही नहीं मिलती हैं धर्म की बाह्य-परिस्थितियों की अपेक्षा उन्होने दर्शन की अन्तरंग गुत्थियों को स्पष्ट करना उचित समझा है। पात्रों के चरित्र-त्रित्रण में भी उन्होंने मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करते हुए अनमें परिस्थिति के अनुसार परिर्वतन व विकास दिखाया है मानव-चरित्र के सत् और असत् दोनों पक्षों को पूर्ण प्रतिनिधित्व उन्होने प्रदान किया है। नारी-रूप जैसी महानता, सूक्ष्मता, शालीनता एवं गम्भीरता कवि प्रसाद के हाथों प्राप्त हुई हैं उससे भी अधिक सक्रिय एव तेजस्वी रूप उसे नाटककार प्रसाद ने प्रदान दिया हैं प्रसाद के प्राय: सभी नाटकों में किसी ने किसी ऐसी नारी-पात्र की अवधारणा हुई है जो धरती के दु:खपूर्ण अन्धकार के बीच प्रसन्नता की ज्योति की भांति उद्दीप्त है, जो पाशविकता, दनुजता और क्रूरता के बीच क्षमा, करूणा एवं प्रेम के दिव्य संदेश की प्रतिष्ठा करती है जो अपने प्रभाव से दुर्जनों को सज्जन, दुराचारियों को सादाचारी, और नृशंस अत्याचारियों को उदार लोक सेवी बना देती है। 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' उक्ति को इन दिव्य नायिकाओं पर पूर्णत: लागू होती है।

इस युग के अन्य ऐतिहासिक नाटकों में बद्रीनाथ भट्ट द्वारा रचित 'चन्द्रगुप्त' (1915), 'दुर्गावती' (1926), 'तुलसीदास' (1925), सुदर्शन द्वारा रचित 'दयानन्द' (1917), मुंशी प्रेमचन्द का 'कर्बला' (1924), पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'महात्मा ईसा' 'वरमाला' (1925), चन्द्रराज भण्डारी का 'सम्राट

अशोक' (1923), आदि उल्लेखनीय हैं। बद्रीनाथ भट्ट के नाटकों में 'दुर्गावती' सर्वश्रेष्ठ हैं। इसकी घटनाएँ ऐतिहासिक हैं, तथा चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता है। संवाद एवं भाषा-शैली की दृष्टि से यह उत्कृष्ट रचना है। सुदर्शन 'दयानन्द' चरित्र प्रधान नाटक है। चरित्र-चित्रण एवं घटना क्रम के विकास की दृष्टि से यह भी एक सफल नाटक है। 'प्रेमचन्द का 'काबा कार्बला' पाठ्य रचना की दृष्टि से तो ठीक है किन्तु अभिनय की दृष्टि से दोष-पूर्ण है। नाटक की असाधारण लम्बाई, पात्रों की अत्यधिक संख्या, युद्ध मार-काट, सेना के प्रयोग आदि के दृश्यों के कारण यह अनभिनेय बन जाता है। इस वर्ग के अन्य नाटक महात्मा ईसा, 'प्रताप-प्रतिज्ञा' 'वरमाला' आदि अवश्य उच्च कोटि के नाटक हैं। इनमें ऐतिहासिकता, स्वभाविकता, एवं कल्पना का सुन्दर संयोग हुआ है।

2.4.2 पौराणिक नाटक

पौराणिक नाटकों की एक सशक्त परम्परा का प्रवर्तन इस युग से बहुत पूर्व ही भारतेन्दु-मण्डल के विभिन्न लेखकों द्वारा हो चुका था, जिसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। इस युग के पौराणिक नाटकों की एक सूची यहाँ प्रस्तुत है। 1. गंगाप्रसाद कृत रामाभिषेक नाटक' (1910), 2. ब्रजनंद कृत 'रामलीला नाटक' (1908), 3. गिरिधर लाल का 'रामवन यात्रा' (1910), 4. नारायण सहाय का 'रामलीला नाटक' (1911), 5. राम गुलाम का 'धनुष यज्ञ लीला' (1912), 6. महावीर सिंह 'नल-दमयन्ती' (1905), 7. गोचरण गोस्वामी का 'अभिमन्यु-वध' (1906), 8. लक्ष्मी प्रसाद का 'उर्वशी' (1910) 9. शिवनन्दन सहाय का 'सुदामा नाटक' (1907), 10. ब्रजनन्दन सहाय का 'उद्धव' (1909), 11. रामनारायण मिश्र का 'कंस-वध' (1910), 12. परमेश्वर मिश्र का 'रूपवती' (1907), 13. हरिनारायण का 'कामिनी' साधरण कोटि के हैं। इनमें से अनेक पर पारसी रंगमंच की छाप है।

2.4.3 कल्पनाश्रित नाटक

जिन नाटकों की कथा वस्तु में इतिहास पुराण और कल्पनामिश्रीत होती है उन्हें कल्पनाश्रित नाटक कहा जाता है। इस वर्ग के नाटकों के दो भेद किए जा सकते है– 1. प्रहसन एवं 2. सामाजिक नाटक । प्रहसनों के अंतर्गत मुख्यत: जे.पी. श्रीवास्तव द्वारा रचित 'दुमदार आदमी' (1919), उलट फेर (1919), 'मर्दानी औरत' (1920), बद्रीनाराण भट्ट द्वारा रचित 'चुंगी की उम्मीदवारी' (1919), 'विवाह विज्ञापन' (1927), बेचैन शर्मा के दो नाटक चार बेचारे सम्मिलित किए जा सकते हैं। सामाजिक नाटकों क अंतर्गत मिश्र बन्धुओं के नाटक मुंशी प्रेम चन्द्र का संग्राम, लक्ष्मण सिंह कां गुलामी का नशा प्रमुख नाटक है।

2.4.4. अनुदित नाटक

इस युग में संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी से अनेक नाटकों के अनुवाद किए गए सत्य नारायण भवभूती के नाटकों का रूपनारायण पाण्डेय ने बंगला के द्विजेन्द्र लाल राय के ऐतिहासिक नाटकों का तथा रवीनद्रनाथ ठाकुर के नाटकों का अनुवाद किया। अंग्रेजी के नाटकों का अनुवाद भी मुंशी प्रेमचन्द्र और ललित प्रसाद शुक्ल द्वारा किया गया।

1.5. प्रसादोत्तर युग

2.5.1 ऐतिहासिक नाटक

इस युग में ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा का विकास हुआ। हरिकृष्ण प्रेमी, वृन्दावन लाल वर्मा, गोविन्द बल्लभ पंत, उदय शंकर भट्ट इस युग के प्रमुख नाटककार हैं। हरिकृष्ण प्रेमी के ऐतिहासिक नाटकों में रक्षाबंधन (1934), शिव साधना (1937), स्वपन भंग (1940), आहुति (1940), उद्धार (1949), शपथ (1951) , भग्न प्राचीर (1954) आदि को सम्मिलित किया गया है। प्रेमी जी ने अपने नाटकों में प्राचीन इहिास

को न केवल मुगल कालीन इतिहास का संदर्भ लिया है और इसके परिपेक्ष में वर्तमान राजनैतिक, साम्प्रदायि एवं राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया है। वृदांवनलाल वर्मा इतिहास के विशेषज्ञ हैं उन ऐतिहासिक नाटकों में झांसी की रानी (1948), बीरबल (1950), ललित विक्रम (1953) आदि उल्लेखन हैं।

2.5.2. सामाजिक नाटक

गोविन्द बल्लभ पंत ने अनेक सामाजिक व ऐतिहाक नाटकों की रचना की है। उनके 'राज–मुकु (1935), 'अन्त: पुर का छिद्र' (1940) आदि ऐतिहासिक नाटक हैं। पहले नाटक में मेवाड़ की पन्ना ध का—पुत्र के बलिदान तथा दूसरे में वत्सराज उदयन के अन्त: पुर की कलह का चित्रण प्रभावोत्पादक रूप किया गया है। पंत के नाटकों पर संस्कृत, अंग्रेजी, पारसी आदि विभिन्न परम्पराओं का प्रभाव परिलक्षित हो है। अभिनेयता का उन्होने अत्यधिक ध्यान रखा है। उनकी कला का उत्कृष्ट रूप उनके सामाजिक नाटको मिलता है।

2.5.3 पौराणिक नाटक

इस युग में पौराणिक नाटकों की परम्परा का भी विकास हुआ। विभिन्न लेखकों ने पौराणिक आधार ग्रहण करते हुए अनेक उत्कृष्ट नाटक प्रस्तुत किए सेठ गोविन्द दास का 'कर्तव्य' (1935), चतुरसेन शास्त्र का 'मेघनाद' (1936), पृथ्वीनाथ शर्मा का 'उर्मिला (1950)' सद्गुरूशरण अवस्थी का 'मझली रानी रामवृक्ष बेनीपुरी का 'सीता की मां' गोकुल चन्द्र शर्मा का 'अभिनय रामायण', किशोरीदास वाजपेयी 'सुदामा' (1939) , चतुरसेन शास्त्री का 'राधा-कृष्ण' वीरेन्द्र कुमार गुप्त का 'सुभद्रा-परिणय', कैलाशन भटनागर के 'भीम-प्रतिज्ञा' (1934), और श्री वत्स (1941), उदय शंकर भट्ट के 'विद्रोहिणी अम्ब (1935), और 'सगर-विजय' (1937), पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'गंगा का बेटा' (1940), डॉ. लक्ष्म स्वरूप का 'नल-दमयन्ती' (1941), प्रभुदत्त ब्रहमचारी का 'श्री शुक' (1944), तारा मिश्रा का 'देवया (1944), गोविन्द दास का 'कर्ण' (1946), प्रेमनिधि शास्त्री का 'प्रणपूर्ति' (1950), उमाशंकर बहादुर वचन का मोल' (1951), गोविन्द बल्लभ पंत का 'ययाति' (1951), डॉ. कृषण दत्त भारद्वाज का 'अज्ञातवा (1952), मोहन लाल 'जिज्ञासु ' का 'पर्वदान' (1952), हरिशंकर सिन्हा 'श्रीवास' का 'मां दूर्गे' (1953) लक्ष्मी नारायण मिश्र के 'नारद की वीणा' (1946), और 'चक्रव्यूह' (1954), रांगेय राघव का 'स्वर्ण भूमि यात्री' (1951) , मुखर्जी गुंजन का शक्ति-पूजा' (1952), जगदीश का प्रादुर्भाव (1955), सूर्यनारायण मृ का महा विनाश की ओर (1960) आदि । प्राचीन संस्कृति के आधार पर पौराणिक गाथाओं के असम्बद्ध प असंगत सूत्रों में सबंध एवं संगति स्थापित करने का प्रयास पौराणिक नाटक हमें आज के जीवन की व्यापक एवं विशालता का संदेश देते हैं। रंग-मंच एवं नाटकीय शिल्प की दृष्टि से अवश्य इनमें अनेक नाटक दोषपू सिद्ध होंगे किन्तु गोविन्द बल्लभ पंत, सेठ गोविन्द दास, लक्ष्मीनाराण मिश्र, जैसे मंजे हुए नाटककारों ने इस कोई संदेह नही किया की ये नाटक विषय-वस्तु की दृष्टि से पौराणिक होते हुए प्रतिपादन-शैली एवं कला विकास की दृष्टि से आधुनिक हैं तथा वे समाज की रूचि एवं समस्याओं के प्रतिकूल नहीं हैं।

2.5.4 कल्पनाश्रित नाटक

इस युग के कल्पनाश्रित नाटकों को भी उनकी मूल प्रवृत्ति की दृष्टि से तीन वर्गों में विभक्त किया सकता है– 1. समस्या-प्रधान नाटक, 2. भाव-प्रधान, 3. प्रतीकात्मक नाटक। समस्या-प्रधान नाटकों प्रचलन मुख्यत: इब्सन, बर्नाड शॉ आदि पाश्चात्य नाटककारों के प्रभाव से ही हुआ है। पाश्चात्य नाटक के क्षे में रोमांटिक नाटकों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप यर्थाथवादी नाटकों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनमें सामान्य जीव की समस्याओं का समाधान विशुद्ध बौद्धिक दृष्टिकोण से खोजा जाता है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या प्रध

नाटकों में 'सन्यासी' (1931), 'राक्षस का मन्दिर' (1931), 'मुक्ति का रहस्य' (1932), 'राजयोग' (1934), 'सिन्दूर की होली' (1934), 'आधीरात' (1937), आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त इन्होने कुछ ऐतिहासिक नाटक भी लिखे थे। मिश्र जी के इन नाटकों में बौद्धिकतावाद, यथार्थवाद, एवं फ्रायडवाद की प्रमुखता है। सामाजिक नाटकों के क्षेत्र में सेठ गोविन्द दास, उपेन्द्र नाथ अश्क, वृंदावनलाल वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी आदि का महत्वपूर्ण योगदान है। सेठ गोविन्ददास ने एतिहासिक, पौराणिक विषयों के अतिरिक्त सामाजिक समस्याओं का चित्रण भी अपने अनेक नाटकों में किया है, जिनमें से 'कुलीनता' (1940), 'सेवा-पथ' (1940), 'दु:ख क्यों?' (1946), सिद्धांत-स्वातंत्रय (1938), 'त्याग या ग्रहण' (1943), 'संतोष कहाँ' (1945), 'पाकिस्तान' (1946), 'महत्व किसे' (1947), गरीबी-अमीरी' (1947), बड़ा पापी कौन' (1948) आदि उल्लेखनीय हैं। सेठ जी ने आधुनिक युग की विभिन्न सामाजिक राजनीतिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं का चित्रण सफलतापूर्वक किया है। ऊँच-नीच का भेद, 'भ्रष्टाचार एवं राजनीति के आधार पर नाटक लिखे। उपेन्द्र नाथ अश्क ने राष्ट्र की विभिन्न समस्याओं का चित्रण अपने नाटकों में किया उनके उल्लेखनीय नाटकों में कैद (1945), उड़ान (1949), छठा बेटा। (1955), अलग-अलग रास्ते प्रमुख हैं।

वृंदावनलाल वर्मा ने ऐतिहासिक और सामाकि नाटक लिखे नाटकों में राखी की लाज (1943), बांस की फांस (1947), नीलकंठ (1951), प्रमुख हैं। वर्मा जी ने इन नाटकों में विवाह जाति-पाति और सामाजिक बुराइयों का अकंन किया है। इस युग के अन्य सामाजिक नाटकों में उदय शंकर भट्ट का कमला (1950), हरिकृष्ण प्रेमी का 'छाया' प्रेमचन्द का प्रेम की बेदी (1933), चतुरसेन शास्त्री का पद ध्वनि (1952), शम्भू नाथ सिंह का धरती और आकाश (1954), उल्लेखनीय हैं। प्रतीकवादी नाटकों की परम्परा जयशंकर प्रसाद के कामना से मानी जा सकती है। सुमित्रानन्दन का 'ज्योत्सना' (1934), भगवती प्रसाद वाजपेयी का 'छलना', सेठ गोविन्द दास का नवरस एवं डॉ. लक्ष्मी नारायण दास का मादा कैक्टस' उल्लेखनीय है।

2.6. स्वातन्त्र्योत्तर युग

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात हिन्दी नाटक का विकास तेजी से हुआ कुछ लेखकों ने पुरानी परम्परा का ही निर्वाह किया किन्तु कुछ लेखकों ने नए शिल्प का प्रयोग किया। इसे हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—

2.6.1. सामाजिक एवं सांस्कृतिक नाटक

इस वर्ग में मुख्यतया नरेश मेहता, विनोद रस्तोगी, जगदीश चन्द माथुर, डॉ. लक्ष्मी नारायण दास एवं डॉ. शंकर शेष की रचनाएं आती हैं। जगदीश चन्द्र माथुर ने 'कोणार्क' (1952), पहला राजा (1969), 'दशरथनन्दन' (1974) में सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के विषय में लिखा है। विष्णु प्रभाकर ने युगे-युगे क्रान्ति 'टूटते परिवेश' आदि नाटकों में पारिवारिक एवं सामाजिक समस्याओं को चित्रित किया है। नरेश मेहता ने सुबह के घण्टे (1956), और खण्डित यात्राएं (1962) में आधुनिक राजनिति और विसंगतियों पर प्रकाश डाला है। डॉ. लक्ष्मीनारायण ने 50 से अधिक नाटकों की रचना की है—अंधा कुआ' 'रात रानी', दर्पण, 'कर्पूर्य', 'अब्दुला दीवाना', 'मि अभिमन्यु' उनके महत्वपूर्ण नाटक हैं। डॉ. शंकर शेष ने अपने नाटकों में व्यक्ति समाज और संस्कृति के अन्तर द्वंद्व को उदघाटित किया है। 'बिन बाति के दीप' 'फंदी', 'खुजुराहो के शिल्पी' एक और द्रोणाचार्य, उनके उल्लेखनीय नाटक हैं।

2.6.2. व्यक्तिवादी नाटक

इस वर्ग में मोहन राकेश, सुरेन्द्र वर्मा, रमेश बक्षी, मुद्रा राक्षस की रचनाएं आती हैं। मोहन राकेश ने अपने तीन नाटकों 'आषाढ़ एक दिन' (1958), 'लहरों के राजहंस' (1963), 'आधे-अधूरे' (1972), में व्यक्ति एवं समाज के द्वंद्व को प्रदर्शित किया है। सुरेन्द्र वर्मा ने 'द्रोपदी' (1972), 'सूर्य की अन्तिम किरण से

सूर्य की पहली किरण तक' (1975), और 'आठवां सर्ग' नाटक में परम्परागत मान्यताओं को चुनौती दी है रमेश बक्षी ने अपने 'देवयानी का कहना है' नाटक में वैवाहिक संस्था की उपयोगिता पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगाया है, इसी प्रकार मुद्रराक्षस ने 'तिल चट्टा' में विवाह के संबन्ध में परम्परागत मूल्यों के प्रति विद्रोह किए है। इस वर्ग के लेखकों की दृष्टि मुख्यत: व्यक्ति स्वातन्त्रय, अहम, और प्रेम संबंधों पर केन्द्रित रही है।

2.6.3. राजनैतिक नाटक

राजनीति सदा से ही नाटकों का विषय बनती रही है। स्वतन्त्रता के पश्चात राजनीति को आधार बनाकर अनेकानेक नाटक लिखे गए, जिनमें दया प्रकाश सिन्हा का इतिहास चक्र एवं कथा एक वंश की, विपिन अग्रवाल का 'ऊँची-नीची' टांग का जांघिया' हमीदुल्ला का 'समय संदर्भ', गिरीराज किशोर का 'प्रजा ही रहने दो' सुशील कुमार सिंह का 'सिंहासन खाली है, मणि मधुकर का 'रस-गन्धर्व' सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'बकरी' विशेष उल्लेखनीय हैं इनमें एक ओर जनता का शेषण करने वाले राजनीतिज्ञों का भण्डाफोड़ किया गया है तो इसमे दूसरी ओर सत्ताधारी वर्ग द्वारा किए जाने वाले अनाचार, दुराचार और भ्रष्टाचार का चित्रण किया गया है। इसके अतिरिक्त शरद जोशी का अन्धों का हाथी मन्नू भण्डारी का बिना दिवार का घर, शम्भू नाथ सिंह का 'धरती और आकाश' आदि भी उल्लेखनीय रचनाएं है। हिन्दी नाटक के क्षेत्र में डॉ. कुसुम कुमार का नाम भी महत्त्वूपर्ण 'संस्कार को नमस्कार' 'रावण लीला', इनके महत्वपूर्ण नाटक हैं।

2.7. उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी नाटक का विकास अनेक रूपों और अनेक दिशाओं में हुआ है। यद्यपि प्रारम्भ में हिन्दी रंगमंच के अभाव तथा एकांकी रेडियो रूपों एवं चलचित्रों की प्रतियोगिता के कारण इसकी विकास की गति मंद रही परन्तु स्वतन्त्र संस्थाओं द्वारा नाटकों का अभिनय किया जाता रहा है, टेलिविजन में दिखाए जाने वाले उबाउ विषयों से दर्शक धीरे-धीरे नाटक देखने की ओर पुन: उत्सुक हो रहे हैं। आशा है नाटकों का विकास पूर्व की भांति निरन्तर होता रहेगा।

संदर्भित पुस्तकें

स्वातन्त्रयान्तर हिन्दी नाटक	— डॉ० श्रीमती रीता कुमार
आधुनिक हिन्दी नाटकों में प्रयोग धर्मिता	— डॉ० सत्यवती त्रिपाठी
आधुनिक साहित्य कोश	— डॉ० चन्द्रकांत टोपीवाल
कला का जोखिम	— निर्मल वर्मा
अज्ञेय और मोहन राकेश के उपन्यासों में यथार्थ की परिकल्पना	— डॉ० रॉय जोसेफ
आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य	— डॉ० देवराज
प्रतिक्रियाएँ	— डॉ० देवराज
विवेक के रंग में संकलित निबन्ध	— श्रीकान्त शर्मा
विवेचना संकलन	— इलाचन्द जोशी
हिन्दी नाटक और नाटय समीक्षा	— स० नरनारायण
कला का जोखिम	— निर्मला वर्मा
हिन्दी नाटक	— बच्चनसिंह
आधुनिक हिन्दी नाटक का संघर्ष तत्व	— डॉ० सा० का० गायकवाड़
आधुनिक हिन्दी नाटक भाषिक एवं संवादीय संरचना	— गोविन्द चातक
आधुनिक नाटकों में प्रयोगधर्मिता	— डॉ० सत्यवती त्रिपाठी

बोध प्रश्न

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. आधुनिक युग की स्थिति का परिचय दीजिए।
2. आधुनिक युग ने नाट्य शास्त्र को क्या योगदान दिया है? समीक्षा कीजिए।
3. हिंदी साहित्य के आधुनिक युग का वर्गीकरण कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. भारतेन्दु हरिश्चन्द के सभी नाटकों के नाम तथा उनके वर्ष लिखिए।
2. राधाकृष्ण के द्वारा रचित किन्हीं तीन नाटकों के विषय में टिप्पणी लिखिए।
3. सन् 1800 से 1875 ई० के मध्य लिखे गए नाटकों और नाटककारों के नाम लिखिए।
4. पौराणिक नाटक और ऐतिहासिक नाटकों में क्या अन्तर है?
5. सामाजिक नाटक और व्यक्तिवादी नाटकों में क्या अन्तर है?

अति लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. नाटय-रचना की दृष्टि से सन् 1850 से अब तक के युग को कितने खंडों में विभक्त किया गया है? उनके नाम लिखिए।
2. भारतेन्दु हरिश्चन्द का नाटक 'विद्या-सुन्दर' किस भाषा का छायानुवाद था?
3. 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' तथा 'पाप-विखण्डन' किस प्रकार के नाटक हैं?
4. 'अमर-राठौर' नाटक की रचना किसने और कब की?
5. 'सज्जन' और 'स्कन्दगुप्त' किस विधा की रचना है? इनकी रचना किसने और कब की गई?
6. 'कल्पवृक्ष' किस प्रकार का नाटक है?
7. कल्पनाश्रित नाटक किसे कहते हैं?

इकाई (Unit)

3

मोहन राकेश : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

संरचना

3.1 प्रस्तावना

3.2 व्यक्तित्व

- 3.2.1 जन्म, जन्म स्थान
- 3.2.2 शिक्षा
- 3.2.3 अध्ययन-अध्यापन
- 3.2.4 पारिवारिक जीवन
- 3.2.5 आन्तरिक व्यक्तित्व
- 3.2.6 बाह्य व्यक्तित्व
- 3.2.7 सृजनशीलता

3.3 कृतित्व

- 3.3.1 कथा साहित्य
  - 3.3.1.1 नाट्य साहित्य
  - 3.3.1.2 आषाढ़ का एक दिन
  - 3.3.1.3 लहरों के राजहंस
  - 3.3.1.4 आधे-अधूरे
  - 3.3.1.5 पैर तले की जमीन (कमलेश्वर ने पूरा किया)
- 3.3.2 कहानी साहित्य
  - 3.3.2.1 इंसान के खण्डर
  - 3.3.2.2 नये बादल
  - 3.3.2.3 जानवर और जानवर
  - 3.3.2.4 एक और जिंदगी
  - 3.3.2.5 फौलाद का आकाश
- 3.3.3 उपन्यास साहित्य
  - 3.3.3.1 बंद कमरे में
  - 3.3.3.2 अन्तराल
  - 3.3.3.3 न आने वाला काल

3.3.4 एकांकी साहित्य
3.3.4.1 सत्य और कल्पना
3.3.4.2 अंडे के छिलके
3.3.4.3 प्याली टूटती है
3.3.4.4 बहुत बड़ा सवाल
3.4 कथेत्तर साहित्य
3.4.1 जीवनी साहित्य
3.4.1.1 समय सारथी
3.4.2 यात्रा साहित्य
3.4.2.1 आखिरी चट्टान तक
3.4.3 निबंध साहित्य
3.4.4 डायरी साहित्य
3.4.5 पत्र साहित्य
3.4.6 अनुदित साहित्य
3.4.7 संस्मरण साहित्य
3.4.8 भेंटवार्ता साहित्य
3.4.9 बाल साहित्य
3.4.10 आलोचना साहित्य
3.4.11 संपादन साहित्य
3.5 निष्कर्ष

3.1 प्रस्तावना

मोहन राकेश आधुनिक हिंदी साहित्य में कथा एवं नाट्य साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षर हैं। उनके नाट्य साहित्य पर देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में पर्याप्त मात्रा में शोधकार्य व प्रबंधन लेखन होते रहे हैं। मोहन राकेश बहुमुखी प्रतिभा के धनी कहलाते हैं। उन्होंने कहानी नाटक और उपन्यास जैसी साहित्यिक विधाओं में मौलिक लेखन किया है। किसी ने सही कहा है कि कलाकार या साहित्यकार की प्रेरणा-भूमि वेदना होती है। किसी की वेदना भौतिक और सांसारिक होती है, तो किसी की मानसिक। किसी भी दृष्टि के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। संस्कृत कवि भवभूति ने 'एकीरस करूणास्व' कहकर वेदना को महत्ता प्रदान की है। ठीक उसी प्रकार कवि पंतजी ने भी "वियोगी होगा पहला कवि, आह के उपजा होगा गान" कहकर वेदना ही प्रकट की है। हमारे साहित्यकार राकेश जी भी इससे अलग नहीं हैं। राकेश जी महाकवि निराला की परंपरा को पुष्ट करने वाले साहित्यकार हैं, जिन्होंने संपूर्ण वर्ग की वेदना को इसलिए अपने चारों ओर लपेट लिया कि उसकी समस्याओं का कोई समाधान प्राप्त कर सकें।

राकेशजी को एक व्यक्ति, एक मनुष्य, एक लेखक के रूप में जा नने-समझने के लिए उनका स्वयं का संपूर्ण साहित्य ही आईना है। उनकी रचनाएँ ही उनके व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित करती हैं। राकेशजी हमेशा संवदेनशील रहे हैं, किन्तु उनका व्यक्तित्व और स्वभाव सामान्य से बिल्कुल भिन्न है। भीड़ से बिल्कुल अलग दिखाई देने वाले व सारे समूह के बीच में अकेले से लड़ने वाले व्यक्ति राकेश जी ही थे। बाह्य रूप से देखें तो

एक खूबसूरत नौजवान, जिन्दादिल, स्पष्टवादी, जोर-जोर से ठहाके लगाता हुआ, आत्मीयता प्राप्त करने हे प्रसिद्ध कॉफी की चुस्कियों के साथ जीने वाले आदमी मोहन राकेश ही थे, किन्तु आंतरिक दृष्टि में कहीं बहु वीरान और उदास थे। उनके जीवन में अनेक ऐसी छोटी-बड़ी घटनाओं का संकलन रहा है, जिन्होंने उन अन्दर बैठे रचनाकार को झंकझोर दिया है और प्रभावित किया है।

3.2 मोहन राकेश : एक व्यक्तित्व

साहित्य, समाज और साहित्यकार तीनों एक दूसरे के पूरक होते हैं। 'साहित्य के तात्पर्य' नामक लेख गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने लिखा है 'साहित्य में मनुष्य अपने ही अंतरम का परिचय देता है। अपने अगोचर जैसे परिचय देता है पुष्प अपनी सुगंध में, नक्षत्र अपने आलोक में।'

मोहन राकेश का व्यक्तित्व और कृतित्व एक-दूसरे में समाहित है। एक इंटरव्यू में उनकी पूर्व पत्न सुशीला डोभाल ने कहा है कि 'हमारा अलगाव पर्सनैलिटी का क्लैश (व्यक्तित्वों का द्वंद्व) था। कोई कटुत नहीं थी। बस जैसे दो बुद्धिमान लोग अलग हो अच्छे ढंग से, वैसे ही अलग हुए।' राकेश के संपूर्ण रचना से पात्रों में ये पर्सनैलिटी का क्लैश दिखाई देता है। आगे सुशीला डोभाल ने स्पष्ट किया है कि 'मोहन राकेश सीधे-सादे थे। तिगड़मी नहीं थे। गोटियां बिछाने वाले नहीं थे।' मोहन राकेश के व्यक्तित्व पर उनके भौगोलिव और सामाजिक परिवेश की गहरी छाप रही। उनके व्यक्तित्व को अगर पंजाबियत से भी परिभाषित करें तं कतिपय गलत नहीं होगा। उनकी हंसी तो 'कुख्यात' थी, जिसे महानगरीय लोग असभ्य की श्रेणी में रखते हैं 'भारती, कमलेश्वर और राकेश के ठहाके बहुत मशहूर हैं, लेकिन उनमें राकेश का ठहाका बहुत जानदार था ऐसा लगता जैसे हंसी का भूचाल आ गया, पूरा जिस्म हिलता है। जिस्मों जान की रग में वह ठहाका मचलत है।' राकेश के एक मित्र ने अपना कहानी संग्रह उनके नाम समर्पित करते हुए लिखा है कि 'राकेश के नाम जिनके कहकहों से अक्सर मैं डर जाता हूँ।' संभवत: ये हंसी ही थी जिसके माध्यम से वे अपने अंतर्द्वंद्व और मन: स्थिति को छुपा लेते थे। वे पूरी जिंदगी विपरीत परिस्थितियों से घिरे रहे, लेकिन किसी के आगे मदद के लिए हाथ नहीं फैलाया। उलटा इस बीच मदद मांगने वालों को उन्होंने निराश भी नहीं होने दिया।

'उनके अंदर दो मोहन राकेश थे, दोनों में भीतर ही भीतर तीव्र और गहरा संघर्ष चल रहा था। उनकी रचनाओं में वही प्रकट हुआ है। भीतर जितनी टूटन और बिखराव था, बाहर उतने ही ज्यादा संवरे हुए, सलीकेदार और परिष्कृत व्यक्ति थे। उनके मित्र कमलेश्वर ने लिखा है 'राकेश कहीं टिकता नहीं और .... टिकता है तो उठता नहीं...कि वह सिर्फ यह चाहता है कि सबकी परेशानियां वह ओढ़ ले, उसके बारे में कोई बात न की जाए। कि वह लोगों को रगेदने के लिए पीछा करता है और उसकी हंसी में जहर बुझा हुआ है। ..... कि वह अपने में मस्त है और ऐसे निश्चल ठहाके लगाता है जो दुश्मन को भी दोस्त बना लेता है।' राकेश ने यारी की और निभाई भी। इसी कारण उन्हें कई बार नौकरी छोड़नी पड़ी, कई बार सामाजिक और आर्थिक संकटों का भी सामना करना पड़ा। यहाँ तक कि उन्होंने दोस्त के लिए अपनी पारिवारिक जिंदगी को भी खतरे में डाला, लेकिन ये दोस्ती उनके जीवन में कहीं-कहीं ही काम आई। बाकी अधिकतर जगहों पर उन्हें निराशा ही हाथ लगी। खासकर अपने साहित्यकार मित्रों से।

उनकी पत्नी अनीता राकेश ने लिखा है कि 'दोस्त इतने प्यारे थे कि लदे हुए बढ़ते चले आ रहे हैं। सीढ़ियों पर अनाप-सनाप टाइम हो या ..... और अनाप-सनाप संख्या चली आ रही है। मोहन राकेश ने खुद भी माना है कि उनके लिए दोस्ती सब कुछ है। उन्होंने कहा है 'तुम मेरे दोस्त हो तुम किसी का खून भी करके मेरे पास आओगे, मेरे दरवाजे तुम्हारे लिए खुले हैं।' राकेश के दोस्त भी उन्हें इसी तरह हाथों-हाथ लेते थे।

राकेश के दिल्ली से जालंधर जाने पर उनके दोस्त रवीन्द्र कालिया ने लिखा 'मैं इतना उदास हो गया, जैसे कोई प्रेयसी विदा हो गई हो।'

बचपन से लेकर जीवन के अंत तक राकेश विभिन्न स्तरों पर निरंतर जूझते रहे। उनके जीवन की घटनाओं ने उन्हें जुझारू, संघर्षशील और स्वतंत्र प्रवृत्ति का बना दिया। राजेंद्र यादव ने लिखा है कि 'अपने आप में वह निहायत चैलेंजिंग पात्र तो है ही दोस्तोयवस्की के पात्रों की तरह।'

3.2.1 जन्म-जन्मस्थान—मोहन राकेश का पूरा नाम मदन मोहन गुगलानी था। उनका जन्म 8 जनवरी 1925 को पंजाब प्रांत के अमृतसर नगर में हुआ। राकेशजी के पिता करमचन्द गुगलानी पेशे से वकील थे। वे अमृतसर के प्रतिष्ठित नागरिक, जागरूक कार्यकर्ता, साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाओं के पदाधिकारी एवम् साहित्य-संगीत में रूचि रखने वाले थे। बचपन कच्ची कोंपल के समान होता है जिधर भी मोड़ो मुड़ जाएगा। बचपन में पड़े प्रभाव व संस्कार पूरी जिन्दगी अपना अमिट प्रभाव बनाए रखते हैं। इनके पिता साहित्य प्रेमी तो थे ही, इसलिए बैठकों में मित्रों के बीच आदिकाल से लेकर आधुनिक काल के साहित्यकारों की आलोचना को राकेश जी बड़े ध्यान से सुनाते थे। इन साहित्यिक गोष्ठियों का गहरा प्रभाव राकेश जी पर पड़ा। बचपन से ही अपने चारों ओर के वातावरण के प्रति सतर्कता और प्रतिक्रिया का भाव राकेश जी के मन में पैदा हुआ। राकेश जी को जन्म के समय परिवार में जो परिवेश प्राप्त हुआ वह प्रभावपूर्ण और संतोषप्रद भी नहीं था। घर में आर्थिक विपत्ति, सीलन से भरा घर, माँ-दादी का अंकुश उनके बाल मानस पर अपने प्रभाव छोड़ता रहा। इन्हें जिस परिवेश में साँस लेनी पड़ती थी, वह अवांछित और एक भावी कलाकार के मन को कैसे भाति? शायद यही कारण रहा कि राकेशजी के मन में हमेशा दुनिया निकट से देखने एवम् जीवन अपने ढंग से जीने की कामना रही।

राकेश जी का बचपन जहाँ एक ओर साहित्यिक वातावरण से पूर्ण था, वहीं दूसरी ओर अपनी दादी माँ के अपार स्नेह के कारण अंध-विश्वासों से ओत-प्रोत भी था। दादी का महत्वपूर्ण व्यक्तित्व राकेश जी को हर नजर से बचाए रखना चाहता था। भूत-प्रेत, जादू-टोने, डायन आदि का इस तरह डर दिखाया जाता कि बचपन घर की चार दीवारों में ही बीता। आँख बचाकर कभी गली में निकल भी गए तो पकड़कर फिर बन्द कर दिया जाता। नाचने का मन होता, गली में धमाचौकड़ी मचाने को जी ललचाता, किन्तु दादी की आँखों से डरकर सीलन व बदबू तथा घी, अनाज, तरकारियों, धूप-चंदन की खूशबू से मिश्रित घर में बन्द रहना पड़ता था। इस प्रकार बचपन में राकेश जी की अलग ही दुनिया थी। उन्होंने स्वयं लिखा है—"कभी चीटियों की पंक्तियों के साथ दीवार के सुराखों की यात्रा करता हूँ।। कभी धूप में उड़ते जरों को आपस में लड़ाया करता हूँ। दीवारों के टूटते पलस्तर से लेकर हौज के बहते पानी तक मैं तरह-तरह के चहेरे खोजता हूँ।"

राकेश जी का बचपन कर्ज का बचपन था। वकील होते हुए भी उनके पिता कर्ज से लदे थे। राकेश जी ने बचपन में ही कर्ज वसूल करने वालों को घर आते-जाते देखा था। इन्हें पं. लोकनाथ एवम् सरदार विहालसिंह से बड़ी चिढ़ थी, जो कर्ज वसूल करने आते थे।

बचपन में किसी चीज को न छूना कड़े अनुशासन को प्रेरित करता था। धन के अभाव के कारण मकान की मरम्मत नहीं हो पाती थी। दादी माँ का पूजापाठ देखकर बाल राकेश के मानस पट पर नाना प्रकार के विचार उठते थे। इस तरह धीरे-धीरे ये बाह्याचार, अनुशासन, नियम आदि के कारण रूढ़ियों के कट्टर आलोचक बने और यहीं से गंभीर चिन्तन और मनन का प्रवेश हुआ। हर स्थिति पर गहराई से सोचने की, सोचते रहने की प्रवृत्ति बनती गई। उनकी बाल्यावस्था में ही पिता का असमय निधन हुआ। घर का कारभार—16 वर्ष की अल्पायु में राकेश जी के नाजुक कन्धों पर आ पड़ा। इस जिम्मेदारी को निभाने में इन्हें कटु सत्यों का सामना करना पड़ा। अपने पिता की मृत्यु का कारूणिक दृश्य हमेशा उनके मानस-पट पर छाया

रहा। पिता की मृत्यु पर माँ की सोने की चूड़ियाँ बेचकर किराया चुकाने के बाद ही मुर्दा उठने देना एक ऐसी प्रक्रिया थी जो उनके जीवन का एक कटु अनुभव बन गई। अनेक ऐसी घटनाएँ घटित हुई जिनसे उन्हें यही लगता रहा कि कभी-कभी ऐसी घटनाएँ घटित हो जाती हैं जो कभी नहीं बीतती। "पिता की मृत्यु के बाद अनेक शोक सभाएँ हुई, भाषण हुए लेकिन सब निरर्थक थे। फिर कोई झाँकने भी नहीं आया।" इसीलिए राकेशजी मुख्य रूप से जिन्दगी की असलियत जीना चाहते थे। जैसे है वैसे बनकर जियें और विश्वास के साथ जियें, तो इनके हितों को क्या क्षति पहुँचेगी?

अल्पायु में ही लोगों के नकली मुखोटों के प्रति राकेश जी सचेत हो गए। अपने से बाहर घर को, घर से बाहर सामाजिक बंधनों को प्रश्नात्मक दृष्टि से देखने लगे। राकेशजी यही साचते रहे कि लोग दिखावटीपन की झिल्लियाँ उतारकर क्यों नहीं रखते? पिता की मृत्यु के बाद उन्होंने हिन्दी में लिखना प्रारंभ किया। 'राकेश' उपनाम रखकर वे मोहन राकेश बन गए।

3.2.2 शिक्षा—राकेश की प्रारंभिक शिक्षा अमृतसर में हुई। लाहौर से उन्होंने मात्र 16 साल की उम्र में 'शास्त्री' की उपाधि हासिल की, फिर अंग्रेजी में बी.ए. पास की। भारत-पास्तिान विभाजन के बाद राकेश ने जालंधर से हिंदी साहित्य में एम.ए. की परीक्षा पास की। राकेश ने शिक्षा विषम परिस्थितियों में ग्रहण की। 'बहन स्कूल में काम करके घर चलाती थी और राकेश ट्यूशन से अपना खर्च निकालते थे। परिस्थितियाँ ऐसी आ गई कि बहन घर को संभाल न सकी और इधर राकेश जी का ट्यूशन भी बंद हो गया। यदि उस समय कालेज के प्रिंसिपल स्व० लक्ष्मण स्वरूप उनकी सहायता न करते तो वह बोरिया बिस्तर बांधकर घर लौट आते।'

3.2.3 अध्ययन-अध्यापन—'संस्कृत में एम.ए. के बाद मदन मोहन गुगलानी ने सबसे पहले फिल्मों के लिए कहानी लिखने का काम हाथ में लिया। बहुत जल्द उन्हें पता चल गया कि ये काम उनकी पद्धति के अनुकूल नहीं है।' उन्होंने कृष्णचंदर से भी कहा था, 'जिस तरह तुम फिल्मों के लिए लिख लेते हो मैं नहीं कर सकता। कैसे तुम ऐसी फिल्मों के लिए लिख देते हो। मैं दो खाने नहीं बन सकता, मेरा सारा वजूद एक खाना है।' इसके बाद उन्होंने 1947 में बम्बई विश्वविद्यालय के एलफिन्स्टन (सिडनहम कॉलेज आफ कॉमर्स, बम्बई) में लैक्चररशिप ज्वॉइन की, लेकिन आँखों के कमजोर होने के कारण उन्हें नौकरी छोड़नी पड़ी। इसके बाद उन्होंने जालंधर के डी.ए.वी. कालेज में बतौर प्राध्यापक ज्वॉइन किया, लेकिन टीचर्स यूनियन की गतिविधि में शामिल होने के कारण यह नौकरी भी छोड़नी पड़ी। अपने इस अनुभव को उन्होंने 'लेड़ाई' नामक कहानी में पाठकों के साथ साझा किया हैं। कुछ समय बेकारी झेलने के बाद शिमला के बिशप कॉटेज स्कूल में नौकरी मिल गई, किन्तु यहाँ से भी उनका मन जल्द ही भर गया और 1952 में उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। इसके बाद फिर उन्हें जालंधर के डी.ए.वी. कॉलेज में हिंदी विभाग का अध्ययक्ष बना दिया गया। यहाँ भी बंधनों से मुक्त होने के लिए उन्होंने 1957 में इस्तीफा दिया, लेकिन आर्थिक कारणों से फिर उन्हें 1960 में दिल्ली विश्वविद्यालय में लैक्चररशिप ले ली और शीघ्र ही उसे भी छोड़ दिया। उन्हें किसी तरह का बंधन मंजूर नहीं था, चाहे वह परिवार का हो या फिर नौकरी का। अपनी डायरी में उन्होंने लिखा है 'बहुत कोफ्त होती है इस जिंदगी में, वही रोज की जिंदगी। अनचाही अनमने ढंग से काम ..... वरना सारा टैस्टमैंट बदल गया ..... होता एक-एक करके सात-सात पीरियड। इससे कहीं आसान था क्रॉस कंधों पर लेकर चलना।' अपनी मजबूरी में उन्होंने नौकरी के रूप में ही अध्यापन कार्य किया, लेकिन लेखन में बाधा होने के कारण वह यहाँ भी ज्यादा समय तक नहीं टिक सके।

3.2.4 पारिवारिक जीवन—"मोहन राकेश ने संघर्षपूर्ण जिन्दगी पाई थी। संघर्षपूर्ण जिन्दगी की सारी उलझने कड़वाहट और अनुभूतियाँ उनकी रचनाओं में मुखोटा लगाए हुए दिखाई पड़ती हैं।"

इसी संघर्षमय जीवन में पारिवारिक सुख की लालसा से उन्होंने सन् 1950 में विवाह किया। उन्होंने विवाह तो किया किन्तु उनका मन कुछ उदास सा रहता। उसे महसूस हुआ कि ..... "विवाह के साथ ही सहसा मैंने अपने को रुके पाया, रुके हुए ही नहीं जड़ और स्तंभित। मैं जहाँ था वहाँ अपने को पाने के लिए या मानने के लिए कि मैं वहाँ हूँ, तैयार नहीं था।-- राकेशजी आंडंबरहीन थे। भावुक हृदयी होने के कारण उन पर किसी भी बात का असर बहुत अधिक एवम् जल्दी पड़ता था। वे अहंवादी थे। अपने अहं की उपेक्षा वे सहन नहीं कर पाते थे। वास्तविकता ही उनकी आस्था थी। यही कारण रहें कि उन्हें अपने इस वैवाहिक जीवन में असफल रहना पड़ा। राकेशजी ने स्वयं लिखा है कि—"विवाह नाम है समझौते का, एडजेस्टमैंट का, पर अगर दोनों ओर से हो तब न ..... अगर दोनों ही अपनी कामनापूर्ति के लिए एक दूसरे के लिए नहीं हैं, तो हाँलाकि कभी-कभी इस नये वातावरण के नये असर की अनुभूति तन-मन भर देती और जीने और काम करने की कामना को उससे उकताहट भी मिलती, लेकिन यह अनुभूति भी उसके साथ स्थायी नहीं रह पाती। तनाव के उलझनों के क्षण बार-बार आते रहते। 'मैं' का प्रश्न अपने व्यक्तित्व का प्रश्न स्वतंत्र होकर लेखन की छटपटाहट निरंतर बढ़ती जाती। तुम जो हो, वह भी बनी रहना चाहो और अतिरिक्त लेना चाहो वह क्यों होगा.....। किसी दूसरें को उपादान रूप में कभी मत ग्रहण करो, पुरुष हो, भावना हो या पत्थर। अपने से बाहर उसके स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकारो, फिर उसे छुओ ..... देना भी एक उपलब्धि है, उसमें भी सार्थकता है।'

राकेशजी पहले लेखक थे फिर पति। वे विवाहित जीवन व्यतीत करते हुए स्वच्छंद भी रहना चाहते थे। अपने लेखन कार्य में बिलकुल स्वतंत्रता उनका ध्येय था। वह अपने बाह्य अस्तित्व को किसी भी प्रकार कम नहीं होने देना चाहते थे। इस कार्य में उनके साहित्यिक मित्रों ने राकेशजी को बहुत सहयोग दिया। उनके वैवाहिक जीवन को बनाए रखने में समझौता करवाने में इन सबका बहुत प्रयास रहा। राकेशजी की प्रथम पत्नी भी अहंवादी थी। शायद यह भावना राकेशजी के समकक्ष पढ़ी-लिखी होने के कारण थी। वह नौकरी करती थी एवम् वेतन भी राकेशजी की तुलना में अधिक पाती थी। स्वतंत्र विचारों की महिला किसी भी प्रकार की परिस्थिति का मुकाबला करने को सदैव तत्पर थी। अतएव दोनों ही अहंवादी एवम् अपनी बातों पर अड़े रहने वाले थे। यही कारण था कि इनके वैवाहिक जीवन में दरार पड़ती गई। राकेशजी इस स्थिति में घर में घुटन अनुभव करने लगे। घर की आर्थिक स्थिति भी कुछ डाँवाडोल होने के कारण वे काफी द्विधा का अनुभव कर रहे थे। "सन् सतावन के अगस्त महीने में सम्बन्ध-विच्छेद के कागज पर हस्ताक्षर करके अपने असफल विवाह-सम्बन्ध से भी मुक्त हो चुका था।"

उन्हें अपनी पत्नी की कमी का अहसास भी हुआ था। उनके एक मित्र ने लिखा है, "उनकी पत्नी वापस चली गई, परंतु घर को लगता था, अभी भी किसी छाया ने ग्रसा हुआ है। राकेशजी वैसे बहुत सेंसेटीव थे। किसी बात को लेकर परेशान हैं, यह वे आराम से स्वीकार नहीं करते थे, परंतु उस दिन मेरे साथ वे कुछ अधिक कोमल हो उठे। ..... उस दिन जब मैंने उन्हें कुरेद दिया तो सुबक पड़े।

राकेशजी एक सुखी परिवार की खोज में हमेशा रहे किन्तु उन्हें अपने जीवन में वही नहीं मिला। उनके जीवन में अनेक प्रेमिकाएँ आई जिन्हें उन्होंने 'क', 'र' 'स' आदि नामों से पुकारा है। उन प्रेमिकाओं में उन्हें या तो वासना की गंध मिली या बचपना। परिपक्वता जो वह चाहते थे किसी में न मिली। उन्होंने शादियाँ भी की किन्तु किसी भी शादी को सफलता न मिली। कहीं पत्नी का अहम् आगे आता, तो किसी पत्नी का पागलपन। अपनी पहली पत्नी से तो तालमेल बिठाना भी चाहते थे किन्तु दोनों का अहम् आड़े आता था। गृहस्थी की गाड़ी के दोनों पहियों में से एक के खराब होने पर दूसरा उसे जैसे-तैसे खींच सकता है, किन्तु दोनों पहियों के टस से मस न होने पर उसे कौन हिला सकता है? यही हाल राकेशजी का रहा और उसका अन्त तलाक में परिवर्तित हो गया। यद्यपि राकेशजी अपने इस बिखराव को समेटना चाहते थे, किन्तु वह बिखरता ही गया। उनके जीवन

में प्रेमिकाओं का चक्र चलता रहा। उनका व्यक्तित्व लड़कियों को अपनी ओर आकर्षित करता था किन्तु अपरिपक्व मानसिकता से ही इनका सम्बन्ध हुआ। राकेशजी में पुरुषत्व का अहम् था। वह अपने पर आश्रित पत्नी चाहते थे और उसी में इन्हें धोखा होता रहा। बार-बार विवाह-तलाक होने के कारण राकेशजी अंदर से टूट गए। पारिवारिक शांति की तड़प इनमें रहने लगी। धीरे-धीरे विवाह के नाम से भी घृणा उत्पन्न हो गई। कुछ लेखकों ने राकेशजी पर आरोप भी लगाया है कि कपड़े बदलने के समान राकेश पत्नियाँ बदलता रहा। यह सही है कि बार-बार विवाह व तलाक से पारिवारिक असंतोष ही उत्पन्न होता है किन्तु कभी-कभी परिस्थितियाँ ऐसा वातावरण उपस्थित कर देती हैं कि मनुष्य उनके सामने विवश हो जाता है।

इन परेशानियों के मध्य राकेशजी ने अपना लेखन कार्य चालू रखा। पुन: 9 मई 1960 को राकेशजी दाम्पत्य सूत्र में बंध गए। उन्हें लगा कि इनकी खोज पूरी हो गई किन्तु यहाँ भी वे धोखा खा गए। यह लड़की मानसिक रूप से विक्षिप्त थी, इस लड़की के कारण अनेक जगह अपमानित होना पड़ा। यहाँ तक की 'सारिका' के कार्यालय से कार्य छोड़ देना पड़ा। तरह-तरह के लाँछन लगाए गए। अन्त में इस घुटन भरी जिन्दगी का अंत भी तलाक के रूप में हुआ।

अन्त में अनीता इनके जीवन में रोशनी बनकर आई। जीवन की सारी खुशियों से जिनकी झोली भरने को राकेशजी तत्पर रहते थे। अपने संबंध में उन्होंने लिखा है—"अनीता तुम तीसरे नंबर पर हो, पहले नंबर पर मेरा लेखन, दूसरे पर मेरे दोस्त, तीसरे पर तुम।" अनीता के साथ उन्होंने अपना नया गृहस्थ जीवन प्रारम्भ किया। अपने दोनों बच्चों पूर्वा एवम् शैली से बहुत स्नेह रहा। राकेशजी का पत्नी प्रेम भी कम नहीं था। उसी प्रेम से उन्होंने एक जीवन-तथ्य को स्पष्ट किया कि स्त्री-पुरुष के संबंध का आधार सेक्स ही नहीं है, उससे हटकर भी कुछ है, जो उम्र और शरीर के ढलान के साथ जुड़ा नहीं है।

3.2.5 आंतरिक व्यक्तित्व—पारिवारिक विडम्बनाओं, पिता की मृत्यु, सोलह वर्ष की आयु में परिवार का सारा बोझ, विवाह, तलाक, पुन:विवाह, जीवन की अस्थिरता आदि ने राकेशजी की रचनाओं को एक नई दिशा प्रदान की। राकेशजी के विषय में लेखकों की भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं, कोई उसे निहायत गैरजिम्मेदार बताता है कोई कहता है लिखता तो बहुत अच्छा है किन्तु आदमी अच्छा नहीं है। वह सकून की खोज में खाना-बदोशों की तरह भागता फिर रहा है। उनके व्यक्तित्व की ये बातें हमें उस बिन्दु पर ले जाती है जहाँ हम अनुशासनहीनता और बिखराव पाते हैं।

"वह निहायत गैर-जिम्मेदार और अनुशासनहीन व्यक्ति है, वह संवेगों के आवेश में काम करता है, एक सही काम करते-करते तुनक कर गलत काम कर बैठता है ..... पर सतह से नीचे उतरते ही जबरदस्त अनुशासन-दिखाई पड़ता है। वह अनुशासन है दिमाग का और अनुशासन का। उपरी जिंदगी में यह असंगठित और बिखरा हुआ दिखाई देता है उतना ही संगठित और सुव्यवस्थित है उसके लिखने की प्रक्रिया ..... और सृजन के इसी संतुलन, संवरण, संगठन और अनुशासन के लिए यह आदमी भागता है कभी कश्मीर, कभी डलहौजी, कभी शिमला और कभी सुनसान वीरानों में।"

राकेशजी नाटककार से पहले कहानीकार थे किन्तु सन् 1958 में प्रकाशित 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक ने नाट्य जगत में धूम मचा दी। इस नाटक में लेखक का स्वयं का जीवन झाँकता है। 'लहरों के राजहंस' व 'आधे-अधूरे' में पारिवारिक असंतोष, घुटन का प्रभाव है। राकेशजी का जीवन अस्थिर और अनिर्णित रहा। कभी कुछ छोड़ा कभी कुछ ग्रहण किया। पद-त्याग एवम् पत्नी-त्याग की प्रक्रिया उनके जीवन में समानान्तर चलती रही। जितनी तीव्रता ग्रहण करने के प्रति रहती थी उतनी ही छोड़ने के प्रति भी। इससे उनके व्यक्तित्व का यही मनोवैज्ञानिक तथ्य उजागर होता है, कि उन्होंने चुनाव में गलतियाँ की थी। फिर चाहे वह घर हो या व्यावसायिक जीवन। यही गलत चुनाव की स्थिति उनके नाटकों के कई पात्रों में देखने को मिलती है।

जो लोग राकेशजी के परिचय परिधि में थे, वह उन्हें अच्छी तरह जानते थे कि उनके पास आत्मीयता का अक्षय कोष था। उसे वह सदाव्रत की तरह बाँटा करते थे। इस कारण हर किसी को उनका अंतरंग होने का दावा करने का मन करता। मित्रता उनके लिए सर्वोपरि थी। कमलेश्वर, अश्क, दुष्यन्त, राजेन्द्र यादव, जगदीशचन्द्र माथुर, महेन्द्र भल्ला, जैनेन्द्र, सुरेन्द्र चतुर्वेदी आदि उनके अभिन्न मित्रों में से थे। दोनों ओर के समान भाव सच्ची मित्रता को जन्म देते हैं। यही कारण रहा कि कितनी भी नाजुक परिस्थिति राकेशजी की रही हो, उनके मित्रों ने उन्हें कभी अपने से अलग नहीं माना। सब एक परिवार के समान थे। घर में दोस्तों को लेकर साहित्य चर्चा, गपशप में उन्हें खुशी मिलती थी, आत्मिक सुख मिलता था। राकेशजी ने अपने मित्रों के बीच रहकर जीना सीखा। इनके पारिवारिक विघटन के दौरान भी इनके ये दोस्त ही आगे आकर उनका हाथ बंटाते रहे। उन्हें अपने जीवन में कभी अकेलेपन का अनुभव नहीं हुआ। मित्रों के बीच परिवार एवम् बच्चों का जिक्र खुले रूप से करते थे। बचपन को वे स्वर्णिम अवस्था मानते थे। बच्चों को देखकर स्वयं बचपन के प्रति लालायित हो उठते थे। इसीलिए अपनी डायरी में जहाँ भी बचपन संबंधी कुछ लिखना हुआ है वे भावुक हो उठे हैं।

राकेशजी का व्यक्तित्व कल्पनात्मक व्यक्तित्व था। छोटी से छोटी बात भी उन्हें सोचने को मजबूर कर देती थी। फिर चाहे वह थर्ड क्लास का वेइटींग रूम हो या बम्बई का इक्वेरियम। सौन्दर्य किसे प्रभावित नहीं करता, प्रत्येक व्यक्ति सुन्दरता की ओर आकर्षित होता है। अन्तर रहता है तो सिर्फ चिन्तन का। कुछ सुन्दरता देखकर आह्लादित होते हैं तो कुछ उसको बनाने वाले के विषय में कल्पनात्मक विचरण करने लगते हैं। इसी प्रकार राकेशजी छोटी-छोटी रंग-बिरंगी मछलियों को देखकर, फूलों व तितलियों के रंग एवम् आकार के वैविध्य को देखकर इनकी सृष्टि करने वाले की सूक्ष्म दृष्टि के बारे में सोचते हैं।

इनका लेखकीय व्यक्तित्व बहुत जल्दी शुरू हो गया था। चारों ओर के वातावरण ने उन्हें लेखन कार्य की शक्ति दी। लेखन कार्य करने के लिए शान्त वातावरण हेतु राकेशजी जगह-जगह घूमते रहे। सभी जगह प्रकृति सौन्दर्य ने इन्हें अपनी ओर रिझाया है। रात को सोते समय भी समुद्र की गर्जन, बादल, बिजली, वर्षा आदि राकेशजी में प्रकृति के प्रति एक ललक पैदा करते रहे। लेखन आपके लिए हमेशा अग्रणी रहा और नौकरी एक बन्धन। नौकरी तो सिर्फ आर्थिक संरक्षण के लिए की, फिर भी उससे भागने की ही सोचते रहे। अपने मन से स्वयं प्रश्न उत्तर करते रहते। वह सोचते रहते कि नौकरी एक बंधन है, इस नौकरी के फन्दे को गले से उतार कर खुली स्वतंत्र हवा में जीना चाहते थे। जीवन में ख्याति को उन्होंने कभी उपलब्धि नहीं माना। इनकी उपलब्धि इनकी खोज है, उसे पाना चाहते थे। स्वच्छंद प्रकृति के राकेशजी भला बंधन कैसे स्वीकार करते?

मित्रों, पत्नियों एवम् प्रेमिकाओं के सहचर्य ने—व्यवहार ने उनकी दृष्टि, उनके विश्वास और जीवन के दृष्टिकोण को ही बदल डाला। वह सरल हृदय व्यक्ति थे तभी किसी भी व्यक्ति पर विश्वास कर लेते थे और इसी विश्वास ने उन्हें जगह-जगह पर छला है। उनका यह कथन सही है कि, "सबसे गहरे घाव उनके हाथों से लगे हैं, जिन्हें मैंने वर्षों अपने घनिष्टतम मित्र माना है।" यहीं पर वे इस नतीजे पर पहुँचे कि सभी संबंधों के निर्वाह के लिए कूटनीति (डिप्लोमेसी) आवश्यक है। वे स्पष्टवादी थे यही कारण रहा कि, वे अपने लिए एक चेहरा व दुनिया के लिए दूसरा चेहरा न रख सके। इसी कमजोरी के कारण जगह-जगह उन्हें विश्वासघात का शिकार होना पड़ा। जिस मित्र को अपने से बड़ा मानकर उसे प्यार किया। उसकी कद्र की उसीने अन्त में उन्हें भला-बुरा कहा। इसी से राकेशजी ने अनुभव किया कि शरीर के दर्द से आदमी कराहता है किन्तु विश्वासघात के दर्द से आदमी दबता है, टूटता है इसी कारण उनके जीवन में दर्द अधिक है। "मानवी संबंध 'Enternal' तो होते नहीं। मित्रता और मानवी संबंध के विश्वास को उस घटना (मित्र का अपनी बहन पुष्पा के प्रति प्रेम) ने इतनी चोट पहुँचाई कि लगता है, प्रत्येक पर सन्देह करना चाहिए मन में सन्देह उठे तो भी उसे दबा देना

चाहिए। जीवन विश्वास से नहीं 'टेक्ट' से चलता है।'' इसी 'टेक्ट' (चातुर्य) की इनमें कमी थी। कई बार अपने आप से ही टूट जाते हैं, स्वयं से ही विरोध कर बैठते हैं। स्वयं से ही अपने दुश्मनों की सूची पूछते हैं कि उसने कितने-कितने दुश्मन बना रखे हैं। उनका यह विरोधी व्यक्तित्व कुछ समय तक रहता है फिर पलायन कर जाता है वे अपने उसी रूप में पुन: आ जाते हैं।

राकेशजी के जीवन और विचार शक्ति में दार्शनिकता की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। व्यक्ति के मन की उड़ान, उसकी तड़प पर उनकी पकड़ अच्छी थी। जिस प्रकार नीड में जाकर मन आकाश में उड़ान भरने की तड़पने लगता है और आकाश में उड़ते समय नीड की उष्णता उसके पीछे लगी रहती है। उसी प्रकार राकेश को कोई बंधन बंधता भी नहीं है और मुक्ति, मुक्ति नहीं देती। वह स्वयं को ही समाज, समूह, युग विस्तार रूप में देखते हैं, क्योंकि जिससे भी मिलते हैं सब के अंदर व बाहर के मुखौटे अलग-अलग हैं। अत: साथ वाले का व्यक्तित्व इन्हें एक मुखौटा और दे जाता है। जीवन में मनुष्य अनुभव से कितना कुछ सीख जाता है।

असुरक्षा, आन्तरिक विक्षोभ, निर्वासन, जीवन की शून्यता के अहसास को उन्होंने अन्दर से भोगा थ अनेक अनुभव उन्हें बाल्यावस्था में ही हुए थे। अपने वैवाहिक जीवन में स्त्री-पुरुष की संबंधहीनता को झेल उनमें आत्मीयता की भूख थी। उन्हें एक ऐसे सुरक्षात्मक घर की तलाश थी जहाँ उन्हें सांत्वना और सुख मिल जो उन्हें कभी न मिल सका। माँ उनके लिए आधार स्तंभ थी पर उनके अवसान के बाद राकेशजी एकदम स्तंभित रह गए, उनका भावात्मक जगत बिखर कर टूट गया। स्थितियों और चिन्तन की मिली जुली संधि अभिव्यक्ति के कारण ही कालिदास, नन्द एवम् महेन्द्रनाथ जैसे पात्रों ने उनके नाटकों में जन्म लिया।

3.2.6 बाह्य व्यक्तित्व—राकेशजी के व्यक्तित्व का निर्माण किसी एक तत्त्व के कारण नहीं हुआ वरन् चहुमुखी धाराओं ने उसे उजागर किया। अंतरंग कारणों से उनके व्यक्तित्व में उतना विकास परिलक्षित न होता, जितना कि बाह्य परिस्थितियों के सहयोग से होता है। आंतरिक परिस्थितियों में राकेशजी को सीमित संदर्भ दिए जो बाह्य क्षेत्र में जाकर विभिन्न परिवेश में पुलकित हुए। इस बात को उनके साथियों ने भी अलग-अलग ध्वनियों में व्यक्त किया है और राकेशजी के स्वयं के जीवन के अंतरंग पृष्ठों पर दृष्टि डालें तो वे भी बहिरंग मेरी ऐसी मान्यता है कि सामाजिक परिवेशों में जो घुटन व्यक्ति पाता है बाह्य परिवेशों में उन ग्रन्थियों को बड़ी गहराई से घिरा हुआ है जिसमें उनके साहित्य-चिन्तन को बड़ी गहराई प्रदान की है। राकेशजी एक चलता फिरता इतिहास थे। भारत के भौगोलिक विभिन्न आयामों में उन्होंने अपने जीवन के कई क्षण इस तरीके से गुजारे हैं, जिसमें वह व्यक्ति भी रहे हैं और व्यक्तित्व के सीमित क्षेत्र से बाहर निकले हैं, वैसे कोई भी व्यक्ति अपनी समस्त जीवन की अभिव्यक्ति आंतरिक परिस्थितियों में नहीं कर सकता, उसके जीवन के महत्तम भाग पर बाह्य परिस्थितियों का प्रभाव होता है। यह बात मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सही उतरती है। मनुष्य इन बाह्य परिस्थितियों से जीवन के राजमहलों में विभिन्नता लाता है। अगर ऐसा न हो तो व्यक्ति में एकदम एकाकीपन या एकान्तिता उत्पन्न हो जाएगी और वह केवल एक स्थित व्यक्ति बनकर रह जाएगा और राकेशजी ऐसे स्थित चरित्र नहीं थे। अंतरंग से बहिरंग क्षेत्र में आने के बाद ही व्यक्ति की असलियत उसका वास्तविक चेहरा चिन्तन तथा विश्व के सामंजस्य या संघर्ष करने की शक्ति का अहसास होता है। केवल आंतरिकता व्यक्ति को अंतर्मुखी बना देती है और इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति अत्यंत ही बौना हो जाता है। राकेशजी इस बौनेपन की स्थिति से बहुत आगे निकल चुके थे। उन्होंने अपने आपको आदि से अनादि तक फैलाने की जो आकांक्षाएँ की थी वे इसी बहिरंगता का परिणाम थी। राकेशजी ने जो अपनी व्यक्तिगत डायरी लिखी थी उससे अवश्य ही यह स्पष्ट हो जाता है, कि वे अपने बाह्य जीवन में रचे-पचे थे। हम जब भी किसी साहित्यकार के मूल्यांकन को अपनी विवेचन सीमा में प्रस्तुत करें तो यह आवश्यक हो जाता है, कि हम उसके सर्वांगिण और विशेषकर उ पहलुओं, क्षणों का सूक्ष्मतम् दर्शन करें और दिग्दर्शन कराये जिसके माध्यम से उसका साहित्यकार साहित जगत में अवतरित होता है।

वैसे मैंने अपने इस शोध कार्य में राकेशजी के परिचय में उनके पारिवारिक संदर्भ दिए हैं। वह केवल इसलिए कि व्यक्तित्व के निर्माण में आनुवंशिक विज्ञान (जैनेटिकसायन्स) के आधार पर गुण और अवगुण का मूल्यांकन इसी परिवेश में हो सकता है। विकास, अध्ययन और क्रियात्मकता ये तो व्यक्ति के अपने एकदम निजी क्षेत्र हैं इसे उसके किसी भी अन्य पक्ष से नहीं जोड़ा जा सकता। बाह्य पक्ष में मैने मोटे तौर पर उन पलों को समेटने का प्रयास किया है, जिन्हें वृहद रूप में सामाजिक कहा जा सकता है।

3.2.7 सृजनशीलता—राकेश जी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी, ध्वनि नाटक, बीज नाटक, रंगमंच के क्षेत्र में उनका नाम अग्रणी लेखकों में शुमार हैं। उन्होंने अपने जीवन में लेखन को ही सर्वोपरि रखा। उन्होंने लिखा है 'अनीता तुम तीसरे नंबर पर हो—जिंदगी में पहले नंबर पर मेरे लिए लेखन है, दूसरे नंबर पर दोस्त और तीसरे नंबर पर तुम, लेकिन तीनों मेरे लिए आवश्यक हैं।' राकेश अपने लेखन का प्रेरणास्रोत पिता को मानते हैं। घर में साहित्यिक माहौल के कारण ही उनका मन-मस्तिष्क साहित्य की ओर अग्रसर हुआ। उन्होंने 1962 में सारिका के बतौर संपादक नए क्षेत्र में कदम रखा, लेकिन साल भर में ही उन्होंने इस नौकरी को भी छोड़ दिया।

'राकेश के साहित्य में बदलते सामाजिक परिवेश की झलक मिलती है। राकेश ने बचपन में सबसे पहले हिंदी कविता लिखी, जिसे हिंदी दैनिक के बच्चों के कॉलम में प्रकाशित भी किया गया है। यह उनकी पहली प्रकाशित रचना है। संस्कृत में भी उन्होंने कविताएँ लिखीं। राकेश ने महज 17 साल की उम्र में 'समाज का फेर' एकांकी लिखा। इसके बाद लंबे अरसे तक उन्होंने नाटक नहीं लिखा। हाँ, कुछ कहानियाँ लिखी थीं, जो प्रकाशित भी हुई थीं। इसके बाद एम.ए. में उन्होंने संस्कृत के 'वेणी संहार' नाटक में भानुमती का अभिनय किया। सन् 1945-46 में उन्होंने पंजाब यूनिवर्सिटी के संस्कृत विभाग की ओर से आयोजित दो संस्कृत नाटकों का निर्देशन भी किया।

'कहानीकार, नाटककार और उपन्यासकार के रूप में तो प्राय: लोग मोहन राकेश से परिचित हैं, परंतु इस व्यक्ति के कवि के रूप को शायद बहुत कम लोग जानते हैं, हालाँकि उनके नाटक 'आषढ़ का एक दिन' को पढ़ते हुए उसका यह रूप किसी भी गंभीर पाठक की दृष्टि से बचा नहीं रह सकता है।' एक साक्षात्कार में उन्होंने बताया है कि उनकी पहली रचना आठ साल की उम्र में लिखी एक कविता थी, जो एक हिन्दी दैनिक में बच्चों के कॉलम में छपी थी।

'राकेश ने 1960 तक आते-आते कहानीकार के रूप में अपनी संभावनाओं को एक शिखर तक पहुँचा दिया और उसके बाद उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति की तलाश को किसी विधा में करना क्यों आवश्यक प्रतीत हुआ? 1960 के आसपास के उपन्यास और नाटक दोनों की ओर एक साथ जुड़ने की उनकी आकांक्षा इसी संदर्भ को रेखांकित करती है अथवा अभिव्यक्ति के लिए कई विधाओं में भटकने की राकेश की बेचैनी इससे कहीं अधिक गहरी थी और उसका तालुक पूरी रचना प्रक्रिया से था।' राकेश स्वभाव से प्रयोगशील व्यक्ति थे और ये प्रयोग उनकी भाषा, शैली, विधा और समूचे साहित्य सृजना में जारी रहा। उन्होंने चिन्हित मार्गों पर चलने की बजाय हमेशा ही अपना मार्ग स्वयं बनाया। उन्होंने लिखा है 'किन्हीं बौद्धिक निष्कर्षों या फार्मूलों के आधार पर दो और दो का योग करने में कलाकृति की रचना नहीं होती।'

राकेश जी का साहित्य उनके अनुभवों की अभिव्यक्ति है, जिसके जरिए उन्होंने कहानी, उपन्यास और नाटक विधा को एक नया रूप ही नहीं दिया बल्कि उसे एक नई जमीन दी, जिस पर खड़े होकर बाद में कई साहित्यकारों ने हिंदी साहित्य में अपना नाम दर्ज कराया। उनके यथार्थवादी उपन्यास और कहानी लेखन की परिपाटी को बाद में कई साहित्यकारों ने अपनाया और खुद मोहन राकेश को अपना आदर्श बनाया।

कृतित्व—मोहन राकेश हिंदी साहित्य की किसी एक विधा तक सीमित न रहे और लगभग सभी विधा के शीर्ष साहित्यकारों में उनका नाम आता है, चाहे वह कहानी हो, नाटक, उपन्यास, रंगमंच, निबंध और एकांकी, उन्होंने सभी विधा को एक नया आयाम दिया। उन्होंने 'यह रचना दृष्टि अपने जीवन-संघर्षों और तत्कालीन समाजार्थिक और साहित्यिक माहौल से निरन्तर अन्तर्क्रिया के द्वारा अर्जित की थी।' राकेश की गिनती हिन्दी के नाटककारों में जयशंकर प्रसाद के समकक्ष की जाती है। अपने लेखन में उन्होंने अपने आप को ही अभिव्यक्त किया। वे लिखते हैं, 'जीवन की हर परिस्थिति का हम पर कोई न कोई प्रतिक्रिया होती है। हम कितना भी चाहें उस प्रतिक्रिया से बच नहीं सकते। मुझे जीवन के संबंध में उन प्रतिक्रियाओं को लिखकर व्यक्त करना स्वाभाविक लगता है, इसीलिए मैं लिखता हूँ हवा चलती है तो वृक्ष के पत्ते अवश्य हिलते हैं।' वस्तुतः मोहन राकेश के साहित्य और व्यक्तित्व में जो समानता दिखाई देती है, वह उनकी अपनी साहित्य सृजन की मौलिक रीति-नीति की परिचायक है, जिसने उनके नाम को हिन्दी साहित्य के इतिहास स्वर्ण अक्षरों से अंकित किया।

3.3 कथा-साहित्य

राकेश के साहित्य में समय के साथ बदलता हुआ मनुष्य, मूल्य और स्थितियाँ तीनों दिखाई देती हैं। उसमें न तो कोई आवरण है और न ही कोई दिखावा, जिसे साहित्यिक शब्दों में 'वाद' कहते हैं। जीवन की कसौटी पर जब लेखन को कसा जाए, तो उसके बाद उसमें से निकलने वाला साहित्य उतना ही प्रामाणिक, व्यापक और गहन हो जाता है, जीवन की लेखक के खुद का जीवन। ऐसा लेखन लेखक की धड़कन को अभिव्यक्त करने में भी सक्षम होता है। उन्होंने जीवन के हर छोटे-बड़े अनुभवों को रचना के माध्यम से अभिव्यक्त किया। राकेश का साहित्य ऐसी ही कसौटी से गुजरा प्रतीत होता है। संभवत: इसी कारण वह अपने समकालीन रचनाकारों में सबसे अलग हैं। 'जीवन की ठोस वास्तविकता के कारण ही राकेश ने अनेक विधाओं में अनेक सशक्त रचनाओं को जन्म दिया। भोगा हुआ जीवन और उसका परिवेश उन्होंने रचनाकारों के लिए श्रेष्ठ माना है।''

उन्होंने खुद ही लिखा है 'मैं वैयक्तिक और साहित्यिक दोनों स्तर पर अपने को जिंदगी से जुड़ा हुआ पाता हूँ, पर जुड़े होने का अर्थ जिंदगी की सभी परिस्थितियों को स्वीकार करके चलना नहीं है।' इसीलिए उनका अधिकतर साहित्य में यथार्थबोध और खुला दृष्टिकोण दिखाई देता है। उनहोंने अपने जीवन में जो अनुभव किया, उसी का परिष्कृत रूप उनके कथा साहित्य में दिखाई देता है। हाँ, उन्होंने इसमें कुछ अनुभव अपने परिजनों, मित्रों और प्रेमिकाओं के भी शामिल किए। उनके लेखन में सदैव नवीनता की खोज दिखाई देती है, जिसका मुख्य उद्देश्य मानवीय जीवन को समझना और अभिव्यक्ति करने की ईमानदार कोशिश ही था। इसी कारण 1960 के आसपास उन्होंने उपन्यास और कहानी समेत विभिन्न विधाओं में समग्र सृजन कार्य किया।

3.3.1.1 नाट्यसाहित्य—भारतेंदु और प्रसाद के बाद आधुनिक हिंदी नाटकों में मोहन राकेश का नाम आता है। उन्होंने हिंदी नाटक को अंधेरे बंद कमरों से बाहर निकाला और एक नए दौर के साथ जोड़ा। वे पहले नाटककार हैं जो हिंदी की क्षेत्रीय सीमाओं से उठकर एक राष्ट्रीय स्तर के नाटककारों में गिने गए और अपने समय के प्रसिद्ध भारतीय नाटककारों की पांत में बिठा दिए गए। उनके नाटक सुगठित और सुरचित हैं। उनके नाटकों का समसामयिक अनुभव पाठक/प्रेक्षक को विलक्षण आत्मीयता दे जाता है।

हिंदी रंगमंच को राकेश की देन महत्वपूर्ण है। आधुनिक नाटकों में मोहन राकेश के योगदान एवं महत्व को स्पष्ट करते हुए डॉ. नरनारायण राय ने लिखा है—''शताब्दियों से जड़ और संवेदनशून्य हो गए हिंदी

रंगमंच में फिर से चेतना का संचार करने में, नाटक को रंगमंच से जोड़कर नाटक को सही अर्थों और संदर्भों में प्रतिष्ठित करने की दिशा में, रंगमंच की पृष्ठटभूमि में नाटककार की भूमिका निश्चित करने में, राकेश का बहुत बड़ा योगदान रहा।" आज के उन्नत और समृद्ध होते जा रहे हिंदी रंगमंच की शुरूआत जिन परिस्थितियों में हुई उन्हें क्रमश: 'आषाढ़ का एक दिन', लहरों के राजहंस' और 'आधे-अधूरे' में मौजूद देख सकते हैं। राकेश प्रथम नाटककार थे जिन्होंने नाटक को थिएटर का पर्याय माना। नाटक को कथ्य और मंचीय स्तर पर सार्थक दिशा की ओर मोड़ने का श्रेय निस्सन्देह मोहन राकेश को है। उनके नाट्य साहित्य का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार से है—

3.3.1.1 आषाढ़ का एक दिन—सन् 1958 में प्रकाशित और नाटककार मोहन राकेश द्वारा रचित एक हिंदी नाटक है। इसे कभी-कभी हिंदी नाटक के आधुनिक युग का प्रथम नाटक कहा जाता है। 1959 में इसे वर्ष का सर्वश्रेष्ठ नाटक होने के लिए संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया और कई प्रसिद्ध निर्देशक इसे मंच पर ला चुके हैं। 1979 में निर्देशक मणि कौल ने इस पर आधारित एक फिल्म बनाई जिसने आगे जाकर साल की सर्वश्रेष्ठ फिल्म का फिल्मफेयर पुरस्कार जीत लिया। आषाढ़ का एक दिन महाकवि कालिदास के निजी जीवन पर केन्द्रित है, जो 100 ई.पू. से 500 ईसवी के अनुमानित काल में व्यतीत हुआ।

शीर्षक की प्रेरणा—इस नाटक का शीर्षक कालिदास की कृति मेघदूतम की शुरुआती पंक्तियों से लिया गया है। क्योंकि आषाढ़ का महीना उत्तर भारत में वर्षा ऋतु का आरंभिक महीना होता है, इसलिए शीर्षक का अर्थ "वर्षा ऋतु का एक दिन" भी लिया जा सकता है।

कथानक—आषाढ़ का एक दिन एक त्रिखंडीय नाटक है। प्रथम खंड में युवक कालिदास अपने हिमालय में स्थित गाँव में शांतिपूर्वक जीवन गुजार रहा है और अपनी कला विकसित कर रहा है। वहाँ उसका एक युवती, मल्लिका के साथ प्रेम-सम्बन्ध भी है। नाटक का पहला रुख बदलता है जब दूर उज्जयिनी के कुछ दरबारी कालिदास से मिलते हैं और उसे सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दरबार में चलने को कहते हैं। कालिदास असमंजस में पड़ जाता है। एक तरफ उसका सुन्दर, शान्ति और प्रेम से भरा गाँव का जीवन है और दूसरी तरफ उज्जयिनी के राजदरबार से प्रश्न पाकर महानता छू लेने का अवसर। मल्लिका तो यही चाहती है के जिस पुरुष को वह प्यार करती है उसे जीवन में सफलता मिले और वह कालिदास को उज्जयिनी जाने की राय देती है। भारी मन से कालिदास उज्जयिनी चला जाता है। नाटक के द्वितीय खंड में पता लगता है कि कालिदास की उज्जयिनी में धाक जम चुकी है और हर ओर उसकी ख्याति फैली हुई है। उसका विवाह उज्जयिनी में ही एक आकर्षक और कुलीन स्त्री, प्रियंगुमंजरी, से हो चुका है। वहाँ गाँव में मल्लिका दुखी और अकेली रह गई है। कालिदास और प्रियंगुमंजरी, अपने एक सेवकों के दल के साथ, कालिदास के पुराने गाँव आते हैं। कालिदास तो मल्लिका से मिलने नहीं जाता, लेकिन प्रियंगुमंजरी जाती है। वह मल्लिका से सहानुभूति जताती है और कहती है की वह उसे अपनी सखी बना लेगी और उसका विवाह किसी राजसेवक से करवा देगी। मल्लिका ऐसी सहायता से साफ इनकार कर देती है। नाटक के तृतीय और अंतिम खंड में कालिदास गाँव में अकेले ही आ धमकता है। मल्लिका तक खबर पहुँचती है कि कालिदास को कश्मीर का राज्यपाल बना दिया गया था लेकिन वह सब कुछ त्याग के आ गया है। निस्सहाय मल्लिका की शादी विलोम से हो चुकी है और उसकी एक छोटी सी बेटी है कालिदास मल्लिका से मिलने आता है लेकिन, मल्लिका के जीवन की इन सच्चाइयों को देख, पूरी तरह निराश होकर चला जाता है। नाटक इसी जगह समाप्ति पर पहुँचता है। नाटक के एक समीक्षक (क्रिटिक) ने कहा है—नाटक के हर खंड का अंत में "कालिदास मल्लिका को अकेला छोड़ जाता है: पहले जब वह अकेला उज्जयिनी चला जाता है; दूसरा जब वह गाँव आकर भी मल्लिका से जानबूझ

कर नहीं मिलता; और तीसरा जब वह मल्लिका के घर से अचानक मुड़ के निकल जाता है। "यह नाटक दर्शाता है कि कालिदास के महानता पाने के प्रयास की मल्लिका और कालिदास को कितनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। जब कालिदास मल्लिका को छोड़कर उज्जयिनी में बस जाता है तो उसकी ख्याति और उसका रुतबा तो बढ़ता है लेकिन उसकी सृजनशक्ति चली जाती है। उसकी पत्नी, प्रियंगुमंजरी, इस प्रयास में जुटी रहती है के उज्जयिनी में भी कालिदास के इर्द-गिर्द उसके गाँव जैसा वातावरण बना रहे "लेकिन वह स्वयं मल्लिका कभी नहीं बन पाती।" नाटक के अंत में जब कालिदास की मल्लिका से अंतिम बार बात होती है तो वह कुबूल करता है कि "तुम्हारे सामने जो आदमी खड़ा है यह वह कालिदास नहीं जिसे तुम जानती थी।"

नाटककार की टिप्पणी—अपने दूसरे नाटक ("लहरों के राजहंस") की भूमिका में मोहन राकेश ने लिखा कि "मेघदूत पढ़ते हुए मुझे लगा करता था कि वह कहानी निर्वासित यक्ष की उतनी नहीं है, जितनी स्वयं अपनी आत्मा से निर्वासित उस कवि की जिसने अपनी ही एक अपराध-अनुभूति को इस परिकल्पना में ढाल दिया है।" मोहन राकेश ने कालिदास की इसी निहित अपराध-अनुभूति को "आषाढ़ का एक दिन" का आधार बनाया।

3.3.1.2 लहरों के राजहंस—'लहरों के राजहंस' मोहन राकेश की दूसरी नाट्यकृति है। यह रचना भी ऐतिहासिक आधार लेकर लिखी है। अश्वघोष का 'सौंदरनन्द" काव्य ही 'लहरों के राजहंस' का मुख्य प्रेरक रहा है। 'लहरों के राजहंस' का नन्द प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्वंद्व में फंसकर छटपटाता है। वह मतिभ्रम तथा संशय की मूर्ति बना है। प्रस्तुत नाटक भी तीन अंकों में विभाजित है। नाटक की मूल संवेदना में व्यक्ति की अनिर्णयात्मक स्थिति और मानसिक तनाव ही उद्घाटित हुआ है। इसमें नन्द और सुंदरी के पारस्परिक रिश्तों को इतिहास के माध्यम से ही देखने का प्रयास किया गया है।

कथानक—लहरों के राजहंस में एक ऐसे कथानक का नाटकीय पुनराख्यान है जिसमें सांसारिक सुखों और आधयात्मिक शांति के पारस्परिक विरोध तथा उनके बीच खड़े हुए व्यक्ति के द्वारा निर्णय लेने का अनिवार्य द्विन्द्व निहित हैं इस द्वन्द्व का एक दूसरा पक्ष स्त्री और पुरुष के पारस्परिक संबंधों का अंतर्विरोध है। जीवन के प्रेय और श्रेय के बीच एक कृत्रिम और आरोपित द्वन्द्व है, जिसके कारण व्यक्ति के लिए चुनाव कठिन हो जाता है और उसे चुनाव करने की स्वतंत्रता भी नहीं रह जाती हैं अनिश्चित, अस्थिर और संशयी मन वाले नंद की यही चुनाव की यातना ही एक नाटक का कथा-बीज और उसका केन्द्र-बिन्दु है। धर्म-भावना से प्रेरित इस कथानक में उलझे हुए ऐसे ही अनेक प्रश्नों का इस कृति में नए भाव-बोध के परिवेश में परीक्षण किया गया है। प्रमुख नाट्य निर्देशको ओम शिवपुरी, श्यामानन्द जालान, राम गोपाल बजाज, अरविन्द गौड़ ने इसका मन्चन किया।

'लहरों के राजहंस' नाटक का प्रारंभ नन्द की पत्नी सुंदरी के कामोत्सव के आयोजन से होता है। नन्द के मन में पत्नी सुंदरी के प्रति घोर आसक्ति है साथ ही जेष्ठ भ्राता गौतमबुद्ध के प्रति आदरभाव भी है। सुंदरी ठीक उसी दिन क़ामोत्सव का विधान करती है। जिसके दूसरे दिन प्रात:काल यशोधरा भिक्षुणी होने वाली है। सुंदरी के मन में किसी कोने में यशोधरा के प्रति विद्वेश भाव छिपा हुआ है। कामोत्सव के संबंध में नन्द पत्नी सुंदरी को सूचना देता है कि इतना बड़ा आयोजन व्यर्थ है। हो सकता है आज के दिन ज्यादा लोग न आए। और वही होता है, केवल मैत्रेय ही आते हैं।

सुंदरी के कहने पर नन्द दर्पण लेकर उसके सामने खड़ा होता है और सुंदरी शृंगार करती रहती है।

नाटक के तीसरे अंक में कथानक एक नया मोड़ लेता है गौतमबुद्ध के पास गया हुआ नन्द सिर मुण्डन कर लौटता है। सुंदरी की नींद जब टूटती है तो वह नन्द को इंगित करके उत्तर देती है—"लौटकर वे नहीं आए हैं, जो आया है वह व्यक्ति कोई दूसरा ही है।" (पृ० 122) इस बात को सुनकर नन्द तिलमिला उठता है।

इस प्रकार 'लहरों के राजहंस' में ऐतिहासिकता और आधुनिकता का अद्‌भुत सामंजस्य है। इसका कथानक नितांत आधुनिक है। इसमें आधुनिक जीवन की संघर्षपूर्ण स्थितियों का अपूर्व विवेचन किया गया है।

3.3.1.3 आधे-अधूरे—'आधू-अधूरे' 1969 में लिखा गया। ये राकेश के नाट्यलेखन का चरमोत्कर्ष था। इसमें नारी-पुरुष संबंधों और मध्यमवर्गीय परिवार की समस्याओं का यथार्थपरक ढंग से समग्रता में चित्रण किया गया है। पहले के नाटकों की ही तरह इसमें भी राकेश ने मानव मन की छटपटाहट और वेदना को अभिव्यक्त किया है। भारतीय समाज में पति-पत्नी के संबंधों में आई दरार के बावजूद दोनों के एक-दूसरे के साथ रहने की मजबूरी, इससे घर में घुली कडुवाहट और उससे बच्चों के मन में पैदा हो रही विषाक्तता को मनोवैज्ञानिक और सामाजिक कसौटी पर कसते हुए दिखाया गया है। इसीलिए नाटक को पढ़ते वक्त इसमें हमें अपना चरित्र भी कहीं न कहीं छोटे या बड़े रूप में दिखाई दे जाता है। फिर वह चाहे पति-पत्नी, माता-पिता, बेटा-बेटी, भाई-बहन या पड़ोसी। और अगर खुद मोहन राकेश के जीवन को इस नाटक के केंद्र में रखें तो उसका कोई भाग भी इसमें दिखाई देता है। 'आधे-अधूरे आज के जीवन के एक गहन अनुभव खंड को मूर्त करता है इसमें वह सामर्थ्य है जो समकालीन जीवन के तनाव को पकड़ सके। एक-दूसरे पर यह नाट्यकृति पारिवारिक विघटन की गाथा है। एक अन्य स्तर पर यह नाट्य रचना मानवीय असंतोष के अधूरेपन का रेखांकन है जो जिंदगी से बहुत कुछ चाहते हैं उनकी तृप्ति अधूरी रहती है।'

नाटक का प्रारम्भ तनाव से होता है और अंत भी। सारी घटनाएं ऐसी स्वाभाविक ढंग से आगे बढ़ती है कि कहीं भी इसमें आवरण की जरूरत ही महसूस नहीं होती। रोजमर्रा की भाषा का ऐसा सशक्त प्रयोग यदाकदा ही देखने को मिलता है। एक एक शब्द ऐसे गुथे हुए, मानों उन्हें उनकी जगह से हटाया तो भाषा की ये मोती बिखर जाएगी।

निर्देशक की नजर से त्रिपुरारी शर्मा लिखते हैं, 'आधे-अधूरे नाटक का ढांचा बहुत सावधानी से बनाया गया है और बहुत ही बारीक विशिष्ट बुनावट है। नाटक के हर वाक्य, हर शब्द में दर्द, क्षोभ और विडम्बना संवादों से झांकती है। नाटक उकसाता भी है और जबरन हमें अपने से जोड़ भी लेता है अक्सर मन करता है विरोध करने का, कुछ कहने का, अपनी फटेहाल अधूरी जिंदगी को पूरा करने का, हाँ, शहरी जिन्दगी के रोजमर्रा जीवनयापन और आपसी व्यवहार का इस नाटक से गहरा रिश्ता है।'

3.3.1.4 पैरतले जमीन—**'पैर तले की जमीन'** को मोहन राकेश ने 'आधे-अधूरे' नाटक से पहले ही लिखना शुरू किया था, जो उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ। राकेश इसका केवल पहला अंक और दूसरे अंक का कुछ अंश ही लिख सके थे। बाद में इसे उनके मित्र कमलेश्वर ने नाटक का दूसरा अंक लिखकर प्रकाशित कराया। कमलेश्वर ने कई जगहों पर इस बात को स्वीकारा है कि दूसरे अंक को लिखने के बाद उसके हिसाब से पहले अंक को भी थोड़ा बहुत संशोधित करना पड़ा। इसलिए दो नावों की सवारी के कारण ये नाटक आलोचकों की तीखी टिप्पणियों का काफी शिकार हुआ।

राकेश ने इसका काफी प्लॉट तैयार किया था। इसके नोट्स और स्केच को नेमीचंद्र जैन ने अपनी पुस्तक मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक में प्रकाशित भी किया। इस पुस्तक की भूमिका में उन्होंने लिखा है 'ठीक से पूरा होने पर यह नाटक उपलब्धि का एक नया शिखर स्थापित करता, इसकी भरपूर संभावना थी। पर वह नहीं हो पाया। अपने मौजूदा रूप में वह अपर्याप्त है और एक दो केंद्रों में प्रस्तुत किए जाने के बावजूद उसकी कोई खास पहचान नहीं बन सकी है। नाटककार के रूप में राकेश की प्रतिष्ठा अपने पहले तीन नाटकों के कारण ही है।'

राकेश ने इस नाटक में भी स्त्री-पुरुष के संबंधों और द्वंद्व को दिखाया है। नाटक का कथानक आंतरिक पर्तों को खोलता हैं, जिसमें अवैध संबंध भी दिखाए गए हैं। साथ ही पुरुष जीवन की त्रासदी किस-किस रूप में

घटित होती है इन प्रश्नों को भी उठाया है। 'राकेश ने 'पैर तले की जमीन' नाटक को एक नए प्रयोग के रू प्रस्तुत कर वर्तमान युग में व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन से सामाजिक जीवन तक व्याप्त विसंगति, निरर्थक मूल्य विघटन और मानवीय सम्बन्धों के खोखलेपन को मूर्त किया है। प्रस्तुत नाटक के पात्र पैर तले की उ को तलाशना चाहते हैं। इसी आधार पर लेखक ने अर्थ की समस्या को उभारा है।'

3.3.2 कहानी साहित्य—नई कहानी की शुरूआत राकेश, कमलेश्वर और राजेन्द्र यादव के अभ्य से माना जाता है। हिन्दी लेखकों की पहली रचना कौन-सी है? इस पर विवाद होता रहा है। ये बात म राकेश पर लागू होती है। 'नन्हीं' कहानी उनकी प्रारम्भिक कहानी मानी जाती है जो उन्होंने स्कूल की परीक्ष की कॉपी पर लिखी थी। यही कहानी मार्च 1973 में सारिका के मोहन राकेश विशेषांक में प्रकाशित हुई। उ साथ टिप्पणी थी, 'यह राकेश की शायद प्रथम कहानी है। उन्हीं की हस्तलिपि में प्राप्त स्कूल की परीक्षाओं लम्बी कापी के कागजों पर लिखी यह कहानी 7 मई 1947 में लाहौर में लिखी गई। इसकी पाण्डुलिपि तरह-तरह से राकेश लिखकर देखा गया है, सम्भवत: यह प्रक्रिया उपनाम चुनने की रही है जो बाद में उन नाम ही हो गया।' राकेश की डायरी के अनुसार उनकी प्रथम प्रकाशित कहानी 'भिक्षु' है, जो सरस्वती पत्रि के भाग 46 में प्रकाशित हुई। कमलेश्वर ने लिखा है 'हिन्दी लेखकों की सर्वप्रथम रचना गूलर के फूल की र होती है उसे कोई नहीं देख पाता। यहाँ तक कि स्वयं लेखक भी उसे खो या भूला बैठता है।' हालांकि उन 'नन्हीं' को राकेश की पहली लिखित कहानी और 'भिक्षु' को प्रथम प्रकाशित कहानी कहा है। आगे उन्ह लिखा है 'राकेश ने एक पूरे दौर में कथ्य की आत्मा को निरन्तर खोजा था और आत्मिक कथा की खोज निरन्तरता दी थी। इस खोज और निरन्तरता की पूरी पहचान इन शुरू की कहानियों में कहीं न कहीं विद्यम है-चाहे वह बहुत साफ न हो, जो कि प्रारम्भिक रचनाओं में हो भी नहीं सकती, पर राकेश के साहित्य गम्भीर अध्येताओं के लिए वह छुपी हुई या अमूर्त भी नहीं रह सकती।'

राकेश की कहानियों में प्रगतिशीलता और मनोवैज्ञानिकता का समन्वित रूप नजर आता है। अधिक कहानियां अतिशयता से दूर अनुभूतियों, संघर्ष और पीड़ा की अभिव्यक्ति पर आधारित हैं। राकेश ने अ लेखन के संबंध में लिखा है कि 'लिखते समय एक रचना के साथ जो निकटता रहती है, वर्ष बीतने के स किसी भी व्यतीत संबंध की तरह वह धुंधलाने लगती है। जिन प्रभावों में एक रचना होती है, उनसे हटक किन्हीं दूसरे प्रभावों में जीता व्यक्ति उस पहले की रचना के साथ रचना के समय की आत्मीयता नहीं बनाए र सकता। एक रचना से उबरकर ही वह पूरी रचना में प्रवृत्त होता है और अंतराल जब कई-कई रचनाओं का ह तब तो आत्मीयता की भूमि पर किसी रचना की ओर लौटना लगभग असंभव हो जाता है।'

राकेश ने सभी प्रकार की परिस्थितियों को देखा था, उनके तनावों को झेला था और इन सबको उन्हें अपनी कहानियों में समेटा भी है। उनकी शुरू की कहानियों में हल्की रूमानियत भावुकता और मानवतावा स्वर हैं। कहानी के क्षेत्र में यथार्थवादी लेखन में प्रेमचंद के बाद यशपाल ने अपनी जगह बनाई थी और उस बाद किसी का नाम आता है तो वह राकेश ही हैं। मेरी प्रिय कहानियां की शुरूआत में उन्होंने लिखा है 'नये द की मेरी अधिकांश कहानियां संबंधों की यंत्रणा को अपने अकेलेपन में झेलते लोगों की कहानियाँ हैं जिनमें ह इकाई के माध्यम से उसके परिवेश को अंकित करने का प्रयत्न है। यह अकेलापन समाज से कटकर व्यक्ति व अकेलापन नहीं, समाज के बीच होने का अकेलापन है। और उसकी परिणिति भी किसी तरह के सिनिसिज्म नहीं, झेलने की निष्ठा में है। व्यक्ति और समाज को परस्पर विरोधी, एक-दूसरे से भिन्न और आपस में कट हुई इकाइयाँ न मानकर यहाँ उन्हें एक ऐसी अभिन्नता में देखने का प्रयत्न है जहाँ व्यक्ति समाज च विडम्बनाओं का और समाज व्यक्ति की यन्त्रणाओं का आईना है।' उनके यथार्थवादी लेखन का लोह

आलोचक भी मानते हैं। नामवर सिंह ने लिखा है 'अपने आसपास के वातावरण में उड़ती हुई कहानियों को पकड़कर नि:संदेह मोहन राकेश ने इतनी तेजी के साथ व्यक्त किया है जो मन में एक फ्लैश की तरह कौंध जाती हैं।'

अपने लेखन में उन्होंने कहीं भी किसी अवधारणा को जगह नहीं दी। पाँच कहानी संग्रह क्रमश: 'इन्सान के खण्डहर' (1950), 'नये बादल' (1957), 'जानवर और जानवर' (1958), 'एक और जिन्दगी' (1961), 'फौलाद का आकाश' (1966) प्रकाशित हुए। बाद में 1989 में राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट नई दिल्ली ने 'मोहन राकेश की संपूर्ण कहानियां' में सभी कहानियों को एक साथ प्रकाशित किया। इसमें 66 कहानियाँ संजोई गई। इसके अलावा भी कई कहानियां ऐसी हैं, जो राकेश के जहन में ही रह गई। कमलेश्वर ने लिखा है 'राकेश में अपनी रचनाओं के लिए अतिरिक्त मोह नहीं था। उन्हें काटना, छांटना, तराशना, संवारना और सन्तुष्ट नहीं होने पर छोड़ देना-यह प्रक्रिया बराबर चलती रही थी। मुझे कुछ उन कहानियों की याद भी है जो राकेश ने बताई थीं, पर जो फाइलों में उपलब्ध नहीं हैं। लगता है राकेश ने उन्हें नष्ट कर दिया।'

राकेश के कहानी लेखन को विभिन्न चरणों में विभाजित करके ही उनकी कहानियों की विकास यात्रा को समझा जा सकता है। इसके लिए पहले प्रकाशित पांच विभिन्न संग्रह काल क्रम के अनुसार उनकी कहानी यात्रा के विभिन्न सोपानों को व्यक्त करते हैं। राकेश भी अपनी कहानी यात्रा को इन्हीं पड़ावों के रूप में देखते हैं। इसलिए इन्हीं को आधार बनाना ज्यादा उपयुक्त है।

3.3.2.1. इंसान के खण्डहर—इस दौर में लिखी गई कहानियों में 'मरूस्थल', 'उर्मिल जीवन,' 'धुंधला दीप,' 'इन्सान के खण्डहर' 'एक आलोचना', 'लक्ष्यहीन', 'सीमाएं', 'कंबल', 'दोराहा', 'वासना की छाया', 'मिट्टी के रंग' आदि हैं। ये राकेश के कहानी लेखन की प्रथम दौर की कहानियां हैं। कुछ आलोचकों का मानना है कि इस दौर की कहानियों में उनकी जुमलेबाजी है। इसमें उनकी अपने समकालीन लेखकों से अलग होने की कोशिश भर दिखाई देती हैं। बाद में राकेश ने खुद जुमलेबाजी को साहित्य की सबसे बड़ी कमजोरी माना है और इसे ही वह मंटो के साहित्य को भी सबसे बड़ी कमजोरी मानते हैं। उन्होंने स्वीकार भी किया है 'अपने ढंग से हम भी अपनी कहानियों में जुमलेबाली का अभ्यास करते। पर उसी शब्दों के अतिरिक्त मोह के कारण आज उस समय की रचनाएं इतनी बेगाना लगती हैं कि उनमें से किसी एक को यहां उदाहरण के रूप में रख लेने को भी मन नहीं हुआ। 'इन्सान के खण्डहर' की कहानियां कई दृष्टियों से मेरे बाद के **प्रयोगों के साथ एक कड़ी के रूप में जुड़ नहीं पातीं। उनके शिल्प और कथ्य दोनों में एक तरह की कोशिश है,** एक निश्चित तलाश का कच्चापन। यूं पाठकों का एक वर्ग ऐसा भी है जिसे मेरी वही कहानियां सबसे अधिक पसंद हैं।'

ऐसा इसलिए क्योंकि इस संग्रह की कहानियां एक विशेष मानसिकता की उपज प्रतीत होती हैं, जिसका सबसे पहला ध्येय खुद को सबसे अलग करना था। इन कहानियों के केंद्र में मध्यम वर्ग है। एक ऐसा वर्ग, जो रूढ़ियों, सामाजिक बाध्यताओं, मान्यताओं में जकड़ा हुआ है। इसमें मनुष्य अपने आपको स्थितियों से, जिंदगी से कटा हुआ पाता है। इनमें खुद राकेश की व्यक्तिगत पीड़ा, स्थितियां, पारिवारिक जिम्मेदारियां और उनसे संघर्ष का बोध बिखरा हुआ हैं। सांस्कारिकता और आदर्शवाद की बैसालिखयों के सहारे चलने वाले समाज और परिवार के प्रति जो विद्रोह भाव राकेश के मन में था, वह इसमें देखेन के लिए मिलता हैं। राकेश ने स्वीकारा है, 'उन दिनों कई कारणों से मैं अपने को अपने तब तक के परिवेश से बहुत कटा हुआ महसूस करता था। जिन व्यक्तियों और संस्कारों के बीच पलकर बड़ा हुआ था, उनके खोखलेपन को लेकर मन में गहरी कटुता और वितृष्णा थी। घर की पूरी जिम्मेदारी सिर पर होने से उसे निभाने की मजबूरी से मन छटपटाता था। मैं किसी तरह अपने को विरासत के सब सम्बन्धों से मुक्त कर लेना चाहता था, परन्तु मुक्ति का कोई उपाय नहीं था'

'राकेश की प्रारम्भिक कहानियों में आवेश, धर्म, प्रगतिवादी दौर के सारे साहित्यिक मुहावरे मिल जायें शोषित और श्रमिक वर्ग के प्रति सहानुभूति का फूटता हुआ लावा, धर्माडम्बर के प्रति व्यंग्य का जोश अं धनिक वर्ग की लिप्सा के लिए उबलता आक्रोश, पेट में पहुंची आग का ताप और सतह पर तैरते हुए विचार व अस्त-व्यस्त श्रृंखला, त्रिकाणों में लिपटता-लटपटाता। वहीं ड्राइंगरूमी प्रेम और कॉफी के प्यालों पर बहसों व अंतहीन सिलसिला, भावुकता के विरोध में अतिरिक्त भावुकता।'

3.3.2.2. नये बादल—इसका प्रकाशन 'इन्सान के खण्डहर' के सात साल बाद हुआ। इसमें 'न बादल', 'मलबे का मालिक', 'अपरिचित', 'शिकार', 'एक पंखयुक्त ट्रेजेडी', 'उसकी रोटी', 'मंदी', 'हवामुर्ग' 'उलझते धागे', 'सौदा', 'फटा हुआ जूता', 'भूख', 'छोटी सी चीज' 13 कहानियां हैं। 'मलबे का मालिक औ मंदी कहानियां प्रेमचंद की परंपरा में आती हैं। वे आदर्शवादी हैं, किन्तु परिवर्तित परिस्थितियों के खाद—पानी तैयार आदर्शवाद ही उनमें है। नये बादल और उसकी रोटी जैसी कहानियों में जीवन का कटु यथार्थ अभिव्यक्त हुआ है।

इस दौर की कहानियों का रचनाकाल 1950 से 55 के बीच का है। देश के विभाजन के बाद राके नौकरी की तलाश में इधर-उधर भटकते रहे। उनके जीवन में कहीं भी निश्चितता या स्थिरता नहीं थी। वे जि साथियों के भरोसे कदम उठाते, वे उनका साथ छोड़ जाते और यहीं स्थिति इस दौर की कहानियों में भी दिख देती है। राकेश ने इन कहानियों में समकालीन समस्याओं को गहराई से अभिव्यक्त किया है। 'ऐसे व्यक्तियों व कहानियां है जो परिवेश के दबाव से उत्पन्न कड़वाहटों को झेलते हुए भी परिवेश से जुड़ी रहने की सार्थक अनुभव करते हैं। यद्यपि दस संग्रह में अलग-अलग परिवेश की कहानियां हैं, लेकिन सभी के मूल में आर्थि विषमताएं विवशताएं, कुंठाएं और मध्यवर्ग और निम्नवर्ग के जीवन की विडम्बनाओं को राकेश ने यथार्थवा ढंग से अभिव्यक्ति दी है। इनमें जहां विभाजन की विभीषिका और उस दौरान दोस्तों की दगा है, वहीं दो ज् की रोटी के लए एक अकेले का संघर्ष भी। इसमें सरकारी व्यवस्था में व्याप्त खोखलापन, भ्रष्टाचार, निम्न व की आर्थिक परेशानियां हैं तो इनसे खुद गुजरे राकेश की विवशता और हताशा की यथार्थवादी अभिव्यक्ति भ इस दौर की कहानियों में अकेलेपन का सूक्ष्मता से अध्ययन किया गया है, फिर वह चाहे व्यक्तिगत हो सामाजिक।

राकेश ने लिखा है, 'लम्बे अरसे के बाद जो पहली कहानी लिखी उसका शीर्षक था 'सौदा'। यह कहा मेरी पहले की कहानियों से इतनी अलग थी कि एक तरह से उसे मेरे लेखन के उस दौर की शुरूआत माना स सकता है जिसमें आगे चलकर 'उसकी रोटी', 'मंदी', 'मलबे का मालिक' और 'जानवर और जानवर' जैस कहानियां लिखी गई। 'इन्सान के खण्डहर' से इस दौर तक आते-आते ओढ़ी हुई बौद्धिकता के कोने काफी झ गये थे। जुमलेबाजी से तो इतनी चिढ़ हो गई थी कि आपने जुमलेबाज दोस्त के 12 साल पुरानी दोस्ती लगभ टूटने को आ गई। यद्यपि व्यक्तिगत जीवन में बहुत से तनावों के बीच गुजर रहा था फिर भी अपने परिवेश से कटे होने की अनुभूति का स्थान एक सर्वथा दूसरी अनुभूति ने ले लिया था और वह थी जुड़े होने व अनिवार्यता की अनुभूति। एक तरह की कड़वाहट इन अनुभूति में भी थी, पर वह कड़वाहट निरर्थक औ आरोपित नहीं थी। उसका उद्देश्य भी जुड़े होने की स्थिति से मुक्ति पाना नहीं, उसकी तात्कालीक शर्तों व अस्वीकार करते हुए जुड़े रहने के सार्थक सन्दर्भों को खोजना था। जिन स्थितियों को लेकर असन्तोष था, उन्ह विसंगतियों के प्रति मन में ह्यूमर का भाव भी था। 'नये बादल' और 'जानवर और जानवर' की अधिकत कहानियां इसी मानसिकता की उपज हैं।'

इन दौर की कहानियों में सामाजिक यथार्थ, स्थितिजन्य जीवन की तीव्र प्रतिक्रियाएं गहराती हैं। राकेश अपने ही पात्रों और स्थितियों के बीच एक ऐसा माध्यम खोज लिया जो कहानी की सारी अन्तर्बाह्य यात्रा सम्पन करा देता है। उनके कथ्य का ही वजन इतना होता है कि लेखक का व्यक्तिगत बोझ यहां अनावश्यक होता है।

3.3.2.3. जानवर और जानवर—'नये बादल' की कहानियां और इस दौर की कहानियां एक ही मानसिकता की उपज हैं। इस बात को मोहन राकेश भी 'मेरी प्रिय कहानियां' की भूमिका में स्वीकारते हैं। दोनों संग्रहों के प्रकाशन वर्ष में भी केवल एक वर्ष का ही अंतर है। 'नये बादल' यदि 1957 का संग्रह है तो 'जानवर और जानवर' 1958 का है। इसमें 'काला रोजगार (रोजगार)', 'परमात्मा का कुत्ता', 'मवाली', 'आर्द्रा', 'आखिरी समान', 'मिस्टर भाटिया', 'क्लेम', 'जानवर और जानवर' जैसी आठ कहानियों को शामिल किया गया। इस दौर की राकेश की तत्कालीन मनः स्थिति और परिवेश दिखाई देता है। सभी कहानियां सामाजिक परिप्रेक्ष्य में लिखी गई हैं। इनमें सामाजिकता और समाज में व्याप्त असंतोष और विषमताओं की प्रधानता है। 'आखिरी सामान' और 'जानवर और जानवर' कहानियों में व्यक्ति विशेष की घुटन को उकेरा गया है।

इन कहानियों में संबंधों की खोज, उनकी सार्थकता और महत्व को रेखांकित किया गया है। 'यहां राकेश ने सांकेतिकता से काम लिया। यहां अपनी सांकेतिकता के विस्तार के लिए भी राकेश ने कोशिश की है।' संकेतों में राकेश ने व्यवस्था की बखिया उधेड़ दी है। इसमें संवेदना और सामाजिक सरोकारों के बीच की दूरी को खाई के रूप में दिखाया गया है और समाजिक व्यवस्था के लिए उसे जिसे पाटना जरूरी बताया गया है। साथ ही इस व्यवस्था में घुटन और आदमी के जानवर हो जाने की मनोदशा का भी मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है। राकेश जी ने तत्कालीन व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार की खिलाफत को भी अपनी इस कहानी के माध्यम से आवाज दी है।

'जानवर और जानवर' संग्रह की कहानियों में आर्थिक विषमता ने किस समा तक निम्न मध्यवर्ग को तोड़ दिया है, झिझोड़ दिया है और टूटकर मनुष्य किस तरह जीवन की बिडम्बनाओं व यातनामूलक असंगतियों को विवशभाव से सहता हुआ जीने की ललक लिए है, यही सब इस संग्रह की कहानियों की आत्मा में आन्दोलित उद्वेलित दिखाई देता है।'

3.3.2.4. एक और जिन्दगी—'जानवर और जानवर' के तीन साल बाद 1961 में प्रकाशित इस संग्रह में राकेश का एक नई विचारधारा, कहानियों की एक नई पृष्ठभूमि और चेतना दिखाई देती है। राकेश ने लिखा है 'बात नई जगह जाकर नई तरह के व्यक्ति की कहानी लिखने की नहीं, उसी जगह रहकर उस इंसान के उन्हीं अंतर्द्वन्द्वों को जीवन के नए संदर्भ में देखने की है। हमारा जीवन आज एक बड़े संक्रातिकाल से गुजर रहा है, जिंदगी की नब्ज इतनी तेज है कि उसे हर जगह और हर पल महसूस किया जा सकता है।' और राकेश ने न सिर्फ इसे महसूस किया, बल्कि उसी शिद्दत के साथ उसे अभिव्यक्त भी किया, जो उनके इस सग्रह की कहानियों में दिखाई देता है। इसीलिए इसे नई कहानी की कड़ी में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि माना जाता है। इस संग्रह में 'सुहागिनें,' 'आदमी और दीवार,' 'हक हलाल,' 'गुनाह बेलज्जत', 'जीनियस', 'बस स्टैण्ड की एक रात', 'मिस पॉल', 'वारिस' और 'एक और जिंदगी' कुल नौ कहानियों को शामिल किया गया। अगस्त, 1957 में राकेश ने विवाह बंधन तोड़ दिया था। यही वह समय है जब उन्होंने डी.ए.वी. कालेज जालंधर में चार साल, चार महीने नौकरी करने के बाद त्यागपत्र भी दे दिया था। इस दौरान अकेलापन ही राकेश का साथी रहा। उसे भोगा, जिया, महसूस किया और फिर उसे कहानियों में अभिव्यक्त किया। 'एक और जिंदगी' कहानी संग्रह की कहानियों में ये अकेलापन चीखता हुआ नजर आता है। बंधन से मुक्ति, तलाक, पति-पत्नी के बदलते रिश्ते, तलाक, मनुष्य की संवेदनाओं का धीरे-धीरे घुटन में बदलना और लगातार रिश्तों का बेमानी होते चले जाना ही इस दौर की मुख्य कथावस्तु है। राकेश ने लिखा है, 'इस दौर की अधिकांश कहानियां संबंधों की यन्त्रणा को अपने अकेलेपन में झेलते लोगों की कहानियां हैं जिनमें हर इकाई के माध्यम से उसके परिवेश को अंकित करने का प्रयत्न है। यह अकेलापन समाज से कटकर व्यक्ति का अकेलापन नहीं, समाज के बीच होने का अकेलापन है और परिणति उसकी भी किसी तरह के सिनिसिज्म में नहीं, झेलने की चेष्टा में है। व्यक्ति और

समाज को परस्पर विरोधी, एक-दूसरे से भिन्न और आपस में कटी हुई इकाइयां न मानकर यहां उन्हें एक ऐसी अभिन्नता में देखने का प्रयन्त है जहां व्यक्ति समाज की विडम्बनाओं का और समाज व्यक्ति की यन्त्रणाओं का आईना है।'

इससे पहले के संग्रह की सांकेतिकता समय के साथ इसमें और विस्तार पा गई। साथ ही वह और सूक्ष्म और संघन भी होती चली गई। इनमें राकेश ने जो सहा, भोगा, देखा और जिन कष्टों से गुजरे उन्हें बड़ी ही ईमानदारी और कलात्मक ढंग से व्यक्त कर दिया।

'सुहागिने' और 'एक और जिंदगी' में भोगा हुआ ही यथार्थ दिखाई देता है, किन्तु यह मानवीय परिवेश का भी जाना माना यथार्थ प्रतीत होता है। 'जीवन का यथार्थ शरबत नहीं कुनेन की वह गोली है जिसे अनुभव की जुबान पर रखें तो वह तो कड़वी हो ही जाती है, उसे अभिव्यक्ति देने वाली शैली भी उससे अप्रभावित नहीं रह सकती है। यथार्थ की यह कड़वाहट कभी प्रत्यक्ष और कभी अप्रत्यक्ष रूप से राकेश की कहानियों में मिल ही जाती है।'

राकेश ने व्यक्ति की पीड़ा को व्यापक स्तर पर देखा और व्यक्ति को समाज की इकाई माना, जो अकेलेपन के बावजूद समाज से कटकर नहीं जी सकता। इस संग्रह की अधिकतर कहानियों का मुख्य पात्र नारी है। उसके विविध रूप और चरित्र हैं। 'यह संग्रह राकेश की कथायात्रा का जीवंत सोपान है और इसकी अधिकतर कहानियां न केवल राकेश की उपलब्धि हैं, वरन् नई कहानी की भी उपलब्धि हैं।'

3.3.2.5. फौलाद और आकाश—'एक और जिंदगी' के करीब पांच साल बाद ये संग्रह प्रकाशित हुआ। इसमें नौ प्रयोगशील कहानियों 'ग्लास टैंक', 'पांचवें माले का फ्लैट', 'सेफ्टी पिन', 'सोया हुआ शहर', 'फौलाद का आकाश', 'जख्म', 'जंगला', 'चौगान', 'एक ठहरा हुआ चाकू' है। इस दौरान राकेश सिर्फ लेखन पर ही निर्भर रहे, कोई नौकरी नहीं की। उन्होंने लिखा है 'ग्लास टैंक से लेकर एक ठहरा हुआ चाकू तक जितनी कहानियां उन तीनों वर्षों में लिखी गई, उनमें से दो तीन कहानियों को छोड़कर प्राय: सभी बड़े शहरों की जिंदगी की भयावहता की कहानियां हैं, हालांकि भयावहता के संकेत इनमें भी व्यक्ति के माध्यम से ही सामने आते हैं, फिर भी इनका केन्द्रबिन्दु व्यक्ति न होकर उसके चारों ओर का संत्रास है। 'जख्म' और 'ठहरा हुआ चाकू' शीर्षक कहानियों में यह संत्रास अधिक रेखांकित है। इस दौर की कहानियों में मेरी एक और दृष्टि भी रही है-समय की मानसिकता के अनुकूल कहानी की भाषा और शिल्प के खोज के लिए अलग-अलग तरह के प्रयोग करने की।' ये प्रयोग उनके इस संग्रह से स्पष्ट है। इन कहानियों में परिवेश का संत्रास उभरकर सामने आया है। इसमें जिंदगी का दर्द और छटपटाहट है। नये की 'अतिशय चाहत' को आलोचकों ने राकेश की चूक के रूप में लिया। वे 'ग्लास टैंक' और 'फौलाद का आकाश' कहानियों के यथार्थ को कृत्रिम, जीवन से असम्बद्ध और आरोपित मानते हैं। इसी कारण उपेन्द्रनाथ अश्क ने लिखा है, 'नये के चक्कर में राकेश ने कुछ प्रयोग किये हैं। उनका संग्रह फौलाद का आकाश पढ़ता हूँ तो लगता है कि न किये होते तो अच्छा था। ..... ग्लास टैंक बहुत अच्छी बनते-बनते रह गई है। राकेश ने उसमें बड़ी सूक्ष्मता से एक पारिवारिक ट्रेजेडी को आरोपित किया है, लेकिन 'ग्लास टैंक' का प्रतीक आरोपित लगता है। यदि ग्लास टैंक के सम्बन्ध में कही गई सभी बातें कहानी से काट दी जायें यानी कहानी के पहले चार पृष्ठ, चौथे पृष्ठ की अन्तिम चार पंक्तियों को छोड़कर, काट दिये जायें और कहानी दूसरे परिच्छेद से शुरू की जाय तो प्रभाव में कुछ भी फर्क नहीं पड़ेगा। बेहतर भले ही हो जाये।' इस कहानी संग्रह की कुछ कहानियों के परिवेश और परिस्थितियों को डॉ० धनंजय वर्मा भी आरोपित ही मानते हैं। उन्होंने लिखा है, 'इस संग्रह की कहानियों में न तो कोई निश्चित कथानक है, न परिस्थितियों और पात्रों से सम्बद्ध प्रसंगों के साक्षात्कृत संदर्भ हैं। इसके विपरीत यहां अनुभव प्रधान हो उठा है। उससे सम्बन्धित कुछ उत्तम क्षण, उन पर व्याप्त किसी मन:स्थिति की वर्तुलाकार गति और वे सूक्ष्मतर सूत्र जो

एक व्यापक परिदृश्य से जुड़कर उस क्षण और परिस्थिति को सार्थक बनाते हैं।' हालांकि कई आलोचक और खुद मोहन राकेश इस संग्रह की कहानियों को 'परिपक्वता' से परिभाषित करते हैं।

मेरी प्रिय कहानियां में राकेश ने अपनी पसंद की कहानियां 'ग्लास टैंक', 'जंगला', 'मंदी', 'परमात्मा का कुत्ता', 'अपरिचित', 'एक ठहरा हुआ चाकू', 'वारिस', 'पांचवे माले का फ्लैट' और 'जख्म' को चुना। इनके बारे में राकेश ने लिखा है कि 'जो कहानियां मैंने इस संग्रह के लिए चुनी हैं उसके चुनाव का कारण दे सकना मेरे लिए कठिन है। कहना हो तो केवल इतना कह सकता हूँ कि इस बार अपनी कहानियों में से गुजरते हुए इन कहानियों पर उंगली ठहरती गई।'

इन संग्रहों के माध्यम से राकेश की कथा यात्रा को समझा जा सकता है। पहले राकेश की कहानियां प्रगतिशील शैली में प्रेमचंद की परम्परा की प्रतीत होती हैं और लगातार अपने दूसरे, तीसरे और चौथे संग्रह में उनकी कहानियां यथार्थवादी और समकालीन होती चली जाती हैं, लेकिन इसके साथ 'एक घटना' का जिक्र नहीं करना बेमानी होगा। इसे 1974 में कमलेश्वर ने प्रकाशित करवाया, जिसमें राकेश की 12 कहानियों 'नन्हीं', 'भिक्षु', 'मंदिर की देवी', 'सतयुग के लोग', 'चांदनी और स्याह दाग', 'एक घटना', 'बनिय बनाम इश्क', 'कटी हुई पतंगें', 'लड़ाई', 'गुमशुदा', 'अर्द्धविराम', 'लेकिन इस तरह' को शामिल किया गया। ये सभी कहानियां राकेश को, उनके पंजाबी संवेदना और कहानी यात्रा को समझने में मददगार है। कमलेश्वर ने लिखा है 'इस संकलन की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि पहली लिखित कहानी 'नन्हीं' और पहली प्रकाशित कहानी 'भिक्षु' दोनों यहां मौजूद हैं और इन दोनों कहानियों में राकेश की ज्वलंत यात्रा के अग्निबीज मौजूद हैं। नन्हीं में कहानी यात्रा के और भिक्षु में रंगमंचीय नाटकों को उस यात्रा के जो 'आषाढ़ के एक दिन' के साथ सार्थक रूप से शुरू होकर एक मंजिल भी बन गई। यथार्थ और क्लासिक चेतना का यह संयुक्त उदय एक विलक्षण शुरूआत है और राकेश की यह खासियत थी कि वह शुरूआत करने में भी विश्वास रखता था और जो शुरू करता था उसे विलक्षणता से व्याप्त कर लेता था।'

इस प्रकार मोहन राकेश ने अपनी कहानियों में समकालीन जीवन के सुखद-दुखद प्रसंगों का अंकन जिस सूक्ष्मता से किया है, उतनी ही गहराई से मानव--मानव के सम्बन्धों को उनकी पूरी कटुता तिक्तता और त्रासदी के साथ व्यक्त किया है। वे समकालीन परिवेश में ताप, संताप, भय, अकुलाहट, सुरक्षा, असुरक्षा, आत्मीयता, परायापन को व्यक्त करने में सक्षम हैं। इसलिए हम कह सकते हैं। कि आधुनिक कहानीकारों में राकेश ऐसे कहानीकार है जिन्होंने अपने अनुभव को ही कहानियों के शिल्प में ढाल दिया है।

3.3.3. उपन्यास साहित्य—'नई कहानी' के भावों और चेतना का विस्तार ही राकेश के उपन्यासों में दिखाई देता है। समकालीन उपन्यासकारों में राकेश ने ही परम्परागत स्वरूप से हटकर उपन्यासों में अपनी अनुभूति के आधार में मध्यमवर्ग के सामजार्थिक जीवन को अभिव्यक्त किया। राकेश के तीनों ही उपन्यासों 'अंधेरे बंद कमरे (प्रकाशन 1961)', 'न आने वाला कल (1969)', 'अंतराल (1972)' की विषय वस्तु स्त्री-पुरूष संबंधों के बहुआयामी रूप ही हैं। वस्तुत: इनके सभी पात्र मोहन राकेश के जीवन के आसपास के ही प्रतीत होते हैं। इसीलिए इनमें यथार्थता तो है, लेकिन अनुभव के विस्तार की कमी महसूस देती है। 'मोहन राकेश के तीनों उपन्यासों में शहरी जीवन की मध्यवर्गीय कुंठा का निरूपण है। नर-नारी सम्बन्धों के संदर्भ में इस कुंठा के अनेक पक्ष उपन्यासों में उभरकर सामने आए हैं इसीलिए इन उपन्यासों को अंधेरे की भटकन कहा गया है।' इन सबके बावजूद राकेश के उपन्यासों में नई कहानी की ही भांति नीवनता के पुट को नकारा नहीं जा सकता। उन्होंने परम्परावादी लेखन से हटकर समकालीन विषयवस्तु को अपने उपन्यास लेखन का आधार बनाया।

'प्रेमचंद से मोहन राकेश तक आते-आते हिन्दी उपन्यास में कथ्य शैली की दृष्टि से विराट अंतर आय है। इस काया पलट का मूल कारण स्थूलता का विसर्जन और सूक्ष्मता का निर्वहण ही है और परिवर्तन की सारी दिशाएं समकालीन सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक उत्थान-पतन से उद्‌भूत हैं।' वीरेन्द्र मेंहदीरत्त ने भी लिखा है 'उपन्यास, मोहन राकेश के लिए एक ऐसी विधा के रूप में सामने आया, जिसके माध्यम से व अपने चारों ओर के उमड़ते जीवन को अभिव्यक्ति दे सकते थे। उन्होंने देखा कि हार्डी, टाल्स्टाय, चेखव, शरत और प्रेमचंद के उपन्यासों की सबसे बड़ी शक्ति जीवन के स्थानीय रंगों की पहचान और उन्हें उनक वास्तविकता में अंकित कर देने की योग्यता थी। उन्हें यह भी लगा कि उपन्यास के पात्र अपने देश की मिट्टी के बने होने चाहिए। पात्रों में यथार्थ की शक्ति तभी आ सकती है जब उन पात्रों द्वारा उपन्यास के पात्र अपने देश की मिट्टी के बने होने चाहिए। पात्रों में यथार्थ की शक्ति तभी आ सकती है जब उन पात्रों द्वारा कहा गय एक-एक शब्द उनकी जीवनगत परिस्थिति द्वारा विवश कर कहलवाया गया हो।'

3.3.3.1. बंद कमरे में—इसमें राकेश ने स्वतंत्रता के बाद बहुत तेजी से बदल रहे और नई दिशा की ओर बढ़ रहे समाज को दिखाया है। एक ऐसा बदलाव, जिसमें भौतिक जगत में आगे बढ़ने की होड़ है और प्रेम-विश्वास जैसे शब्द पीछे छूटते चले जा रहे हैं। इस भागमभाग में तनाव से निकटता बढ़ती जा रही थी। इसी को केन्द्र में रखकर राकेश ने तत्कालीन समाज, परिवार, राजनीति और परिवेश का चित्रण किया है। साथ ही एक ऐसे पुरूष की दोहरी मानसिकता को अभिव्यक्त किया है जो विचारों से नारी स्वतंत्रता को बढ़ावा देता है, लेकिन संस्कारों से पुरूष प्रधान संस्कृति के अनुसार पत्नी को अपनी इच्छा के अनुसार ही चलाना चाहता है। ऐसे में अगर पत्नी विरोध करती है तो उसके समूचे व्यक्तित्व और पुरूषत्व को चोट पहुंचती है। वह खुद भी नहीं समझ पाता कि आखिर उसे जाना किस ओर है। (वस्तुत: राकेश खुद भी इसी दोहरी मानसिकता से गुजरे। वे खुद भी नारी स्वतंत्रता और नारी मुक्ति के पक्षधर रहे, लेकिन पुरूष प्रधान पंजाबी संस्कृति भी उन पर हमेशा हावी रही। यही कारण है कि कमाऊ पत्नी से उनका तलाक हो गया)

श्रीकांत वर्मा ने लिखा है, 'जहां तक इसकी घुटन, ऊब और एकरसता का संबंध है शायद यह पहला उपन्यास है जिसने इतनी तीव्रता के साथ इसे प्रतिष्ठित किया है। 'अंधेरे बंद कमरे' यदि एक महत्वपूर्ण उपन्यास है तो केवल इस दृष्टि से।' यह दिल्ली के अभिजात्य वर्ग के जीवन और नौकरीपेशा पति-पत्नी की मानसिक दशाओं पर आधारित है। एक सीमा तक यह मनोवैज्ञानिक उपन्यास है जिसमें प्रेम की असली स्थिति की खोज, व्यक्ति स्वतंत्रता की व्यक्ति के अनुसार बदलती परिभाषा और संस्कारों और विचारों का द्वंद्व दिखाया गया है। इसका हर पात्र इस द्वंद्व से उबर ही नहीं पाता और ऊहापोह के बीच में ही अपनी मंजिल की ओर बढ़ने की कोशिश करते हुए दिखाई देता है।

वैसे इसकी मूल संवेदना पाठकों और आलोचकों के लिए भी अलग-अलग ही है। डॉ० मदान ने लिखा है, 'जो यदि कृति नहीं है तो अनुकृति भी नहीं है, उपलब्धि नहीं है तो सम्भावना अवश्य है। यह इसलिए कि इसमें कृति होने की क्षमता है, उपन्यास के मुहावरे को खोजने की लगन है।' खुद राकेश ने इसकी भूमिका में लिखा है 'मैं सोचकर तय नहीं कर पा रहा हूं कि इसे क्या कहूं? आज की दिल्ली का रेखाचित्र ? पत्रकार मधुसूदन की आत्मकथा? हरबंस और नीलिमा के अंतर्द्वन्द्व की कहानी? हवा में कहीं एक कोहिनूर झिलमिलाता है, उस कोहिनूर का क़िस्सा।' उपन्यास में हरबंस और नीलिमा के अंतर्द्वन्द्व को ही मूल संवेदना मानी जा सकती है। इस घटना से अन्य घटनाएं शाखाओं और उपशाखाओं की तरह कथा को निरंतर एक सूत्र में पिरोती चली जाती हैं।

'अंतराल एक ऐसे सर्जक की सर्जना है जिसमें उसका युग और उससे संबंधित सभी संदर्भ यथार्थ शैली में अभिव्यक्त हुए हैं। अत: अंतराल युग-दर्पण में पड़ी समस्त छवियों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने वाला उपन्यास है।'

इस प्रकार मोहन राकेश ने अपने उपन्यासों में विविध वर्गों के माध्यम से भिन्न-भिन्न प्रकार की संवेदनाओं का अंकन किया है। तीनों ही उपन्यासों में विभाजन के बाद देश में आये परिवर्तन से उत्पन्न मानसिकता और मोहभंग में जी रहे मनुष्य की कथा व्यक्त हुई है। पात्रों को उन्होंने प्राचीन आदर्शों के प्रति मोहभंग की स्थिति से गुजरते हुए दिखाया है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यासों में व्यक्त समस्याएं काल्पनिक न होकर समाज में जी रहे आम और खास सभी परिवारों के बीच से निकाली गई हैं और काफी हद तक ऐसा है भी, क्योंकि राकेश ने अपने उपन्यासों में कई जगहों पर अपने जीवन की ही कुछ घटनाओं को कथावस्तु बनाया है। उनके उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि युग के भाव बोध को यथार्थवादी ढंग से अभिव्यक्त करते हैं। 'वस्तुत: पहला उपन्यास' 'अंधेरे बंद कमरे' अनुभूति और युगीन यथार्थ के संवेदनशील बोध की समन्विति का आभास देता है किन्तु बाद के दोनों उपन्यासों में युगीन यथार्थचेतना की अपेक्षा अनुभूति को ही अधिक महत्व मिला है। इसलिए 'न आने वाला कल' तथा 'अंतराल' अंतर्मन की अंधेरी गुफाओं पर रोशनी डालते हैं। ये दोनों उपन्यास आत्मान्वेषण के स्तर पर जीवन के सत्य के साक्षात्कार करने वाले उपन्यास हैं। मोहन राकेश के उपन्यास साधारण व्यक्ति के सुख-दुख, हर्ष-विषाद में मानवीय गरिमा की खोज करते हैं। साधारण की महत्ता उनके उपन्यास की विशेषता है।'

आधुनिक पत्नी की संवेदना घर की चारदीवारी को पार करके अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व और अस्तित्व बनाना चाहती है। नीलिमा और हरबंस की प्रेम कहानी में आधुनिक परिवेश के कारण ही दरार पड़ी। आधुनिक समाज और परिवेश को मोहन राकेश ने इस उपन्यास के पात्र मधुसूदन के सपने में ही व्यक्त कर दिया है, 'एक सपना था जो बार-बार दिखाई देता था, हर रात को दिखाई देता था और कई रातों को ताक कई बार दिखाई देता था। मैं देखता हुँ कि एक बड़ा सा इंजन है जिसके पीछे गड़ियों के कई एक डिब्बे लगे हैं। वह इंजन पटरी से उतरकर चलता है। मैं बहुत चाहता हूँ कि वह पटरी पर अब चढ़े, अब चढ़े, और कई बार सोचता हूं कि थोड़ी दूर और जाकर उसे पटरी मिल जाएगी। मगर वह पटरी के पास पहुंचकर नीचे ही चलता है, उसके ऊपर नहीं जाता।' इस सपने को अगर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो इंजन 'जीवन का रूप' है और पटरी 'जीवन की पटरी' और पटरी मिलने की आकांक्षा 'जीवन की अतृत्प अभिलाषा' है। आधुनिक समाज का हर किरदार अपना पूरा जीवन इसी अभिलाषा में काट देता है और इंजन-पटरी की ये आंख-मिचौली खत्म नहीं होती, फिर वह चाहे मधुसूदन हो, हरबंस, नीलिमा या शुक्ला।

3.3.3.2. अन्तराल—यह एक कस्बे के परिवेश और सामाजिक जीवन की कहानी है। इसमें तनाव, संत्रास और घुटन को दिखाया गया है। यहां स्त्री-पुरूष के नामहीन संबंधों पर आधारित वैयक्तिक जीवन को केंद्र बनाया गया है। श्यामा और कुमार दोनों के अपने-अपने जीवन की कुछ ऐसी घटनाएं हैं कि दोनों ही उस रिक्तता और अभाव की पूर्ति करना चाहते हैं। श्यामा अपने पूर्व पति देव के अभाव की पूर्ति का निरर्थक प्रयास करती है और कुमार अपनी प्रेमिका लता के कहीं और विवाह कर लेने की रिक्तता को भरना चाहता है। विवाह का मतलब कुमार की नजर में एक समझौता ही है और आवश्यकता महसूस होने पर वह उसे तोड़ने के भी पक्ष में है। इसी प्रकार मल्होत्रा दंपती में भी परस्पर प्यार और आत्मीयता नजर नहीं आती। 'अंतराल मूल रूप से संबंधों का उपन्यास है और इसमें नर-नारी संबंधों की बारकी से पड़ताल की गई है। परिभाषित प्रेमी-प्रेमिका और पति-पत्नी के अलावा इस उपन्यास में कुछ अनाम संबंधों के लिए नये धरातल की तलाश है।'

श्यामा और कुमार के वैयक्तिक जीवन के अतीत बोध की संवेदना इतनी गहरी और सूक्ष्म है कि वे उपन्यास के अंत तक अपने अभाव की पूर्ति नहीं कर पाते। उनके बीच अंतराल क्यों बना रहता है? इसके पीछे क्या कारण हैं? इनका जवाब लेखक ने बड़े ही सूक्ष्य और मनोवैज्ञानिक तरीके से दिया है। यद्यपि इसके द्वारा राकेश ने किसी समस्या का निदान नहीं बताया है बल्कि परिवेश एवं परिस्थितियों के साथ अपने पात्रों की मनोदशा एवं क्रिया-कलापों को व्यक्त किया है। कथावास्तु, परिस्थिति और पीड़ा में इतनी सजीवता है कि सबकुछ अपने बीच का ही घटित होने वाला भाग लगता है।

'अंतराल' मानवीय रिश्तों की अपनी पूर्णता और पूरी तीव्रता में न जी पा सकने के अभाव बोध का उपन्यास है। उपन्यास में रिश्तों के सवाल का संदर्भ वैयक्तिक है और प्रसंग एक नामहीन संबंध का।'

श्यामा, सीमा, बीजी सभी अकेली, दुखी, कुंठित। ये सभी खुलकर जीने की तलाश में अंदर से ही घुटती रहती हैं। श्यामा तो अपने पति के साथ के संबंधों को भी संबंध नहीं मानती बल्कि 'संबंधहीन संबंध' की संज्ञा देती है। श्यामा कुमार से प्रेम करती है, पर वह इसे सामाजिक रूप से स्वीकार नहीं कर पाती। वह दोनों पुरूषों पति और प्रेमी के सामने अपना अस्तित्व मनवाना चाहती है। दूसरी ओर कुमार भी सुखी नहीं है। उसका तलाक हो चुका है। मल्होत्रा, देव अपनी पत्नी को जिस सांचे में देखना चाहते हैं वह उसमें फिट नहीं। हर पुरूष पात्र स्त्री पात्र से दुखी, ऊबा हुआ है। विवाह नाम की संस्था बिखरती जा रही है और जिन संबंधों को आकार लेते दिखाया जा रहा है उनमें न तो कोई नैतिक मानदंड हैं और न ही वैचारिक धरातल। ये वस्तुत: राकेश की सोच है या उनके जीवन में आए किसी पल, घटना का एक प्रतिबिंब प्रो० मल्होत्रा, प्रो०, देव और गोपाल को केंद्र बनाकर राकेश ने विवाहित जीवन की स्थितियों को रेखांकित किया हैं। विवाह पूर्व क प्रेम संबंधों का चित्रण कर राकेश सामाजिक मान्यताओं पर प्रहार करते हैं और एक ऐसी व्यवस्था की वकालत करते हैं जहां स्त्री-पुरूष के खुले संबंधों के माध्यम से नए संबंधों की संरचना हो ..... ज़हां मनुष्य अपनी तरह से जीवन जीने के लिए स्वतंत्र हो। उसमें समाज, संस्कार कहीं बाधा न हों।

3.3.3.3. न आने वाला कल—यह उपन्यास कथा प्रयोग की दृष्टि से लिखा गया है, जिसमें एक निर्णय की अनेक प्रतिक्रियाओं को उभारने की कोशिश की गई है। उपन्यास के कवर पेज पर भी लिखा है, 'न आने वाला कल' आधुनिक तेजी से बदलते जीवन और उनकी प्रतिक्रियाओं पर बहुत प्रसिद्ध उपन्यास है जो आर्थिक संघर्ष, स्त्री पुरूष संबंध तथा साहित्य और कला की दुनिया को बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित करता है। यह उपन्यास प्रकाशित होते ही चर्चा का विषय बन गया था और अनेक युवक-युवती इसके चरित्रों में अपनी जीवन की झांकी पाते थे।' इसमें स्थान विशेष के परिवेश में जीने वाले लोगों की मन:स्थिति, जीवन शैली एवं उनकी निजी आत्मपरक पीड़ाओं को आधार बनाया है। इसमें मनुष्य की नियति, उसकी सोच और उसकी मन:स्थिति ही केन्द्र में है। इस उपन्यास में हर पात्र अनचाहे संबंधों की यंत्रणा भोग रहा है। ऐसे संबंध जो सामाजिक रूप से स्वीकृत होते हैं, बाहर से सुखद एवं पूर्ण दिखाई देते हैं, लेकिन अंदर से इन संबंधों में खोखलापन और घुटन भरी होती है और जिन्हें जीने या ढोने के अलावा और कोई रास्ता भी नहीं रहता। राकेश ने मनोज की मानसिक उथल-पुथल का वर्णन एक तिलचट्टे के माध्यम से किया है। इस पूरे घटनाक्रम का इतने मनोवैज्ञानिक तरीके से विश्लेषण किया गया है, कि पाठक कहीं न कहीं पात्र से खुद को जोड़ लेता है।

'न आने वाला कल' उपन्यास स्त्री पुरूष के संबंधों की गहराई में खोज करता है और इन संबंधों में तनाव एवं टूटने के कारणों पर प्रकाश डालता है। सूक्ष्म मनोविश्लेषण अधिक है और स्थूल घटनाएं इसमे बहुत कम हैं।

उपन्यास के केन्द्रीय पात्र मनोज और शोभा ने प्रेम विवाह किया था, लेकिन दोनों को ही ये संबंध बोझ प्रतीत होने लगता है, क्योंकि दोनों समझौता करके जीना नहीं चाहते हैं। एक दूसरे को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति

दोनों को ही अधूरा, दुखी और अकेला बना देती है और अहम् की टकराहट दोनों को अलग कर देती है। इनके अलावा अन्य पात्र पार्कर दंपती, लारा व्हिस्लर और जैनी, कोटली और शारदा, जिमी और रोज आद के संबंधों में भी अहम् की टकराहट को ही दिखाया गया है, जिसमें परस्पर संबंध नाममात्र ही रह जाते हैं। ये पात्र भी अपने वैवाहिक जीवन को केवल ढोते दिखाई देते हैं। राकेश की हर रचना के पात्र की तरह इसका भी मुख्य पात्र मनोज दोहरी मानसिकता में ही रहता है। फिर वह चाहे शोभा से संबंधों को लेकर हो या त्यागपत्र देने के संबंध में। राकेश ने मनोज के माध्यम से अपने शिक्षक काल के अनुभवों को भी अभिव्यक्त किया है और जैसे वे खुद त्यागपत्र देते हैं वैसे ही इसका नायक मनोज भी स्कूल की मशीनी जिंदगी से उबकर त्यागपत्र देता है।

राकेश ने छोटी-छोटी बातों और स्थितियों का अनुभव के आधार पर इतना यथार्थवादी चित्रण किया है, कि वे उपन्यास में अपरिहार्य लगते हैं। 'यह अधिक प्रयोगशील और जीवन यथार्थ को गहरी पहचान कराने वाली रचना है। इसमें जीवन के विस्तार की अपेक्षा जीवन को संचालित करने वाली मूलभूत प्रवृत्तियां और व्यक्तित्व को निर्मित करने वाली परतों का विस्तृत विश्लेषण है। उपन्यास के पारम्परिक कथा संस्कार को उपन्यासकार ने तोड़ा है। यह उपन्यास किन्हीं घटनात्मक लड़ियों से निर्मित नहीं हुआ है और न ही इसमें कौतुहलवर्द्धक घटनात्मक मोड़ हैं।'

3.3.4. एकांकी साहित्य—एकांकी से राकेश की नाटयकला के क्रमिक विकास और उसकी विचाराधारा को समझा जा सकता है। यद्यपि ये नाटकों के समकक्ष नहीं है और न ही इनमें नाटकों जितनी गहराई, चिंतनशीलता या कलात्मकता है, लेकिन इनका अपना महत्व है। 'अण्डे के छिलके : अन्य एकांकी तथा बीज नाटक मोहन राकेश की नाट्य यात्रा की पूरी कहानी है।' नाटकों के व्याकरण और तंत्र की पहचान मोहन राकेश के एकांकी साहित्य में ही मिलता है, जिसे बाद में सृजनात्मक प्रयोग के रूप में बड़े नाटकों में इस्तेमाल किया गया है। एकांकी का कथानक भी समकालीन जीवन से ही लिया गया है, इसीलिए इनमें भी तत्कालीन जीवन की विसंगतियां, विडम्बना और संवेदना दिखाई देती है।

3.3.4.1. सत्य और कल्पना—सत्य और कल्पना: यह संग्रह 1949 में प्रकाशित हुआ। यह संग्रह सिर्फ 1940-50 के बीच हिंदी एकांकी रचना के दौर से ही साक्षात्कार नहीं कराता अपितु स्वयं रचनाकार के प्रारंभ बिन्दु से लेकर अंतिम समय तक की उनकी रंग-दृष्टि की विकास यात्रा और विकास को जानने-समझने का प्रामाणिक आधार भी प्रस्तुत करता है। इस संग्रह में प्रकाशित कुछ एकांकियों के बाद में संशोधित और नए प्रारूप भी सामने आए। जैसे 'घड़ी भर एकांत' के कवि नीरद को 'स्वयंवर' में कवि दिवाकर बनाकर उसकी कविता का ज्यों का त्यों इस्तेमाल कर लिया गया है और चरित्र भेद के बावजूद दोनों की नायिका का नाम करूणा ही है। 'मनहूस आदमी' का संशोधित रूप 'प्यालियां टूटती हैं' और 'प्रतीक्षा' का 'सिपाही की मां' बन गया है। 'मिट्टी के मानव' के 'सरस्वती' में प्रकाशित रूप पर कई संशोधन किए गए, जो 'सत्य और कल्पना' में छपे प्रारूप से काफी भिन्न है। अंत परिवर्तन के कारण इसके समग्र प्रभाव में भी काफी अंतर आ गया। 'कलिंग विजय' 1945 में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था। 1947-48 में इसका संशोधित रूप बंबई रेडियो से प्रसारित हुआ। इससे भी भिन्न रूप 1949 में एकांकी संग्रह 'सत्य और कल्पना' में छपा। फिर भी इसकी संशोधन यात्रा खत्म नहीं हुई।

1958 में राकेश ने इसे फिर से लिखा और 'कलिंग विजय' का यह नया रूप पहले से काफी अलग है। पहले प्रारूप में मौजूद असंधिमित्रा की दासी पद्मा वृद्धा का गीत (बेबस मन जो आस लगाए/उसकी डोर हाथ न तेरे, फिर तू क्यों भरमाए?) और देवगुप्त एवं विजयगुप्त (चर) नामक गौण पात्रों को यहां हटा दिया गया है। इनके स्थान पर महामात्य की पत्नी और पाटलिपुत्र के सेनानायक कुमार की मां सुजाता के नए चरित्र की सृष्टि की गई है। इसके अतिरिक्त पहले प्रारूप में सद्य: विधवा अनाम युवती को तारा का निश्चित चरित्र देकर

विद्रोही युवक की बहन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस परिवर्तन से एकांकी में मानवीय संबंधों की ऊष्म और नाटकीयता में तीव्रता पैदा हुई है। वस्तुत: राकेश 'सत्य और कल्पना' में प्रकाशित एकांकियों से संतुष्ट नहीं थे। इसी कारण वह उन्होंने इसे जल्द ही मार्केट से हटवा दिया और ये लोगों के लिए दुर्लभ हो गई। यहां तक कि यह संग्रह उनके मित्रों और करीबियों के पास भी दुर्लभ हो गया था। जयदेव तनेजा ने लिखा है, 'एंकांकी संकलन सत्य और कल्पना की तलाश में जब मैं उनके मित्र सत्येंद्र शरत के पास पहुंचा तो उन्होंने बताया कि स्वयं राकेश द्वारा भेंट की गई उसकी (शायद अंतिम) प्रति भी अब उनके पास नहीं हैं, क्योंकि बहुत पहले राकेश ने उसे वापस लेकर और उनके सामने ही यमुना में फेंककर हमेशा के लिए उससे मुक्ति पा ली थी उन्होंने उसे डिसऑन कर दिया था और यही कारण है कि उनकी प्रकाशित पुस्तकों की सूची में अब कहीं उसका उल्लेख नहीं मिलता एक दिन अनीता जी के सहयोग से राकेश के सामान में से 'सत्य और कल्पना' की एक खंडित प्रति प्राप्त हो गई।' 'सत्य और कल्पना' की संशोधन प्रक्रिया से यह स्पष्ट है कि राकेश की किसी रचना का पत्रिका में ही नहीं पुस्तकाकार प्रकाशित रूप भी अंतिम नहीं होता था। इसके बाद इसकी एकांकियो में संशोधित रूप 'अण्डे के छिलके: अन्य एकांकी तथा बीज नाटक' का प्रकाशन उनके अभिन्न मित्र ओमप्रकाश जी ने उनके देहांत के बाद 1973 में कराया।

3.3.4.2. अण्डे के छिल्के—अन्य एकांकी तथा बीज नाटक : इस संग्रह में चार एकांकी 'अण्डे के छिलके', 'सिपाही की मां,' 'प्यालियां टूटती हैं', 'बहुत बड़ा सवाल', दो बीज नाटक 'शायद' और 'हं' और एक पार्श्व नाटक 'छतरियां' संकलित है।

'अण्डे के छिलके' एक हास्यप्रधान एकांकी है, जिसमें प्राचीन और वर्तमान पीढ़ियों के संस्कारों, मर्यादाओं, विचारों, आडम्बरों आदि को विषय बनाया गया है। आजादी के बाद नहीं पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी का द्वंद्व सर्वाधिक चर्चित विषय था। एक एकांकी में एक ऐसे संयुक्त और सुखी परिवार का चित्रण किया गया है, जिसकी तीन पीढ़ियां एकसाथ रहती हैं। मां जमुना पुरानी पीढ़ी की है तो बढ़े भैया माधव और भाभी राधा नई और पुरानी पीढ़ी को जोड़ने वाली कड़ी है। गोपाल, पत्नी बीना एवं सबसे छोटा श्याम नई पीढ़ी के हैं। इन पीढ़ियों के बीच मूल्यों और संस्कारों की टकराहट को हास्य के माध्यम से व्यक्त किया गया है। पुराने संस्कारी लोग अण्डा खना निषिद्ध मानते थे, जबकि नई पीढ़ी बड़ों से छुपकर अण्डा खाती है। घर की बहू सास के सामने धार्मिक किताब में छुपाकर चंद्रकांता पढ़ती है। अपनी मान्यताओं के साथ खुलकर जीने का साहस कोई नहीं दिखा पाता। इसी कारण मां से भय के खाये हुए अण्डे के छिलके मोजे में रखे जाते हैं। यहां मोहन राकेश ये संदेश देना चाहते हैं कि खोखला आदर्शवाद विचारों और आचरणों में विसंगति ही ले आता है। 'अण्डे के छिलके में मध्यवित्तीय दुराव-छुपाव की प्रवृत्ति पर चुटकी भरी गई है। यह एकांकी एक ऐसे परिवार की जीवन स्थिति पर आधारित है जिसमें प्राचीन संस्कारों की प्रबलता है। किन्तु वह समाज में चल रहे परिवर्तन के प्रभाव से भी अछूता नहीं है। दोनों की टकराहट स्वाभाविक है लेकिन संस्कारों, मर्यादा और अंधविश्वासों की ओट में छिपे आडम्बर, दुराव-छिपाव के राकेश पक्षपाती नहीं लगते।'

इस संग्रह का दूसरा एकांकी 'सिपाही की मां' में युद्ध की विभीषिका और उसका एक सिपाही के परिवार पर प्रभाव को दिखाया गया है। साथ ही इसमें एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार की आर्थिक मजूबरी और उनके लिए एक बेटी की शादी के महत्व और उसमें आने वाली परेशानियों को भी दिखाया गया है। इसमें मां के एक संवाद के दौरान राकेश लिखते हैं 'अगर लड़की के ब्याह की चिंता नहीं होती तो हम लोग आधा पेट खाकर रह लेते, पर मैं कभी इसे लड़ाई पर नहीं भेजती।' राकेश ने खुद भी युद्ध की विभीषिका देखी और उसमें ग्रामीण लोगों की सांत्वना का स्तर भी देखा। अपने इसी अनुभव को उन्होंने गांव के दो पात्रों दीनू और कुंती के माध्यम से व्यक्त किया है जिनका काम दूसरे के दुखों पर नमक डालना है। ये लोग सांत्वना देने के नाम पर दरअसल

परिवार की चिंताएं ही बढ़ाते हैं। एकांकी में युद्ध पर गए एक सैनिक की मां बिशनी और बहन मुन्नी के इंतजार को दिखाया गया है। साथ ही युद्ध पर गए सैनिक की पत्नी की स्थिति भी राकेश ने मां के संवाद में स्पष्ट कर दिया है, 'यह मर गया तो इसकी बीवी भी फांसी लगाकर मर जाएगी।'

3.3.4.3. प्याली टूटती है—तीसरा एकांकी 'प्यालियां टूटती हैं' में जीवन में आये बदलाव को व्यक्त किया गया है। इसमें कृत्रिमता, ढोंग, झूठ और संबंधों के बेगानापन को हमारे जीवन का हिस्सा बनते दिखाया गया है। साथ ही ये स्पष्ट दिखाया गया है कि किस तरह आर्थिक विषमता के कारण संबंधों की मिठास खत्म हो गई है। वस्तुतः संबंधों को यहां प्यालियों के लिए रूप में ही कमजोर दिखाया गया है, जहां हल्का-सा झटका भी इसमें कई दरार ला देता है।

3.3.4.4. बहुत बड़ा सवाल—संग्रह का चौथा और अंतिम एकांकी 'बहुत बड़ा सवाल' में व्यंग्य के माध्यम से सभा-सोसायटी में चलने वाले चर्चा सत्र की उपयोगिता को दिखाया है कि किस तहर बिना किसी प्रस्ताव को पास किए सभा समाप्त हो जाती है। समस्याएं ज्यों की त्यों रहती हैं और व्यर्थ की बहस में समय नष्ट होता है। इसमें मध्यमवर्गीय जीवन की स्थिति को बड़े ही स्वाभाविक ढंग से व्यक्त किया गया है। जीवन में आई नीरसता, जड़ता को राकेश ने बड़े सशक्त ढंग से व्यक्त किया है। इसमें अधिकतर पात्र कम काम करके अधिक सुविधाएं प्राप्त करना चाहते हैं। उन्हें समय की परवाह नहीं। अनावश्यक मीटिंगों में बात करना, आरोप-प्रत्यारोप उनकी संकीर्ण मानसिकता को दिखाता है। इसमें हर व्यक्ति सोचता है कि उसके सवाल जो जिन्दगी से, समाज से हैं, वे ही बहुत बड़े हैं। उन सवालों पर ही सबका ध्यान होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त संग्रह में बीज नाटक 'शायद' और 'हं' हैं। इन दोनों में वर्तमान युग के पारिवारिक विघटन, अकेलेपन, घुटन को दिखाया गया है। इन नाटकों को राकेश के नाट्य कला का बीज रूप भी कहा जाता है। 'सांकेतिकता इन बीज नाटकों का प्राण है। सभी कुछ बेमतलब सा दोहराया जा रहा है। तलाश है उसकी जो आदमी को रोज रोज नया उत्साह दे और जो है, इसमें कुछ नहीं है।'

'शायद' में स्त्री-पुरूष दो पात्रों को लिया गया है। इनमें पात्रों को कोई नाम नहीं दिया गया और न ही इनके व्यक्तित्व की कोई पहचान बताई गई है। मानवीय जीवन की जटिलता और संबंधों का बिखराव ही इनके मूल में है। इनमें वह छटपटाहट है जो उनकी रचना के हर पुरूष पात्र में देखी जाती है। 'जीवन की व्यापक संवेदनाओं को समेटने की क्षमता रखनेवाली इन रचनाओं में एकांकी-सा नुकीला, इकतरापन और शिल्पगत सौष्ठव नहीं ..... । शायद लघु आकार के पूर्णाक नाटक हैं।'

दूसरे बीज नाटक 'हूं' में जीवन के यथार्थ को व्यक्त किया गया है। इसमें पुरानी और नई पीढ़ी की विचाराधारा में भिन्नता को दिखाया गया है। साथ ही स्पष्ट बदलते समाज का क्रूर रूप दिखाया गया है कि किस तरह एक सामान की तरह जब मां बाप उपयोगी नहीं रह जाते, तो उन्हें छोड़ दिया जाता है।

इस संग्रह में संकलित पार्श्वनाटक 'छतरियां' राकेश की नाट्यकला को नवीन रूप में प्रस्तुत करता है। इसमें राकेश ने पार्श्व से आती ध्वनियों के माध्यम से सारे कथ्य को प्रस्तुत किया है। यह नया प्रयोग था जो अब तक की नाट्य परंपराओं और सीमाओं को तोड़कर अपनी सामर्थ्य को स्थापित करता है। इसमें 'छतरियां' प्रतीक हैं अपनी सांस्कृतिक और नैतिक मूल्यों की। मनुष्य इन छतरियों के साये में जीना चाहता है लेकिन स्थितियां ऐसा होने नहीं देतीं। 'इसका शिल्प और कथ्य दोनों ही एकदम भिन्न हैं जो नाटक के संबंध में राकेश के संयमित चिंतन और सृजन की आकुलता को, उनकी कल्पनाशील दृष्टि और समकालीनता के बोध को एक साथ व्यक्त करता है। इस नाटक में राकेश ने तत्कालीन समाज में परिवर्तित हो रहे जीवन मूल्यों से उत्पन्न स्थिति और उनसे जुड़े सवालों को उठाया है। सारी स्थितियों में परिवर्तन के बाद भी मनुष्य कितना एकाकी हो

जाता है और उसके जीवन मूल्य उसके ही सामने टूटते हैं, विश्वास खंडित होते हैं, इससे उत्पन्न कुंठा राकेश ने उभारा है।' इसमें राकेश का चिंतन झलकता है जो मनुष्य के अस्तित्व को लेकर ही सवाल खड़े क है।

3.4. कथेत्तर साहित्य

मोहन राकेश ने स्वयं को कहानी, उपन्यास या नाट्य लेखन तक ही सीमित न रखकर सभी विधाओं समान रूप से लिखा। इसीलिए उन्हें संपूर्ण समग्र चेतना का कथाकार कहा जाता है। उनकी रचनाओं विविधता, व्यापकता और चिंतन का नया आकाश उनकी सृजनात्मक क्षमता की कहानी खुद बया करता कहानीकार, उपन्यासकार और नाटककार के रूप में हिन्दी साहित्य की अग्रिम पंक्ति में स्थान बनाने व राकेश के कथेत्तर साहित्य पर नजर डालें तो वे निर्विवाद रूप से एक सशक्त निबन्धकार, आलोचक, सप यात्रा लेखक, विशिष्ट जीवनीकार, उत्कृष्ट अनुवादक और बाल साहित्यकार भी दिखाई देते हैं। ये रचा संख्या की दृष्टि से अधिक नहीं होने पर भी लेखन की दृष्टि से अपनी-अपनी विधा को समृद्ध करने में स हैं।

3.4.1. जीवनी साहित्य—जीवनी लेखन की शुरूआत और इसका विकास पश्चिमी देशों में हुआ हिन्दी में यह विधा पाश्चात्य साहित्य की ही देन है, जो इतिहास और उपन्यास के मध्य कहीं उत्पन्न होती प्रत होती है। 'जीवनी घटनाओं का अंकन नहीं वरन् चित्रण है। यह साहित्य की एक विधा है, उसमें साहित्य औ काव्य के सभी गुण है। वह मनुष्य के अंदर और बाह्य स्वरूप का एक कलात्मक निरूपण है। जिस प्रक चित्रकार अपने विषय का एक ऐसा पक्ष पहचान लेता है जो उसके विभिन्न पक्षों में ओतप्रोत होता है औ जिसमें नायक की सभी कलाएं और छटाएं समन्वित हो जाती हैं, उसी प्रकार जीवनीकार अपने नायक के अ की गुंजी समझकर उसके आलोक में सभी घटनाओं का चित्रण करता है।'

इस प्रकार जीवनी अन्य विधाओं से भिन्न है। इसमें इतिहास की अपेक्षा वैयक्तिकता अधिक होती है। घटनाओं का स्थूल वर्णन नहीं, अपितु संबंधित व्यक्तित्व का सूक्ष्म मूल्यांकन होता है। इसमें यथार्थता की तीव्र अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक होती है।

3.4.1.1. समय सारथी—इसमें 12 व्यक्तियों की जीवनियों को चार खंडों में बांटा गया है। इस 'सुदूर अतीत' के गौतम बुद्ध, सुकरात और अशोक से लेकर 'वर्तमान' (आधुनिक काल) के महात्मा गांध जवाहर लाल नेहरू और मार्टिन लूथर किंग तक के ऐसे महान व्यक्तियों की जीवनियां हैं जिन्होंने देश के न निर्माण, विकास और नवीन संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है और जो आधुनिक युग प्रवर्तक और स्तम्भ माने जाते हैं। इसकी भूमिका में राकेश ने लिखा हैं 'इस संकलन में दी गयी जीवनियां केवल कुछ व्यक्तियों का इतिहास नहीं, एक तरह से पिछले अढ़ाई हजार वर्षों की प्रमुख मन: स्थितियों का इतिहास है। सुदूर अतीत में गौतम बुद्ध के मन में उठे पक्षों से लेकर वर्तमान में मार्टिन लूथर किंग की हत्या तक कहीं एक श्रृंखला है जिसे जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। इसीलिए ये जीवनियां अपने ऐतिहासिक क्रम में है हर काल की विशेष मन: स्थिति के अनुसार उनका चुनाव किया गया है। पुस्तक का खंडों में विभाजन भी उस आधार पर है। भारतीय मन: स्थितियों के अध्ययन के साथ-साथ हर समय की समानान्तर विश्व मन: स्थितियं का भी अध्ययन सम्भव हो सके, उसके लिए हर खंड में दो भारतीय जीवनियों के साथ एक जीवनी विदेश से भी ली गयी है।' स्पष्ट है कि 'समय सारथी' का लक्ष्य कुछ व्यक्तियों का जीवन परिचय देना नहीं अपितु उनके माध्यम से उस युग की मानसिकता को अभिव्यक्त करना है। किसी एक युग के परिचय तक भी मोहन राकेश सीमित नहीं रहते। वह कई युगों तक व्याप्त मानवीय चेतना को अभिव्यक्त करना चाहते हैं। इसमें जिनक

जीवनियों का चयन है वह सभी एक चरित्र के भी नहीं हैं। इनमें कोई दार्शनिक है, सम्राट है, स्वतंत्रता सेनानी है, संत है, भक्त है तो कोई साहित्यिक और राजनीतिक। कुछ पूर्व के हैं तो कुछ पश्चिम के। देश, सीमा, वर्ण, चरित्र सभी को लांघकर राकेश ने सबको एकसूत्र में बांधकर इन्हें मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने स्पष्ट किया कि ये सभी असाधारण होकर भी जमीन से जुड़े रहे। राकेश ने पहले खंड : बुद्ध, सुकरात, अशोक, दूसरे खंड : जॉन ऑफ, कबीर, मीा (तीनों ही क्रांतिकारी), तीसरे खंड : दयानंद, भगत सिंह, वाल्टेयर (तीरनों ही अपने-अपने देश में क्रांति की मशाल जलाने वाले), चतुर्थ खंड : महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू और मार्टिनलूथर किंग (तीनों की देश के नवनिर्माण में अहम् भूमिका) में शामिल शख्सियतों को देवता बनाकर पूजा नहीं बल्कि इन्हें मानव ही रखकर इनके उन गुणों को उभारा, जिनसे जनसामन्य और आज का समाज प्रेरणा ले सके। इन सभी ने परम्परा का विरोध किया है, सभी की जिंदगी गर्दिश में बीती है। सभी ने अपनी आत्मा पर किसी दूसरे का शासन स्वीकार नहीं किया और सभी ने मानवता की रक्षा के लिए संघर्ष किया।

'समय सारथी' में जीवनियों को भी कागज पर उतारने में राकेश का लेखन ज्यादा यथार्थवादी और समकालीन दिखाई देता है। इसमें भी उनके अनुभवों की छौंक दिखाई देती है, जो लेखन को ज्यादा रोचक और प्रासंगिक बनाती है। सभी को कहीं न कहीं आधुनिक समाज से भी जोड़कर स्पष्ट किया गया है कि इन सभी महापुरूषों की मौत अलग-अलग तरीके से, अलग-अलग जगहों पर हुई, लेकिन ये महापुरूष आज भी हमारे बीच में हैं। शरीर के रूप में न होकर विचारों के रूप में और इनके विचार युगों में एकजुट होकर आज ज्यादा प्रासंगिक हो गए हैं, जब न मानवता के मूल्य रहे और न ही मानवता को कुचलने वालों से संघर्ष करने का जज्बा।

3.4.2. यात्रा साहित्य—राकेश का स्वभाव और प्रवृत्ति ही ऐसी थी कि वे कभी एक स्थान पर टिककर नहीं रहे। अपने निजी जीवन और लेखन दोनों को ही लेकर भटकते रहे। इन यात्राओं में उन्होंने प्राकृतिक सौंदर्य, नारी सौंदर्य और देशभर के अलग-अलग स्थानों के सौंदर्य को और उसके अनुभव को अपने लेखन में अभिव्यक्त भी किया। अपनी यायावरी प्रवृत्ति के बारे में वे लिखते हैं, 'यायावर के जीवन का सबसे बड़ा संतोष इसमें है कि उसका रास्ता कभी समाप्त नहीं होता। वह चाहे जितना भटक ले, नई अनजान पगडंडियों का मोह उसके मन से कभी नहीं जाता।'

3.4.2.1. आखिरी चट्टान तक—'यात्रा-वृत्त की विशेषता ही यह है कि लेखक और पाठक दोनों सहयात्री बनकर घूमें।' इस दृष्टि से देखें तो 'आखिरी चट्टान तक' में मोहन राकेश पाठक को गोवा से कन्याकुमारी तक की यात्रा करवाते हैं, जिसमें न सिर्फ भौगोलिक, अपितु मानसिक रूप से इन जगहों की संवेदना, संस्कृति से भी वे पाठकों को रूबरू करवाते हैं। वस्तुत: यह एक संस्मरण है, जो उनकी दिसंबर 1952 से फरवरी 1953 के बीच की यात्रा के तुरंत बाद लिखा गया। इस यात्रा के दौरान ही कन्नानोर में उन्होंने 8 जनवरी 1953 को अपनी डायरी में लिखा है, 'मैंने अपनी यात्रा के नोट्स में कहीं लिखा है कि किसी भी अपरिचित व्यक्ति से चाहे उसकी भाषा, उसका मजहब, उसका राजनीतिक विश्वास तुमसे कितना ही भिन्न हो, यदि मुस्कुराकर मिला जाए तो तुम्हारी ओर जो हाथ बढ़ता है वह कोरा मनुष्य का ही होता है: कुछ ऐसी ही मुस्कुराहट की प्रतिक्रिया नाना व्यक्तियों पर मैंने लक्षित की है। यह ठीक है कि बाद में भाषा, मजहब और विश्वास के दाग उभर आते हैं, परन्तु वे सब फिर उस वास्तविक रूप को नहीं छिपा पाते और मनुष्य की मनुष्य से पहचान बनी रहती है।' इसके साथ ही राकेश ने डेल कार्नेगी की पुस्तक 'हाउ टू विन फ्रेंड्स एंड इन्फ्लूएंस पीपल' का एक कोट भी उदाहरण के रूप में लिखा है कि 'जब अपरिचित व्यक्ति से मिलो तो उनकी ओर मुस्कुराओ।'

राकेश के ये नोट्स तो समग्र रूप में उपलब्ध नहीं होते, कि इस तरह की पंक्तियां और 'आखिरी चट्टा तक' पढ़ने के बाद ये तय है कि ये नोट्स ही इसके लेखन का आधार बने। इसमें प्रकृति के साथ ही जीवन के विभिन्न रंगों को दिखाया गया है। इसमें मनुष्य की प्रकृति और विकृति के भेद को भी स्पष्ट किया गया है। इ हम यात्रा वृतांत नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें तिथियों और स्थलों के उल्लेख को उतना महत्व नहीं दिया ग है, जितना लोगों की पीड़ा और उनके सुख-दुख की अनुभूति को। 'लेखक की दृष्टि प्रकृति के बाह्य सौंदर्य प ही स्थिर नहीं रह गई है, बल्कि वह मानव की अंत:प्रकृति और विकृति को भी भेद पायी है। यह यात्रा वृत्तां साधारण से भिन्न है क्योंकि यह स्थानों और तथियों को नहीं, अपरिचय की अनुभूति और पीड़ा को महर प्रदान करता है। इसमें किसान मजदूर, कुली-अफसर, व्यापारी-एजेंट, बेकार आवारा इस प्रकार सभी वर्ग के लोग अपने, कड़वे-मीठे अनुभव लेकर उपस्थित हुए हैं।'

राकेश की इस परानुभूति की अनुभूति की खासियत ही उनके साहित्य को यथार्थ का एक नया धरात देता है। उन्होंने इसमें भी मनुष्य की भूख-प्यास, राग-विराग, वासना-प्रेम आदि के पीछे की मानसिकता क पहचानने का प्रयास किया है। इसमें एक ओर करूणा, वेदना, घृणा है तो दूसरी ओर निश्च्छल अनुभूति औ सहज सौन्दर्य। इसमें पीड़ा की अनुभूति और सौन्दर्य साथ-साथ हैं। इसीलिए पाठक को इसमें कहीं भी नीरसत का बोध नहीं होता। राकेश ने अपनी अन्य रचनाओं की तरह इसमें भी दांपत्य जीवन के द्वंद्व आदि समस्याओ को सामने रखा है। साथ ही समकालीन समाजार्थिक, राजनीतिक समस्याओं और स्थितियों जैसे ठेकेदारी प्रथ जमींदारी प्रथा आदि का भी उल्लेख किया है। राकेश की कलम से इन धर्मनगरियों में व्याप्त धार्मिक पाखण भी अछूते नहीं रहे। इसमें राकेश के कविमन की भी झलक मिलती है। इसके वर्णन में कविता की लय है 'प्रस्तुत यात्रा वर्णन में लेखक का आत्मीयस घुल-मिल गया है। इस कारण इसमें लेखक का व्यक्तित्व आसा- से झलकता है। फिर भी उन्होनें काफी हद तक तटस्थता बरती हैं। यह तटस्थता आत्मलीन सामान्य दर्शन क नहीं, बल्कि संवेदनशील दृष्टा की तटस्थता है। इसमें अलग-अलग अनुभव के खण्ड चित्र एक ही कैनवास प सजाए गए हैं, इनसे जीवन का एक पूरा चित्र अपनी सारी जीवंतता के साथ पाठक के सामने उपस्थित होता है जो सृष्टा की गहरी अनुभूति और दर्शित सत्य के उद्घाटक का वाहक बनता है।'

3.4.3. निबंध साहित्य—राकेशजी का व्यक्तित्व विविध आयामी था। यही कारण है कि साहित्य क अनेक विधाओं में उन्होंने अपना कुछ न कुछ योगदान दिया है। सामान्यत: यह देखा जाता है कि रचनाका किसी एक विधा विशेष में जितनी सफलता और कीर्ति प्राप्त करता है, उतनी दूसरी किसी विधा में उ कदाचित ही मिलती है। किन्तु कुछ प्रतिभासंपन्न व्यक्तित्व ऐसे होते है, जो जिस विधा में हाथ डालते हैं उस उन्हें सफलता ही मिलती है। ऐसे ही महान प्रतिभा संपन्न रचनाकारों में राकेशजी थे। नाटककार, कहानीका और उपन्यासकार के रूप में उन्हें आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। इसके साथ ही साथ राकेशजी एक सफल निबंधकार के रूप में भी प्रसिद्ध हुए। इनके निबंधों पर दर्शन और तत्वज्ञान का बहुत गहरा प्रभाव दिखाई देत है। राकेश जी के निबंध खासकर नई कहानी और नाटक के दर्शन पक्ष को उदघाटित करने मे विशेष रूप स सफल हुए हैं।

राकेश जी के समस्त सृजन पीठिका में उनका व्यक्तित्व प्रभावी बन गया है। गद्य की जिस विद्या की ओ वह उन्मुख हुए उसीमें उसने संपूर्ण जीवन के चित्रों को उकेर दिया है। आत्मप्रकाशन मनुष्य की प्रबल प्रवृत्ति है वह नाटक, उपन्यास, कहानी के साथ-साथ निबंध में भी अभिव्यक्ति पाती है। निबंध में लेखक का व्यक्तित सर्वाधिक अहमियत रखता है। रचनाकार भले ही अपनी इच्छा से साहित्य में अपने व्यक्तित्व का प्रक्षेपण न करे, किन्तु वह अनजाने ही उसके सृजन में समावेश कर जाता है। राकेशजी के निबंध उनके व्यक्तित्व क

स्पष्ट करते हैं। उनके निबंध किसी एक वर्ग तक सीमित न रहकर शैली व विषय विविधता के कारण अनेक वर्ग के हो गए हैं।

राकेशजी के लेख तथा निबंधों में 'परिवेश', 'रंगमंच और शब्द', 'बकलम खुद', 'साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि', 'कुछ और अस्वीकार', 'नयी निगाहों के सवाल' और 'हाशिए पर' महत्वपूर्ण हैं। इन निबंधों में राकेशजी का समीक्षक रूप उभरकर सामने आया है। उनके कुछ निबंधों को पढ़कर ऐसा लगता है कि इन निबंधों पर उनके व्यक्तित्व का गहरा प्रभाव रहा है। विशेष रूप से उनका 'यात्रा का रोमांच' नामक निबंध पढ़ते समय पाठक तीव्रता से यह प्रतीत करता है कि इन निबंधों में कहीं न कहीं रचनाकार के स्वभाव और व्यक्तित्व की झलक मिलती है। उनके निबंधों के माध्यम से उनकी यायावरी वृत्ति का परचिय भी पाठकों को मिलता है। राकेशजी के निबंधों को पढ़ने से उनके विषय में सर्व साधारण रूप से पाठकों को मिलता है। राकेशजी के निबंधों को पढ़ने से उनके विषय में सर्व साधारण रूप से पाठकों की राय बनती है कि राकेशजी वातावरण और परिस्थितियों के दबाव से नये व्यक्तित्व के साथ अस्वाभाविक संबंधों के बीच जीना नहीं चाहते। इस संदर्भ में स्वयं उन्होंने एक स्थान पर कहा है- "व्यक्ति अपनी आंतरिक प्रवृति के अधिक अनुकूल होकर जी सकता है या अधिक उन्मुक्त भाव से अपने को नये अनुभवों के बीच खुला छोड़ सकता है। राकेशजी का यह कथन स्पष्ट करता है कि वे प्रवृत्ति के अनुकूल होकर जीना चाहते हैं, तो साथ ही साथ नये अनुभवों के बीच भी अपने आपको खुला छोड़कर जीना चाहते हैं।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि राकेशजी ने अपने निबंधों में अनेक स्थानों पर खुलकर अपने विषय में कहा है। राकेशजी के उपर्युक्त निबंध संग्रह बहुत कुछ अर्थ में बिलकुल नये लगते हैं। नये लगने का कारण यह भी है, कि इन निबंधों में अनेक स्थानों पर आत्मकथात्मक शैली को अपनाया गया है। इस प्रकार के निबंध व्यक्तिपरक निबंधों के अंतर्गत आते हैं। कई बार ऐसा लगता है कि उनके निबंध आत्मीय कथन है। अपने से बात करते हुए हम उन्हें कई बार पाते हैं। उन्होंने कहा भी है कि "हम अंदर से विभक्त हैं। हर बात दो तरह से सोचते हैं। दोनों तरह से उसे ठीक पाते है। दोनों तरह से स्वीकार करना चाहते हैं। नहीं कर पाते, यही अन्तर्द्वन्द्व है। अन्तर्द्वन्द्व ही नियती है। हमारी नहीं सबकी। कोई न माने तो वह झूठा है हम झुठे नहीं।"

राकेश जी ने विभिन्न शैलियों में निबंध लिखे है। उनके अधिकतर निबंध समीक्षात्मक, चिंतनपरक, आत्मपरक शैली के अंतर्गत आते है। उन्होंने अपने निबंध साहित्य में विभिन्न शैलियों का प्रयोग किया गया है। यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि राकेशजी की निबंध शैली विषय की द्रष्टि से मौलिक तथा उत्कृष्ट है।

3.4.4. डायरी साहित्य—राकेशजी की डायरी भी रचनात्मक साहित्य का एक अनन्य ढप है। "राकेश उन लोगों में से थे, जो बड़ी लगन व नियमितता से डायरी लिखते हैं। इन डायरियों की सब से बड़ी विशेषता है, जीवन और माहौल की छोटी से छोटी चीज से बड़ी से बड़ी चीज तक अत्यंत बेलाग और गहन प्रतिक्रियाएं।"

सच्चाई और ईमानदारी से लिखी यह डायरी दिनचर्या मात्र नहीं है। रचनात्मक अनुभूतियाँ और प्रेरणा का मूल स्रोत इस डायरी में देखा जा सकता है। राकेशजी की डायरी में बीच-बीच में कुछ ऐसे हिस्से मिलते हैं जिनमें वह डायरी के बारे में ही जिक्र करते हैं। राकेशजी ने स्वयं लिखा है कि मै जिन्दगी भर डायरी लिखने की आदि नहीं डाल सका। राकेशजी ने कईबार कोशिश की बीच-बीच में छूटती गई: किन्तु उन्होंने पुन:लिखना शुरू कर दिया। वस्तुत: डायरी एक बहुत ही व्यक्तिगत चीज होती है यही आदमी का सच्चा स्वरूप है जिसमें वह बिना लाग-लपेट के अपना अन्दर-बाहर व्यक्त करता है। इसमें केवल उसीकी नहीं अपितु उसके साथ जुडें समस्त व्यक्तियों की सच्चाईयां भी व्यक्त होती हैं। एक लेखक अपनी साहित्य विद्याओं के माध्यम से स्वयं को व्यक्त तो कर लेता है किन्तु यह सीमित अभिव्यक्ति होती है। डायरी लिखकर वह स्वयं को हल्का महसूस करता है। राकेशजी जैसे भावुक रचनाकार के लिए डायरी लिखना अति-आवश्यक हो जाता है। उनकी

डायरी में युवाकाल से लेकर अन्त तक के अनुभव हैं। उनके जीवन में जो पात्र आया उसको उन्होंने सीधे सच्चे शब्दों में व्यक्त किया है। "राकेश की जिन्दगी एक खुली किताब रही है। उसने जो कुछ लिखा और किया वह दुनिया को मालूम है। लेकिन उसने जो कुछ जिया वह सिर्फ उसे मालूम था।"

प्रकृति का चित्रण और जीवन का माहौल, दार्शनिक अभिव्यंजना, जीवानुभूति आदि के समन्वय से राकेशजी की डायरी सामान्य डायरी न रहकर एक साहित्यिक कृति बन गई है।

3.4.5. पत्र साहित्य—डायरी के ही सामानांतर राकेश के जीवन और उनके साहित्य परिवेश को जानने का कोई प्रमाणिक दस्तावेज उपलब्ध है तो वह उनके द्वारा और उनको लिखे गए पत्र ही हैं। इन पत्रों को जयदेव तनेजा ने अपनी पुस्तक 'राकेश और परिवेश पत्रों में' संकलित और संपादित किया है। पत्रों को पुस्तक रूप में प्रकाशित करने की पहल राकेश की पत्नी अनीता राकेश ने की। इसमें उनके, घर परिवार के सदस्यों, प्रशंसकों, प्रकाशकों और मित्रों के करीब दो हजार पत्रों में से 770 पत्रों का संग्रह किया गया है। इसकी प्रमाणिकता और विश्वसनीयता बनाए रखने के लिए संपादक ने अंग्रेजी में लिखे गए पत्रों को अनूदित करने के बजाए ज्यों का त्यों रहने दिया है। स्वयं संपादक के शब्दों में 'कहीं कहीं मामूली अपवादों को छोड़कर वर्तनी और वाक्यों की अशुद्धियों को भी जानबूझकर ठीक नहीं किया गया है।

अपनी व्यस्तता के बावजूद राकेश पत्र के लिए समय जरूर निकाल लेते। तनेजा ने लिखा है, 'यह सच है कि राकेश के लगभग प्रत्येक पत्र में लेखक को उनसे पत्र न लिखने अथवा पत्रोत्तर न देने की समान शिकायत रही है। परन्तु झूठ यह भी नहीं कि कई बार राकेश ने सिर्फ पत्र लिखने के लिए कॉलेज से छुट्टी ली और एक बार तो केवल एक महीने में सौ से भी अधिक पत्र लिखे।' डायरी की तरह पत्रों को भी प्रकाशित करवाने और नहीं करवाने को लेकर कई जगह राकेश की दुविधा दिखाई देती है। कई जगहों पर उन्होंने पत्रों को प्रकाशित करने की इच्छा जताई, लेकिन उनकी मृत्यु के पश्चात इसको लेकर दुविधा स्वाभाविक थी। बाद में परिजनों और राकेश के करीबी मित्रों के कहने पर तनेजा ने यह काम अपने हाथ में लिया।

पत्रों का महत्व इस दृष्टि से ज्यादा है कि इसमें राकेश के साहित्यिक, सामाजिक, पारिवारिक संबंध के साथ ही तत्कालीन स्थितियां और उनका राकेश के लेखन पर प्रभाव को आसानी से विश्लेषित किया जा सकता है। इसमें पत्रों को परम्परानुसार तारीखवार न रखकर संबंधों के हिसाब से ही संयोजित किया गया है। इस तरह से इसे पांच अध्याय में बांटा गया है।

प्रथम अध्याय (घर : रेत में डूबती बूंद की अकुलाहट) : इसमें राकेश के जीवन क्रम और व्यक्तिगत सम्बन्धों के विकास को रूपायित करने के लिए पत्रों को समय के अनुसार रखा गया है। राकेश ने अपने जीवन में जो कुछ किया उसके केंद्र में कहीं न कहीं 'घर' ही था। तीन पत्नियों के अतिरिक्त राकेश के जीवन में आनेवाली प्रेमिकाओं और महिला मित्रों की संख्या कम नहीं है, लेकिन तनेजा के शब्दों में 'आजन्म मां और अंतिम समय में पत्नी अनीता को छोड़कर किसी भी स्त्री ने राकेश को न तो पूरी तरह समझने का प्रयत्न किया और न ही देर तक साथ निभाया।' इसके पहले हिस्से में उनकी मां का पत्र है। साथ ही सुशीला, पुष्पा, अनीता, चंद्रा (औलक) के पत्र भी शामिल है। इसके अलावा इसमें उनकी एक मात्र महिला मित्र वीणा के पत्रों को शामिल किया गया है। संभवत: संपादक ने वीणा की राकेश के जीवन और साहित्य में वीणा के महत्व को देखकर ही ये फैसला लिया। 'इस अध्याय में राकेश के मानसिक भूगोल के पर्वतों, दर्रों, खंदकों, खाइयों और झरनों सरोवरों के एक पूरे इतिहास का अक्स देखा जा सकता है।'

अध्याय दो (परिवार : रिश्ते-नाते): इसमें राकेश के मित्रों के पत्र शामिल किए गए हैं। खासकर जुलाई 1947 में बंबई विश्वविद्यालय के एल्फिंस्टन कॉलेज में पहले दिन बतौर हिन्दी प्राध्यापक गए मदन

मोहन राकेश से उनके एक छात्र गिरधारी लाल वैद के मिलने, फिर मुलाकात की दोस्ती में परिणति और इस दोस्ती के अंत तक बने रहने की कहानी इन पत्रों में सरसता के साथ सामने आती है।

साथ ही राज बेदी और उज्जवला भाभी से भी दोस्ती की कहानी पत्रों में भी नाटकीयता का पुट लाते हैं। इनके अलावा वीरेन (वीरेन्द्र) के पत्रों से भी उनके और राकेश के मध्य छोटे-बड़े भाई का संबंध बयां होता है, फिर चाहे वह अधिकतर अलग-अलग ही क्यों न रहे हों।

अध्याय तीन (एक्सक्लेमेशन मार्क): इसमें राकेश के समकालीन साहित्याकार, मित्र और प्रतिद्वंद्वी राजेन्द्र यादव और मन्नू भंडारी के पत्रों और उनके संबंध में राकेश के जवाबी पत्रों को शामिल कियाग गया है। ये इन तीनों साहित्यकारों के आरंभिक दौर के कुछ दिलचस्प पत्र हैं। इसमें आपस की तकरार भी दिखाई देती है तो प्यार भी। इसकी भूमिका में एक अक्टूबर 1963 को अनीता राकेश के एक अप्रकाशित पत्र में राकेश और राजेंद्र के संबंधों की गहराई स्पष्ट होती है। 'ये (राजेन्द्र-राकेश)दिन में पचास बार लड़ते हैं और सत्तर बार दोस्ती करते हैं। ये लोग न लड़े बिना रहते हैं और न ही दोस्ती किए बिना।' यहीं पर खुद राकेश ने राजेन्द्र यादव के संबंध में लिखा है, 'दोस्ती या दुश्मनी जो भी है, लड़ते-झगड़ते हुई थी, उसी तरह चल रही है और चलती रहेगी। कारण कि मैं यह बिना एक्सक्लेमेशन मार्क के इस आदमी के बारे में सोच ही नहीं सकता और इस आदमी को अपने नाम के साथ पंक्चुएशन मार्क बिलकुल पसंद नहीं।'

अध्याय चार (आत्म-बोध और विरोध के बीच): इसमें राकेश के प्रकाशकों, सम्पादकों, नाट्य समीक्षकों आदि को और उनके द्वारा दिए गए जवाब को शामिल किया गया है। नौकरी और पैसों की कभी भी परवाह नहीं करने वाले राकेश की लेखकीय गरिमा, आत्मसम्मान और रचनाकार के अधिकारों की प्रतिष्ठा के लिए लड़ी गई लड़ाई इन पत्रों के माध्यम से उजागर होती है। उनकी लड़ाई हमेशा सिद्धान्तों पर हुई और वे इस संघर्ष में हमेशा अपनी बात मनवाने में कामयाब रहे। मोहन राकेश ने ही लिखा है, 'जब भी मैं अपने पूरे सीने का जोर लगाकर इन अधिकारों के लिए लड़ता हूं, तो केवल अपने अकेले के लिए नहीं। मैंने लड़ाई सिर्फ इसलिए तो शुरू नहीं की है कि इसका लाभ सिर्फ अकेले मुझे मिले।'

अध्याय पांच (आत्मीयता के वृत्त): इस अध्याय को भी दो भागों में बांटा है। पहले (नई कहानी के सहयात्री और) में नई-पुरानी पीढ़ी के 56 कथाकारों, समीक्षकों और अन्य साहित्यिक सहयात्रियों के छोटे-बड़े 119 पत्र संकलित हैं। इसमें राकेश और उनके कथा समय और उसके नेपथ्य की स्पष्ट-अस्पष्ट किन्तु प्रामाणिक तस्वीर उभरती हैं। इन खतों के आईने में नई कहानी के आंदोलन (बावजूद इसके कि उसके तीनों सूत्रधार-राकेश, कमलेश्वर और राजेन्द्र यादव-प्रत्यक्षत: यहां नहीं हैं) की धड़कन को साफ देखा सुना जा सकता है। दूसरे (वसुधैव कुटुम्बकम) में उनके बहुसंख्य विदेशी मित्रों में से 12 के पत्रों को शामिल किया गया है। राकेश ने कई देशों की यात्राएं कीं और उनका मित्र संसार भी विश्वभर में फैला हुआ था। वह जिससे मिलते, उसको अपना बना लेते और कई बिना मिले ही उनको उनके साहित्य के माध्यम से जानते थे। शायद इसीलिए मास्कों के वी.ए. चेर्निशोव ने हिन्दी में उन्हें लिखा, 'मैं आपकों लंगोटिया दोस्त समझता हूँ और व्यक्तिगत रूप से न जानने पर भी हमारा परिचय बड़ा घनिष्ठा-सा लगता है।'

और अंत में : इसमें मोहन राकेश की पुण्य तिथि 3 दिसंबर 1994 को अनीता राकेश द्वारा उन्हें विशेष रूप से लिखा गया पत्र शामिल किया गया है, जिसमें उनके परिवार की वर्तमान स्थिति, घर के लिए राकेश की तलाश का दर्द और इस दर्द का अनीता के दिल में एहसास, इन सभी बातों को रोचक ढंग से शामिल किया गया है।

पत्रों की इस लड़ी में कई जगह के मोती गायब हैं और यह स्पष्ट भी नहीं है कि इन मोतियों को इस लड़ी में पिरोया ही नहीं गया था, या बिखरने के बाद संग्रह के दौरान वह मोती संग्रह और संपादन करने वाले को मिले ही नहीं। इससे राकेश के जीवन के कई रंग धुंधले से ही दिखाई देते हैं या यू कहें कि उनका एह पहलू ह सामने आ पाता है। हालांकि इसकी कमी संपादक तनेजा को भी खली है। उनहोंने इसकी भूमिका में लिखा है 'काश! यह एकालाप की जगह सम्वाद के रूप में होती। तमाम पत्रों के साथ राकेश के भी उत्तर होते-जैसा कि किसी हद तक राकेश-अनीता, गिरधारी-राकेश और मोहन राकेश-श्यामानन्द जालाना के प्रसंग में दिखा पड़ता है। परन्तु यह भी हो सकता है कि यह अतृप्ति और कमी ही इस पुस्तक की उपलब्धि बन जाए। क्योंकि इससे इतना तो सद्धि होगा ही कि हिन्दी के इस सर्वाधिक एकस्पोड समझे/माने जाने वाले जटिल रचनाकार के बारे में अभी भी ऐसा बहुत कुछ है, जिसे जानना शेष है।'

3.4.6. अनुदित साहित्य—राकेशजी के द्वारा अनूदित तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं—'मृच्छकटिक' 'शाकुन्तल' और 'एक औरत का चेहरा'। संस्कृत के लब्धप्रतिष्ठित नाटककार शूद्रक का बहुचर्चित नाटक 'मृच्छकटिक' का हिन्दी अनुवाद राकेशजी ने प्रस्तुत किया है। संस्कृत की समृद्ध नाट्य परंपरा से गहरे परिचय के कारण उनकी नाट्य कृतियाँ अधिक सफल हैं। कालिदास की विश्व-प्रसिद्ध कृति 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' और शूद्रक कृत 'मृच्छकटिकम्' का सरल अनुवार कर राकेशजी ने सामान्य पाठकों के लिए उसे सुलभ बनाय है। सन् 1961 ई० में 'मृच्छकटिकम्' का अनुवाद हुआ, जिसके पीछे पूर्ववर्ती अनुवादों के प्रति असन्तोष क भाव छिपा था। सन् 1965 ई० में 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का अनुवाद प्रस्तुत किया गया।

अनुवाद के सम्बन्ध में राकेशजी की धारणा और उनके विचार तथा अनुवाद के प्रति उनकी गंभीरता क परिचय 'शाकुन्तल' की भूमिका से मिलता है। 'मृच्छकटिकम्' और 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के अनुवादों में शूद्रक और कालिदास के साथ कहाँ तक न्याय हुआ है यह मैं नहीं कह सकता। परन्तु मेरा प्रयत्न अवश्य रहा है कि जहाँ तक बन पड़े मूलग्रंथ और अर्थ दोनों की अनुवाद में रक्षा की जाय, साथ ही यह भी कि अनुवादक की ओर से अतिरिक्त शब्दों का प्रयोग कम हो और किसी भी तरह का अतिरिक्त आशय उसमें न आने आए। फिर भी कुछ स्थल ऐसे हैं, जहाँ नाटकीय अन्विति के निर्वाह के लिए या श्लोकों के अनुवाद का मुक्तक लाभ बनाये रखने के लिए थोड़ी-बहुत स्वतन्त्रता मुझे लेनी पड़ी है। उसके लिए बहुत अधिकार मैने अपने को नहीं दिया पर मूल का अनुसरण करने के लिए लय और अन्विति की उपेक्षा कर जाने से अनुवाद का उद्देश्य ही शायद पूरा न हो पाता। अनुवाद में बहुत-सी सीमाएँ अनुवादक की हो सकती हैं पर कुछ सीमाएँ ऐसी भी हैं जो इस तरह के प्रयत्न में स्वत: अन्तर्हित रहती हैं। फिर मूल रचना से आज का सदियों का अन्तर-भाषा, शिल्प भाव-योजना तथा परिकल्पना का ..... अपने में ही एक सीमा है।" राकेशजी के ये अनुवाद काव्य—चेतन और रंग-दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार हेनरी जेम्स की श्रेष्ठतम कृतियों में से एक है—'दि पोट्रेट औफ ए लेडी। इस उपन्यास का राकेशजी ने अनुवाद किया और नाम दिया "एक औरत का चेहरा"। हेनरी जेम्स के उपन्यास सम्बन्धी कठिनाई से राकेशजी भलीभांति परिचित थे और उनके सामने प्रमुख दो चुनौतियाँ थीं- अंग्रेजी मुहावरे और अनुवाद को अनुवाद की कृत्रिमता से बचाते हुए अपनी भाषा की सहज अन्विति में अथ सम्प्रेषण की। एक वर्ष के परिश्रम के उपरान्त राकेशजी ने इस उपन्यास को हिन्दी मे अनूदित किया। विश्व की एक श्रेष्ठ कृति का अनुवाद राकेशजी की ही नहीं, हिन्दी साहित्य की उपलब्धि है।

3.4.7. संस्मरण साहित्य—अनुभव और स्मृति के आधार पर रचित साहित्य को संस्मरण कह सकते हैं। भावाभिव्यक्ति संस्मरण को अधिक रोचक और भावूपर्ण बना देती है। 'अतीत का अनुभव' रोचक प्रसंग के रूप में वर्णित किया जाए तो वह संस्मरण की संज्ञा पाता है। इस संदर्भ में तो मोहन राकेश का पूरा लेखन ही

संस्मरण की श्रेणी में आता है, लेकिन अन्य विधाओं में कल्पना और परानुभव का भी समावेश करने के कारण उसे संस्मरण नहीं कह सकते। मोहन राकेश के मरणोपरान्त जयदेव तनेजा ने मोहन राकेश की अप्रकाशित रचनाओं के संग्रह 'मोहन राकेश एकत्र' में दो संस्मरण 'ऊंची झील' और 'मकबरे और आज' प्रकाशित किए। ये दोनों यात्रा संस्मरण हैं, जिन्हें हम यात्रा साहित्य का भी एक भाग कह सकते हैं, लकिन 'आखिरी चट्टान तक' और इन दोनों संस्मरणों में मौलिक अंतर ये है कि इस संस्मरण में लेखक अपनी यात्रा तक केन्द्रित रहा है, जबकि 'आखिरी चट्टान तक, में लेखक और पाठक दोनों सहयात्री थे।

कोल्हाई ग्लेशियर के ऊपर दूधसर झील का संस्मरण 'ऊंची झील' 1 मई 1960 को आकाशवाणी इलाहाबाद से प्रसारित हुआ था। इस यात्रा पर उपेंद्रनाथ अश्क और कमलेश्वर भी उनके साथ थे। 'परिवेश' में 'यात्रा का रोमांस' निबंध भी इसका ही थोड़ा भिन्न रूप है। अमूमन संस्मरण में रची-बसी नीरसता को राकेश ने इसमें से निचोड़ दिया था और इसमें कहानी सी सरसता और उपन्यास-सा गांभीर्य ला दिया है। झील के मानवीयकरण और उसे बच्चे की उपमा देने से संस्मरण की सजीवता और बढ़ गई थी, लेकिन राकेश के आकस्मिक निधन के कारण वह पूरी लिखी नहीं जा सकी। इसी का एक हिस्सा राकेश की रूस यात्रा के दौरान वहां के ऐतिहासिक नगर समरकंद में गुजारे गए यादगार लम्हों और मूल्यवान अनुभवों में रचा-बसा यह संस्मरण 'मकबरे का आज' है। इसे 'सारिका' के सितंबर 1972 के अंक में सर्वप्रथम प्रकाशित किया गया था। इस संस्मरण लेखन की भाषा नाटकों के काफी करीब है। इसी कारण इसमें रोचकता अधिक है। पूरा संस्मरण संवादों में आगे बढ़ता है जैसे:-

'जीना कितनी अच्छी चीज है

हां है तो।

पर हर वक्त आदमी इस तरह महसूस नहीं करता। पता नहीं क्यों।'

3.4.8. भेंटवार्ता साहित्य—भेंटवार्ता साहित्य का महत्वपूर्ण भाग है दोतरफा संवाद अर्थात जहां दो लोग आपस में बातचीत कर रहे हों। राकेश का नाट्य लेखन में अग्रिम स्थान इसी शैली में लेखन मे सिद्धहस्तता के कारण ही बना। भेंटवार्ता मुख्यत: नोटबुक या डायरी का ही हिस्सा प्रतीत होते हैं। इसीलिए इसमें यथार्थ स्थिति, परिस्थिति और संवेदना दिखाई देती है। जयदेव तनेजा द्वारा संपादित पुस्तक 'मोहन राकेश एकत्र' में मोहन राकेश: आरंभिक जीवन में राजिंदर पाल और राकेश की अंतरंग बातचीत का संग्रह किया गया है। इसमें राकेश के साहित्य, परिवार और परिस्थितियों का वर्णन है। इसके अलावा साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि में भी मोहन राकेश के विभिन्न साहित्यकारों से की गई भेंटवार्ता को शामिल किया गया है।

3.4.9. बाल साहित्य—मोहन राकेश ने बच्चों के साहित्य का भी सृजन किया। 'बिना हाड़ मांस का आदमी' में बच्चों के लिए लिखी गई कहानियां हैं। इनमें उनकी चार कहानियां 'कांटेदार आदमी,' 'बिना हाड़-मांस का आदमी, 'सुनहरा मुर्गा, काला बंदर और लाल अमरूद का पेड़', और गिरगिट संकलित हैं। इसका प्रकाशन राकेश की दूसरी बरसी पर हुआ। सामान्यत: माना जाता है कि बाल साहित्य लिखने के लिए बाल मनोविज्ञान का अध्ययन जरूरी है। इसी के जरिए लेखन में ऐसे वातावरण का निर्माण किया जा सकता है जो बच्चों को न सिर्फ आकर्षित करें बल्कि उन्हें सही रास्ता भी दिखाएं। अगर राकेश के बाकी साहित्य से इसकी तुलना करते तो उनके जैसे गंभीर और यथार्थवादी लेखक से इतनी सहज, सरल और रोचक लेखन की उम्मीद बेमानी-सी प्रतीत होती, जिसमें बाल मनोविज्ञान का भी बारीकी से ध्यान रखा गया है। यद्यपि उन्होंने बाल मनोविज्ञान का कही अलग से अध्ययन किया, इसका उल्लेख नहीं मिलता। फिर भी उनकी संवेदना और

परानुभव को ग्रहण करने की क्षमता के कारण बाल साहित्य में कहीं भी बाल मनोविज्ञान की कमी प्रतीत नह होती।

इस संग्रह की सभी कहानियों में रोचकता विद्यमान है। सभी में ईमानदारी, प्रेम, सहकारिता औ आत्मतृप्ति का महत्व प्रतिपादित किया गया है। साथ में अप्रामाणिकता, स्वार्थ, लालच के बुरे परिणाम क मनोरंजक शैली में अंकित किया गया है। 'सुनहरा मुर्गा, काला बंदर और लाल अमरूद का पेड़' जैसी बाल मनोविज्ञान पर आधारित कहानी से मुर्गे, बंद और पेड़ को आधार बनाकर बच्चों को एकता का संदेश देते हैं जिसमें वह ये भी दिखाते हैं कि एकता के बिना पेड़ जैसा मजबूत किरदार भी कुछ नहीं कर सकता। 'बिना हाड़ मांस का आदमी' कहानी में वैज्ञानिक आविष्कारों की ओर बालकों का ध्यान आकृष्ट करते हुए लेखक ने बड़ी कुशलता से मानवता की श्रेष्ठता स्थापित की है।

राकेश ने बाल कहानियों में विश्वसनीयता को बहुत महत्व दिया है। 'कांटेदार आदमी' कहानी में अंकित घटनाएं बच्चों को विश्वसनीय लगने वाली हैं और वे बेइमानी के बुरे फल से अवगत हो जाएंगे। इसके अतिरिक्त 'एकत्र' में जयदेव तनेजा ने 'पिता-पुत्री' संवाद में राकेश के अपने तीन साल की बेटी से वार्तालाप का भी मनोहरी दृश्य मिलता है। इसकी शैली में जहां नाटकीयता है, तो संवाद और मनोभाव मनोवैज्ञानिक हैं।

इस तरह इन सभी कहानियों में रोचकता के साथ ही बाल मन से संगति सुगमता से सथापित करती हैं। इनमें विश्वसनीयता, कौतूहल और मनोवैज्ञानिकता है, जो आधुनिक जीवन के अनुकूल है। राकेश ने साहित्य की लगभग हर विधा को अपनाया और उसे एक नई परिभाषा भी दी। उनका साहित्यिक युगबोध, इतिहास बोध, मानवीय और क्षेत्र विशेष की संवेदना उनकी रचना को विशेष आयाम देती है। यही कारण है कि उनके बाल साहित्य को भी विशेष रूप से सराहा गया।

3.4.10 आलोचना साहित्य—समकालीन साहित्य के प्रति सजगता और उसकी अभिव्यक्ति स्वयं ही आलोचना को आकार देता है। मोहन राकेश ने समय-समय पर कहानी, नई कहानी, उपन्यास, नाटक, रंगमंच, कला, कविता आदि सामयिक विषयों पर अपने विचार व्यक्त किए। साहित्य, साहित्य में यथार्थ का महत्व, लेखक का दायित्व आदि सवालों को भी उन्होंने बेबाकी से उठाया। जयदेव तनेजा ने अपनी संपादित पुस्तक 'एकत्र' में मोहन राकेश की दो आलोचनाओं 'भारतमंजरी पर एक दृष्टि' और 'नूरजहां' को संकलित किया है। 'भारतमंजरी पर एक दृष्टि' की आलोचना को दो भगों में बांटा गया है। पहला-क्षेमेंद्र के काव्यालोचना से सिद्धांतों का निर्देश और दूसरा-उन सिद्धांतों के अनुसार क्षोमेंद्रकृत भारतमंजरी पर समालोचना। इस आलोचना में राकेश के संस्कृत और संस्कृति दोनों के ज्ञान का परिचय मिलता है। साथ ही काव्य व्याकरण और अनुभूति का भी व्यापक रूप देखेने को मिलता है, जो उनके 'नूरजहां' प्रेमकाव्य की आलोचना में और अधिक स्पष्ट हो जाता है। इसमें जहां वह कवि गुरूभक्त सिंह के मानवीय भावों की सुंदर अभिव्यक्ति की प्रशंसा करते हैं, वहीं अपने काव्य ज्ञान और काव्य प्रेम को और भी स्पष्ट करते हैं, जिसकी झलक उनके 'आषाढ़ का एक दिन' में मिली थी।

समय-समय पर मोहन राकेश के द्वारा की गई समीक्षाओं को भी इसी के अंतर्गत लिया गया है, जिसमें यशपाल के कहानी संग्रह 'तुमने क्यों कहा मैं सुंदर हूं' और मार्कन्डेय के कहानी संग्रह 'पान फूल' की पुस्तक समीक्षा, निराशावादी यथार्थ और कला की आशा समीक्षा लेख और हरिशंकर परसाई के कहानी संग्रह 'हंसते हैं, रोते हैं' की समीक्षा, 'एण्टन चेखव: इन्टव्यू' की पुस्तक समीक्षा शामिल है।

3.4.11. संपादन साहित्य—बतौर संपादक मोहन राकेश ने सारिका को एक नई ऊंचाई, नया आयाम और साहित्य जगत में एक नई पहचान दी। सरिका के संपादक रहते हुए ही राकेश ने अन्य लेखकों को भी

अपना पोट्रेट लिखने के लिए प्रेरित किया। राजेन्द्र सिंह बेदी, नागार्जुन, यशपाल, कृशनचंदर, अमृता प्रीतम, अमृतलाल नागर, उपेन्द्रनाथ अश्क, कमलेश्वर, कर्रतुल ऐन हैदर, विष्णु प्रभाकर, राजेन्द्र यादव, विमल मित्र, भगवतीचरण वर्मा और भीष्म साहनी आदि ऐसे ही नाम है। इसमें खुद मोहन राकेश ने अपना पोट्रेट भी प्रकाशित किया। इसमें जितने लोगों के पोट्रेट हैं उन्होंने इसे लिखने में पूरी ईमानदारी बरतने की कोशिश की। इसी कारण ये इनके आंतरिक व्यक्तित्व को उजागर करने में सक्षम है। इन लेखों में एक दो को छोड़कर सभी ने अपने बचपन की बहुत ही सहज और आत्मीयतापूर्वक अभिव्यक्ति की है, लेकिन युवा काल के बारे में लिखते समय सहजगता बरत है और थोड़ा-बहुत लिखकर आगे बढ़ गए। नागार्जुन को छोडकर सबके लेखों में थकान और क्षोभ भी ध्वनित होता है, लेकिन इसमें थकान से जूझने का उत्साह भी कम दिखाई नहीं देता। इसमें एक आस्था है और हर परिस्थिति से निपटने का जज्बा। कहीं भी आस्था का स्वर धीमा नहीं पड़ा। सभी ने अपने यथार्थ को स्वाभाविक रूप में अभिव्यक्त किया है।

तमाम संघर्षो, व्यक्तिगत तनावों और सुख दुख के क्षणों के बीच से गुजरते हुए कोई प्रतिभा किस तरह रचनात्मकता ग्रहण करती जाती है, इसी संघर्षशील यथार्थ का चित्रण इस संग्रह में दिखाई देता है। इन लेखों में अलग-अलग उम्र के लेखकों का पारस्परिक अन्तर स्पष्ट होने के साथ-साथ उनकी सामान्य दिशा और सामान्य खोज पर भी प्रकाश पड़ता है। इसके जरिए राकेश ने एक नई विधा का सूत्रपात किया। ये पोट्रेट वर्तमान समय में इन लेखकों और उनके साहित्य को समझने का एक महत्वपूर्ण जरिया बनते हैं। खा॰कर हिन्दी के शोधार्थियों के लिए ये एक अनूठा संग्रह है।

इस प्रकार राकेश ने साहित्य की विभिन्न विधाओं को जिस प्रकार नई दिशा दी, उससे कहीं अधिक प्रयोग और नयापन वे संपादन में भी लेकर आए। उनका साहित्यिक युगबोध, इतिहास बोध उनके संपादन में भी दिखाई देता है।

3.5. निष्कर्ष

इन सभी पहलुओं को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं, कि राकेशजी का व्यक्तित्व एवम् जीवन वाङ्मयी रहा होगा। राकेशजी ने साहित्य जगत में अपना एक नाय मुकाम तय किया है साथ ही साथ जीवन में आई सभी मुसिबतों एवम् कष्टों को सहकर उनसे डटकर सामना किया। राकेशजी के जीवन में इतने संघर्ष थे कि वे सीधे, सापाट व्यक्तित्व के नहीं रह सकते थे। उनका जीवन संघर्ष से ही शुरू हुआ है और संघर्ष में ही समाप्त हुआ। बाहर से अव्यवस्थित और आवेश से परिपूर्ण दिखाई देनेवाला उनका व्यक्तित्व उनके लेखन में बड़ा ही व्यवस्थित और संवेदनशील था। स्वाभिमान, जिंदादिली और दोस्तों के नाम सबकुछ लुटा देने की उनकी प्रवृत्ति ने उनके व्यक्तित्व को एक अलग ही रूप दिया है। बाहर से हंसी के ठहाके लगानेवाला यह रचनाकार अपने भीतरी संसार में वेदना लेकर जीता है। अपनी आंतरिक पीड़ा और व्यथा को वे खामोश होकर भोगते रहे। यह ठीक ही कहा गया है कि "मेरी दृष्टि में राकेश का असली व्यक्तित्व वह नहीं था जो बाहर से आभासित होता था, वरन वह था जो नहीं दिखाई दिया। जो उन्होनें कहा उसकी अपेक्षा जो नहीं कहा वही राकेश का असली कथ्य था। मैं समझता हूं कि राकेशजी अपने साहित्य, अपनी मान्यताओं और प्रस्तुतियों के माध्यम से अपने व्यक्तित्व को भी विश्लेषित कर गये हैं। फिर भी कई बातें ऐसी भी हैं, जो अभी नहीं कही जा सकी हैं यहां तक की अनीता की कलम से भी वह अलिखित ही रह गई हैं।

राकेशजी के कृतित्व को देखकर हम कह सकते हैं, कि राकेशजी बहुमुखी प्रतिभा संपन्न रचनाकार थे। उन्होंने गद्य की विविध विधाओं को लेकर उत्कृष्ट साहित्य का सृजन किया है। गद्य की विधाओं में उन्होंने कहानी, उपन्यास, निबंध, नाटक, समीक्षा, रेखाचित्र, संस्मरण, डायरी, जीवनी, यात्रा-वृतांत आदि बहुत कुछ

लिखा, जिसमें एक सफल और श्रेष्ठ गद्यकार का सहज, स्वाभाविक और मोहक रूप दिखाई देता है। जिस किसी विधा को लेकर उन्होंने लिखा उसमें उनके भीतर बैठा हुआ एक सर्जक कलाकार और भावुक रचनाकार ही व्यक्त हुआ है। अपनी शैली के वे स्वयं निर्माता हैं। उन्होंने जो भी लिखा उसमें एक भावुक रचनाकार के सहज, स्वाभाविक और अप्रतिम व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति हुई है। अनुभूति की गहरी पकड़ राकेशजी में थी अनुभूत सत्य और भोगे हुए यथार्थ को उन्होंने अपनी हर रचना में बड़ी ईमानदारी के साथ व्यक्त किया है अपनी रचनाओं के माध्यम से राकेशजी ने आडंबर, कृत्रिमता, सस्ती भावुकता और व्यंग्यवृत्ति को निष्कासित कर अपने पाठकों के साथ अपना आत्मीय संबंध स्थापित किया। वास्तव में उनकी रूचि रचनाओं में वर्तमान जीवन की आधुनिकता, अनुभूति का सत्य और अभिव्यक्ति की जीवंतता व्यक्त हुई है। यही कारण है कि उनका समस्त साहित्य उनकी अभूतपूर्व प्रतिभा और सृजन शक्ति का प्रमाण है।

संदर्भित पुस्तकें

मोहन राकेश का नारी संसार	—	डॉ० मीना पीपलापुरे
मोहन राकेश: व्यक्तित्व एवं कृतित्व	—	डॉ० सुषमा अग्रवाल
मोहन राकेश और उनके नाटक	—	गिरीश रस्तोगी ,
नाटककार मोहन राकेश (संवाद शिल्प)	—	मदनलाल
मोहन राकेश के नाटक	—	डॉ० द्विजराम यादव
नाटक रंगमंच और मोहन राकेश	—	डॉ० सुरेन्द्र यादव
मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक	—	डॉ० नेमिचन्द्र जैन
उपन्यासकार मोहन राकेश	—	पंडिता विमला कुमारी
अपने नाटक के दायरे में मोहन राकेश	—	तिलकराज शर्मा
अज्ञेय और मोहन राकेश के उपन्यासों में यथार्थ की परिकल्पना	—	डॉ० रॉय जोसेफ
नाटककार मोहन राकेश	—	जीवन प्रकाश जोशी
नाटककार मोहन राकेश	—	सुन्दरलाल कथूलिया
नाटककार मोहन राकेश: कल्पना का यथार्थ	—	विष्णुकान्त शास्त्री
मोहन राकेश की रंगसृष्टि	—	डॉ० जगदीश शर्मा
मोहन राकेश व्यक्तित्व और कृतित्व	—	डॉ० रमेश कुमार जाधव
मोहन राकेश व्यक्तित्व और कृतित्व में उद्धृत	—	डॉ० घनानन्द एम० शर्मा
स्वातन्त्रोत्तर हिन्दी मोहन राकेश के विशेष संदर्भ में	—	डॉ० रीता कुमार
मोहन राकेश के नाटक: एक मूल्यांकन	—	डॉ० प्रसून प्रसाद
मोहन राकेश और उनके नाटक	—	डॉ गिरीश रस्तोगी
मोहन राकेश व्यक्तित्व और कृतित्व	—	डॉ० सुषमा अग्रवाल
मोहन राकेश के नाटक: एक मूल्यांकन	—	डॉ० प्रसून प्रसाद
अपने नाटकों के दायरे में मोहन राकेश	—	तिलकराज शर्मा
नाटककार मोहन राकेश	—	सुन्दरलाल कथूरिया
आधुनिक नाटकों का मसीहा: मोहन राकेश	—	डॉ० गोविन्द चातक

बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. मोहन राकेश के व्यक्तित्व के विषय में उनकी पूर्वपत्नी सुशीला डोभाल के क्या विचार रहे हैं?
2. 'मोहन राकेश के अंदर दो मोहन राकेश थे, दोनों में भीतर ही भीतर तीव्र और गहरा संघर्ष चल रहा था। उनकी रचनाओं में वही प्रकट हुआ है।' इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं?
3. मोहन राकेश और उनकी दादीजी के स्वभाव में क्या असमानताएँ दिखाई देती हैं?
4. मोहन राकेश की शिक्षा-दीक्षा किस प्रकार हुई?
5. मोहन राकेश का अध्ययन और अध्यापन के क्षेत्र में क्या योगदान है?
6. मोहन राकेश के आंतरिक व्यक्तित्व के विषय में आप क्या जानते हैं?
7. मोहन राकेश के स्वभाव के विषय में विद्वानों के मध्य किस प्रकार की चर्चा रहती है?

अति लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. मोहन राकेश की पत्नियों के नाम लिखिए।
2. मोहन राकेश ने किस आयु में प्रथम कविता लिखी?
3. 'आषाढ़ का एक दिन' मोहन राकेश की किस प्रकार की विधा है?
4. मोहन राकेश ने आधे-अधूरे नाटक की रचना कब की?
5. मोहन राकेश का कौन-सा नाटक उनकी मृत्यु के कारण अधूरा रह गया?
6. मोहन राकेश के किस नाटक को कमलेश्वर ने पूरा किया?
7. मोहन राकेश की रचना 'बंद कमरे में' किस विधा की रचना है?

इकाई

4

विशेष साहित्यकार : नाटककार मोहन राकेश

संरचना

4.1. प्रस्तावना
4.2 मोहन राकेश के नाटक और रंगमंच की परिकल्पना
4.3. नाटक और रंगमंच का संबंध
4.4. नाटकों के प्रस्तुतिकरण को लेकर मोहन राकेश
4.5. मोहन राकेश के नाटकों का मंचन
4.6. मोहन राकेश के नाटक और रंगमंच
4.7. मोहन राकेश के नाटकों में रंगमंचीय नए प्रयोग
4.8. मोहन राकेश के नाटकों में दृश्य विधान में संकेत
4.9. नाटक की रचना-प्रक्रिया तथा अभिनेयता
4.10. मोहन राकेश का नाट्य-चिंतन रंगमंच सम्बन्धी अवधारणा
4.11. मोहन राकेश का रंगमंचीय निर्देश
4.12. ध्वनि संयोजन
4.13. संगीत योजना
4.14. वेशभूषा तथा रूप विन्यास
4.15. अभिनय और अभिनेता
4.16. रंगशिल्पगत तुलनात्मक अध्ययन
4.17. रंगमंच और शिल्प
4.18. रंगदीपन
4.19. शब्द और रंग का मेल
4.20. समकालीन हिन्दी रंगमंच और मोहन राकेश के नाटक
4.20.1. आषाढ़ का एक दिन
4.20.2. लहरों के राजहंस
4.20.3. आधे अधूरे
4.20.4. पैर तले जमीन
4.21. उपसंहार

4.1. प्रस्तावना

मोहन राकेश रंगमंचीयता को नाटक की कसौटी मानने वाले हैं। उनके सभी नाटक रंगमंचीयता के व्यापक गुणों से संपन्न हैं। रंगमंच नाटक का अभिन्न अंग है। एक दृश्यकला होने के नाते नाटक को लोगों तक पहुँचाने के लिए अनेक व्यक्तियों का सहयोग अनिवार्य है। नाटक को आकर्षणीय बनाने के लिए रंग-सज्जा,

प्रकाश पर्दा संगीत नृत्य आदि की भी आवश्यकता है। स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी नाटक और रंगमंच एक नवीन परिवेश की उपज है। रंगमंच के बारे में नेमिचन्द जैन ने कहा है—"रंगमंच कलात्यक अभिव्यक्ति का ऐसा माध्यम है जिसमें मनोरंजन का अंश कलाओं की तुलना में अपेक्षाकृत सबसे अधिक है।" अपने नाटक के विकसित रूप को नये-नये प्रयत्न से जोड़ने का प्रयतन प्रासंगिकता के आधार पर किया है।

4.2. मोहन राकेश के नाटक और रंगमंच की परिकल्पना

रंगमंच के बारे में राकेश की परिकल्पना की एक पृथक दृष्टि है। उनके मन में दृढ़ विश्वास था कि किसी न किसी दिन हिन्दी नाटक का रंगमंच अनेक प्रयोगों से गुजरकर एक स्थिर सुंदर आकार प्राप्त करेगा। मोहन राकेश के पहले जगदीशचन्द्र माथुर और धर्मवीर भारती ने नाटकों में नयी शैली का प्रयोग कर नाट्य परम्परा को नयी दिशा प्रदान की थी। हर एक नाटक की रचना के साथ मंच का जन्म भी होता है। पुराने जमाने में रंगमंच हमेशा बदलता ही रहता था क्योंकि नाटक का दृश्यबंध भिन्न रहता था। युग परिवर्तन के साथ रंगमंच में भी परिवर्तन होता गया। "रंगमंच एक अनुभूति है इसे हम रंगमंच का आन्तरिक पक्ष कह सकते हैं। पर जीवन में इसकी विराटता और समग्रता को देखना और उसके विभिन्न तत्वों को सही अर्थों में तथा उसके ही अनुपात में समझना रंगमंच की अनुभूति का व्यावहारिक पक्ष है।" नाटक के प्रमुख दो पक्ष होते हैं। उनमें दृश्य पक्ष ही अधिक महत्वपूर्ण है। दृश्य पक्ष की विजय रंगमंच पर ही होती है। जो भी हो रंगमंच नाटक का एक प्रमुख तत्व है। नाटक की सफलता रंगमंच के मेल से ही सम्भव है। नाटक समकालीन संवेदनाओं को दर्शकों तक पहँचाने का एक साधन है। डॉ. सुरेन्द्र देवशास्त्री के अनुसार-दृश्य काव्य में शब्दों के अतिरिक्त पात्रों की वेशभूषा, उनकी आकृति और भाव भंगिमा तथा क्रियाओं के अनुकरण और भावों के अभिनय द्वारा दर्शकों को भाव मग्न किया जाता है। यद्यपि ये काव्य पढ़े तथ सुने भी जा सकते हैं, किन्तु इससे उनके पूर्ण आनंद का अनुभव पाठक श्रोता को तब तक नहीं हो पाता है। जबतक रंगमंच पर उनका अभिनय नहीं कर दिया जाता है।

मोहन राकेश ने अपने नाटकों को रंगमंचीय प्रयोगों द्वारा जनता के निकट पहुँचाने का सफल प्रयास किया है। मोहन राकेश नाटक और रंगमंच की परिकल्पना की हिन्दी के नाट्य साहित्य को समृद्ध किया है, और नाटक व रंगमंच की दूरी खत्म की हुई आगामी नाटककारों की नूतन प्रयोगों की प्रेरणा भी उन्होने दी। अब भी यह देखा जा सकता है कि प्रयोगों का दौर समाप्त नहीं हुआ है तथा नये नाटक और नये रंगमंच को साकार बना देने में राकेश का बड़ा हाथ है। "नाटक न केवल साहित्य है और न केवल रंगमंचीय कला यही उसकी जटिलता है।"

4.2. नाटक और रंगमंच का संबंध

आधुनिक रंगकर्मियों, नाटककारों तथा नाट्यालोचकों ने नाटक तथा रंगमंच की पारस्परिक गहराई से विचार किया है। रंगमंच की परिकल्पना के बिना नाटक की सार्थकता, प्रासंगिकता, कलात्मकता और प्राणवत्ता आज संभव नहीं है। इस दृष्टि से नाटक और रंगमंच का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध बार-बार रेखांकित किया गया है। नाटक और रंगमंच में सृजनशील स्थितियों के अन्वेषण से यह सिद्ध हो गया है कि इस विशिष्ट विधा की स्थिति अन्य विधाओं से अपनी प्रकृति में हुई भिन्न है क्योंकि नाटक एक त्रिआयामात्मक विधा है, जिसमें नाट्य-कृति, प्रस्तुतिकरण एवं सामाजिक प्रेक्षक तीनों का समन्वय नाटकीय कलात्मकता के लिए अपेक्षित है। कृति से सृजनात्मक अनुभूति, प्रस्तुतिकरण से अभिनयाभिव्यक्ति एवं प्रेक्षक की भावानुभूति से आत्मसाक्षात्कार होता है।

नाटक रंगमंच पर पुनर्सजन और पुनर्निमिती पाता है, जिससे उसकी समप्रेषणीयता और बढ़ जाती है, श्रव्यकाव्य के तत्वों को समाहित करने के साथ नाटक दृश्य काव्य की शक्तियों और संभावनाओं को दोहरे

तिहरे कलात्मक बांध के साथ उभारता है। इसलिए नाट्यानुभूति को अपनी विशिष्ट 'प्रकृति' और गति के कारण अन्य अनुभूतियों से अलगाया है। काव्येषु नाटक रम्यम् सूत्र में यही सत्य ध्वनित, प्रतिध्वनित है। नाटक और रंगमंच कलात्मक अभिव्यक्ति का विशेष द्वार है, जिसमें अन्त: वृतियों का परितोष अन्य कलाओं से अधिक हाता है। नाट्य की व्यापकता के सम्बन्ध में भरतमुनि का कहना है कि "ऐसा न कोई ज्ञान है, न शिल्प है, न कला है, न विद्या न योग है, न कर्म है, जो इस नाट्य में न देखा जाता हो"

नाटक में जीवन का इतना व्यापक अनुकरण होता है, कि उससे कुछ भी छूट ही नहीं पाता। इस दृष्टि से अनेक कलाओं के योग से विकसित होने वाली कला ही नाट्यकला है। समाज का ऐसा कोई भी वर्ग नहीं है जो इस कला से छूट पाता हो। सभी प्रकार की रूचि वाले लोग नाटक से समान आनंद प्राप्त कर लेते हैं, यह तथ्य कालिदास ने "मालविकाग्निमित्र' नाटक के प्रथम अंक में गणदास से कहलवाया भी है कि भिन्न रूचि वाले लोगों के लिए नाटक ही ऐसा रंजन है जिसमें सभी को आनंद मिलता है। नाटक का दृश्य होना ही उसक सर्वाधिक सशक्त रूप है जिसमें कथात्मक आनंद ही नही सभी पात्रों तथा स्थितियों का आन्तरिक साक्षात्कार भी हो जाता है। रंगमंच से कटा हुआ नाटक संवादात्मक कथा मात्र है। सभी कथाओं की परिकल्पना प्रस्तुत करने वाला नाट्य लोक-अनुरंजन का माध्यम है। 'नाट्यशास्त्र' के प्रथम अध्याय में इस बात पर अनेक बार हमारा ध्यान केंद्रित किया गया है।

इसी कारण डॉ रघुवंश नाटक का आधार अधिक 'मनोवैज्ञानिक' मानते हैं–"दृश्य काव्यों के क्षेत्र में सृजन-प्रक्रिया के मनोविज्ञानिक स्तर का दुहरा आधार रहता है। वास्तव में इसके दो रूप रहते हैं, प्रथम तो नाट्य रचना के रूप में नाटककार की अभिव्यक्ति द्वितीय इस रचना का सूत्रधार शिक्षित अभिनेताओं द्वारा रंगमंच पर प्रदर्शन करता है, पर सूत्रधार नाटक की भावानुभूति के आधार पर अनुभव के वास्तविक रूप भौतिक प्रदर्शन को रंगमंच पर अवतरित करता है, दृश्य काव्य का आधार इसी कारण अधिक मनोवैज्ञानिक है।"

संवाद को नाटक का प्राण अथवा कलेवर कहा गया है। किन्तु संवाद मात्र होने से कोई रचना नाटक नहीं बन सकती। अत: नाटक को अभिनय से पूर्ण स्वतंत्र पाठ्य कृति मानना भ्रामक है। नाटक का दृश्य होना ही उसका सबसे बड़ा आकर्षण है। कृति की साहित्यिक गरिमा की महत्ता होती है, किन्तु नाट्यास्वाद पात्रों एवं दृश्यों द्वारा प्रत्यक्ष कथा में ही पूर्ण होता है। इसी कारण नाटक की रचना प्रक्रिया को अभिनेयता सदैव परिचालित करती है। बंगला के प्रसिद्ध रंग-निर्माता तथा अभिनेता शम्भु मित्र ने लिखा है। महान नाटककार ऐसी ही गुंजाइश महान अभिनेताओं के लिए पैदा करते हैं, इसीलिए उनके नाटक महान नाटक होते हैं।

4.3 हिन्दी रंगमंच और मोहन राकेश के नाटक

जयशंकर प्रसाद के बाद हिन्दी रंगमंच एक नई तैयारी के साथ सामने आया है। और यही वह समय है जब हिन्दी रंगमंच पर मोहन राकेश का उदय हुआ। राकेश के नाटकों को आरम्भ से ही इतनी प्रसिद्धि मिली कि हिन्दी और भारतीय भाषाओं के रंग मंच का शायद ही कोई उल्लेखनीय निर्देशक या कलाकार होगा जितने नाटककार मोहन राकेश को कोई-कोई नाटक प्रस्तुत न किया हो। ऐसी स्थिति बनी कि राकेश के नाटकों और प्रदर्शनों ने आधुनिक हिन्दी रंगादोलन को न केवल समृद्ध किया बल्कि बहुत दूर तक एक आश्वास्तिमूलक सृजनात्मक रंग चेतना के लिए भूमि तैयार की।

हिन्दी रंगमंच के पूरे इतिहास को ही बदल दिया। यह कितना सुखद अनुभव है कि रंगमंच के इस ऐतिहासिक मोड़ पर मोहन राकेश जैसा प्रतिभाशाली नाटककार अपनी लेखनी लिए हुए खड़ा था। मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन' न केवल संगीत नाटक अकादेमी द्वारा सर्वश्रेष्ठ नाट्य रचना के रूप में पुरस्कृत हुआ

बल्कि राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के निर्देशक इब्राहीम अल्काजी ने सर्व प्रथम इसी नाटक को मंचन के लिए चुना। उनके कलपनाशील निर्देशन में यह प्रस्तुति अविस्मरणीय सिद्ध हुई। हिन्दी नाटक और रंगमंच की पहल बड़ी शुरूआत राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' की इब्राहीम अल्काजी द्वारा प्रस्तुति से ही होती है। मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' इलाहाबाद कलकत्ता और लखनऊ में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के प्रदर्शन से पहले खेला जा चुका था। 'लहरों के राजहंस' का भी पहला मंचन सत्यवृत सिन्हा द्वारा प्रयोग रंगमंच की ओर से इलाहाबाद में हुआ।

"हिन्दी नाटक रंगमंच की किसी परंपरा के साथ अनुस्युत नहीं है। पाश्चात्य रंगमंच की उपलब्धियाँ ही हमारे सामने हैं। परन्तु न तो हमारा जीवन उन सब उपलब्धियों की माँग करता है, और न ही यही संभव प्रतीत होता है कि हम उस रंगमंच को व्यापक रूप से ज्यों का त्यों अपने यहाँ प्रतिफलित कर दें।" इस कथन से स्पष्ट है कि पाश्चात्य रंगमंच का अंधानुकरण मोहन राकेश को किसी भी कीमत पर स्वीकार्य नहीं था। वह अपनी जमीन टटोल रहे थे। इस मनोभूमिका को उनका यह कथन स्पष्ट रूप से सामने आता है—"हिन्दी रंगमंच के विकास का यह अभिप्राय नहीं है कि अत्याधुनिक सुविधायों से संपन्न रंगशालाएँ राजकीय या अर्द्ध राजकीय संस्थाओं द्वारा जहाँ—जहाँ बनावा दी जाएँ जिससे वहाँ हिन्दी नाटकों का प्रदर्शन किया जा सके। प्रश्न केवल आर्थिक सुविधा का ही नहीं एक सांस्कृतिक दृष्टि का भी है।"

मोहन राकेश के लिए रंगदृष्टि की खोज का अर्थ है। सांस्कृतिक दृष्टि की तलाश और यह सांस्कृतिक दृष्टि की तलाश अपनी नाट्य परम्परा के भीतर से ही की जा सकती है। उस परम्परा को साकार करने के लिए 'आषाढ़ का एक दिन' नया स्वप्न लेकर आया था। इस नाटक के दूसरे संस्करण की भूमिका में राकेश ने लिखा—"लखनऊ तथा दिल्ली के कुछ मित्रों ने नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत करने की योजनाएँ भी बनाई थी जो अभी तक कार्यन्वित नहीं हुई। मै समझता हूँ कि एक नाटकीय कृति के वास्तविक मूल्य उसकी सफलता अथवा असफलता का निर्णय रंगमंच पर ही होता है।" अच्छे सफल नाटकों की रचना के लिए अपेक्षित तो यही होगा कि प्रकाशन से पूर्व ही उनका रंगमंच पर अभिनय हो और उस अनुभव के प्रकाश में ही नाटक को उसका अंतिम रूप दिया जाए। परन्तु लगता है उस स्थिति तक पहुँचने में हमें कुछ वर्ष लगेंगे। नाटक के तीनों अंको का सेट एक ही है इसलिए मैं समझता हूँ उसे खेलने के लिए थोड़े से ही साधनों की आवश्यकता होगी भूमिकाओं के लिए विशेष रूप से बहुत कुशल अभिनेताओं की आवश्यकता होगी।" 'आषाढ़ का एक दिन" के सृजन और प्रदर्शन की दिमागी हलचल का संकेत मोहन राकेश की डायरी के पन्नों में मिलता है। हिन्दी नाटक को को उन्होने एक नया युग दिया प्रौढ़ किया, वे हिन्दी नाटक में परिवर्तन का प्रतिनिधित्व करते हैं।

4.4 नाटकों में प्रस्तुतीकरण को लेकर राकेश मोहन

नाटकों के प्रस्तुतिकरण को लेकर मोहन राकेश की स्थिति यह रही उनके समय तक हिन्दी रंगमंच भी काफी विकसित हो गया। स्वतंत्र देश की खुली धरती और आकाश के नीचे बड़ी-बड़ी नाट्य संस्थाएँ, निर्देशक, अभिनेता और रंगकला के व्याख्याकार, भी उभरे। नाट्य कला केंद्रों का व्यापक स्तर पर जन्म हुआ। लेकिन फिर भी राकेश निर्देशकों के भँवर जाल में घूमते रहे। कई बार वह निर्देशकों की समस्याओं को हल करने के लिए उसके पास तक गए। लेकिन निर्देशकों ने उनकी बात प्राय: इस कान सुन उस कान निकाल दी। आधे-अधूरे' नाटक को लेकर जो तनाव पैदा हुआ उसने मोहन राकेश को बहुत मानसिक आघात दिया। इसके पहले 'आषाढ़ का एक दिन' का रेडियो प्रसारण सुन कर वह कह उठे थे "मन होता है आत्महत्या कर लूँ या अपने संपूर्ण लिखे हुए को जला डालूँ।" यह विद्रोह नहीं है आत्मघाती निराशाजनक स्थिति का चरम विस्फोट है।

मोहन राकेश ने कितनी मानसिक हिंसा सही इसका एक उदाहरण उनकी डायरी के पन्नों में मिल जाता है। मोहन राकेश के इस कथन का आज हमें स्वयं नया पाठ करना चाहिए। यह पाठ स्वयं उनके साथ होने वाली मानसिक हिंसा और दमन को प्रस्तुत करता है।

'आधे-अधूरे' का ढांचा बहुत सावधानी से बनाया गया और निश्चय ही उसमें कलात्मक बारीक डिजाइन डाली गई। स्थिति की विडंबना को हर कोण से ध्वनित किया गया लेकिन हुआ क्या? राकेश के नाटकों की ज्यादातर प्रस्तुतियाँ गवाह हैं कि निर्देशकों ने नाटककार को प्रसिद्धि की ओर धकेल कर अपने को केन्द्र में स्थापित किया। किसी-किसी ने तो कुछ भूमिकाएँ ही निकाल दीं या उन्हें मनमाने ढंग से प्रस्तुत किया यह सीमाहीन व्यक्तिवादिता का असहिष्णु उदाहरण है। यदि राकेश का नाटक अपने में एक पूरा संसार है तो उसे प्रयोग के स्तर पर मूर्त करने का प्रयास तो होना चाहिए। लेकिन बिना प्रयास किए अपनी सृजानात्मकता शामिल करना नाटककार की प्रतिभा पर संदेह करना है। रोकश की कला उनके आश्रित रही वह अपनी कला के आश्रित कभी नहीं रहे। आर्थिक समस्याओं से जूझते हुए भी उन्होंने सृजनात्मक साहित्य और बिकाऊ साहित्य के अंतर को मिटने नहीं दिया।

मोहन राकेश की नाट्य प्रस्तुतियों को एक और अलग कोण से देखे-नाटक को सही अर्थों में जनाश्रयी कोण से देखे तो प्रयोग का एक अर्थ यह भी हागा कि नाट्य प्रस्तुतियो में कुँवर नारायण के शब्दों में वह भिन्न-भिन्न प्रकार के दर्शकों से संवाद की दिशा में प्रयत्नशील है इस मायने में उसके प्रयोग के दायरे में केवल नाटक ही नहीं दर्शक भी है।

मोहन राकेश के नाटकों की बड़ी तादाद में प्रस्तुतियाँ हुई हैं और इन प्रस्तुतियों से हिन्दी रंगमंच की नई संभावनाओं का विस्तार हुआ।

4.5. मोहन राकेश के नाटकों का मंचन

मोहन राकेश के चारों नाटकों का मंचन प्राय: सभी महत्वपूर्ण रंगमंडलियों ने किया। प्रथम तीनों नाटकों की प्रस्तुतियाँ सर्वत्र सफल रही। 'आधे-अधूर' नाटक ने मंचन की सफलता के कारण खूब ख्याति प्राप्त कर ली। विभिन्न भारतीय भाषाओं और अंग्रेजी में भी इसका अनुवाद और मंचन हुआ है। राकेश को अखिल भारतीय नाटककार के रूप में प्रतिष्ठित करने में 'आधे-अधूरे' के मंचन का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

आधुनिक हिन्दी नाटक तथा रंगमंच के लिए मोहन राकेश की देन अत्यंत महत्वपूर्ण है। शताब्दियों से संवेदनशून्य पड़े हिन्दी रंगमंच को नयी चेतना भरकर सही अर्थो और संदर्भो में पुन: प्रतिष्ठित करने का बड़ा कार्य राकेश द्वारा सम्पन्न हुआ। हिन्दी रंगमंच को नये आयाम और नयी दिशा देने के लिए राकेश ने अनेक प्रयोग किये हैं। अपने रंगप्रयोगों के कारण मोहन राकेश हिन्दी नाटक के प्रथम समर्थ रंगशिल्पी माने जाते हैं। नाटककार मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' लहरों के राजहंस' और 'आधे-अधूरे' ने हिन्दी नाटक को सहसा ऐसे फलक पर लाकर खड़ा किया जहाँ साहित्य, रंगमंच, भाषा, समीक्षा, रंगकर्म सब एक प्रकार से सामूहिक चेतना के साथ साकार हो उठे।'' नाट्य साहित्य में रंगमंच को साकार बना देने में राकेश का बड़ा हाथ है।

रंगमंच से जुड़ा हुआ नाटक मूल रूप में अपने समय के जनसमुदाय से इसका प्रत्यक्ष सरोकार होता है। दर्शक अपनी और अपने समय की समस्याओं को ही रंगमंच पर मूर्त रूप में देखना चाहता है। नाटककारों ने अपने समय की चेतना को किस तरह व्यक्त किया। इसे उनके नाटकों में देखा जा सकता है। मोहन राकेश ने अपने नाटकों को रंगमंचीय प्रयोगो द्वारा जनता के निकट पहुँचाने का सफल प्रयास किया है।

यथार्थवादी रंगमंच की सृष्टि यथार्थवादी दृश्यबंध की सीमाओं में नाटक की रचना की और उनका मंचन कराया। वस्तुत: मोहन राकेश के नाटक और रंगमंच ने हिन्दी के नाट्य साहित्य को समृद्ध किया है और नाटक व रंगमंच की दूरी खत्म की है, आगामी नाटककारों को नूतन प्रयोग की प्रेरणा भी उन्होने दी। अब भी यह देखा जा सकता है कि प्रयोगों का दौर समाप्त नहीं हुआ है तथा नये नाटक और नये रंगमंच की सम्भावनाएँ बनी हुई हैं।

4.6. मोहन राकेश के नाटक और रंगमंच

मोहन राकेश रंगमंचीयता को नाटक की कसौटी माननेवाले हैं। उनके सभी नाटक रंगमंचीयता के व्यापक गुणों से सम्पन्न है। आपने नाटक के विकसित रूप को नये-नये आयामों से जोड़ने का प्रयत्न किया है। रंगमंच के बारे में राकेश की एक पृथक दृष्टि है। उनके मन में यह दृढ़ विश्वास था कि किसी न किसी दिन हिन्दी नाटक का रंगमंच अनेक प्रयोगों से गुजरकर एक स्थिर सुंदर आकार प्राप्त करेगा। डॉ. राय का मत है कि—रंगमंच नाटक से बाहर होता ही नहीं। हर नाटक का रंगमंच नाटक के साथ ही जन्म लेता है। इसलिए रंगमंच की तलाश नाटक के बाहर नहीं हो सकती वेद प्रकाश की राय में—"रंगमंच देशकाल की संस्कृति के महत्वपूर्ण उपादान की भूमिका को निभाता है।"

आधुनिक काल में यथार्थवादी नाटकों की रचना ही अधिक हुई। यह परम्परा इन्सान और बनडिशाँ के यथार्थवादी नाटकों से आयी है जिसका विकास आधुनिक नाटकों में मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' 'लहरों के राजहंस' 'आधे-अधूरे' और 'पैर तले की जमीन' आदि में पाया जाता है।

मोहन राकेश ने अपने प्रथम नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' की भूमिका में इस प्रकार लिखा है—हिन्दी नाटक रंगमंच की किसी विशेष परम्परा के साथ अनुस्युत नहीं है।

4.7. मोहन राकेश के नाटकों में रंगमंचीय नए प्रयोग

मोहन राकेश ने अपने नाटकों में कई रंगमंचीय प्रयोग किए हैं। मोहन राकेश नाटक साहित्य के सबसे बड़े प्रयोगधर्मी हैं। राकेश के 'अषाढ़ का एक दिन' से ही विकासोन्मुख एवं समृद्ध रंगमंच का आरम्भ हुआ। राकेश ने अपने नाटकों द्वारा रंगमंच के नये आयामों की खोज की। इस प्रकार की तलाश में वे काफी सफल भी हुए हैं। राकेश ने आधुनिक रंगमंच को साधारण लोगों की पकड़ में पहुँचा दिया। राकेश का रंगमंच के सम्बंध में अपना नया और व्यक्त दृष्टिकोण है। तकनिकी रूप से समृद्ध और संश्लिष्ट रंगमंच भी अपने मन में विकास की एक दिशा है, परन्तु उससे हटकर एक दूसरी दिशा भी है और मुझे लगता है कि हमारे प्रयोगशील रंगमंच की वही दिशा हो सकती है। वह दिशा रंगमंच के शब्द और मानव पक्ष को समृद्ध बनाने की है—अर्थात न्यूनतम उपकरणों के साथ संशिलिष्ट प्रयोग कर सकने की है। यही रंगमंच में शब्दकार का स्थान महत्वपूर्ण जितना कि हम अब तक समझते आये हैं।

रंगमंच वास्तव में एक कला ही है। इस प्रकार मोहन राकेश के समय से लेकर रंगमंचीय प्रयोग शुरू हुए। समूचे भारतीय रंगमंच के सामने हिन्दी रंगमंच ने अपना स्थान बनाया। मोहन राकेश ने इतिहास और मिथक का उपयोग समकालीन संवेदनाओं में गुंथकर प्रस्तुत किया है। मोहन राकेश ने इस प्रकार की नाट्य रचना के उद्देश्य की ओर 'आषाढ का एक दिन' प्रस्तुत करने के लिए "हमारे संवादो को अभिव्यक्त करने के लिए जिस रंगमंच की आवश्यकता है, वह पाश्चत्य रंगमंच से कहीं भिन्न होगा। इस सम्बन्ध का रूप-विधान नाटकीय प्रयोगों के आभ्यन्तर से जन्म लेगा और समर्थ अभिनेताओं तथा दिग्दर्शों के हाथों उसका विकास होगा।" डॉ०

जयदेव तनेजा ने कहा कि "हिन्दी नाटक के साथ-साथ हिन्दी रंगमंच को भी विकसित, विस्तृत, समृद्ध और प्रतिष्ठित करने के महत्वपूर्ण कार्य में राकेश ने उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह किया है।"[2]

4.8. राकेश मोहन के नाटकों में दृश्य विधान में संकेत

नाट्य परम्परा में संकेतों का विशेष महत्त्व है। संकेतों के द्वारा नाटक की कथावस्तु का उद्घाटन किया जा सकता है। इसका प्रयोग राकेश ने अपने नाटकों में किया है। राकेश अपने प्रथम नाटक में घर की स्थिति सामग्रियों का क्रमिकरण, पूर्ण कुंभ का उल्लेख छाज में धान फटकना आदि संकेतों द्वारा घर के लोगों का स्वभाव, मानसिक स्थिति और जीवन का अभाव आदि व्यक्त करते हैं नाटक के शुरू में घर का वातावरण सुव्यवस्थित था। लेकिन अन्त तक आते आते मानों तीसरे अंक के शुरू में घर की अव्यवस्था नायिका के पतन का संकेत देती है। संवाद की कुशलता से भी हम पात्रों की मानसिक स्थिति को समझ पाते हैं। उसी तरह 'आषाढ़ का एक दिन' नामकरण इस नाटक के वातावरण से मिलता-जुलता है। नाटक की शुरूआत और समाप्ति आषाढ़ की वर्षा से होती है।

'लहरों के राजहंस' में भी रंग-निर्देश हुआ है। इसमें दृश्य बंध का साज-श्रृंगार हमें यह संकेत देता है कि वहाँ कोई उत्सव हुआ है। सुंदरी का साज-शृंगार उनके मन के अहं की सूचना देती है। बुद्ध के दर्शन व टकराइट का संकेत है। यह तो उनके एक व्याघ्र का सूचक है। कमलताल पर पंखों की फटफटाहट भी सुंद की मानसिक स्थिति का संकेत देती है। दर्पण के गिरकर टूट जाने की आवाज भी एक संकेत है कि सुंदरी व सभी इच्छाएँ इसी प्रकार चूर-चूर हो जाने को हैं। इस प्रकार राकेश ने अपने नाटकों में संकेतों का खूब प्रयो किया है।

'आधे-अधूरे' नाटक का दृश्यबंध एक मध्यवर्गीय परिवार का ड्राइंग रूम है। नाटक के आरम्भ में व कमरा खूब सजाया हुआ था। लेकिन अन्त में आते ही क्रमीकरण और सजावट अस्त-व्यस्त सा हो जाता है तिपाई कुर्सी इधर-उधर पड़ी हुई है। यह नाटक पात्रों मानसिक तनाव और घुटन का संकेत देता है। सावित्र और बिन्नी हमेशा बाहर की ओर बड़ी आशा के साथ देखती रहती हैं। यह भी एक संकेत है कि वे दोनों इस वातावरण से दूर जाना चाहती हैं इस प्राकर सम्पूर्ण नाटक में संकेतो का प्रयोग इधर-उधर हुआ है।

'पैर तले की जमीन' नाटक में मृत्यु को सामने देखकर बचाव के लिए इधर-उधर खटखटानेवाले आदमी औरतों का चित्रण हुआ है। नाटक में आदि से अन्त तक बीच-बीच में टेलीफोन की घंटी हमें खतरे की सूचना देती है। उसी प्रकार अब्दुल्ला की जल्दबाजी में भी एक दुःसूचना है।

राकेश मोहन की संकेत योजना के बहुत अधिक उदाहरण अनेक (सभी) नाटकों में मिलते हैं। इसमें बाढ़ की सूचना ध्वनि संकेतों द्वारा की गई है। नाटक एक चेतना सम्पन्न कला है और लोगों में चेतना भरने की शक्ति भी रंगमंचीयता से उपलब्ध होती है।

4.9. नाटक की रचना-प्रक्रिया तथा अभिनेयता

प्रत्येक साहित्यिक विधा की एक विशिष्ट प्रकृति होती है और यह प्रकृति ही उसका स्वरूप निर्धारित करती है। नाटक एक संवादात्मक, दृश्यात्मक सामूहिक कला है। सामूहिकता की घोषित बलवत्ता ही उसके अन्तर्द्वन्द्व तत्वों और अन्तर्सम्बधों को नियमित एवं संचालित करती है। नाटक हो या कविता या उपन्यास रचना प्रक्रिया का प्रश्न सदैव जटिल रहा है तथा इस सम्बन्ध में मत-वैविध्य भी स्वाभाविक है। इसका एक कारण तो यह है कि कवि स्वभाव, कवि दृष्टि और विषय वस्तु के अनुसार रचना प्रक्रियाएँ भी भिन्न-भिन्न होती है। अतः

रचना प्रक्रिया का कोई निर्विशिष्ट सामान्य रूप नहीं है, यद्यपि यह सही है कि उस प्रक्रिया के मूल तत्व सर्वसामान्य हैं।

सार्थक नाटकीय शब्द-चेतना को प्राप्त करने के लिए नाटककार को रंगकर्मी की विभिन्न स्थितियों तथा मनोदशाओं से होकर गुजरना पड़ता है। सुप्रसिद्ध नाट्य चिन्तक चेनी शेल्डना मानते हैं कि "जो कुछ भी हो स्वागत तो उसी कलाकार का होना चाहिए, जिसमें साहित्यिक प्रतिभा के साथ रंगमंचीय योग्यता भी हो।" अपनी कठिन प्रयोगात्मक यात्रा में वह जीवन की संश्लिष्ट जटिल किन्तु आन्तरिक यथार्थ से जगमग संवेदना की भूमि का साक्षात्कार कर लेता है। आत्म चेतना का यह प्रत्यक्ष संवेदनात्मक ज्ञान ही रचना प्रक्रिया का प्रथम महत्वपूर्ण सोपान हैं। इसके पश्चात वह आन्तरिक विकास से नाट्यगतियों का द्वितीय सोपान पाता है, यहीं पर निषेध भी विकसित हो जाते हैं। इतिहास अनुभव तथा परम्परा बोध एक ऐसी दृष्टि को विकसित करते हैं जो उसे लगातार संशोधित तथा सम्पादित करती चलती है।

रचना प्रक्रिया का प्रश्न एक प्रकार से सम्पूर्ण 'नाटकीय तकनीक' से जुड़ा हुआ है। नाट्य लेखन के ऊपर शिल्पीय परिस्थिति का दबाव रहता है। अतः नाट्य सृजन-प्रक्रिया अभिनेयता से प्रतिबद्ध होती है। अन्य किसी साहित्यिक विधा का लेखक अपनी रचना का मानदण्ड एक सीमा तक स्वयं हो सकता है, किन्तु नाट्य लेखन तो दृश्य होकर ही एक नई सार्थकता पाता है। अतः अभिनय द्वारा मूर्त होने की क्षमता और सम्भावना ऐसी कसौटी है जिस पर खरा उतरे बिना नाटक का अस्तित्व नहीं। इसी कारण नाट्य रचना करते समय लेखक को रंगमंच का ध्यान अवश्य रखना होता है। साथ ही यह भी माना गया है कि किसी नाटक की रंगमंच पर असफलता एक सीमा तक नाटककार की भी असफलता है। "There would seem to be no doubt that we must take the obvious as the truth, recognizing that an image of the theatre persists potently in the mind of true dramatist, and that, if his play written for the stage fails then somehow he has failed."

4.10. मोहन राकेश का नाट्यचिंतन और रंगमंचीय अवधारणा

मोहन राकेश का नाट्य-चिंतन बहु आयामी और संश्लिष्ट है। इस चिंतन में बदलते समय के सन्दर्भ में नाटक और रंगमंच को लेकर नए प्रश्न उठाए गए हैं, और नाटक में शब्द की महिमा पर ध्यान केंद्रित किया गया है। राकेश ने भारतेन्दु और प्रसाद के रंग-चिंतन पर विचार करने के बाद नाटककार के रंगमंच की तलाश की इस तलाश के दौरान ही उन्होंने अनुभव किया कि आज के व्यक्ति और आज के साहित्य के बीच एक दरार लगातार बढ़ती जा रही है, जिसने पूरे परिवेश की संस्कारगत मान्यताओं तथा मूल्यों को या तो पूरी तरह तोड़-फोड़ दिया है, या उन्हें हाशिए पर फेंक दिया है।

रचनाओं में बाहरी विघटन और अंदरूनी तोड़-फोड़ की जो स्वीकृति है, वह स्थिति-परिस्थिति की टकराहट का परिणाम है। इस टकराहट में सब कुछ गया बीता नहीं है। रचनात्मक सार्थकता को प्रतिष्ठित करने वाले, आंतरिक प्रयोग रंगमंच की नई चुनौतियाँ बनी है। परिवारिक सम्बन्धों के जिस ढाँचे को मनुष्य अपना विकास मानता आया था, उसके चारों ओर सांस्कृतिक मान्यताएँ न केवल भीतर से खोखली हुई हैं, बल्कि उन पर नए सिरे से सोचने का संकट आज का वास्तविक रचना संकट है। इसे सृजनशीलता का संकट भी कह सकते हैं।

संकट का यह बिन्दु मोहन राकेश के चिंतन को शक्ति देता है, उसे कमजोर नहीं बनाता इसका कारण यह है कि मोहन राकेश कथावस्तु से ज्यादा चरित्रों पर अपने को केन्द्रित करते हैं, और चरित्र ही परिवेश की अंतर्वस्तु है। मल्लिका हो या कालिदास, अनुस्वार हो अनुनासिका कोई तो स्तर भेद है, लेकिन चरित्र के भीतर

राकेश अपने विचारों की सृजनात्मकता से एक ऐसा नाट्य बिंब रचते हैं कि सहसा हमें चकित होना पड़ता है मोहन राकेश यह मान कर चलते हैं कि आज का रचनाकार यदि टूट-फूट के सामाजिक संकट को अपने चिंतन लय से पकड़ नहीं पाता, तो वह आधुनिकता के अपने तमाम दवों के बावजूद आज का नाटककार नहीं है। निर्मल वर्मा के शब्दों में कहें तो अतीत उनके लिए व्यतीत नहीं है, वह अनेक परतों में सिमट गया है, लेकिन नष्ट नहीं हो गया। उसे सृष्टि के द्वारा पुन: जीवंत धड़कन या संवेदन का हिस्सा जा सकता है। अतीत हुए इतिहास से वह पात्र चुनते हैं, लेकिन उन्हें अतीत का नहीं रहने देते, वर्तमान जीवन की सृजनात्मक संभावनाओं में नंद, सुंदरी और गौतम खिंचे चले आते हैं। हम उन्हें पहचानते हुए समझते हैं, और समझते हुए पहचानना चाहते हैं। समय का अंतराल हमारे अनुभव को बाधित नहीं करता है, क्योंकि राकेश नाटक और रंगमंच दोनों में अपनी रचना शक्ति से समय का अतिक्रमण करते हैं, और भारतीय सभ्यता, संस्कृति की कहानी 'लहरों के राजहंस' जैसी महान कृति में ढल जाती है।

रचनाकाल कलाकृति को राग-विराग के संघर्षों में डालकर पाठक को अलगाव के पथ नहीं छोड़ता अग्रगामी दिशा-दृष्टि देता है। इसलिए समय को जो यथार्थ प्रसाद और लक्ष्मीनारायण मिश्र में मौजूद था वह यथार्थ मोहन राकेश का नहीं हो सकता। इतिहास का जो अर्थ प्रसाद के लिए था, वह राकेश के लिए नहीं हो सकता, क्योंकि संन्दर्भ बदल गये थे और उन संदर्भों में मौजूद रचनाकार की मानसिकता आरोपित यथार्थ के साथ मिल कर रचना दृष्टि पा रही थी। रचना में मन: स्थितियाँ जितनी संश्लिष्ट होती गई रंगमंच उन मनोवेगों के लयात्मक वहन के लिए उतनी ही बड़ी चुनौती बनता गया। फिर यह बात भूलने की नहीं कि मोहन राकेश अपने परिवेश और निरंतर बदलते यथार्थ के प्रति प्रतिबद्ध हैं।

नाटककार मोहन राकेश का अहं उनकी मूल चित्तवृति को उछाल देता था, क्योंकि उन्होंने संस्कृत के श्रेष्ठ नाटक पढ़े थे। नाटक और रंग मंच को ज्यो का त्यों प्रस्तुत कर देने वाला सिद्धान्त उन्हें कभी रास नहीं आया, क्योंकि नाटककार का अपना एक कल्पनात्मक रंगमंच होता है, जिसमें दृष्टि निवास करती है।

नाटककार को अधिकार का प्रश्न और उसका स्थान राकेश के लिए जीवन मरण का प्रश्न इसलिए था की निर्देशक रचनाकर्म की पूरी हैसियत पर कब्जा करना चाहता था। भारतीय चिंतन की इस परंपरा से राकेश का गहरा साक्षात्कार था। इसलिए रचनाकार के व्यक्तित्व की लड़ाई लड़ने का उन्होंने संकल्प किया और "रंगमंच की पूरी प्रक्रिया में नाटककार केवल एक अभ्यागत सम्मानित दर्शक या बाहर की इकाई बना रहा। यह स्थिति मुझे स्वीकार्य नहीं लगती। न ही यह कि नाटककार की प्रयोगशीलता इससे दूर अपनी अलग चार दीवारी तक इन दोनों को एक धरातल पर लाने के लिए अपेक्षित है कि नाटककार पूरी रंग प्रक्रिया का अनिवार्य अंग बन सके। साथ ही यह भी कि वह उस प्रक्रिया को अपनी प्रयोगशीलता के अगले चरण के रूप में देख सके।"

मोहन राकेश भवभूति के उस दर्द को भूले नहीं थे, जिसमें किसी समानधर्मी के कभी-न-कभी होने की बात कही गई थी। वकील के बेटे राकेश ने नाटक और रंगमंच की वकालत में एक पूरा मुकदमा खड़ा कर दिया और कहा कि नाटककार की मौजूदगी में ही उसका कोई नाटक प्रस्तुत हो। मोहन राकेश के इस कथन में एक अलग पाठ भी छिपा हुआ है। श्यामानंद के प्रस्तुतिकरण की बात तो ठीक है, लेकिन अपनी टोन में जो 'यह भी कहना चाहूँगा या 'मैं समझता हूँ' पर जोर है। उसकी अर्थापति क्यों है? उसकी अर्थापति है नाटक के साथ राकेश का लगाव इतना गहरा था कि वह एक-एक शब्द में अपनी मौजदगी पाते थे। कुल मिलाकर मोहन राकेश ने हिन्दी रंगमंच की पूरी परंपरा का एक बिम्ब अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। रंगमंच का यह बिम्ब उसके नाटकों पर कितना खरा उतरता है यह एक अलग तरह का प्रश्न है जिसका कोई एक उत्तर दे पाना समझदारी नहीं होगी।

4.11. मोहन राकेश का रंगमंचीय निर्देश

मोहन राकेश की रंगमंचीय समझ इतनी प्रखर थी कि अभिनेताओं को अभिनय करने तथा निर्देशकों को नाटक का निर्देशन करने में शायद ही कोई कठिनाई उपस्थित होती है। दृश्यबंध का राकेश पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं। वे एक-एक वस्तु का सूक्ष्म परिचय देने का प्रयत्न करते हैं। मल्लिका की झोपड़ी उसके घर की वस्तुओं तथा दो दिपाधारों की योजना हो, राकेश ने बड़े ही सूक्ष्म तरीके से निर्देश दिए हैं। दृश्य व्यवस्था में वे ऐसी कोई कठिन वस्तु नहीं रखते जो रंगमंच पर उपस्थित न की जा सकती हो। 'आधे-अधूरे' का दृश्यबंध सम्बन्धी मंचनिर्देश तो राकेश की रंगमंचीय समझ का उत्कृष्ट उदाहरण है। "मध्यवित्तिय स्तर से ढहकर निम्न मध्यवित्तिय स्तर पर आया एक घार। सब रूपों में इस्तेमाल होने वाला घर घर में व्यातीत स्तर, के टूटते अवशेष किसी न किसी तरह अपने लिए जगह बनाए, अपनी अपेक्षाओं से नहीं कमरे की सीमाओं के अनुसार, चीजों का आपसी रिश्ता टूटा हुआ असुविधाओं में सुविधा खोजने की कोशिश घिसी-फटी सीली-निरर्थक चीजें अध टूटा-टी-सेट धूल की जमी तह। कोई कह सकता है कि यह नाटक के तनाव भरे अधूरे वातावरण का अधूरे लोगों का पूरा सांकेतिक चित्र नहीं है।"

अर्थात राकेश के मंचसज्जा सम्बन्धी निर्देश, निर्देशक को मार्गदर्शन करते हैं। साथ ही एक विशेष अर्थ प्रदान करते हैं। 'आषाढ़ का एकदिन' का रंग-निर्देश अत्यन्त विशद एवं लम्बा है। उदाहरण के लिए "एक साधारण प्रकोष्ठ, दीवारे लकड़ी की है, परन्तु निचले भाग में चिकनी मिटटी से पोती गयी है। बीच-बीच में गेरू से स्वास्तिक चिन्ह बने हैं। साभने का द्वार अंधेरी डयोढ़ी में खुलता है। बाँयीं ओर का द्वार दूसरे प्रकोष्ठ में जाने के लिए है। द्वार खुला होन पर उस प्रकोष्ट में बिछे तल्प का एक कोन ही दिखाई देता है। चूल्हा है। आसपास मिली और काँच के बर्तन सहेजकर रखे हैं। दूसरी ओर झरोखे से कुछ हटकर तीन-चार बड़े-बड़े कुम्भ हैं। चूल्हा के निकट दो चौकियाँ हैं। उन्हीं में से एक पर बैठी अम्बिका छाज में धान फटक रही है।

'लहरों के राजहंस' नाटक के प्रारंभ में भी विस्तृत रंग-निर्देश दिये गये हैं। "दायी ओर गोलाकार चबूतरा। सुंदर बिछावन तकिये के पीछे एक ऊँचा दीपाधार शिखर पर पुरूष मूर्ति, बाँहे फैली हुई हैं तथा आँखे आकाश की ओर उठी हुई। बायी ओर एक झूला और उससे थोड़ा हटकर एक मत्स्याकार आसन, आसन के पास ही मदिरा कोष्ठ इसी ओर मंच के आगे के भाग में एक छोटा दीपाधार शिखर पर नारी मूर्ति बाँहे सम्बधित तथा आँखे धरती की ओर झुकी हुई।"

मोहन राकेश रंग निर्देश पर बल देकर नाट्य रचना करते थे। राकेश के सभी नाटकों में रंग निर्देश मिलते है।

4.12. ध्वनि संयोजन

रंगमंच पर वातावरण को यथार्थता प्रदान करने के लिए ध्वनि-संकेत प्रयोग में लाये जाते है। वैज्ञानिक उपलब्धियों तथा विद्युत यंत्रों की वयवस्था के साथ ही आज के नाट्य प्रदर्शनों में ध्वनि-प्रभावों का विशेष महत्व बढ़ा है। व्यवसायिक रंग शालाओं में इसके लिए बड़े-बड़े उपकरणों की सहायता ली जाती है। ध्वनि-संकेत के प्राचीन साधन कंठ हाथ-पैर तथा वाद्य यंत्र थे। कुछ प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार अपने कंठ से अनेक ध्वनियाँ प्रस्तुत कर प्रेक्षक को सत्याभास कराते थे। किन्तु आज वैज्ञानिक साधनों की सहायता से मूल ध्वनियों को यथातथ्य रूप में सुनाया जा सकता है। टेप-रिकार्डर का प्रयोग इस सम्बन्ध में बड़ा ही उपयोगी। वांछित प्रभाव को पहले से ही टेप पर अंकित कर लिया जाता है, फिर नाट्य मंचन के समय ध्वनि प्रभाव का गांभिर्य तभी रक्षित रह पाता है, जबकि उसके प्रस्तुतिकरण में निमिष मात्र भी जल्दी अथवा देर न हो। ध्वनि तथा मंचित किया जाने वाला दृश्य में इतना अधिक सामंजस्य होना चाहिए कि प्रभाव को अधिकाधिक पूर्ण

बनाया जा सके। दोनों में कुछ ही समय का अंतराल बिल्कुल उल्टा प्रभाव उत्पन्न कर हास्यास्पद स्थिति को जन्म देगा उदा: जब मंच पर गोली चलाई जाए उस क्षण विशेष में ही नेपथ्य से ध्वनि-प्रभाव दिया जाय।

नाट्य संस्थाओं में अलग से इफैक्ट्स विभाग होत हैं, जो बराबर ध्वनि प्रभाव अंकन तथा ध्वनि-संयोजन क्षेत्र में प्रयोग करते रहते हैं तथा प्रदर्शनों में निर्देशक समस्त ध्वनि प्रभावों के लिये उत्तरदायी होते हैं। इसके लिये टेप-रिकार्डर प्रयुक्त किय जाते हैं। कुछ विशेष ध्वनियों के रिकार्ड भी तैयार मिलते हैं। एक रिकार्ड पर एक तरफ तीन से लेकर पाँच ध्वनियाँ अंकित रहती हैं। अत: परिचालक को प्रत्येक ध्वनि का नामोल्लेख रिकार्ड के उस स्थल विशेष पर कर लेने की आवश्यकता होती है। ट्रांसमिशन भी एक प्रकार का रिकार्ड है जो प्राय: धीमी गति से घूमता है। लंबे ध्वनि-संकेत यथा-लगातार दृष्टि गर्जन आदि प्रस्तुत करने के लिये इसका प्रयोग किया जाता है।

ध्वनि संकेतों का विशेष महत्त्व रेडियो नाटकों में होता है। जहाँ सामाजिक नाटक को देखता नहीं सुनता है। अत: ध्वनी-प्रभाव तथा पात्रों की आवाज ही नाट्य प्रभाव के लिये उत्तरदायी होती है।

4.13. संगीत योजना

"नाट्यशास्त्र' में लगभग छह-सात अध्यायों (28-34) में नाट्य-प्रयोग की सिद्धि के लिए गीत वाद्य के महत्व का विस्तृत विवेचन किया गया है। पूर्वरंग का आरम्भ गीत-नृत्य के साथ होता है। नाट्य-प्रयोग के मध्य में भी गीत का प्रयोग होता है। गीत-वाद्य नाट्य-प्रयोग के मध्य में भी गीत का प्रयोग होता है। गीत-वाद्य नाट्य-प्रयोग में अलातचक्र की तरह मिले रहते हैं। वाद्य-भांडो एवं वीणा का वादन भी गीतों के संतुलन में करके रस-पारिपाक में सहायता पहुँचाई जाती है। गीत का प्रयोग भाव-रस के प्रकाशन के लिए होता है। अतिशय गीत-प्रयोग का विरोध भी आदि आचार्य ने किया क्योंकि उस स्थिति में नाट्य प्रयोग 'राग-जनक' न होकर 'खेद-जनक' हो जाता है।

गीत-वाद्य विधान के सम्बन्ध में भरतमुनि ने पूर्ववर्ती संगीताचार्यों स्वाति, नारद, तुंबरु आदि का उल्लेख किया है। भरत ने उनका आकलन कर शास्त्रीय रूप देते हुए उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। उन्होंने सप्तस्वर रसानुसार स्वर योजना, वर्ण और अलंकार, ताल-लय और यति की महता, ध्रुव का स्वरूप और भेद, वाद्य के प्रकार तथा उनका तालाश्रित प्रयोग आदि विषयों का विवेचन किया है।

कालिदास के तीनों नाटकों में गीतों का विधान किया गया है। अभिज्ञान शाकुंतलम् के आरंभ में ग्रीष्मऋतु का गीत नटी गाती है, हंसपदिका के गायन का संकेत है। लोक नाट्य परम्परा का गायन स्थल मंच यह क्षेत्र विशेष रूप से बना होता है। "रंगशाला में गायकों और वाद्यकों की मंडली के स्थान ही विशेष महत्ता है; क्योंकि पदों और औपचारिक दृश्य परिवर्तन के अभाव में गीत और वाद्यवादन ही कथा सूत्र को शृंखलाबद्ध करते हैं; तथा प्रसंगों के बीच कालावधि में पूरक का काम करते हैं" संगीत पूरी स्वतंत्रता के साथ कई प्रकार से अपना उद्देश्य पूरा कर सकता है। साथ ही सम्बन्ध विषय पर प्रतिक्रिया भी प्रस्तुत कर सकता है।

मनोरंजन की विविधता भी इसके द्वारा उत्पन्न की जा सकती है। आधुनिक नाट्य में नेपथ्य- संगीत का विशेष महत्त्व है। टेप रिकार्ड किया गया संगीत प्रभाव आज बहुत ही महत्वपूर्ण बन गया है। वातावरण का निर्माण करने अवसरानुकूल वाद्य संगीत संवादों की पृष्ठभूमि में तथा करूण शांत वीर श्रृंगार आदि रसों की निष्पति में नेपथ्य संगीत तथा करुण शांत वीर शृंगार आदि रसो की निष्पति में नेपथ्य संगीत तथा पृष्ठभूमि संगीत अत्यधिक उपयोगी होता है।

नवीन दृश्य विधान में जहाँ दृश्य परिवर्तन तथा अंक परिवर्तन के समय परदा गिराने उठाने का प्रचलन समाप्त कर दिया गया है, एक दृश्य से दूसरे के बीच में अंतराल में कुछ पल के लिए संगीत-प्रभाव का प्रयोग कर मनोहरी वातावरण की सृष्टि की जाती है।

4.14. वेशभूषा और रूपविन्यास

'नाट्यशास्त्र' में भरतमुनि ने अंग रचना तथा वेश-विन्यास को अहार्य अभिनय के अन्तर्गत स्थान दिया है। पात्रों के अनुरूप तथा प्रकृतिगत वेशभूषा, अंग-सज्जा तथा अलंकरण का महत्व केवल बह्यावरण के रूप में ही नहीं, अपितु पात्रगत विशिष्टता के रूप में भी है। किसी भी भाँति की सांस्कृतिक विरासत के यह वाहक होते हैं। ऐतिहासिक- पौराणिक पात्र अपने 'स्वरूप' के निर्माण अंग-रचना तथा वेश-वन्यास से तुरन्त ही पहचाने जाते हैं।

'नाट्य शास्त्र' में पात्रों के वस्त्रालंकार केश विन्यास एवं अंग-रचना सम्बन्धी विधियों का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया गया है। आधुनिक रंग-निर्माताओं ने भी रूप-सज्जा तथा अहार्य सम्बन्धी अनेकानेक विधियों की चर्चा की है, जिनमें दिए गए विस्तृत विवरण नाट्य-प्रयोग के लिए व्यावहारिक दृष्टि से पर्याप्त उपयोगी है।

नाटक के निम्न वर्ग के पात्रों की वेशभूषा में घिसी हुई पैंट चिकने कोट, फटी हुई आस्तीन और चीकट स्कर्ट का प्रयोग होता था। जिससे कि बीते हुए समय की गंध एवं रंग का आभास हो सके।

नाटक की रचना चाहे शास्त्रीय नियमावली के भीतर हुई हो अथवा लोक-नाट्य शैली में लिखा **नाटक हो, उच्च कोटि का साहित्यिक** नाट्य, गीत-नाट्य हो अथवा दक्षिण भारत का शास्त्रीय नृत्य, सभी में, वेशभूषा तथा मुख्य-**सज्जा का** विशेष महत्त्व होता है। ऐतिहासिक नाट्य-प्रस्तुति में देश-काल की प्रतीति अहार्य द्वारा होनी चाहिए तो समाजिक नाटकों के विभिन्न वर्गीय पात्रों का उनकी वेशभूषा द्वारा प्रतिनिधित्व होना चाहिए। इस समय यह भी ध्यानत्व है कि यथार्थवादी रंगमंच की वेशभूषा तथा प्रभाववादी रंगमंच की वेशभूषा एक दूसरे से नितांत भिन्न होती है। वेशभूषा तथा रूप-**सज्जा द्वारा** नाट्य-प्रस्तुतिकरण में सामयिक तथा स्थानगत प्रतिबद्धता उत्पन्न की जाती है। किसी भी विशिष्ट पात्र की रूप-**सज्जा की परिकल्पना** निश्चय ही उसकी भूमिका के आंतरिक रूपांकन के समान्तर होती है।

आधुनिक रंगमंच रूढ़ियों और परम्पराओं को तोड़कर आगे बढ़ता है। 'आषाढ़ का एक दिन' एक साधारण नाटक है। इस नाटक के सभी पात्रों की वेशभूषा बिलकुल साधारण है। डॉ० वशिष्ट नारायण के अनुसार— "नाट्य के संदर्भ में वेशभूषा का प्रथम गुण उसकी कलात्मकता है।" जो भी हो वेशभूषा का अलग महत्व ही है। 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक के आरम्भ में नायिका मल्लिका भीगी सी पुलकित सी प्रवेश करती है। इस समय नायिका का वेश विधान अत्यन्त अनुयोज्य है। लहरों के राजहंस की नायिका सुंदरी का वेष विधान अत्यंत साजसजावट बहुत ही अनुरूप है। 'आधे-अधूरे' नाटक के पात्र भी साधारण वेशभूषा में प्रत्यक्ष होते हैं। वेशभूषा अलंकारादि एवं मेकअप के द्वारा दृश्य की अभिव्यंजना क्षमता बढ़ जाती है। आजकल नाटकों में सादा वेश विधान है और काले या सफेद वस्त्रों का उपयोग ही होता है। कभी-कभी चेहरे पर लेपन आकारपूर्ण, भौंहें लाल रंग के होठ आदि तक अनिवार्य हैं। इन सब अलंकारों का उपयोग राकेश के नाटकों में हुआ है।

"भरत ने वेश रचना के लिए वस्त्र आभूषण माल्य प्रतिशिर केश विन्यास अंग रचना, अंग, राग, अनुलेपन, आदि का विवेचन किया है और सारे अहार्य में चरित्र के अनुरूप सामंजस्य पर बल दिया है, और विभिन्न उम्र, जाति, वर्ण स्तर वय के आधार पर विभिन्न कोटि के वेश रूप और रंग का निर्धारण उन्होंने उनकी भूमिकाओं, अवस्थाओं, प्रकृतियों आदि के अनुसार किया है।" नाटक में वस्त्र विन्यास का बड़ा महत्त्व है। राकेश के सभी नाटकों में वेशभूषा को महत्त्वपूर्ण और अनुयोज्य ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इन्हीं तत्वों के अनुसार ही राकेश ने वेशभूषा का उपयोग किया है।

4.15. अभिनय और अभिनेता

'अभिनय' नाटय-प्रदर्शन का मूलभूत तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व होता है। नाट्य-प्रयोग अभिनय द्वारा ही सिद्ध होता है। अभिनय के अन्तर्गत समस्त नाट्य-कर्म समाहित हो जाता है। इसी के द्वारा 'काव नाट्य बनता है। अभिनय में ही नाटक के प्राण रस का उन्मेष होता है। अभिनय में ही नट-नटी, विभाव अनुभ और संचारियों द्वारा रस-निष्पति में सहायक बनते हैं। 'णी' धातू में अभि उपसर्ग लगाने से 'अभिनय' श बनता है। अभिनय से तात्पर्य है— नाट्य प्रयोग के द्वारा मुख्यार्थ को समाज के— हृदय तक पहुँचना अ विभाजन करना अर्थात रसास्वाद कराना है।

अभिनेता नाट्य कृति को रूपायित करता है। अत: वही नाटक का वाहक होता है। नाटकों के संवादों द प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त करने के साथ ही अभिनेता नाटककार की मूलभूत अनुभूति को उसकी व्यक्त अव्यव संभावनाओं के साथ उदघाटित करता है। नाट्य-भ्राँती अभिनय द्वारा ही उत्पन्न की जाती है। अच्छे अभिनय द पहचान यह है कि दर्शक उसके निसृत विभिन्न रसों के अर्णव में आमूल-चूल डूब जाए। वाणी तथा व्यवह अभिनय के साध होते हैं। नाट्य संवादों के पीछे छिपी अन्तर्तम भावनाओं, उद्देश्यों, विचारों, अनुकृत पात्र के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को अभिनय द्वारा उदघाटित करना अभिनेता का धर्म होता है। धर्मवीर भारती ने लिखा है— इस अभिनेता की सफलता इस बात में न थी कि वह, केवल वह दिखाई पड़े बल्कि दर्शकों को भी, औ मूर्तिमान कर दे उस नाट्य-स्थिति को जो नाटककार की कल्पना में साक्षात्कृत हुई होगी।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए ही भरतमुनि ने प्रयोगात्मक नाट्य-विज्ञान को व्यावहारिक अथ शास्त्रीय रूप में 'अभिनय' का नाम दिया था। पात्र अनुकार्य करता है, अपनी शीररिक मनोवेगों की अभिव्यंजन रूप-सज्जा तथा वस्त्र-विन्यास के द्वारा अभिनेता कवि-निबद्ध पात्रों के विचारों, भावों तथा कथावस्तु आदि के रूपयित करता है इन माध्यमों द्वारा समाज को रसाभिमुख करता है।

अत: अभिनय करने वाला पात्र अभिनेता होता है। नाटककार की कृति का प्रदर्शन अभिनय के द्वारा होता है। यह उसका आधार होता है।

4.16. रंग शिल्पगत तुलनात्मक अध्ययन

हिन्दी नाटकों के रंगान्दोलन के इतिहास में मोहन राकेश का योगदान महत्वपूर्ण माना जाता है। मोहन राकेश के पूर्व हिन्दी भाषा तथा नाटक को विशेष गरीमा प्राप्त नहीं थी। मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक के अपूर्व प्रस्तुतिकरण से हिन्दी नाटक को एक सम्मान का स्थान प्राप्त हुआ। उनके सभी नाटक सभी भारतीय भाषाओं से अनुदित और मंचित हुए। डा. जयदेव तनेजा के शब्दों में, "हिन्दी के नए-पुराने सभी नाट्य लेखकों और रंगकर्मियों के लिए मोहन राकेश का कृतित्व आज भी एक चुनौती बना हुआ है। मोहन राकेश ने हिन्दी नाटक, नाटककार और रंगमंच को एक विशिष्ट गरिमा, प्रौढ़ता और मर्यादा प्रदान की हिन्दी के नये रंगादोलन के उद्‌भव, विकास और उसे समृद्ध करने में राकेश के नाटकों के बहुभाषी बहुसंख्य प्रदर्शनों ने निर्णायक भूमिका निभाई है।" नाटक के लेखन और मंचन के क्षेत्र में मोहन राकेश ने नए-नए प्रयोग किए। आकर्षक दृश्य बन्ध, ध्वनि और प्रकाश-योजना, रंग संकेत की सहायता से नाटक को सजीव रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास मोहन राकेश ने किया।

राकेश के दौरान रंगमंच की जो अवस्था थी वही मराठी रंगमंच की भी थी। मराठी नाट्यजगत पर भी पाश्चात्य नाटककारों से प्रभावित नाटकों का प्रभाव था। मोहन रोकेश की नाटक की समझ और रंगशिल्प के विकास की दृष्टि से देखा जाए तो उनके प्रारंभ के नाटक बीज अवस्था में दिखाई देते हैं। 'आधे-अधूरे' का शिल्प विधान राकेश के पिछले नाटकों की अंक दृश्य व्यवस्था से भिन्न है। 'आषाढ़ का एक दिन' 'लहरों के

राजहंस' तीन अंको के नाटक हैं 'आधे-अधूरे' मध्यान्तर की व्यवस्था के साथ केवल दो हिस्सों में बँटा नाटक है। इस प्रकार 'आधे-अधूरे' नाटक शैली, शिल्प और कथ्य की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी नाटकों में महत्वपूर्ण साबित होता है, जहाँ से आगामी पीढ़ी प्रेरणा ले सके। "आज जो अनेक शिल्पगत प्रयोग वाले नाटक लिखे जा रहे हैं, उनमें सर्वाधिक नीवनता इसी अंक-दृश्य योजना को लेकर देखी जाती है। मध्यांतर द्वारा विभजित नाटक, दृश्य संख्याओं वाले नाटक आदि आज के नए-नए प्रयोग की शुरूआत मोहन राकेश से होती है।" इस प्रकार नाटक को आधुनिक प्रयोगशील स्वरूप देने में मोहन राकेश की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

5.17. रंगमंच और शिल्प

एक नाटक की सफलता उसकी रंगमंचीयता में है। राकेश का विश्वास यह था कि यदि "जीवन की कसौटी नाटक है तो नाटक की कसौटी रंगमंच है" यही कारण है कि नाटककार को रंग शिल्प पर अधिक ध्यान देना पड़ता है। रंगमंचीय शिल्प पर कोई त्रुटि रह जाये तो वह नाटक सफल नहीं होगा।

मोहन राकेश का रंगमंचीय दृष्टिकोण बिल्कुल नया है। मोहन राकेश ही सबसे प्रमुख एवं प्रथम प्रयोगधर्मी नाटककार हैं। "आषाढ़ का एक दिन' उनका पहला महत्वपूर्ण नाटक है।

4.18. रंगदीपन

अभिनय कला प्रथा उसके मध्यम गति को पूर्णता व्यंजित करने के लिए पर्याप्त अर्थात समुचित प्रकाश की आवश्यकता होती है। प्रकाश व्यवस्था के माध्यम से दृश्यात्मक रूप में चाक्षुष संरचना तथा देशकाल एवं घटना स्थल को व्यंजित करने में सहायता की जाती है। प्रकाश व्यवस्था का प्रयोजन दृश्यबोध का सृजन है। उसके द्वारा घटना-स्थल, संरचना एवं मनोभाव की सृष्टि के साथ ही नाटकीय शैली तत्व का व्यक्तीकरण किया जाता है।

"प्राचीन नाटकों के अभिनय के सन्दर्भ में भरतमुनि ने नाट्य-प्रयोग के लिए समय निर्धारित करते हुए बताया कि प्रात: तथा दिन के तीसरे प्रहर तथा रात्रि में प्रथम और अंतिम प्रहर में नाट्याभिनय किया जाना चाहिए।" रंग प्रदीपन के संदर्भों में उनका मत है कि जलते हुए दीपक की अधिक आवश्यकता न होगी, रात्रि के लिए दीपक जलाए जाने की यह व्यवस्था अपेक्षित होगी। परंतु जहाँ तक शैलगृहाकार रंगमंडप का प्रश्न है, उसमें गवाक्षों के रहते हुए भी दिन में रंग-दीप्ति की आवश्यकता होगी।

भारत के लोक-नाट्य में दीपक अथवा मशाल के मंद प्रकाश में पात्रों की अंगसज्जा तथा वेश-विन्यास का रंग बहुत ही आकर्षक रूप में उभर कर आता है। चमत्कारिक दृश्यों में कभी-कभी पूर्ण अंधकार तथा अर्ध्द-प्रकाशित मंच की व्यवस्था होती थी।

आजकल लोक रंगमंच को फिर से महत्व मिलने के कारण समरस प्रकाश में भी प्रस्तुतियाँ होती हैं। चित्रित रंगों तथा रूप-सज्जा को विभिन्न प्रकाश स्थितियों में प्रभावपूर्ण बनाये रखने का कौशल्य अत्यधिक महत्वपूर्ण है। प्रत्येक नाटक के प्रकार तथा शैली एवं निर्देशक की रंग परिकल्पना के अनुसार प्रकाश के प्रत्येक प्रयोजन के विशिष्ट प्रयोग की योजना की जाती है। प्रकाश यंत्रों का प्रयोग इस प्रकार किया जाता है कि वे व्यक्ति के प्रकाश संवेदन सम्बन्धी सीमा रेखा को भली भाँति ग्रहण कर सके। नाटकीय प्रदर्शन में केवल प्रत्यक्ष करने की अपेक्षा आभासित करने की संभावना को अधिक महत्व दिया जाता है।

ब्रेख्त बार-बार इस बात पर जोर देते हैं कि रोशनी सीधी तथा तीव्र हो ताकी पात्रों की भावाभिव्यक्ति के उतार चढ़ाव को स्पष्टता के सभी देखा जा सके। मंच प्रकाश पर लिखी गयी उनकी किताब में कहा गया है, कि "ऊघती हुई रोशनी में मेरे दर्शक ऊँघने लगेंगे मिस्त्री जी चूँधियानेवाली तेज, रोशनी दो ताकि दर्शक जागते रहें। अगर उन्हें सपने दखने हैं तो चमकती हुई रोशनी में देखे। रात के अंधेरे को हमारे जगमगाते हुए लैम्प और चांद

और भी गहरा कर सकते हैं। रोशनी तेज करों, ताकि दर्शकर हमारा नाटक देखें जो हमने उनके लिए तैयार किया है" रंगदीपकीय उपकरणों को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है।—(1) संघात उपकरण यथा पाद प्रकाश, शीर्ष प्रकाश, (2) तीव्र प्रकाश (3) बिन्दु प्रकाश (4) लैंसयुक्त लालटैने तथा अलोक चित्रप्रक्षोक।

4.19. शब्द और रंग का मेल

मोहन राकेश शब्द पर अनुसंधान कर रहे थे। स्वाभाविक है कि राकेश शब्द पर अधिक ध्यान दें। आधुनिक संवेदनाओं को व्यक्त करने का जरिया उन्होने शब्दों को माना, 'राकेश को रंगमंच की संभावनाएँ ध्वनि के क्षेत्र में दिखलाई पड़ी और इसे ही वे भारतीय नाटक का वैशिष्टय बनाना चाहते थे। उनका निश्चित मत था कि, 'शब्दों की योजना नाटक में इस प्रकार करते हैं, जिससे पात्रों को अपनी अभिनय क्षमता दर्शाने का अवसर मिलता है। मल्लिका की प्रेरणा से ही कालिदास उज्जयिनी जाता है। पर जब वह चला जाता है। मल्लिका की विरह भावना इस तरह व्यक्त होती है। अत्यंत कम शब्दों में माँ और बेटी एक-दूसरे का दुःख जान लेते हैं। क्रिया और शब्दों के संगम से यहाँ अभिनय व्यक्त हो रहा है।

"अंबिका; मल्लिका!

मल्लिका रूक जाती है, पर कुछ भी उत्तर न देकर मुँह हाथों में छुपा लेती है। अंबिका उठकर धीरे—धीरे उसके पास आती है और उसे बाहों में ले लेती है। सारा शरीर रूलाई से कांपते रहता है, पर गले से स्वर नहीं निकलता अंबिका की आँखों में पानी भर आता है और वह उसके कांपते शरीर को अपने से सटाये उसकी पीठ पर हाथ फेरती रहती है। फिर होंठों और गालों से उसके सिर को दुलारने लगती है।

अंबिका: अब भी रोती है? उसके लिए? उस व्यक्ति के लिए जिसने।"

कम शब्दों में भवनाओं की अभिव्यक्ति राकेश की श्रेष्ठ रंगमंचीय समझ का ही उदाहरण है।

कुछ स्थानों पर संक्षिप्त संवाद किया, भाव मुद्रा का मेल स्थापित कर राकेश ने अभिनय अभिव्यक्ति की नयी शैली चित्रित की है। 'आधे-अधूरे' में एक निर्णायक क्षण है, सावित्री जगमोहन के पास चले जाने का निर्णय लेती है। बड़ी लड़की कहती है—"और सोच लो थोड़ा....." सावित्री आवेग में गले की माला को उंगली से लपेटती है और वह झटका लगने से टूट जाती है। यहाँ शब्द क्रिया साथ-साथ चलते है। फलत: सारी स्थिति प्रतीकार्थ को तो व्यक्त करती ही है, साथ ही दो चार शब्दों के प्रयोग से एक नया अर्थ व्यक्त होता है।

समकालीन हिन्दी रंगमंच और राकेश मोहन के नाटक

बहुमुखीय प्रतिभा के धनी मोहन राकेश ने गद्य की अनेक विधाओं में काम किया किन्तु उनकी विशिष्ट पहचान एक संवेदनशील नाटककार, उपन्यासकार और कहानीकार के रूप में है। मोहन राकेश का जन्म 7 जनवरी 1924 को अमृतसर में हुआ। इनका मूल नाम मदन मोहन गुगलानी था। पहली बार मदन मोहन राकेश के नाम से उनकी कहानी 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित हुई और बाद में मोहन राकेश के नाम से हिन्दी साहित्य जगत में चर्चित हो गये। मोहन राकेश बहुमुखी प्रतिभा संपन्न साहित्यकार हैं। उन्होंने नाटक, कहानी, उपन्यास, यात्रा विवरण, निबन्ध आदि लिखकर साहित्य क्षेत्र में अपना स्थान स्वयं निर्धारित किया है। किन्तु नाटककार के रूप में मोहन राकेश को विशेष ख्याति मिली है। मोहन राकेश को कहानी के बाद सफलता नाट्य-लेखन के क्षेत्र में मिली। हिन्दी नाटकों में भारतेन्दु और प्रसाद के बाद का दौर मोहन राकेश का दौर है जिसे हिन्दी नाटकों में भारतेन्दु और प्रसाद के बाद का दौर मोहन राकेश का दौर है जिसे हिन्दी नाटकों को फिर से रंगमंच से जोड़ा। उन्होंने अच्छे नाटक लिखे और हिन्दी नाटक को अंधेरे बन्द कमरे से बाहर निकाला और उसे युगों के रोमानी ऐन्द्रजालिक सम्मोहक से उबारकर एक नए दौर के साथ जोड़कर दिखाया। वस्तुत: मोहन

राकेश के नाटक केवल हिन्दी के नाटक नहीं हैं। वे हिन्दी में लिखे अवश्य गए हैं, किन्तु वे समकालीन भारतीय नाट्य प्रवृत्तियों के द्योतक हैं। उन्होंने हिन्दी नाटक को पहली बार अखिल भरतीय स्तर ही नहीं प्रदान किया वरन् उसके सदियों के अलग-थलग प्रवाह को विश्व नाटक की एक सामान्य धारा की ओर भी अग्रसर किया। प्रमुख भारतीय निदेशकों इब्राहीम अलकाजी, ओम शिवपुरी, अरविन्द गौड़, श्यामानन्द जालान, राम गोपाल बजाज और और दिनेश ठाकुर ने मोहन राकेश के नाटकों का निर्देशन किया। हिन्दी नाटक के क्षितिज पर मोहन राकेश का उदय उस समय हुआ जब स्वाधीनता के बाद पचास के दशक में सांस्कृतिक पुनर्जागरण का ज्वार देश में जीवन के हर क्षेत्र को स्पन्दित कर रहा था। उनके नाटकों ने न सिर्फ नाटक का आस्वाद, तेवर और स्तर ही बदल दिया, बल्कि हिन्दी रंगमंच की दिशा को भी प्रभावित किया। उसके पहले, भरतेन्दु हरिश्चन्द्र और जयशंकर प्रसाद जैसे प्रतिभावान रचानाकारों के बावजूद, हिन्दी नाटक अधिकांशत: या तों सस्ते में मनोरंजन का साधन बना हुआ था या फिर नाट्य पुस्तकों की दीवारों के पीछे बन्द था। पचास के दशक में उसे धीरे-धीरे एक अत्यन्त ही समर्थ किन्तु जटिल और परिश्रम तथा प्रशिक्षण-साध्य कला माध्यम के रूप में स्वीकृति मिलना शुरू हुआ और साथ ही नाट्यकर्मियों से भी अधिक जागरूकता, संवेदनशीलता और कलात्मक गंभीरता की अपेक्षा होने लगी। 1958 में संगीत नाटक अकादमी द्वारा मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' को सर्वश्रेष्ट नाटक के लिए और कलकत्ते की नाट्यमंडली 'अनामिका' को विनोद रस्तोगी के 'नये हाथ' के सर्वश्रेष्ठ प्रस्तुतीकरण के लिए पुरस्कारों में इस बदलती हुई स्थिति की ही स्वीकृति दी। उसके बाद से हिन्दी नाटक लगातार आगे बढ़ता रहा है। और सारी सीमाओं के बावजूद उसके क्रमश: हिन्दी के सृजनात्मक साहित्य के क्षेत्र में और देश के नाटक साहित्य में सार्थक स्थान हासिल किया है।

मोहन राकेश ने कथ्य, शिल्प और प्रयोग तीनों ही दृष्टियों के आधुनिक नाटकों की शुरुआत की। नाटक की रंगमंचीयता को ध्यान में रखते हुए इनके नाटक सफल नाटक हैं। याथार्थ धरातल से जुड़े, परिष्कृत नाट्य शिल्प वाले मोहन राकेश के नाटकों ने हिन्दी नाटक और रंग मंच को राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित किया। मोहन राकेश के तीनों नाटकों में स्त्रीवादी चिंतन विकसित होता हुआ दिखाई देता है। 'आषाढ़ का एक दिन' (1958) में आदर्श भारतीय स्त्री का समर्पण है, जबकि 'लहरों के राजहंस (1963) में स्त्री के अहं-पोषित रूप को अभिव्यक्ति मिली है, वही 'आधे-अधूरे' (1969) में आर्थिक रूप से सक्षम और आधुनिक स्वतंत्र नारी निकम्मे पुरुष से विरोध करती हुई अपने अधिकारों की प्राप्ति हेतु विद्रोह करती है। अपने अधूरेपन को भरने के लिए स्वतंत्र रूप से पूर्णता की खोज करती है तथा एक अधूरा नाटक 'पैर तले की जमीन' है। मोहन राकेश के अंतिम नाटक का प्रकाशन उनके निधन के बाद हुआ। इसे वह अपूर्ण लिखा छोड़ गये थे इस नाटक को उनके मित्र कमलेश्वरजी ने पूरा किया। उनका प्रकाशित पहला नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' वास्तव में यही वह हिन्दी का पहला नाटक भी था जिसने हिन्दी रंगमंच के अपने स्वतंत्र स्वरूप की नींव भी रखी।

4.20.1. आषाढ़ का एक दिन

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखा गया आधुनिक बोध के विविध आयामें को उद्घाटित करने वाला यह नाटक आधुनिक हिन्दी नाट्य युग का प्रथम सोपान कहा जा सकता है। इतिहास प्रसिद्ध कवि कालिदास के रूप में रचनाकार के सृजन के विविध द्वन्द्वों, कालिदास, मल्लिका, प्रियंगुमंजरी तथा विलोम जैसे पात्रों के रूप में आधुनिक स्त्री पुरुष के संबधों की जटिलता को, परिवेश से कटे विवश आधुनिक मानव की पीड़ा को प्रस्तुत किया है। नाटक की भाषा पात्र और विषय वस्तु के अनुकूल और संप्रेषणीयता के गुण से युक्त है। संवाद-योजना, रंग-मंचीयता के अनुकूल क्षिप्र, चरित्रोद्घाटक, उद्देश्योन्मुख और प्रभावी है। अभिनेयता के लिये कथावस्तु, पात्रों की सीमित संख्या संक्षिप्त प्रेषणीय संवाद ध्वनि-संकेत, स्थान-संकलन की दृष्टि से यह सफल नाटक है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक की श्रृंखला में 'आषाढ़ का एक दिन' एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के रू उल्लेखनीय है। यह मोहन राकेश का सर्वप्रथम, बहुचर्चित तथा लोकप्रिय नाटक है। इसमें कवि कालिदास एक प्रतीक के रूप में चित्रित किया है। 'आषाढ़ का एक दिन' में ऐतिहासिक पात्रों के साथ काल्पनिक पात्र है। मोहन राकेश ने इतिहास और कल्पना के सामंजस्य से प्राचीन और अर्वाचीन तथ्यों को समन्वित व शाश्वत सत्य को युगानुरूप पुष्ट किया है। इस नाटक का कालिदास—इतिहास का कालिदास नहीं, मो राकेश कालीन कालिदास है। 'आषाढ़ का एक दिन' हिन्दी के युगान्तरकारी नाटककारों में से एक मोहन रा की एक कृति है। इस नाटक को हिन्दी साहित्य में इसलिए जाना जाता है क्योंकि इस नाटक से हिन्दी रंगमंच यथार्थवाद की उस समय नयी परम्परा को एक बहुत मजबूत प्रोत्साहन मिला। मोहन राकेश ने कहा है कि हि रंगमंच पाश्चात्य रंगमंच से अत्यधिक भिन्न है। हमारे पास उपलब्धियों को देखने के लिए पाश्चात्य रंगमंच है क्योंकि हिन्दी रंगमंच किसी एक विचार विशेष से बंधा हुआ नहीं है। मोहन राकेश ने हिन्दी रंगमंच के उद्दे को भी परिभाषित करने की कोशिश की है। उनका कहना है कि रंगमंचक को हिन्दी भाषी प्रदेश की दैनि आवश्यकताओं और उनके सांस्कृतिक महत्व को अभिव्यक्त करने वाला होना चाहिए और ऐसा पाश्च रंगमंच की अंधाधुंध तरीके से नकल करने से संभव नहीं है और इस बात के लिए सराहना होनी चाहिए कि भाव की अभिव्यक्ति के लिए कालिदास को कथानक में सम्मिलित किया गया है, जो कि अपने आप में स बहुत बड़े नाटककार थे। अगर यह कहा जाये कि इस नाटक का नायक कालिदास न होकर मल्लिका थी इससें को अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस नाटक को हिन्दी साहित्य के कुछ शुरुआती स्त्री-प्रधान रचनाओं में ज दी जा सकती है। तृतीय अंक में कालिदास के संवाद, जहाँ उन्होंने अपने मानसिक द्वंद्व का चित्रण किया है, कथानक की स्त्री प्रधानता कोई कम नहीं कर सकें। मल्लिका का चित्रण एक स्वंतत्र, आत्म-निर्भ विचारशील, आधुनिक और निर्णायक नारी के रूप में हुआ है। इस नाटक में इतिहास के पुनरुत्थानवादी का की झलक कहीं से भी देखने को नहीं मिलती। मोहन राकेश ने अपने आपको कालिदस और मल्लिका के प्रस तक सीमित रखा है। अनावश्यक रूप से संस्कृति का गुणगान इस नाटक में देखने को नहीं मिलता है। कहा के लिहाज से भी यह अत्यंत सीमित और सार-गर्भित रचना कही जायेगी। पातंजलि के एक उल्लेख के अलाव कहीं भी लेखक ने पात्रों के ज्ञान को दर्शाने के लिए संदर्भों का सहारा नहीं लिया जिससे पूरे नाटक में गति बन रही है। भाषा अत्यधिक संस्कृतिनिष्ठ नहीं है, पढ़ने पर प्रवाह बना रहता है। इस नाटक के मंचन देश-विदेश हुये हैं। जिनमें से कुछ प्रसिद्ध लोगों द्वारा अभिनीत और निर्देशित मंचनों के दृश्य इस पुस्तकों में दिए गए हैं मोहन राकेश को उनके नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' में सर्जक के रूप में जाना जाता है। यह नाटक स 1958 में प्रकाशित हुआ थ। इसे हिन्दी के आधुनिक नाटकों के क्रम का पहला नाटक भी कहा जाता है। स 1959 में इसे सर्वश्रेष्ठ नाटक होने का सम्मान संगीत नाटक एकादमी के द्वारा दिया गया था। मोहन राकेश के इस वैचारिक नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' को लेकर मणिकौल ने सन् 1971 में एक फिल्म का निर्माण भ किया था, जिसे फिल्मफेयर अवार्ड भी मिला। मोहन राकेश के द्वारा रचित 'आषाढ़ का एक दिन' को हिन्दी साहित्य जगत में मील का पत्थर कहा जा सकता है।

4.20.2. लहरों के राजहंस

यह नाटक भी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखा गया आधुनिक बोध कराने वाला प्रभावशाली नाटक है ऐतिहासिक पात्रों के माध्यम से आधुनिक दुविधाग्रस्त मानव के द्वन्द्व, उसकी पीड़ा अलगाव बेचैनी को पूरी नाटकीयता के साथ प्रस्तुत किया गया है। महाकवि अश्वघोष की काव्य कृति सौन्दरानन्द पर आधारित नाटक में जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्वंद्व के कारण गहराते पीड़ा बोध को उद्घाटित किया गया है जिसमें नाटककार पूरी तरह सफल हुआ है। संवाद-योजना, पात्रों की मन: स्थिति के अनुकूल सफल, यथार्थपरक,

चुस्त और तीक्ष्ण है जिसके कारण नाटक की प्रभावान्विति सतत बनी रहती है। भाषा नाटक की मूल संवेदना के अनुसार भावों और विचारों को वहन करने वाली हैं। अभिनेयता की दृष्टि से यह सफल नाटक है जिसके कारण कई संस्थाओं के द्वारा इसका सफल मंचन किया जा चुका हैं। 'लहरों के राजहंस' मोहन राकेश का दूसरा, सशक्त नाटक है। 'आषाढ़ का एक दिन' यदि भावना में भावना का वरण की कहानी है तो 'लहरों के राजहंस' नारी के आकर्षण-विकर्षण की अनुभूति की अभिव्यक्ति हैं एक मं समर्पित नारी का चित्रण है तो दूसरे में रूप पर गर्व करने वाली रानी की विविध मन: स्थितियों के संदर्भो का आलेखन है। कालिदास अपार मानसिक संघर्षो से पीड़ित आधुनिक मानव का प्रतिरूप तो नन्द प्रवृत्ति में पिसकर छटपटाते हुए प्राणों को लेकर जीवन के चौराहे पर खड़ा है। इसमें नाटककार मोहन राकेश ने भौतिकता और अध्यात्मिकता के मध्य उलझे हुए व्यक्ति की चेतना को नन्द और सुन्दरी के द्वंद्व के माध्यम से मुखरित करने का प्रयास किया है।

4.20.3. आधे अधूरे

मोहन राकेश का यह अत्यंत ख्याति प्रसिद्ध और चर्चित नाटक है। आधुनिक मध्यम वर्गीय परिवार की विसंगतियों को यह नाटक यथार्थपरकता के साथ अद्घाटित करता है। पति-पत्नी के आपसी तनाव, परिवार के सदस्यों की घुटन, तनाव और बिखराव के रूप में पारिवारिक विघटन की समस्या को पूरी वास्तविकता के साथ यह नाटक सामने लाता है। अधिक आभावग्रस्तता और सुविधाओं की अकांक्षा, परिवेशगत दबाव और मानसिक तनाव में आधी-अधूरी जिन्दगी जीते पात्रों द्वारा पूर्णता पाने की लालसा में आपसी टकराहट नाटक की मूल संवेदना है। पत्नी सावित्री की कर्मठता तथा पारिवारिक जिम्मेदारी को अकेले उठाने के दर्द के साथ अपने महत्व का एहसास, पति महेन्द्रनाथ को निष्क्रियता जन्य निराशा और तनाव तथा पति के रूप में पत्नी की सम्पूर्ण पुरूष की अन्तत: असफल तलाश और इसी बीच परिवार के अन्य सदस्यों का एक दूसरे से कटाव इस नाटक का केन्द्र बिन्दु है। वस्तुत: यह नाटक मध्यवर्गीय परिवार की आकांक्षाओं, तृष्णाओं लगाव व तनाव की कहानी है जिसे 'एक स्तर पर स्त्री पुरूष के बीच के लगाव और तनाव का दस्तावेज' कहा गया है। रंगमंच की दृष्टि से यह सफल नाटक है। यह नाटक 'आषाढ़ का एकदिन' और लहरों के राजहंस की तुलना में भिन्न कोटि का नाटक है। अलोच्य नाटक में आज के मानव की अनियंत्रित एवं अंतहीन यंत्रणाओं के बीच नारी मुक्ति भावना, वैवाहिक संघर्षो की विडंबना, पुरूष के अधूरेपन तथा विघटनशील जीवन मूल्यों का प्रकर्ष है। समूचा नाटक घर की चार दीवारी के अन्दर के अधूरेपन की कथा व्यंजित करता है। 'आधे-अधूरे' में मोहन राकेश ने मध्यवर्गीय परिवार की मनोस्थितियों का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक धरातल पर किया है। 'आधे-अधूरे' के सभी चरित्र आधे अधूरे हैं। आधुनिक परिवेश में जी रहे यह पात्र कुंठा और संत्रास के शिकार हैं। महेन्द्रनाथ और सावित्री पति-पत्नी के अटूट रिश्ते में बंधे हैं, फिर भी अलगाव की विशद छाया उनके संबंध पर निरंतर बनी रहती है। पूर्णता की खोज में दौड़ रही स्त्री पर निरंतर चोटें खा रहा महेन्द्रनाथ, सावित्री से प्रेम करते हुए भी मानसिक तंगदिली में जी रहा है। यही तनाव, संशय और कुंठा इन दोनों की नियति बन गई है। सावित्री महेन्द्रनाथ को एक निठल्ला, बेकार और पराधीन पुरूष मानती है, जिसकी कोई अहमियत या माद्दा नहीं है। इसीलिए वह इसकी खोज अन्य स्थानों पर अन्य पुरूषों से करती रहती है। जबकि महेन्द्रनाथ भी स्वंय को बार-बार घिसने वाला रबर का एक टुकड़ा समझता है जिसकी परिवार के सदस्यों की दृष्टि में कोई अहमियत नहीं है। अपने अहं पर बार-बार कुठाराघात होने पर वह सावित्री को मारता-पीटता है जिससे परिवार में घृणा, उपेक्षा और तंगदिली की रूग्ण छाया बनी रहती है। आधुनिक दौर के पितृसत्तात्मक परिवेश में घर का आर्थिक बोझा उठाती हुई सावित्री जैसी भारतीय स्त्री की स्थिति का यथार्थ निरूपण मोहन राकेश ने इस नाटक में किया है। सावित्री 'आधे-अधूरे' नाटक का प्रमुख नारी-चरित्र एवं नाटक की 'नायिका' है। मध्यमवर्गीय स्त्री का प्रतीक जो अर्थाजन की खोज, आधुनिक स्त्री, पत्नी के रूप में, फैशन को अपनाने वाली आधुनिक महिला,

कामकाजी स्त्री, अति महात्वाकांक्षी स्त्री, जीवन में अनन्त इच्छाओं को रखने वाली स्त्री। नाटक में महेंद्रनाथ की नौकरी पेशा पत्नी के रूप में चित्रित की गयी है।

महेंन्द्रनाथ के साथ पिछले बाईस वर्षों से अपने वैवाहिक जीवन को ढो रही है। उसकी दो बेटियाँ –ि और किन्नी एवं बेटा है अशोका घर की पूरी जिम्मेदारियाँ उसी पर हैं। कामचोर पति, मैग्जीन की कर इकट्ठा करनेवाला निठल्ला लड़का, स्वंय के प्रेमी के साथ भाग जानेवाली स्वच्छंद बिन्नी और जिद्दी ह लड़की किन्नी से बना परिवार चलाते-चलाते तनाव और घुटन से तंग आ चुकी सावित्री का अंह उसे बार– मुक्त होने को प्रेरित करता रहता है नाटककार मोहन राकेश ने 'आधे-अधूरे' नाटक की नायिका 'सावित्री द्वारा नारी की मुक्ति भावना, विघटनशील जीवनमूल्य वैवाहिक संबंधों की विडंबना आदि पर पर्याप्त प्रक डाला है। यह नाटक स्वातंत्र्योंतर परिवर्तित सामाजिक परिवेश में एक परिवार के आपसी तनाव के बीच क्यों? और कैसे? के प्रश्नों का अपने ढंग से संश्लेषण है। खुद नाटककार उसके बारे में लिखते हैं— ' चालीस को छूती। चेहरे पर यौवन की चमक और चाह फिर भी शेष ब्लाउज और साड़ी साधारण होते हुए सुरूचिपूर्ण' सावित्री हँसते-खेलते जिंदगी जीना चाहती है, वह भी भरी-पूरी जिंदगी। उच्च वर्गीय औरतों तरह जीवन में बहुत कुछ प्राप्त करना चाहती है। 'आधे-अधूरे' आधुनिक मध्यवर्गीय, शहरी परिवार की कह है। इस परिवार का प्रत्येक सदस्य अपने को अधूरा महसूस करता है। हर सदस्य अपने को पूर्ण करने की चे करता है। पत्नी सावित्री पति के पास काम नहीं रहने की वजह से नौकरी करने घर से बाहर निकलती है। तब पति में दायित्वबोध की कमी नजर आती है। उसे लगता है कि वह सबसे बेकार आदमी है। वह सम मनुष्य नहीं है। बाहर निकलने पर सावित्री की मुलाकात चार लोगों से होती है। एक है धनी व्यक्ति, वह । स्वभाव का है और सज्जन व्यक्ति है। दूसरा डिग्री धारी व्यक्ति शिवदत्त है जो सारे संसार में घूमता रहता वह एकनिष्ठ नहीं है। तीसरा सामाजिक व्यक्ति है, मनोज। वह सावित्री से दोस्ती लिए गांठता है पर उसकी बे से प्रेम विवाह करता है। और चौथा व्यक्ति एक व्यापारी है। वह चालाक और घटिया किस्म का आदमी चालीस वर्षीय सावित्री जिसके चेहरे पर अभी भी चमक बरकार है अपनी जिन्दगी के खालीपन को भरने लिए एक सम्पूर्ण पुरूष की तलाश में रहती है। इस क्रम में वह इन पुरूषों के सम्पर्क में आती है। इनसे संब बनाकर भी उसे पूर्णता का अहसास नहीं होता। हर व्यक्ति अपने-अपने ढंग से अपने-अपने स्वार्थ की पूर्ति लिए उसका उपयोग करता है।

4.20.4 पैर तले जमीन

यह मोहन राकेश का अन्तिम नाटक है। जिसका खाका उन्होने अपने जीवन काल में पूरा कर दिया थ किन्तु इसे नाटक का आकार देने का कार्य उनके मित्र कमलेश्वरजी ने किया। पर इस बात का ध्यान रखा ग कि वह पूरी तरह से मोहन राकेश का ही नाटक रहे। उसमें किसी दूसरे के स्पर्श का आभास न हो। दो अंको विभाजित इस नाटक की सम्पूर्ण घटना एक ही स्थान पर घटती हैं। अपने मनोरंजन के लिये एक स्थान एकत्रित हुए लोगो के चेहरों से सन्निकट आती मौत से एक-एक कर के नकाब हटने लगते हैं। मृत्यु बो व्यक्ति के अन्दर तरह-तरह के भाव पैदा करता है। अतीत की स्मृतियां, रांग संबधों से वितृष्णा तथा अप किये गये अपराधों का तीव्र-बोध वस्तुत: यह नाटक मृत्यु बोध के त्रासद, पीड़क भयानक क्षणों में अकेलापन भय, निर्णय और बेबसी जैसे मनोभावों को यथार्थ शैली में नाटकीयता के साथ व्यक्त करता है। 'पैर तले द जमीन' मोहन राकेश का अंतिम किंतु अधूरा नाटक है जिसे उनके आत्म मित्र कमलेश्वर ने राकेश के मृत्यु के बाद पूरित किया। अनिता राकेश के शब्दों में 'पैर तले जमीन' को अपनी आँखे मंद जाने से वर्षों पहले ह राकेश ने लिखा था। जिस दिन धोखा देकर वे सदा के लिए चले गये थे तब भी टाइपरैटर पर इसी नाटक क एक पृष्ठ, आधा टाइप किया, आधा खाली रह गया था। इस नाटक में राकेश ने शब्दों और नेपथ्य की ध्वनिय

के मिले-जुले प्रभाव को रंगमंच पर एक नये प्रयोग के रूप में प्रस्तुत कर वर्तमान युग में व्यक्ति के सामाजिक मूल्य-विघटन तथा मानवीय संबन्धों के खोखलापन को मूर्त किया है।

4.21. उपसंहार

मोहन राकेश जी की सृजनात्मक प्रवृत्तियों एवं कृतियों ने स्वतंत्र रूप से जीने को बाध्य किया। इन्होने नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना, एकांकी जैसी सभी विधाओं पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़ी। मोहन राकेश को प्रसादोत्तर युगीन प्रयोगशील नाटक साहित्य का प्रमुख स्तंभ माना जाता हैं इन्होंने हिन्दी साहित्य को एकांकी, नाटक, निबंध समीक्षा, यात्रा संस्मरण आदि पर विभिन्न कृतियां प्रदान की हैं जिनमें आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस, अंडे के छिलके, आधे-अधूरे विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मोहन राकेश के नाटक जब प्रकाशित हो रहे थे तब हिन्दी साहित्य में स्त्री विमर्श का वैसा रूप स्पष्ट नहीं था जैसा कि आज है। संविधान ने स्त्री-पुरूष समानता का अधिकार तो दे दिया था किन्तु 1956 में हिन्दू कोड़ बिल पारित होने के बाद ही स्त्रियों को वयस्क मताधिकार प्राप्त हुआ। कानूनी स्तर पर समानता मिलने पर भी सामाजिक स्तर पर नारी की स्थिति पिछड़ी हुई थी। जिसका प्रतिबिंब साठ के दशक की चर्चित कथाकार उषादेवी मित्रा के उपन्यासों में देखा जा सकता है। 1960 के बाद कृष्णा सोबती, शिवानी, उषा, प्रियंवदा जैसी कई नयी महिला कथाकार सामने आई जिन्होने शिक्षित, नौकरी पेशा और प्रणय संबंध में बंधी स्त्रियों की समस्याओं को अपने कथा-साहित्य में में प्रस्तुत किया। किन्तु सत्तर के दशक तक नारी का वह स्वतंत्र रूप साहित्य में नहीं दिखाई देता, जो नारी-विमर्श के जोर पकड़ने के पश्चात के साहित्य में दिखाई देता है। इस परिप्रेरक्ष्य में मोहन राकेश के नाटकों को देखा जा सकता हैं इसके नाटकों में मुख्य रूप से स्त्री-पुरुष संबंध और पुरूष अंह की समस्या का निरूपण किया गया है। अत: मोहन राकेश के नाटकों में पुरुष अहं और यह अहं स्त्रियों की स्वतंत्रता, उनके अधिकारों में किस प्रकार की भूमिका निभाता है उसे स्त्रीवादी विमर्श के आइने में देखना रोचके विषय बन सकता है। मोहन राकेश द्वारा हिन्दी साहित्य की अनन्त सेवा की गई जिसके लिए वे हमेशा स्मरणीय रहेंगे तथा याद किए जाते रहेंगे। इनकी कृतियां हिन्दी साहित्य की अक्षय निधि है।

संदर्भित पुस्तकें

मोहन राकेश का नारी संसार	—	डॉ० मीना पिपलापुरे
मोहन राकेश: व्यक्तित्व एवं कृतित्व	—	डॉ० सुषमा अग्रवाल
मोहन राकेश और उनके नाटक	—	गिरीश रस्तोगी
नाटककार मोहन राकेश (संवाद शिल्प)	—	मदनलाल
मोहन राकेश के नाटक	—	डॉ० द्विजराम यादव
नाटक रंगमंच और मोहन राकेश	—	डॉ० सुरेन्द्र यादव
मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक	—	डॉ० नेमिचन्द्र जैन
उपन्यासकार मोहन राकेश	—	पंडिता विमला कुमारी
अपने नाटक के दायरे में मोहन राकेश	—	तिलकराज शर्मा
अज्ञेय और मोहन राकेश के उपन्यासों में यथार्थ की परिकल्पना	—	डॉ० रॉय जोसेफ
नाटककार मोहन राकेश	—	जीवन प्रकाश जोशी
नाटककार मोहन राकेश	—	सुन्दरलाल कथूलिया
नाटककार मोहन राकेश: कल्पना का यथार्थ	—	विष्णुकान्त शास्त्री

मोहन राकेश की रंगसृष्टि	— डॉ० जगदीश शर्मा
मोहन राकेश व्यक्तित्व और कृतित्व	— डॉ० रमेश कुमार जाधव
मोहन राकेश व्यक्तित्व और कृतित्व में उद्धृत	— डॉ० धनानन्द एम० शर्मा
स्वातन्त्रोतर हिन्दी मोहन राकेश के विशेष संदर्भ में	— डॉ० रीता कुमार
मोहन राकेश के नाटक: एक मूल्यांकन	— डॉ० प्रसून प्रसाद
मोहन राकेश और उनके नाटक	— डॉ० गिरीश रस्तोगी

बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. 'रंगमंच के बारे में मोहन राकेश की परिकल्पना की एक पृथक दृष्टि है।' इस विषय की समीक्षा कीजिए।
2. नाटक और रंगमंच का पारस्परिक क्या संबंध है?
3. विविध प्रस्तुतीकरण के आधार पर नाटककार मोहन राकेश के नाटक 'आधे अंधूरे' का मूल्यांकन कीजिए।
4. मोहन राकेश के नाटकों में दृश्यविधान किस प्रकार सफल हुआ है?
5. 'नाटक एक संवादात्मक, दृश्यात्मक सामूहिक कला है।' मोहन राकेश के नाटक 'लहरों के राजहंस' के आधार पर इस विषय की समीक्षा कीजिए।
6. संगीत संयोजन और ध्वनि संयोजन में मोहन राकेश के नाटक कितने सफल रहे हैं?

अति लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. मोहन राकेश ने कितने नाटकों की रचना की है?
2. नाटक को त्रि आयात्मक विधा क्यों कहा गया है?
3. राष्ट्रीय नाटय विद्यालय के निर्देशक इब्राहीम अल्काजी ने मोहन राकेश के किस नाटक को सर्वप्रथम मंच के लिए चुना?
4. मोहन राकेश ने अपने किस नाटक की भूमिका में लिखा है कि 'हिन्दी नाटक रंगमंच की किसी विशेष परम्परा के साथ अनुस्युत नहीं है'?

इकाई

5

मोहन राकेश के नाटक और शिल्पगत दृष्टिकोण

संरचना

5.1. प्रस्तावना
5.2 इतिहास और मिथक
5.3. रंग निर्देश : रंगमंचीय नवीनता
5.4. नाट्य शिल्प : नवीन शिल्प की खोज, प्रयत्न
5.5. भाषा सौन्दर्य
    5.5.1. तात्विक विववेचन
    5.5.2. श्रव्यमाध्यम : आधार भूमि
    5.5.3. नाटकीयभाषा—एक खोज: रंगभाषा
    5.5.4. सहज एवं प्रवाहमयी भाषा : आषाढ का एक दिन
    5.5.5. जीवन्त और सार्थक भाषा : लहरों के राजहंस
    5.5.6. बिम्ब और प्रतीकों की भाषा: आधे-अधूरे
5.6. सम्वाद सौष्ठव
    5.6.1 सम्वाद : आषाढ़ का एक दिन
    5.6.2 सम्वाद : लहरों के राजहंस
    5.6.3. सत्वाद : आधे-अधूरे

5.1.1 प्रस्तावना

इतिहास और मिथक—इतिहास और मिथक को लेकर यहाँ तरह-तरह के तर्क दिये जाते हैं। यूं तो आचार्यों ने मिथक की जो परिभाषा दी है उसके अनुसार इतिहास और मिथक में काई मूल अंतर नहीं होता, क्योंकि इतिहास भी सत्य पर आधारित होता है और मिथक भी। अंग्रेजी के समीक्षक मिर्सिया इलियाडे ने अपनी पुस्तक मिथ अण्ड रियेलिटि में जो कहा है उसका आशय इस प्रकार है—"Myth means a true story and beyond that a story that is most precious possession because it is sacred, exemplary significant"

आशय यह है कि—'मिथ एक ऐसी सत्यकथा है जो अत्यन्त मूल्यवान है, क्योंकि सत्य होने के साथ पवित्रता की भावना उसेक साथ जुड़ी है। आगे चलकर वे कहते हैं—"इतिहास और मिथक में मुख्य अंतर यही है कि इतिहास घटनाओं के यथातथ्य वर्णन का ब्यौरा प्रस्तुत करता है, तो मिथक प्रामाणिकता के बंधनों से छूटकर अपने व्यापक अर्थ में जाना जाता है। अर्थात अतीत के साथ वर्तमान जोड़ने की गुंजाइश उसमें होती है।

5.2. इतिहास और मिथक

निराला के बाद हिन्दी साहित्य में जिस आदमी के चारों ओर सबसे ज्यादा मिथ बुनी वह था मोहन राकेश। मोहन राकेश का युग ही कुछ ऐसा था कि वे उनके समकालीन नाटककार मिथक से अधिक जुड़े

इतिहास से कम। स्वंय मोहन राकेश ने 'लहरों के राजहंस' की भूमिका में कहा है कि 'साहित्य इतिहास समय से बँधता नहीं, समय में इतिहास का विस्तार कराता है। युग से युग को अलग नहीं करता कई कई ए को एक साथ जोड़ देता है।.....साहित्य में इतिहास अपनी यथातथ्य घटनाओं में व्यक्त नहीं होता, घटनाओ जोड़ने वाली ऐसी कल्पनाओं में व्यक्त होता है जो अपने ही नये रूप से अलग इतिहास का निर्माण करती है। उस युग के नाटककारों को भी मिथक की तरह विस्तार देकर उसका नवीन और समकालीन संदर्भों में प्रयं किया समकालीन जीवन से उन्होने वस्तु का चयन कर वर्तमान जीवन को वाणी, दी, और युगीन संघर्ष चित्रण किया। अमरीकी समीक्षक एलन एस डाउनर कहते हैं—'हर महान नाट्यकृति के पीछे मिथ आवश्यक रूप मे वर्तमान रहता है। मिथक का जितना महत्व सामाजिक जीवन में है उतना ही साहित्यिक संद में भी। यहाँ तक कि वे आगे कहते हैं—'जिस राष्ट्र के इतिहास में मिथक नहीं होता वहाँ उसे गढना होता है विदेशों के लिए यह बात सही हो सकती है पर भारतीय परंपरा में ढेर सारे मिथकों का भंडार उपलब्ध "विदेशें के लिए बात सही हो सकती है पर भारतीय परंपरा में ढेर सारे मिथकों का भंडार उपलब्ध है। 'आष का एक दिन' के कालिदास का ऐतिहासिक होना आवश्यक नहीं यह लेखक ने पहले ही स्वीकार किया। स्प है कि कालिदास मिथक से जन्मा कालिदास है, यही कारण है कि ऐतिहासिक चौखट में वह बँधा नही, उस व्यक्तितत्व में विस्तार अधिक है, क्योंकि वह 'आज' के आदमी से जुडा कालिदास है। राकश ने उसमें आज व्यक्ति का अंतर्द्वद्व देखा है। उन्ही के शब्दों में– 'व्यक्ति कालिदरास को उस अंतर्द्वद्व से गुजरना पड़ा या नहीं यह बात गौण है। मुख्य बात यह है कि हर काल में बहुतों को उसमें से गुजरना पड़ा है, हम भी आज उसमें गुजर रहे है।' यही कारण है कि यह मिथकिय पात्र अधिक है, हम भी आज उसमें से गुजर रहे हैं।' यही कार है कि यह मिथकिय पात्र अधिक है, ऐतिहासिक कम। उसके व्यक्तित्व में आज के जीवन का संघर्ष समाहित ह गया है। मोहन राकेश के आगे है कि—'आषाढ का एक दिन' का कालिदास दुर्बल नहीं, कोमल, अस्थिर औ अंतर्द्वद्व से पीडित है। इसमें पराजित व्यक्ति... टूटा हुवा कालिदास नहीं, अपने में संयोजित विलो है।....क्योंकि विजय और पराजय के संकेत वे दोनों स्वंय नहीं हैं, संकेत है मल्लिका जो कालिदास की आस्थ का विस्तारित रूप है।

तिलकराज शर्मा ने 'आषाढ़' की रचना का मूलाधार 'मेघदूत' को बताया और इसे 'आधुनिक मेघदूत' क संज्ञा दी है। कालिदास ने अपने ही हृदय की वाणी को 'मेघदूत' के माध्यम से व्यक्त किया होगा। आषाढ क कालिदास अपनी मल्लिका से कहता है—'मेघदूत के यक्ष की पीड़ा मेरी पीड़ा है और विरहविमर्दिता यक्षिण तुम हो।'[12] लहरों के राजहंस की भूमिका में तो उन्होने यहाँ तक कहा कि–'मेघदूत पढ़ते हुए मुझे लगा करत था कि वह कहानी निर्वासित यक्ष की उतनी नहीं जितनी स्वंय अपनी आत्मा से निर्वासित उस कवि की, जिसने अपनी ही एक अपराध अनुभूति को इस परिकल्पना में ढाल दिया है।' उस अपराध अनुभूति के संबंध में सोचते हुए जो तीन चरित्र मुझे मिले वे थे—मल्लिका, अंबिका विलोम, कालिदास का चरित्र तो केन्द्र में था ही। इनके अतिरिक्त शेष सब पूरक चरित्र हैं, जिनकी सृष्टि नाटक लिखते समय हुई है।'[13] मोहन राकेश ने भले ह 'आषाढ का एक दिन' में अन्य रचनाओं के प्रभाव का उल्लेख न किया हो। पर डॉ. सुन्दरलाल कथुरिया जैसे विद्वानों ने इसका संकेत यथास्थान दिया है। हरिणशावक के प्रसंग को भी विद्वान 'रघुवंश' के द्वितीय सर्ग मे आये नंदिनी की रक्षाप्रसंग से जोड़ते हैं। इस प्रकार और भी कई संदर्भ खींच–तानकर जोडे जा सकते हैं निष्कर्ष यह कि 'आषाढ़ का एक दिन' के मिथक का आधार एक ओर इतिहास हो सकता है तो दूसरी ओर किंवदंतियाँ, पर कालिदास की कृतियों का आधार निश्चित ही इसमें रहा है।

5.3. रंग निर्देश: रंगमंचीय नवीनता

हिन्दी नाटक और रंगमंच की बात स्वतंत्रता के बाद से बराबर चर्चित रही है। पहले से साहित्यिक नाटक और रंगमंचीय नाटक को भी अलग-अलग दृष्टियों से देखा जाता रहा। धीरे धीरे यह स्थूल अंतर मिटता हुवा

दिखायी दिया। प्रसाद के नाटक कभी विशुद्ध साहित्यिक और सांस्कृतिक भाषा आदि को लेकर लिखे गये थे, पर प्रसाद ने स्वंय नाटक और रंगमंच के संबंध में कुछ भिन्न प्रकार के विचार व्यक्त किये। उन्होने लिखा है— रंगमंच के संबंध में यह भारी भ्रम रहा कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जाय। प्रयत्न तो यही होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो जो व्यावहारिक है।[1]

वास्तव में प्रसाद का यह दृष्टिकोण साहित्यिकता की अधिक वकालत करता है। पर नाटक रंगमंच की अपेक्षाओं को ही पूरा नहीं करेगा तो सही माने में वह सिक्के का एक पहलू प्रस्तुत करेगा, क्योंकि नाटक की आत्मा और लेखक का दृष्टिकोण रंगमंच पर ही साकार रूप ले सकता है। यह ठीक है कि नाटक एक साहित्यिक विधा है पर इस विधा का सीधा संबंध दर्शक, रंगशाला और रंगमंच से है। इतिहास साक्षी है कि हमारे यहाँ प्रारंभ से ही नाटक के साथ रंगमंच की परंपरा जीवित रही है। संस्कृत के आचार्यों ने भी रंगसज्जा, दृश्य, वेशभूषा आदि का विस्तार से विवेचन किया है। कालिदास हो या भवभूति इनके नाटक रंगमंच से जुड़े रहे और यथा समय इनका मंचन और अभिनय होता रहा है। पाश्चात्य समीक्षक हडसन ने भी नाटक को 'सामूहिक कला' का नाम दिया है, केवल साहित्य नहीं। उन्ही के शब्दों में— 'नाटक का शुद्ध साहित्य नहीं है, वह एक सामूहिक कला है जिनमें एक साहित्यिक तत्त्व, तथा दृश्यसज्जा आदि संबंधी घुली मिली रहती है।'' पर स्वतंत्रता के बाद संस्कृति और कलाओं के विकास पर जितना ध्यान देना चाहिए था उतना नहीं दिया गया। हमारी लोकनाट्य परंपरा को पूरी तरह से नहीं जाना-समझा गया और रंगमंच एवं रंगचेतना की बाते होने लगी। बहुत दिनों तक हिन्दी जगत में यही भ्रम बना रहा कि हिन्दी में रंगमंच के लायक नाटक नहीं लिखे गए। धीरे-धीरे अहिन्दीभाषी नाटकों के अनुवाद रंगमंच पर खेले जाने लगे और हिन्दी रंगमंच का नाम नये रूप में चर्चित होने लगा। नाटकों में निहित संघर्ष, चारित्रिक परिकल्पना, समसामयिक जीवन का चित्रण, आधुनिक संवेदना या जीवन की जटिलता आदि कई प्रश्न नाटक के साथ-साथ रंगमंच से जोडे जाने लगे। पर रंगमंच का सही स्वरूप निश्चित नहीं हो सका। विरासत में इसे जो रंग परंपराएँ मिली वह मूलत: संस्कृत नाट्य परंपरा थी। संस्कृत और लोकनाट्क परंपरा की बहुतसी समान बातें कुछ बदले रूप में ही क्यों न हों आज के रंगमंच से जुड़ गयी है। पाश्चात्य रोक्सपीरियन रंगमंच, यथार्थवादी रंगमंच यहाँ तक कि विसंगत या असंगत परंपरा का प्रभाव भी हिन्दी रंगमंच के साथ जुड़ गया है और इस प्रकार आज के रंगमंच के साथ रंगभवन का मंच और रंगशाला का विस्तार भी देखा जाने लगा है, और इन्हीं के साथ दो मूल तत्त्वों की कल्पना की जाने लगी है। जिनमें पहला है अभिनेता और दूसरा है—दर्शक सच तो यह है कि अभिनेता के कारण ही रंगमंच का जन्म होता है। जैसे रंगमंच की सीमाएँ लचीली होती गई वैसे अभिनेता और दर्शक के सबंध की धारणा भी बदलती जा रही है। इस प्रकार परिवर्तित रंगमंच की कुछ नाट्य रचनाएँ हिन्दी में आयी जिनमें उपेंद्रनाथ अश्क की 'भँवर', जगदीशचंद्र माथुर का 'कोणार्क', 'शारदिया', 'पहला राजा' जैसी नाट्य रचनाओं का उल्लेख किया जा सकता है। परन्तु हिन्दी नाटक और रंगमंच के सृजनात्मक संबंधों का प्रारंभ मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' और धर्मवीर भारती के 'अंधा युग' नाटक से माना जा सकता है। 'कोणसार्क' 1951 की कृति है तो 'अंधा युग' 1954 की दूसरी ओर 'आषाढ़ का एक दिन' 1958 की कृति है तो लक्ष्मीनारायण लाल की 'मादा कैक्टस' 1959 की कृति है। इस प्रकार छटे दशक में विकसित होनेवाले ये प्रमुख नाटक हैं। जगदीशचंद्र माथुर और लक्ष्मीनारायण लाल इन दोनों को हिन्दी नाटक और रंगमंच की एक नवीन परंपरा को जन्म देने का श्रेय दिया जाय, तो इस परंपरा की अगली सीढ़ी और उसमें नवीन आयाम जोडने का श्रेय मोहन राकेश को दिया जा सकता है।

मोहन राकेश के प्रसाद जी के संबंध में कहा है कि ''प्रसाद जी का रंगमंच के साथ सम्पर्क नहीं रहा, शायद इसलिए वे रंगमंच की सीमाओं से परिचित नहीं हो सके। वे आगे कहते है—

"प्रसाद जी के नाटकों की प्रांजल भाषा, भाव गंभीरता और साहित्यिक उपलिब्धि का कुछ ऐसा प्रभ पड़ा की रंगमंच के साथ नाटक की चेतना ही लुप्त हो गयी।" इस रात से पूरी तरह सम्मत होना संभव नहीं भले ही प्रसाद के नाटकों का सीधा संबंध रंगमंच के साथ नही था, परन्तु अनके नाटक भारतीय साहित्य संस्कृति की एक महत्वपूर्ण कडी है। उनकी नाटकों की भाषा की तुलना शेक्सपीरीयन भाषा से की जाती उनकी भाव गंभीरता पाठक और दर्शक पर एक अमिट प्रभाव डालती है। और उसकी साहित्यिक उपलो (जो स्वंय मोहन को स्वीकार्य है) युगों तक भुलायी नहीं जा सकती। राकेश ने इसी लेख में आगे चल सांस्कृतिक दृष्टि के प्रश्न को उठाया है। यदि बारिकी से देखा जाय तो प्रसाद के नाटको का मूल्यांकन क समय भी सांस्कृतिक दृष्टि को भुलाया नहीं जा सकता। फिर भी रंगमंच के संबंध में कहते हुए मोहन राकेश कुछ महत्वपूर्ण सुझाव भी दिये हैं। वे कहते हैं—'यदि नाटक जीवन के द्वंद्वों का चित्रण करेगा तो रंगमंच भी जीवन की परिस्थितियों के अनुकूल ढलना होगा। हिन्दी रंगमंच की हिन्दी भाषी प्रदेश की सास्कृतिक पूर्ति और आकांक्षाओं का प्रतीक बनना होगा। हमारा रंगों और राशियों का विवेक नये रंगमंच की सज्जा को ब देगा। इस प्रकार पाश्चात्य रंगमंच से भिन्न हिन्दी रंगमंच की बात उठाकर राकेश ने रंगमंच को एक नयी दृ प्रदान की है।

'आषाढ़ का एक दिन' के 'दो शब्द' (भूमिका) में राकेश ने हिन्दी रंगमंच के स्वरूप के संबंध में उन्हे यही बात उठायी है। हिन्दी भाषी प्रदेश की सांस्कृतियों एवं आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करना होगा। रंगों अ राशियों के हमारे विवेक को व्यक्त करना होगा। आगे वे कहते हैं—'हमारे दैनंदिन जीवन के राग-रंग को प्रस्तु करने के लिए हमारे संवेदों और स्पंदनों को अभिव्यक्त करने के लिए जिस रंगमंच की आवश्यकता है, व पाश्चात्य रंगमंच से कहीं भिन्न होगा। इस रंगमंच का रूपविधान नाटकीय प्रयोगों के अभ्यंतर से जन्म लेना औ समर्थ अभिनेताओं तथा दिग्दर्शकों के हाथों उसका विकास हो।" (बसंत—1958)

पाश्चात्य रंगमंच की जिस भिन्नता की बात राकेश ने की है उसका आधार शब्द और दृश्य संबंधी ह राकेश को पाश्चात्य रंगमंच का अनुकरण इसीलिए नहीं करना था, क्योंकि वहाँ चौधिया जानेवाली आँखों के योग्य वातावरण होता था। जब कि उन्होने माना कि रंगमंच को सादगी और प्रतीकात्मकता से पूर्ण होना चाहिए भारतीय रंगमंच शब्द की शक्ति पर निर्भर है। यही कारण है कि नाटककार की लेखनी से जन्में शब्दों क महत्त्व अत्यंत महत्वपूर्ण है। सच तो यह है कि रंगदृष्टि के बिना कोई नाटककार किसी कृति की रचना कैस कर सकता है? राकेश ने रंगमंच के संबंध में मौलिख रूप से सोचने के लिए हमे विवश किया है, और इस प्रकार रंग तत्वों का समावेश उनमें निश्चित ही देखा जा सकता है।

राकेश के नाटकों को रंगमंच संबंधी प्राचीन रूढियों के आधार पर देखना उचित नहीं, क्योंकि रंगमंच वहाँ नाटककार की नाटकीय कल्पना द्वारा निर्मित हुआ है। 'आषाढ का एक दिन' हो या 'लहरों का राजहंस' उन्होने दृश्यबंध प्रकाश और ध्वनि के उतार-चढ़ाव के साथ मंचसज्जा तथा लम्बे-लम्बें रंगनिर्देशों को भ महत्त्व दिया है। यू तो कोई नाटक प्रकाश तथा ध्वनि प्रभावों से किसी न किसी रूप से प्रभावित होता ही है। प राकेश ने इसके माध्यम से दर्शक दीर्घा की मानसिकता को बदलने का प्रयत्न किया है। यह सच है कि, य बदलाव केवल प्रकाश और ध्वनि से ही संभव नहीं होता प्रयुक्त शब्दों में जो अर्थशक्ति छिपी होती है औ अभिनेता जिस विशिष्ट अभिनय शक्तिद्वारा अपने संवादों को प्रस्तुत करता है, यह अधिक प्रभावशाली होत है। फिर भी मंच की दृष्टि से प्रकाश और ध्वनि प्रभाव अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। राकेश के रंगनिर्देश कहीं कुछ लंबे हो गये हैं, पर हर कोई जानता है कि जब कोई नई वस्तु की प्रतिष्ठा की जाती है तो कुछ संकेत, निर्देश (कम-अधिक प्रमाण में) दिये जाते हैं। यह बात और है कि निर्देशकीय लंबी टिप्पणियों की सराहना नहीं क जा सकती क्योंकि नाट्यवस्तु को, उसके समग्रप्रभाव को, रंगमंच पर कैसे प्रभावित, जाय, यह एक निर्देशक

भलिभाँति जानता है। यही कारण है कि निर्देशक की स्वतंत्रता पर अधिक बंधन नहीं लगाये जा सकते। साथ ही यह भी हमे स्वीकार करना होगा कि उनके रंगनिर्देश, निर्देशक की सुविधा भी बन जाते है, सुविधा सहायक भी होते है, तथा नाटक का सजीव बिम्ब भी प्रस्तुत करते है। 'आषाढ़ का एक दिन' के प्रत्येक अंक के प्रारंभ में दिये गए वस्तुओं और पात्रों संबंधी रंग संकेत इसके प्रमाण है। 'लहरों के राजहंस' और 'आधे अधूरे' के रंगनिर्देश भी उसे मंचित करने में सहायता प्रदान करते है। उल्लेखनीय है, कि राकेश ने दृश्यविधान और मंचसज्जा के जो संकेत दिये है, वे नाटक की संवेदना से जुड़े है। इतना ही नहीं, उनके साधारण पात्र भी नाटकीय संवेदना के अंग लगते है। यहाँ तक कि मंच की कोई भी वस्तु निरर्थक नहीं लगती, बल्कि उसे मंच की एक आवश्यकता कहा जा सकता है।

राकेश का कथ्य प्रेक्षक की पीड़ा का अनुभव तो कराता ही है मानव द्वंद्व और मानव नियति का चित्र बड़ी सूक्ष्मता से अंकित कर देता है। साथ ही लेखक की अनुभूति या अनुभूति की प्रमाणिकता उनके नाटकों में बराबर देखी जा सकती हैं। यह रंगमंच को दी हुई उनकी एक अतिरिक्त देन हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' में मेघों के बदलते रंग मल्लिका के मन में एक काव्यधारा को जन्म दे देते है। उन मेघों द्वारा जो वातावरण की निर्मित होती है, वह नाटक के केन्द्र में बस जाती है और मल्लिका हो या कालिदास अथवा अंबिका हो या विलोम सबको अपने ढंग से प्रभावित करती है। तभी लगता है कि राकेश वास्तव में 'रंगमंच के कलाकार' हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' हो या 'लहरों के राजहंस' इन दोनों नाटकों में उनकी अनुभूति उभरकर आयी है। जबकि आधे-अधूरे में यह त्रासद वातावरण को लिए हुए है। 'लहरों के राजहंस' में प्रारंभ से ही कामोत्सव के आयोजन का चित्रण हुआ है। दूसरी ओर श्यामांग का प्रलाप, नेपथ्य में बौद्ध भिक्षुओं के स्वर का सुनाई देना एक ओर सुंदरी का प्रसाधन तो दूसरी ओर नंद का सिर मुंडाकर घर लौटना यह सब विशिष्ट भावों को जन्म देते हैं और दर्शक इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। अनुभूति की यह प्रधानता और संवेदना का स्पर्श यह राकेश की लेखनी की अपनी विशेषता है। जहाँ तक 'आधे अधूरे' का प्रश्न है— एक त्रासद वातावरण के साथ नाटककार की अनुभूति अपनी जीवंतता का परिचय देती है। नाटक में चाय के झूठे बर्तन, टूटे-फटे फर्नीचर, धूलभरी फाईलें आदि का चित्रण कर एक वातावरण की सृष्टि की है, जो रंगशिल्प के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। दूसरी ओर 'आषाढ़ का एक दिन' की मल्लिका और विलोम तथा अंबिका ये पात्र कुछ ऐसी विचित्रताओं के साथ उभरकर आते है, कि उनके रंग यथार्थ पर उतर आते हैं। इस प्रकार अनुभूति के साथ-साथ एक प्रतीकात्मक वातावरण की सृष्टि भी होती है।

'आषाढ का एक दिन' में काल का विस्तार अवश्य है पर मेघों का माध्यम सारे दृश्यों को एक सूत्र में बाँध देता है। 'लहरों के राजहंस' में नंद के अंतर्द्वंद्व का अनुभव दर्शक करता ही है जब कि 'उसका द्वंद्व मंच के बाहर घटित हुआ है, और मंच पर केवल उसकी रिपोर्टिगं 'आषाढ़ का एक दिन' की वस्तु में उन्मुक्त वातावरण आवश्यक था। अत; नाटककार ने उसे वैसा संस्पर्श प्रदान किया। 'लहरों के राजहंस' के विशिष्ट आयामों को देखकर लगता है कि ये 'मुक्त रंगमंच पर कही बिखर तो नहीं जायेगा। परन्तु इसके सफल मंचन ने हमारा यह भ्रम भी दूर कर दिया। यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि 'आधे अधूरे' का एक कमरा भी मुक्त रंगमंच पर सारी विविधताओं को ग्रहण करता है। उनमें शब्दतत्त्व की प्रधानता के कारण ही यह संभव हो सका है यह कहने में हमें संकोच नहीं।

यह कहा जाता है कि 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक भले ही कई नवीनताओं को लेकर आया परन्तु रूप के स्तर पर कोई क्रांतिकारी परिवर्तन वह नहीं ला सका। हमने यथास्थान कहा है कि राकेश जिस युग में जी रहे थे, वही उनके दिल और दिमाग में छा चुका था। युग की पीड़ा, संत्रास, मानसिक तनाव यह सब 'पाश्चात्य यथार्थवादी रंगमंच की देन' भी कही जाती है। पर उन्हें भारतीय रंगमंच की सीमाओं का ज्ञान था। वे रंगमंच की

दृष्टि से नवीन प्रयोग करना चाहते थे और इस दिशा में उन्हें आशातीत सफलता मिली। स्वयं उन्होंने स्वीक किया है कि— 'हिन्दी रंगमंच के लिए प्रयोग की दिशा रंगमंच के शब्द और मानवपक्ष को समृद्ध बनाने है— अर्थात न्यूनतम उपकरणों के साथ संश्लिष्ट प्रयोग कर सकने की है।[1] संभवत: यही कारण है कि उन्ह मुख्य कथा के साथ उपकथाओं की आवश्यकता महसूस नहीं की और पात्रों का जमघट भी एकत्र नहीं दिया। प्रसादयुग में एक-एक अंक के पाँच,छ:, सात-सात दृश्य हुवा करते थे। 'आषाढ का एक दिन' में अंक में एक ही दृश्य प्रस्तुत किया गया है। इसका यह अर्थ नहीं कि कार्य -व्यापार में बाधा उत्पन्न हुई हो। हमें लगता है कि न्यूनतम उपकरणों की बात उन्होंने कही ही नहीं, कृति के द्वारा निभायी भी। 'आषाढ का ए दिन' के पहले अंक में दीवारों पर शंख और कमल के जो चित्र हैं वे ही अगले अंको में हैं पर समय के उसके रंग फीके पड़ने लगे हैं गेरू के रंग की स्वाभाविकता और उसके रंग उड़ने की अनिवार्यता को राकेश मानों मनुष्य के रंग उड़ जाने की नियति से जोड़ दिया है। कालिदास और मल्लिका के जीवन की टूटन इससे अधिक प्रतीकात्मक चित्र और क्या हो सकता है? यही नहीं पश्चिमी नाट्य समीक्षकों ने जिस संघर्ष नाटक का 'प्राणतत्त्व' कहा वह संघर्ष तीनों अंको में क्रमश: उभरता ही गया है।

परिणामत: जिसे हम नाटक तनाव की संज्ञा देते हैं कहीं भी कमजोर तो नहीं बल्कि हर अंक के और अधिक बलिष्ठ होती है। बावजूद इसके यह नाटक पश्चिम के किसी 'ड्राईंग रूम में खेला जानेव नाटक नहीं है। इसका परिवेश भारतीय संस्कृति से जुड़ा एक छोटा सा ग्राम– प्रांत है। बीच में कुछ समय लिए वह अवश्य दरबारी परिवेश से जुड़ गया है, पर वहाँ भी जीवन के यथार्थ को नहीं भुलाया गया। य कारण है कि नेमिचंद्र जैन ने नाटयरूप की दृष्टि से 'आषाढ़ का एक दिन' को सुगठित 'यथार्थवादी नाट कहा है। यही नहीं उन्होने 'शायद' कहकर इसे हिन्दी का पहला 'यथार्थवादी नाटक' भी माना है। मोहन राके ने नाट्यसृजन में एक विशिष्ट ढंग अपनाया। उन्होंने इतिहास से कुछ महत्त्वपूर्ण पात्र चुने और कल्पना की चू से उसे नवीन आकाश प्रदान किया। ऐतिहासिक घटनाओं को भी उन्होने अपने कलेवर से बदल दिया। इस हुआ यह कि पात्र तो अतीत से जुड़ गए पर वे पात्र आधुनिक जीवन के संत्रास और संघर्ष की जिंदगी जी थे। अत: युगीन समस्याओं और द्वंद्वपूर्ण मानसिकताओं के वे शिकार बने। यही कारण है की उनके ऐतिहासि पात्रों ने जो अपने पूर्वकाल में जिया था वह वर्तमान काल में राकेश की कलम के कारण पूरी तरह से बदलव सामने आया। यूं तो उनके तीनों नाटक 'आषाढ का एक दिन' 'लहरों के राजहंस' और 'आधे अधूरे' अर महत्वपूर्ण हैं और कमोबेश समकालीन संदर्भों से जुड़े हैं। यह हिन्दी नाटक के क्षेत्र की अपने आप में प उपलब्धि है।

संवाद सौष्ठव—शब्द की शक्ति के संबध में काव्यशास्त्रियोंने बहुत कुछ रखा है। इसीलिए इस अधिक कहने की आवश्यकता नही। पर इतना अवश्य होगा कि सार्थक शब्द ही विशिष्ट भाषा को जन्म देते और उसी भाषा से संवादों का सृजन हैं। वे संवाद नाट्यस्थिति के अनुरूप यदि नहीं लिखे गए तो निष्प्राण ज पड़ते हैं। इसीलिए संवादों की नाट्यस्थिति, नाटयदृश्य और उसे विशिष्ट अर्थ का ध्यान रखकर प्रस्तुत कर होता है। ये संवाद विशिष्ट साँचे में ढलकर एक नवीन अर्थ प्रदान करते हैं। अधूरे वाक्य या अधूरे संवाद नाटकीय वातावरण के संबध में कुछ कह जाते हैं। ('आषाढ का एक दिन' में मल्लिका के संवाद लम्बे अवश्य हैं पर वे भावनाओं से पूर्ण हैं। उसमें एक विशिष्ट व्यक्तित्व की छाप दिखायी देती है। जबकि अंबिका वाक्यों में शुष्कता है, संवाद भी सपाट हैं, पर सब परिस्थितिजन्य हैं।

नाट्यशिल्प—कोई भी संवेदनशील कलाकार अपने युग और युगीन परम्परा से हटकर लिख न सकता। समकालीन गतिविधियों का प्रभाव इसपर पड़ता ही है। समकालीन घटनाओं, गतिविधियों की सफल को रचना में वाणी देने का अर्थ यह नहीं कि अपने समकालीन साहित्य का अनुकरण करें, अपितु इसका अ

यह है कि समकालीन साहित्यिकों की उपलब्धियों से प्रेरित होकर जीवन के यथार्थ को अपनी रचना का विषय बनाएं। मोहन राकेश स्वंय बहुत अध्ययनशील थे। पिता की साहित्यिक रूचि एवं तत्कालीन साहित्यिकों से वे काफी प्रभावित थे, अत: उनका साहित्य 'कोरी कल्पना' नहीं अपितु उनका 'भोगा-हुवा यथार्थ' है। उन्होने स्वंय लिखा भी है कि— 'एक कलाकार के लिए केवल दूसरे की लगन और निष्ठा अनुकरणीय हो सकती है, दूसरों की उपलब्धियाँ प्रेरणा दे सकती हैं, परन्तु किसी दूसरे की उपलब्धियाँ लिए अनुकरणीय हो इससे बड़ी हीनता की बात उसके लिए क्या हो सकती हैं।[1] यों कोई भी रचना अपने आप नहीं बनती उसके लिए कोई न कोई प्रेरणा अवश्य होती है। मानसशास्त्र की दृष्टि से प्रयत्न-प्रमाद के सिद्धांत के अनुसार व्यक्ति प्रेरित होकर कुछ अध्ययन करता है और फिर सृजन होता है। किसी से प्रेरणा पाकर हम अपने समय की हर गतिविधी को वाणी दे सकते हैं। अनुकरण से वह अपनी प्रभावशाली नहीं हो सकती। इसीलिए हर कलाकार को सजग रह, अपने परिवेश को उजागर करने की क्षमता रखनी चाहिए।

साहित्य का सृजन बीते के कल और आनेवाले कल बीच 'आज' के चित्रण का आधार होता है। लेखक ने लिखा भी है कि—'आज से संबद्ध होने का केवल एक ही अर्थ है और वह है आनेवाले कल की दिशा में देखते हुए आज की दहलीज छोड़ने का प्रयत्न। इसी से आज के जीवन की सर्जनात्मक संभावनाओं को पहचाना और समझा जा सकता है। अन्यथा जितने बड़े अंतराल का अनुभव आज होता है, आने वाले कल का अंतराल उससे और बड़ा होगा और यह बढ़ती हुई खाई धीरे-धीरे आज की पीढ़ी को सर्जनात्मक के तर्क से ही बिलकुल अलग देगी। आज से संबद्ध होने का अर्थ परंपरा से हटकर लिखना नहीं, या परंपरा को त्याग देना भी नहीं होता। परंपरा से तो संर्जनशील कलाकार प्रेरित होकर लिखता है, भले ही वह विरोध करे-पर यही उसकी शक्ति होती है। मोहन राकेश ने स्वीकार किया कि— 'हर नया आंदोलन परंपरा से विद्रोह करके भी वास्तव में उसका विकास करता है। कोई साहित्यकार अपने युग की परम्परा परिवेश के प्रति तटस्थ नहीं रह सकता— 'इस तरह अलग होने के साथ-साथ सहभागी होना भी उसके लिए अनिवार्य हो जाता है, वास्तव में अपने अलगाव की रक्षा भी वह सहभागी होकर कर सकता है।

संदर्भित पुस्तकें

मोहन राकेश: आषाढ़ का एक दिन	—	प्रकाशक राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली
आधुनिक हिन्दी नाटकों में प्रयोग धर्मिता	—	डॉ० सत्यवती त्रिपाठी
मोहन राकेश: लहरों के राजहंस	—	प्रकाशक राजकमल, दिल्ली
मोहन राकेश: आधे अधूरे	—	प्रकाशक राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
मोहन राकेश का नारी संसार	—	डॉ० मीना पिपलापुरे
मोहन राकेश और उनके नाटक	—	गिरीश रस्तोगी
लहरों के राजहंस: विविध आयाम	—	डॉ० सुरेशचन्द शुक्ल
नाटककार मोहन राकेश (संवाद शिल्प)	—	मदनलाल
मोहन राकेश के नाटक	—	डॉ० द्विजराम यादव
नाटक रंगमंच और मोहन राकेश	—	डॉ० सुरेन्द्र यादव
मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक	—	डॉ० नेमिचन्द्र जैन
अपने नाटक के दायरे में मोहन राकेश	—	तिलकराज शर्मा
नाटककार मोहन राकेश	—	जीवन प्रकाश जोशी
नाटककार मोहन राकेश	—	सुन्दरलाल कथूलिया
नाटककार मोहन राकेश: कल्पना का यथार्थ	—	विष्णुकान्त शास्त्री

मोहन राकेश व्यक्तित्व और कृतित्व में उद्धृत	— डॉ० घनानन्द एम० शर्मा
विवेक के रंग में संकलित निबन्ध	— श्रीकान्त शर्मा
मोहन राकेश के नाटक: एक मूल्यांकन	— डॉ० प्रसून प्रसाद
मोहन राकेश और उनके नाटक	— डॉ गिरीश रस्तोगी
मोहन राकेश व्यक्तित्व और कृतित्व	— डॉ० सुषमा अग्रवाल
मोहन राकेश के कथा साहित्य में मानवीय संबंध	— डॉ० चमनलाल गुप्ता
नाटककार मोहन राकेश	— प्रकाश जीवन जोशी
मोहन राकेश के साहित्य का सामाजिक चित्रण	— अर्जुनदेव तड़वी
मोहन राकेश: रंगशिल्प और प्रदर्शन	— डॉ० जयदेव तनेजा
अपने नाटकों के दायरे में मोहन राकेश	— तिलकराज शर्मा
नाटककार मोहन राकेश	— सुन्दरलाल कथूरिया
आधुनिक नाटकों का मसीहा: मोहन राकेश	— डॉ० गोविन्द चातक
रंगशिल्पी: मोहन राकेश	— डॉ० नरनारायण राय
आधुनिकता और मोहन राकेश	— डॉ० उर्मिला मिश्रा

बोध प्रश्न

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न–

1. मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' और कालिदास मेघदूत में समानता तथा भिन्नता को स्पष्ट कीजिए।
2. 'साहित्य इतिहास के समय से बँधता नहीं, समय में इतिहास का विस्तार करता है।' कथन से मोहन राकेश का क्या तात्पर्य है?

लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. इतिहास एवं मिथक का समालोचनात्मक विवेचना कीजिए।
2. 'प्रसाद जी का रंगमंच के साथ सम्पर्क नहीं रहा, शायद इसलिए वे रंगमंच की सीमाओं से परिचित नहीं हो सके।' जयशंकर प्रसाद के लिए कहे गए मोहन राकेश के ये शब्द आपको किस प्रकार से प्रभावित करते हैं?
3. मोहन राकेश नाटकों को रंगमंच संबंधी प्राचीन रूढ़ियों के आधार पर क्यों नहीं देखना चाहते थे?
4. संवाद सौष्ठव की दृष्टि से 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक की समीक्षा कीजिए।
5. संवाद सौष्ठव की दृष्टि से 'आधे अधूरे' नाटक की समीक्षा कीजिए।
6. संवाद सौष्ठव की दृष्टि से 'लहरों के राजहंस' नाटक की समीक्षा कीजिए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. 'मिथ अण्ड रियेलिटि' के लेखक कौन हैं?
2. तिलकराज शर्मा ने 'आषाढ़ का एक दिन-रात' रचना का मूलाधार किस रचना को बताया है? वह रचना किस कवि की है?
3. मोहन राकेश के कौन-से नाटक में काल का विस्तार अधिक माना गया है?
4. नेमिचन्द जैन ने नाटयरूप की दृष्टि से 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक को किस प्रकार का नाटक कहा है?

इकाई

6

नाटक रचना प्रक्रिया : राकेश मोहन

संरचना

6.1. प्रस्तावना
6.2. नाट्य वस्तु और विन्यास शिल्प
6.3. चरित्र परिकल्पना और संरचना
6.4. रसानुभूति का स्वरूप
  6.4.1 शृंगार रस
  6.4.2 करूण रस
  6.4.3 रौद्र रस
  6.4.4 संवाद
  6.4.5 अभिनय
6.5. वस्तु संप्रेक्षण और रंगतंत्र पहचान
6.6. नाट्य भाषा के विविध पक्षों की पहचान
  6.6.1 संस्कृत निष्ठ शब्दावली का प्रयोग
  6.6.2 पात्रानुरूप शब्द
  6.6.3 मौन
  6.6.4 शब्देत्तर सम्प्रेषण के माध्यम
6.7. हरकत की भाषा
6.8. प्रेक्षक संदर्भ और नाट्य संरचना
6.9. नाटकीय संरचना

6.1. प्रस्तावना

मोहन राकेश की प्रथम उपलब्धि एक लेखक और चिंतन के रूप में वहाँ उभर कर आती है जहाँ वे नाटक के कथ्य को सर्वथा नवीन दृष्टि से देखते हैं। उनके दो प्रमुख नाटक ऐतिहासिक विषयों से सम्बद्ध हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' नाट्क की ऐतिहासिकता को लेकर काफी विवाद रहा। आलोचकों ने प्राय: उनसे प्रश्न पूछा कि उन्होंने युगीन कथ्य को लेकर नाटय क्यों नहीं लिखे किंतु इस सन्दर्भ में उनका कहना था कि मुझे इस बात का विचार नहीं मैंने समसामयिक विषयों के अतिरिक्त भी कुछ लिखा है। वास्तव में वस्तुएं और घटनाएं समसामयिक नहीं होती। समसामयिक तो वह दृष्टि होती है जिससे हम उन्हें देखते हैं। राकेश ने इस विचार को काफी स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि कोई चीज अपने विषय के कारण आधुनिक नहीं होती वरन् जिस ढंग से उस विषय को व्यवहृत किया जाता है उससे होती है। इस प्रकार नाटक का अर्थ ही आधुनिकता का आधार बनता है।

नाटक के ऐतिहासिक परिवेश और चिंतन को लेकर राकेश का चिंतन बिल्कुल मौलिक रहा ऐतिहासिक नाटकों में कथानक की ऐतिहासिकता और प्रामाणिकता का रचनात्मक दृष्टि से कोई अर्थ नहीं हिन्दी में ऐतिहासिक नाटकों के कथानकों की प्रामाणिकता पर आग्रह रहता है और तभी हिन्दी अधिकांशनाटक इतिहास की पाठ्य पुस्तकों का नाटकी कृत रूप लगते हैं। विभिन्न युगों मे जब भी श्रेष्ठ ऐतिहासिक नाटकों की रचना हुई हैं तब नाटककारों ने प्राचीन कथानकों को नई दृष्टि से देखा है और उनको नई अर्थ व्यंजनाएं दी हैं।

मोहन राकेश की लगभग सभी कहानियां,उपन्यास और नाटक भी इसके प्रमाण हैं कि मनुष्य और जीवन यथार्थ को उसकी सामाजिक परिस्थितियों के परिपार्श्व में परखने का आग्रह मोहन राकेश में बराबर रहा, भले ही उनका रचना क्षेत्र व्यापक न हो। एक प्रकार की आयडियालॉजी राकेश की प्रारम्भिक कहानियों में जरूर जिसे उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है। जीवन के बदलते मान-मूल्यों ने राकेश को व्यापक यथार्थ दृष्टि दी है राकेश के लिए साहित्य में यथार्थ कोई नया प्रकरण नहीं है वह जड़ भी नहीं है, गतिशील यथार्थ है जो बदलता रहता है समय के साथ-साथ इसलिए यथार्थ को पकड़ने के लिए अनुभव की परिधि को फैलाना भी जरूरी है कृति के लिए अनुभव की सर्वोपरि महत्ता को अज्ञेय की तरह राकेश भी मानते हैं। यथार्थ की प्रतिक्रिया से ह अनभूति पैदा होती है। राकेश में यथार्थ की परख जितनी गहरी होती गयी है उसकी रचना दृष्टि में उतनी ह अधिक प्रामाणिकता भी आती गयी है। यथार्थ की इस पकड़ और प्रामाणिकता के कारण क्रमश: उनकी भाष और अभिव्यक्ति में भी एक परिवर्तन आता गया है। 'आषाढ़ का एक दिन' से लेकर 'छतरिया' तक यह रचना दृष्टि स्पष्ट लक्षित होती है।

उन्होंने धीरे-धीरे यथार्थ के चित्रण या परिस्थितियों के चित्रण के आधार पर केवल बाह्य परिवेश और वातावरण को ही मूर्त नहीं करना चाहा बल्कि उस समाज या व्यवस्था में रहने वाले व्यक्ति के संघर्ष को, घुटन को उसके निरन्तर बदलते जाते दृष्टिकोण को अधिक चित्रित किया। उनके सभी नाटक बल्कि पूरा साहित्य इसी अन्तर्निहित यथार्थ का सांकेतिक चित्र प्रस्तुत करता है। राकेश के सारे कथा साहित्य और नाटकों में प्रथम चीज है अनुभव जिसका विस्तार होता गया है। राकेश को भी सूक्ष्म अनुभूतियों, संवेदानाओं का साहित्यकार कहना उचित होगा। समकालीन जीवन के स्वर उनके साहित्य में सुने जा सकते हैं राकेश के साहित्य को गहराई से पहचानने के लिए संभव है कि हम उसकी रचनादृष्टि को समझे। अनुभव और अन्तर्निहित यथार्थ उनके लिए जितना मुख्य है। रचनात्मक दृष्टि से कलात्मक या रूपाकात्मक प्रयोग उतने ही गौण हैं। दूसरी बात यह है कि कला, शिल्प, अभिव्यक्ति को वह अनुभूति से नहीं मानते। प्रसाद ने माना है कि अनुभूति अगर सुन्दर होगी तो अभिव्यक्ति सुन्दर होगी।

राकेश के नाटकों में परिवेश इस दृष्टि से सक्रिय हैं कि आज के युग में व्यक्ति के ऊपर सामूहिक परिवेश का बहुत बड़ा दबाव है। समूह, संगठन, व्यवस्था सब व्यक्ति पर हावी हैं जिससे उसकी वैयक्तिकता के लिए खतरा उठ खड़ा हुआ है। राकेश के नाटक समूह की इसी भूमिका के विरूद्ध व्यक्ति को स्थापित करते हैं पर व्यक्ति परिवेश के नीचे दबा लगता है लहरों के राजहंस में नंद और सुंदरी समूह की शक्ति को महसूस करते हैं जब कोई भी अतिथि कामोत्सव में उपस्थित नहीं होता। 'आषाढ़ का एक दिन' ग्रामीण समाज का सारा सत्व कालिदास के विरुद्ध है और उज्जयिनी में जाकर तो परिवेश ही उसकी विनाशकारी स्थिति का कारण बनता है। व्यक्ति और समाज का ही नहीं, व्यक्ति का निजी सम्बन्ध भी एक परिवेश का निर्माण करता है। आधे-अधूरे में यही परिवेश अधिक मुखर है जो व्यक्ति के कार्य-कलाप को नियंत्रित करता है।

6.2. नाट्य वस्तु और विन्यास शिल्प

स्वातन्त्र्योत्तर नाट्य सृजन के संदर्भ में राकेश मोहन के नाटकों का इस दृष्टि दिशा के परिपेक्ष्य में मूल्य विशेष है। वस्तु संघटन, चरित्र चित्रण, कथोपकथन और समग्रत: शिल्प विघटन तथा रचना कौशल के प्रतिमान

सर्वथा पुराने नहीं हैं। इनके तंत्र में विज्ञान-मनोविज्ञान की एक संतुलित दृष्टि है। अत: ये नाटक दर्शक के दिल को मनोरंजन की जितनी मिठास देते हैं। उसके दिमागों को रिफ्रेश करने का उतना टानिक भी देते हैं।

राकेश के नाटकों की कथावस्तु क्रमश: कवि कालिदास और अश्वघोष की ऐतिहासिक काल्पनिक कथावस्तु की ध्वनि के साथ अभिजात्य अभिव्यक्ति के एक रेशमी धागे से जुड़ी है। किन्तु वस्तुत: तो यह कल्पना पर आधारित है। आधिकारिक कथावस्तु के केन्द्र कोण पहले नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' में तो कवि कालिदास-मल्लिका हैं। दूसरे नाटक 'लहरों के राजहंस' बुद्ध का सौतेला भाई नंद है। यहाँ अगर बुद्ध को कथावस्तु का बीज मान लिया जाए तो नंद उसका पूरा वृक्ष कहा जायेगा। अस्तु कथावस्तु के विकास की अवस्थाएँ कम अधिक यहाँ उन आयामों का अतिक्रमण तो नहीं करती जिनकी पूर्वी पश्चिमी दृष्टि से शास्त्रीय चर्चा पहले की जा चुकी है पर वास्तविकता यह है कि यहाँ नाटककार किसी परिपाटी को पकड़कर नहीं चला है। कोई परिपाटी उसे जबरन घेर ही ले तो क्या कहा जा सकता है। पर इन दोनों नाटकों का अन्त इस परिपाटी के 'फलागम' का भी साफ अतिक्रमण कर गया है। इसमें भी एक नवीनता है।

इन नाटकों के घटनास्थाल का एक मुख्य केन्द्र होता है। यहाँ काल की असंगति नहीं, वातावरण में विशृंखल तत्त्व भी नहीं। परिणामस्वरूप मूल कथा के प्रभाव में कहीं कमजोरी नहीं अनुभव होती। मूल कथा से इतर अन्य अवांतर अथवा प्रासंगिक अथवा अप्रत्याशित घटनावस्तु जो परिमाण में ज्यादा नहीं है उसकी गति में सहायक बनती है। सूत्र रूप में इन नाटकों के कथानक का समूचा घटनाचक्र दृश्यांकन का एक जीवंत प्रभाव लिए है। इन नाटकों की कथावस्तु यद्यपि रुमानी और भावुकतापूर्ण है मगर इस कमजोरी पर अभिनय का साफल्य हावी बना रहा है। अत: यहाँ नाटकीय दुर्बलता का दोष प्राय: नहीं लगाया जा सकता।

मोहन राकेश के नाटकों में कार्य-व्यापार के स्थान पर नाट्य स्थितियाँ और उनसे जाग्रत संवेदनाएं मुख्य हो जाती हैं। यही जीवन का सत्य भी है। जीवन स्वयं स्थितियों और संवेदनाओं का आकलन है। मोहन राकेश के नाटकों में ये स्थितियां ही अपनी शृंखलाबद्धता में कथानक बन जाती है और इन्हीं से चरित्र उभरते हैं। वस्तुत: उनका कथानक चरित्रों से, उनके क्रिया-कलाप के बीच से जन्म लेता है और चरित्र कथानक को एक विशिष्ट ढ़ांचा प्रदान करते हैं फलत: कथावस्तु और चरित्र का रूप धारण कर लेता है। स्थितियां कथावस्तु और चरित्र दोनों को परस्पर जोड़ती हैं।

वस्तु-विन्यास, नाट्य व्यापार तथा नाटकीय तनाव का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। नाट्य व्यापार ही वस्तु का उद्घाटन करता है तथा नाटकीय तनाव उसे गति देता है यदि बारीकी से देखा जाए तो नाट्य व्यापार और तनाव ही वस्तु को विन्यस्त करता है इस दृष्टि से यदि लहरों के राजहंस नाटक की परीक्षा की जाए तो पहले अंक में वस्तु का विन्यास बड़ी तीव्र गति से होता है। 'लहरों के राजहंस' के पहले और नये संस्करण में अनेक स्थलों पर मोहन राकेश ने महत्वपूर्ण परिवर्तन किए हैं। शब्दों को जहाँ अधिक बोधगम्य बनाने की ओर झुकाव है तो वाक्य संरचना में परिवर्तन लाकर इसे अधिक नाटकीय रूप देने की प्रवृत्ति भी स्पष्ट परिलक्षित होती है।

गौतम बुद्ध का नन्द के द्वार पर भिक्षा मांगना एक आह्वान है; एक पुकार है। गौतम बुद्ध की पुकार सुनने के पश्चात् नन्द जो कि सुन्दरी का दर्पण है; धुंधला जाता है और विभाजित हो जाता है। नंद के हाथ से दर्पण टूट जाने और गिर जाने का नाट्य व्यापार बहुत सार्थक और गहरा अर्थ देने वाला है।

'लहरों के राजहंस' के समस्त नाट्य-व्यापार सुंदरी के निरूपण में घटित होने के कारण सुंदरी के मानसिक विखण्डन का निरूपण बहुत प्रभावपूर्ण ढ़ंग से हुआ है। किन्तु नंद की मानसिकता की पूरी अभिव्यक्ति अनेक नाट्य युक्तियों के बावजूद भी नहीं हो सकी। देखा जाए तो श्यामांग की सृष्टि ही नंद के अन्तर्मन की संकुलता को व्यक्त करने के लिए हुई है। यह प्रतीक पात्र सुरेख अवस्थी को जीवंत नहीं लगता

किन्तु जिस उद्देश्य से इस पात्र की रचना की गई है उसमें वह कहाँ तक सफल है इसे आंकने की भी आवश्यकता है। पूरी नाट्य संरचना में श्यामांग के प्रति सुंदरी का व्यवहार नंद के अन्तर्मन के एक पक्ष विशे के प्रति उसके दृष्टिकोण को व्यक्त करता है।

नंद, सुंदरी और श्यामांग के बाद अलका की सृष्टि भी नाटकीय व्यापार को एक सुनिश्चित धरातल दे के लिए हुई है। मोहन राकेश वैषम्य द्वारा अपने पात्रों के व्यक्तित्व की रेखाओं को अधिक स्पष्ट और गहरा करने में विश्वास करते हैं। श्वेतांग, मैत्रेय तथा आनंद भिक्षु नाट्य व्यापार के अनुरूप वस्तु विकास की दिशा में एक निश्चित प्रयोजन के लिए निर्मित पात्र हैं तो अपनी-भूमिका पर नाटक को गति देता है। मदिरा प्रकोष्ठ एवं शृंगार प्रकोष्ठ से सम्बन्धित नाट्य्-व्यापार भोगवादी प्रवृत्ति और आसक्ति के भाव को व्यक्त करने लगते हैं।

'आधे-अधूरे' नाटक शिल्प के धरातल पर भी इसे सही मायने में आधुनिक नाटक कहा जा सकता है कथावस्तु एवं चरित्र चित्रण की शास्त्रीय मान्यताओं पर इसने प्रश्न-चिन्ह लगाया है कहा गया है कि सीधे-सीधे कथ्य का यह नाटक जिस गति से खुलता है उसी गति से बढ़ता हुआ उसी पर समाप्त हो जाता है नाटक में कहीं कसाव, तनाव या उठान नहीं आता। न ही एक ताल, एक लय पर चलते हुए नाटक के कार्य-व्यापार का अंदाज ही बदलता है वस्तुत: कथानक की प्रचलित धारणा की समीक्षा की जाए तो यह कहना उपयुक्त ही है इसमें कसाव, विकास और उठान नहीं है किन्तु इस नाटक का रचना-विधान ही दूसरी तरह का है। इस तरह बिना नाटकीय स्थितियों के विकास और उठान के यह नाटक मध्यवर्गीय जीवन वास्तव का साक्षात्कार कराता है और प्रेक्षक को उलझाए रखता है वस्तुत: बिना कसाव और उठान के नाटक की रचना के मूल में जहाँ प्राचीन शास्त्रीय धारणाओं पर प्रश्न चिन्ह लगाने की क्षमता है वहाँ आज की विकट जीवन स्थितियों को अभिव्यक्ति देने के लिए नये नाट्य शिल्प की तलाश का भी प्रयास है।

एक अभिनेता द्वारा अनेक भूमिकाएं करने की युक्ति नाटक को मूल कथ्य का संश्लिष्ट अंग है। महेन्द्रनाथ द्वारा फाइलें झाड़ना, बिन्नी द्वारा डिब्बा न खुल पाना किन्नी का भीतर से कुण्डी बंद कर लेना इत्यादि ऐसी रंग चर्चाएं हैं जो भाव सम्प्रेषण में समर्थ है। पात्रों के कार्य-व्यापार भाव सम्प्रेषण की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। सावित्री जब जगमोहन के साथ जाने का निश्चय कर लेती है उस समय के कार्य-व्यापार सावित्री के तनाव को अभिव्यक्ति देने में समर्थ है।

'आषाढ़ का एक दिन' शिल्प के स्तर पर भारतीय और पाश्चात्य दोनों नाट्य तत्वों का उपयोग करता है उसमें द्वन्द्व भी है और सम की स्थिति भी। जिसका एक आयाम कालिदास प्रस्तुत करता है और दूसरा मल्लिका। रंगिणी-संगिणी, अनुस्वार और अनुनासिक का प्रसंग एक ओर नई पद्धति के अनुरूप विसंगति को उभारते हैं। इसी प्रकार विलोम खलनायकत्व और नायकत्व के बीच स्थित है। कालिदास नायक है पर मंच के पीछे रहता है कभी विलोम उसके समकक्ष आ जाता है मल्लिका की चारित्रिक अवधारणा एक ओर छायावादी आग्रह से परिपूर्ण है दसरी ओर उसकी जीवन दृष्टि पर अस्तित्ववादी विचारधारा का आरोप भी है। भाषा के स्तर पर भी इसमें प्रसाद की परम्परा और नवीनता का अद्भुत समावेश है।

लहरों के राजहंस 1963 में प्रकाशित हुआ किन्तु 'आषाढ़ का एक दिन' के पहले ही इसकी रचना शुरू हुई थी अपने रूपबन्ध में यह इब्सन के तीन अंकी नाटकों के समीप है और शिल्प की दृष्टि से प्रतीकवादी नाटकों की कोटि का है। अपने वर्तमान की संगति में ऐतिहासिक संदर्भ का उपयोग करने की सूझ उनमें थी। आधार ऐतिहासिक होते हुए भी इनके नाटक ऐतिहासिक हो नहीं पाये हैं।

मोहन राकेश के नाट्य शिल्प में संघर्ष विद्यमान है। नाटक में बिम्बों और प्रतीकों द्वारा पात्रों की छटपटाहट, आक्रोश, विषाक्त भावों और अव्यवस्थित जीवन का स्पष्टीकरण होता है। नाटककार ने पात्रों के

संघर्ष, टूटन और बिखराव को व्यक्त करने के लिए ध्वनि प्रकाश और संगीत का सफल प्रयोग किया है। प्रकाश और संगीत द्वारा कई स्थलों पर वातावरण में तनाव एवं घुटन मुखरित हुई है। सारांश में कहा जा सकता है कि 'आधे-अधूरे' नाटक कथ्य एवं शिल्प के धरातल पर संघर्षपूर्ण नाट्य कृति है। वस्तुजन्य नाट्य कृतियों का ताना बाना संघर्ष से गुंथित है। सावित्रि के तोतले शब्द और महेन्द्रनाथ की बड़बड़ाहट तनाव की चरम स्थिति को व्यंजित करते हैं।

6.3. चरित्र परिकल्पना और संरचना

मोहन राकेश के नाटकों के पात्रों में भी एक सूक्ष्म कलात्मक संयमन है। इनके नाटक जितने वस्तुपरक हैं उससे कहीं ज्यादा पात्र प्रधान हैं। अत: यहाँ अप्रत्याशित और अवांतर घटनाओं की बड़ी बारीक चिप्पियां भी हैं। प्रात्रों का स्वयं सम्भाषण कथा प्रसंगों को प्राय: विकसित करता है। मोहन राकेश के नाट्य तंत्र में दृश्य सम्प्रेषण तथा संवाद विधान का परस्पर दृढ़ सम्बन्ध है और कथानक को कुछ इसी तरह कहा जा सकता है जैसे रिंग रोड हो, पर चरित्र-चित्रण प्राय: भावनासंकुल तथा प्रेरित ही है।

मोहन राकेश ने अपने नाटकों में कथानकों तथा चरित्रों की अवधारणा आधुनिक जीवन दृष्टि से ली है इसलिए उनके चरित्र व्यक्ति मात्र नहीं उनकी जीवन-दृष्टि के परिचायक हैं। उदाहरण के लिए लेखक ने स्वयं बुद्ध और सुन्दरी के चरित्रों की व्याख्या करते हुए लिखा है - "कि सुन्दरी और बुद्ध दो व्यक्ति या व्यक्तित्व नहीं, दो जीवन दृष्टियों या दो 'वाइटिल फोरसिस' हैं जिनके प्रभाव से उनका मन निरन्तर आनन्दोलित रहता है।

राकेश ने अपने नाटकों के लिए द्वन्द्व प्रधान कथानकों का चुनाव किया है और यह द्वन्द्व उनके सभी नाटकों में अन्तर्द्वन्द्व के रूप में मिलता है। अपने सभी पात्रों के माध्यम से राकेश ने आज का संघर्षरत और छटपटाहट में जीता-जागता आदमी ही प्रस्तुत किया है। मोहन राकेश का पात्र सृष्टि का मुख्य आधार मानवीयता है और आधुनिक साहित्य का मुख्य स्वर है।

'लहरों के राजहंस' और 'आषाढ़ का एक दिन' के चरित्रिक अन्तर्द्वन्द्व और रंगमंचीय विधान को लेकर बहसें होती रही हैं। लेकिन भावना और संवेदना से अनुस्यूत चरित्रों के अन्तर्द्वन्द्व पर जितनी गहरी पकड़ राकेश की अपने पहले नाटक में है उसका अतिक्रमण वह न तो 'लहरों के राजहंस' में कर सके हैं और न ही 'आधे-अधूरे' में बल्कि बार-बार लगता है कि वह कालिदास के अन्तर्द्वन्द्व को ही विभिन्न सन्दर्भों में उठा रहे हैं।

'आषाढ़ का एक दिन' की चरित्र सृष्टि से सम और विषम तत्वों का समावेश है, पात्र परस्पर संघर्ष में ही आते हों ऐसी बात नहीं है। वस्तुत: चरित्र इकट्ठे नहीं हैं इसलिए अंशत: विरोधमूलक होने पर भी विरोधमूलक नहीं हैं वे कहीं न कहीं एक दूसरे के पूरक और एक दूसरे में बंटे हुए दिखाई देते हैं। इसलिए उनमें आधुनिक मानव का पर्याप्त अन्तर्विरोध है। इस अन्तर्विरोध में भी आपस में जुड़े हैं। उदाहरण के लिए अम्बिका और मल्लिका, विलोम और कालिदास, कालिदास और मातुल ऊपर से एक दूसरे के विरोधी चरित्र लगते हैं किन्तु इसके बावजूद भी कहीं न कहीं उनमें समीकरण हैं। कालिदास एक सकारात्मक चरित्र है, विलोम उसी का नकारात्मक रूप है। एक करुण और भावुक है, दूसरा यथार्थ वादी, आक्रामक और अन्तर्द्वन्द्वी को पचाए हुए। एक भोक्ता है दूसरा द्रष्टा। दोनों में संघर्ष है पर अंडरस्टेडिंग भी। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। विलोम की तुलना में दुर्बल, थका-हारा लगता है। पर इस सबके बावजूद भी कालिदास उसकी अपेक्षा संभावनाओं से परिपूर्ण है। राकेश ने ठीक ही कहा है - 'आषाढ़ का एक दिन' में पराजित, टूटा हुआ व्यक्ति कालिदास नहीं अपने में संयोजित विलोम है। वस्तुत: त्रासद और कामद तत्वों के समन्वय ने उन्होंने इन चरित्रों को अधिभौतिक आयाम प्रदान किया है।

'आषाढ़ का एक दिन' में कालिदास का जैसा भी चरित्र है वह उसकी रचनाओं में समाहित उस व्यक्तित्व से बहुत हट कर नहीं है इससे यह ध्वनि निकलती है कि थोड़ा हट कर तो है ही लेकिन इस नाटक कालिदास के सम्बन्ध में इस दृष्टि से विचार किया ही नही जाना चाहिए क्योंकि प्रसिद्ध कवि कालिदास संदर्भित होने पर एक कल्पना सृष्टि है। 'लहरों के राजहंस' की भूमिका में उसे सृजनात्मक शक्तियों का प्रती कहकर मोहन राकेश ने उसकी चरित्र सृष्टि के इसी पक्ष पर बल दिया है। मोहन राकेश ने कालिदास के साहित्य के आधार पर उनके व्यक्तित्व की पुनर्रचना की है उनके अपने शब्दों में 'आषाढ़ का एक दिन' कालिदास का जैसा भी चरित्र है वह उसकी रचनाओं से समाहित करके उसके व्यक्तित्व से बहुत हटर कर न है। इस नाटक में कालिदास अपनी ऐतिहासिकता के बावजूद मूल कथ्य का निमित्त मात्र है वह नाटक व केन्द्रीय चरित्र नहीं है।

प्रसाद की तरह राकेश ने न तो अतीत के इतिहास को ज्यों का त्यों विवरण प्रस्तुत किया है न तत्कालीन घटनाएं दोहरायी गयी हैं। न अतीत के गौरव का गान ही। राकेश ने आधुनिक मानव के द्वन्द्व और जटिलता व पकड़ना चाहा है। यह नाटक आज के यथार्थ की आधुनिकता को व्यक्त करता चलता है। जो 'आषाढ़ का ए दिन' नाटक और उसके नायक कालिदास को ऐतिहासिक नाटक और ऐतिहासिक व्यक्तित्व समझकर ही देखें वह उनकी एक नितांत भ्रामक दृष्टि होगी और उनके नाटक की आत्मा तक, मौलिकता तक पहुंचना भ मुश्किल होगा 'आषाढ़ का एक दिन' आधुनिक मानव की विवशता, उसके अन्तर्द्वन्द्व का उसकी जटिलता व नाटक है। कालिदास के माध्यम से वर्तमान स्थिति पर बल देते हुए राकेश ने यह दिखाना चाहा है कि एक सृजनशील कलाकार किस तरह व्यवस्था द्वारा कुचल और तोड़ दिया जाता है। कालिदास का अन्तर्द्वन्द्व औ टूटन आज के साहित्यकार का द्वन्द्व और पीड़ा है। राकेश ने कालिदास के माध्यम से एक साहित्यकार के इर मानसिक द्वन्द्व को सर्जनशील व्यक्तित्व और परिवेश कलाकार और राज्य की आपसी टकराहट को व्यक्त कर चाहा है। सत्य यह है कि कालिदास के चरित्र चित्रण में स्वयं राकेश की उनके अपने व्यक्तित्व की, द्वन्द्वों की शंकाओं और प्रश्नों की ही अभिव्यक्ति हुई है उस पर राकेश के निजी व्यक्तित्व की बड़ी गहरी छाप है।

राकेश के शब्दों में विलोम दुराग्रह की आक्रामक शक्तियों को संकेतित करता है। विलोम मल्लिका से उसे न चाहने पर भी उसका पीछा नहीं छोड़ता। वह काम का लोभी है। मल्लिका कालिदास से प्रेम करती है तं विलोम उन दोनों के रास्ते में रोड़ा बन कर आता है। तृतीय अंक में विलोम जाते हुए कहता है, कि मल्लिक कभी मधु की आवश्यकता पड़ जाये तो संकोच नहीं करना। अर्थात् इस जीवन की कटुता से ऊब जाओ तो मेर सहायता ले सकती हो। इस तरह विलोम दुराग्रही के प्रतीक के रूप में सामने आता है।

इसी प्रकार 'आषाढ़ का एक दिन' में अनुस्वार और अनुनासिक भी किंचित प्रतीक तत्व लिए हुए है अनुस्वार और अनुनासिक जो कालिदास के उज्जयिनी से ग्राम-प्रान्तर में आने से पहले मल्लिका के घर की ठीक-ठाक करते हैं, नौकरशाही में निहित अकर्मण्यता के प्रतीक हैं।

राकेश ने अपने नाटकों में जहाँ पुरुष पात्रों को प्रतीकात्मकता के रूप में अभिव्यक्त किया है वहाँ नारी पात्रों को भी अभिव्यक्ति दी है। नाटक की नायिका मल्लिका आज की नारी की विवशता का रूप है। उर्मिल मिश्र के अनुसार—"मल्लिका का चरित्र युगों से पीड़ित नारी का प्रतीक है।" जिसे जीवन के कड़वे अनुभव ने तोड़कर रख दिया है। वास्तव में मल्लिका रुमानियत की जीती-जागती प्रतिमा है। लोक-व्यवहार से असम्पृक्त रहकर वह वर्षों से भीगने के आनन्द में डूबी रहती है और भावना से भावना का वरण करती है वह समझती है कि मल्लिका का जीवन उसकी अपनी सम्पत्ति है वह उसे नष्ट करना चाहती है तो उस पर किसी को आलोचन करने का कोई अधिकार नहीं।

अम्बिका यथार्थ की भूमि पर जीने वाली नारी है जिसे जीवन के कटु अनुभवों, दैन्य स्थितियों तथा आवश्यकताओं ने कठोर और हृदयहीन बना दिया है। उसे भावना और भावुक व्यक्ति से गहरी वितृष्णा है। प्रथम दृश्य में जब मल्लिका आषाढ़ की प्रथम वर्षा में भीगकर कालिदास के प्रेम का संस्पर्श पाकर भावुक हो उठती है तथा लगातार बोलती जाती है अम्बिका अत्यन्त सधे हुए, अल्प शब्द ही बोलती है। उसकी गति बिल्कुल यांत्रिक हैं वह कभी-कभी उदास हो जाती है तथा रोने लगती है।

मल्लिका ने भावना का वरण किया है पर अम्बिका को ऐसे भावना से वितृष्णा है। वह कहती है -"तुम जिसे भावना कहती हो वह केवल छलना और आत्म प्रंवचना है। यह कालिदास को बहुत गहराई से जानती है और कहती है कि मैं उससे घृणा करती हूँ। वह जानती है माँ का जीवन भावना नहीं कर्म है। अन्ततः कहा जा सकता है कि लेखक ने अम्बिका के रूप में एक ऐसे पात्र की सर्जना की है जो अपने कटु जीवनानुभूतियों के प्रकाश में यथार्थ में जीती-जागती प्रतिमा है।

प्रियंगुमंजरी कालिदास की परिणीता राजकुमारी है परन्तु कवि पर एकाधिकार चाहती है - उसके प्रेम में अधिकार भावना है जो उसके अभिजात्य वर्गीय गरिमा के अनुकूल हैं। जहाँ मल्लिका के प्रेम में उदारता तथा बलिदान की भावना है वहीं प्रियंगुमजरी का प्रेम एकाधिकार तथा कठोर यथार्थवादी भूमि पर पला है। वस्तुतः मल्लिका और प्रियंगुमजरी दो शक्तियां हैं - मल्लिका जो दूर रहकर भी कालिदास का निर्माण करती है उसके उत्थान के लिए अपने जीवन की सुख सुविधाओं को स्वाहा कर देती है दूसरी ओर प्रियंगु जो उसे काव्य से खींचकर राजनीति में स्थापित करना चाहती है इन दोनों के बीच कालिदास का व्यक्तित्व टूटने लगता है। रंगिनी-संगिनी नामक उज्जयिनी की दो शोध- कहानियों के माध्यम से नाटक ने तथाकथित अनुसंधान और उनकी प्रक्रिया का तीखा मज़ाक उड़ाया है।

'आषाढ़ का एक दिन' की भांति 'लहरों के राजहंस' के चरित्र भी अपने ऐतिहासिक बाह्य स्वरूप के बावजूद अपने जटिल मानस और संशयग्रस्त मनोविज्ञान के कारण आधुनिक हैं। नाटककार ने अतीत के इन पात्रों को आज के जीवन संदर्भों और नये सम्बन्धों में प्रस्तुत किया है।

'लहरों के राजहंस' चरित्रांकन की दृष्टि से नन्द और सुंदरी के चरित्र विशेष उल्लेखनीय हैं क्योंकि नाटककार ने इन्हें गतिशील जटिल पात्रों के रूप में चित्रित किया है। परिस्थितियों से प्रतिक्रियाकरके अपने आंतरिक चरित्र का उदघाटन करते हुए ये पात्र नरन्तर विकसित होते रहते हैं। अपनी परिणति में इनका चरित्रांकन कलात्मक और यथार्थवादी है। इस नाटक के चरित्रांकन की अन्तिम महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसके लगभग सभी चरित्र किसी बनावटी भंगिमा का सहारा लिए बिना ही केवल अपनी अपनी भाषा की अलग आन्तरिक सूक्ष्म लय के सहारे अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को स्थापित करते हैं।

'लहरों के राजहंस' में कपिलवस्तु के राजकुमार नन्द के बौद्ध भिक्षु बनने तथा उसकी पत्नी के रूप-गर्व और यौन आकर्षण की कथा है। कथानक के धरातल पर यह द्वन्द्व दो स्तरों पर चलता है - नन्द और सुन्दरी उसके केन्द्र हैं। 'लहरों के राजहंस' में नाटककार ने अन्तर्द्वन्द्व प्रधान चरित्रों की योजना द्वारा युग संदर्भ तथा सार्वकालिक द्वन्द्वग्रस्त मानवीय चेतना को परिक्षेपित करके पात्रों का प्रभावशाली चरित्रांकन किया है।

नन्द 'लहरों के राजहंस' में केन्द्रीय पुरुष पात्र हैं। वह संशयग्रस्त व्यक्ति हैं और यही संशयग्रस्तता ही वह प्रश्न चिन्ह हैं जो नाटक को सक्रिय बनाता है। नाटक में 'मृत मृग' का प्रतीक नायक की मनःस्थिति से काफी साम्य रखता है। मृग का संकेत उस व्यक्ति की ओर है जो जीवित रहने के लिए लड़ते-लड़ते थक जाता है और अपनी थकावट से मर जाता है। नन्द भी थककर मृतप्रायः हो रहा है। नाटककार के शब्दों में 'मृग का प्रकरण एक पंकेत के लिए लाया गया है। जीवित रहने के लिए संघर्ष करता हुआ भी वह अपनी ही कलान्ति से

मर जाता है। यह परिणति मृग की ही नहीं किसी की भी हो सकती है। लहरों के राजहंस में नंद का द्वन्द्व शायद कभी राकेश ने भोगा हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। नन्द भी अच्छा बाप, पति बनने और जिन्दगी कुछ कर लेने के लिए त्रिशंकु की तरह लटकता रहा। जब राकेश 'लहरों के राजहंस' लिख रहे थे तब उ दिनों एक नए प्रणय की लहरों पर तैर रहे थे। राकेश ने यह नाटक अपनी प्रेम-पात्रा जो बाद में पत्नी बनी उ को समर्पित भी किया पर सुन्दरी को अन्ततः यह मूल मंत्र थमा दिया 'मन की बात कहकर आदमी छोटा जाता है।''

नन्द का मन संशयग्रस्त है और उसके मन में अनेक प्रश्न हैं। यह संशय और द्वन्द्व राकेश के अपने नन्द का द्वन्द्व राकेश का द्वन्द्व है। अपने अन्तर्मन के अनुरूप न जी पाने और न हो पाने की थकान को नन्द अ राकेश दोनों ही जी रहे हैं। अपनी डायरी के पन्नों में एक स्थान पर राकेश ने लिखा है—''जीना चाहते हो तुम्हें जीना चाहिए। सिर्फ जीने की बात सोचते रहने का कोई अर्थ नहीं। स्पष्ट है यहाँ राकेश का जीने का अ समग्रता के साथ, सम्पूर्णता के साथ जीना है। इस प्रकार जीना जिसमें व्यक्ति का सम्पूर्ण अस्तित्व सिम जाए।'' राकेश अपने को अच्छी तरह जानता था इसलिए उसका यह कथन ही अपने बारे में ज्यादा स है—''मैं न यह हूँ, न वह हूँ।'' शायद यही बात 'लहरों के राजहंस' में नंद के मुख से निकलती है। इस रूप हो या उस रूप में मैं अपने को झुठला कर नहीं जी सकता क्योंकि मैं यह भी हूँ और वह भी इनमें से कोई ए नहीं जैसा कि तुम सब अलग-अलग विश्वास करना चाहते हो कि मैं हूँ .....। स्वयं राकेश कहते हैं — न और सुन्दरी की कथा आश्रय मात्र है क्योंकि इसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता है।

'लहरों के राजहंस' में प्रतीकात्मक पात्रों की सृष्टि की दृष्टि से श्यामांग एक उत्कृष्टरचना है। इस नाट में श्यामांग नन्द के अन्तर्मन द्वन्द्व का प्रतीक बनकर हमारे समक्ष प्रकट हुआ है - ''वह परिस्थितियों के दबा के कारण नन्द की टूटन तथा अंतर्मन की बेचैनी को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। नाटककार के शब्दों में श्यामांग एक प्रतीक चरित्र है एक तरह से वह नन्द के मन की संकुलता को ही रेखांकित करता है। श्यामांग वा सार्थक चरित्र ही नाटक की तनावग्रस्त नाटकीय संवेदना को तीव्रता से आगे बढ़ाता है।

श्यामांग का बड़बड़ाना नन्द का ऊहापोह है जो मन में उठने वाले अनेक विचारों, प्रतिक्रियाओं भावनाओ को व्यक्त करता है। नाटक में अनेक प्रतीक जैसे - ''अंधकूप और चील द्वारा नाटककार ने नन्द के अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति की है। इस तरह श्यामांग की सृष्टि प्रतीक योजना प्रभाव की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है नन्द के अन्तर्द्वन्द्व को सजीव रूप देने के लिए श्यामांग की चरित्र सृष्टि की गई है। वह एक कुण्ठित मानसिक अवस्था का प्रतीक बन गया है।

श्वेतांग आज्ञाकारी, कर्त्तव्यनिष्ठ एवं ईमानदार कर्मचारी है। वह बर्हिमुखी प्रकृति का है और कर्मठ है यह चरित्र श्यामांग के एकदम विपरीत व्यक्तित्व रखता है। श्यामांग द्वन्द्वग्रस्त है, अन्तर्मुखीय है और श्वेतांग इसके विपरीत है। स्वाभाविक चरित्र की भांति आदि से अंत तक वह अपनी भूमिका निभाता है। एक सच्चे सेवक के सभी गुण उसमें विद्यमान हैं अन्य पात्रों की तरह उसका चरित्र अस्पष्ट या अन्तर्द्वन्द्व प्रधान नाटक में श्वेतांग एक स्पष्ट और अन्तर्द्वन्द्व मुक्त पात्र है।

आनन्द भिक्षु बहुत ही कम समय के लिए मंच पर आता है। परन्तु छोटी सी भूमिका में यह पात्र अपनी सहजता, स्पष्टता, आत्मविश्वास तथा दृढ़ता के द्वारा दर्शकों को आकर्षित कर लेता है। प्रतीकात्मक रूप में आनन्द गौतम बुद्ध का प्रभाव है जो नन्द के पास भेजा जाता है। आनन्द भिक्षु नन्द का घर देखने आता है। नन्द उसे अपना घर, कक्ष और उद्यान दिखाता है - ''मैं घर देखना चाहता था नन्द ..... घर ..... कक्ष का उद्यान नहीं। तुम्हारे पास कक्ष और उद्यान सब कुछ है, घर नहीं है ... घर जिसमें तुम्हारी आत्मा को विश्राम मिल सके।'' भिक्षु आनन्द की सृष्टि नाटक में इसलिए भी हुई कि वह बतला सके कि आत्मा की शान्ति जिस घर या

स्थान की प्राप्ति के लिए होती है उसके लिए बहुत स्थिरता की आवश्यकता है। जिस प्रकार राकेश अनीता को कहते रहे कि अन्ना मुझे घर चाहिए उसी तरह आनन्द भिक्षु भी जब नन्द का उद्यान, कक्ष इत्यादि सब कुछ देख लेता है तो वह कहता है कि तुम्हारे पास घर नहीं है इस प्रकार राकेश की तरह इनके नाटकों के पात्र भी घर की तलाश में दिखाई देते हैं।

आर्य मैत्रेय को कुछ लोगों ने युग चेतना का प्रतीक माना है जो उपयुक्त नहीं लगता केवल यह कहने से कि कामोत्सव में कोई व्यक्ति नहीं आ रहा युग चेतना का प्रतीक नहीं होता। आर्य मैत्रेय एक स्पष्ट वक्ता सामन्त हैं जिसमें अपनी धारणा को व्यक्त करने की क्षमता है।

गौतम बुद्ध सूच्य पात्र है, फिर भी वह नाटक मे छाये रहते हैं। अन्य पुरुष पात्रों मे शशांक, मदारक, बीजगुप्त और नागदास है। वस्तु व कार्य की दृष्टि से इन गौण पात्रों का सृजन आवश्यक था।

'लहरों के राजहंस' में सुन्दरी का व्यक्तिव अद्वितीय है। वह नाटक की नायिका है। सुन्दरी रूपगर्विता अनन्त सौन्दर्य की स्वामिनी, आत्माभिमानी, अन्य विश्वास से युक्त, आत्मनिर्भर और आत्मविश्वास से भरपूर नारी है। सुन्दरी व्यक्ति विशेष न होकर जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करती है। उसे अपने रूपाकर्षण पर इतना गर्व है कि वह पुरुष को प्रवृत्ति मार्ग पर लाने के लिए इसे नारी का अमोघ अस्त्र मानती है। वह चाहती है कि नन्द को अपने सौन्दर्य आकर्षण से, प्रणय बन्धन में बांधे रखे। अपने रूप पर सुन्दरी को इतना गर्व है कि इसके आगे यशोधरा को हीन समझती है 'नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।' सुन्दरी के व्यक्तित्व में अभिजात्य वर्गीय गरिमा, औदात्य और औदार्य है। बार-बार उत्तेजित होने पर भी वह आक्रामक नहीं होती। वह स्वयं को संयत करने का प्रयास करती है। कामोत्सव के विफल होने पर उसका उद्वेग चरमसीमा पर पहुँच जाता हैं किन्दु रातभर में उसके समस्त मन की मैल धुल जाती है और वह नन्द से अपने कृत्य के लिए क्षमा मांगती है : - "मुझे खेद है ..... रात के अपने व्यवहार के लिए सचमुच खेद है।"

सुन्दरी की निजी परिचारिका एवं सखी के रूप में अलका मंच पर आती है। अलका के व्यक्तित्व के दो रूप हैं अलका का चरित्र सुन्दरी के व्यक्तित्व और अस्तित्व को स्पष्ट करता है। दूसरे रूप में वह नि:स्वार्थ प्रेमिका है। ज्वर ग्रसित श्यामांग की सेवा अलका रात भर करती है। इस प्रकार से अलका में सहनशीलता, संवेदनशीलता, सेवाभाव, कर्त्तव्यपरायणता, अनुराग आदि भावनाओं का समावेश हैं। अन्य स्त्री पात्रों में निहारिका है एक राज-सेविका जो कुछ ही पलों के लिए मंच पर आती हैं।

'लहरों के राजहंस' में राकेश ने प्रमुख और पूरक पात्रों के अतिरिक्त गौण पात्रों की सर्जना भी की है। नाटकीय व्यापार में इन सभी पात्रों की अपेक्षा की जा सकती हैं। 'लहरों के राजहंस' नाटक में अन्तर्द्वन्द्व प्रधान चरित्रों की नियोजना द्वारा युग संदर्भ और सार्वकालिक द्वन्द्व ग्रस्त मानवीय चेतना को परिक्षेपित करके प्रभावशाली चरित्रांकन किया हैं। राकेश ने इसमें नन्द और सुन्दरी की कथा को भी आधुनिक भाव-बोध की अभिव्यक्ति के लिए आश्रय के रूप में स्वीकार किया हैं। राकेश ने पात्रों की ऐतिहासिकता पर बल देने की बजाए आंतरिकता का प्रतिफलन युगीन संदर्भ में किया हैं।

'आधे-अधूरे' राकेश का मध्यमवर्गीय परिवार के साक्षात्कार का नाटक है। इसमें सामाजिक परिवेश और आज के कटु यथार्थ को नाटक का आधार बनाया गया है। इसमें आज के जीवन की आकांक्षाओं, प्रयत्नों आज के मनुष्य की विवशताओं को संप्रेषित किया गया हैं। नाटक के पात्रों के नाम होते हुए भी उन्हें पुरुष एक, दो तीन, चार स्त्री, बड़ी लड़की, छोटी लड़की के रूप में प्रस्तुत करना उसकी स्वत्वहीनता देकर जातिगत रूप में प्रस्तुत किया है और उनके माध्यम से मध्यमवर्गीय परिवारों की संवेदना से प्रत्यक्ष साक्षात्कार करवाया हैं।

'आधे-अधूरे' नाटक में पात्रों के नाम होते हुए भी उन्हें पुरुष एक, दो, तीन, चार के रूप में प्रस्तुत इसलि किया है क्योंकि ये राकेश का स्वयं का व्यक्तित्व है, या इसलिए उन्होंने नाटक में पात्रों के नाम नहीं दिये।

नाटक का नायक महेन्द्रनाथ बेरोज़गार निराश और असफल पति है। सम्पूर्ण नाटक में महेन्द्रनाथ पुरु एक के नाम से जाना जाता है। वह जिन्दगी में अपनी लड़ाई हार चुकने की छटपटाहट लिये है। महेन्द्र अपने घर में एक बेहद विसंगत जिन्दगी जी रहा है। अकसर वह अपना ही सामना करने से कतराता है 'यह एक ऐ सवाल है जिसका सामना करना इधर आकर मैंने छोड़ दिया है।

महेन्द्रनाथ धनोपार्जन में असमर्थ होने के कारण परिवार में महत्वहीन है। आज जीवन में असफल होद स्त्री की कमाई की रोटियाँ तोड़ने वाला, कुढ़ने वाला गृहपति की मर्यादा से वंचित, पत्नी के परिचितों या प्रेमि के आने पर चुपचाप घर से चले जाने वाला, मन की कटुता को सह पाने में असमर्थ होकर पत्नी को व्यंग्यबाण से छेदते रहने वाला महेन्द्रनाथ सदैव से ऐसा नहीं था। परन्तु अब उसे परिवार का प्रत्येक सदस्य कुछ न समझता और यदि वह समझता है तो एक रबड़ स्टैम्प भी नहीं, रबड़ का टुकड़ा। परिवार में उपेक्षा औ खिंचाव के कारण सावित्री की स्थिति भी सुखद नहीं है। वह भी एक मशीन है जो सबके लिए आ पीस-पीसकर रात को दिन और दिन को रात करती रहती है।

महेन्द्रनाथ के चरित्र का सम्यक अनुशीलन करने के उपरांत यही कहा जा सकता है कि महेन्द्रनाथ के रूप में राकेश ने आधुनिक समाज के मध्यमवर्गीय परिवार के मुखिया के रूप में एक टूटे हुए व्यक्ति क 'आधे-अधूरे' में प्रस्तुत किया है। वह सबकी भर्त्सना सहता है किंतु कुछ कह या कर नहीं पाता। अपमानि होकर घर छोड़कर भी चला जाता है किंतु अपनी चारित्रिक दुर्बलता के कारण पुन: लौट भी आता 'आधे-अधूरे' में महेन्द्रनाथ का चरित्र राकेश के समान ही दिखाई देता है। महेन्द्र भी एक आदमी है जिसक अपना घर बार है, पत्नी है, यह बात महेन्द्र को अपना कहने वालों को शुरू में ही रास नहीं आई ..... अ पहले वाला महेन्द्रनाथ नहीं रहा। वह जी-जान से कोशिश करता है कि वह बना रहे किसी तरह ... इसके लि महेन्द्रनाथ घर के अन्दर दिन-रात छटपटाता है, दीवारों पर सिर पटकता है ..... वही महेन्द्र दोस्तों के बी दब्बू सा बना हल्के हल्के मुसकराता है, घर आकर दरिन्दा बन जाता है। राकेश ने महेन्द्रनाथ के माध्यम से अपने ही जीवन के पारिवारिक विघटन, बिखराव जो उनकी वास्तविक स्थिति थी, उसे ही व्यक्त किया है।

अशोक इस नाटक में आधुनिक असंतुष्ट युवा वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। वर्तमान पीढ़ी के युवा किस तरह झांसे देकर वह अपनी कामुकता पूरी करना चाहता है। आत्मप्रशंसा भी सिंघानिया के चरित्र में मिलती है सिंघानिया के चरित्र एवं व्यक्तित्व द्वारा पुरुष के व्यंग्य विद्रूप भरे, कामुक एवं हास्यास्पद स्वरूप को रूपायित किया गया है।

जगमोहन एक ऐसे व्यक्ति के रूप में चित्रित हुआ है। जो अपनी सुविधाओं को देखकर जीना चाहता है जगमोहन सावित्री का पूर्व-प्रेमी है जिसके पास सावित्री अपने अधूरे जीवन को पूरा करने के लिए फिर से चली जाना चाहती है लेकिन जगमोहन अपनी सुविधा के अनुसार जीने को दर्शन मानकर चलने वाला व्यक्ति है इसलिए सावित्री को निराशा ही हाथ लगती है। सावित्री अपने विगत सम्बन्धों से प्राप्त अधिकार का उपयोग उसे झिड़कने के लिए करती है तो वह उसकी काट उसी आत्मीयता के अभिनय से करता है। स्त्री की उक्तियों में जितनी लपेट है पुरुष तीन की उक्तियों में उतना ही बच निकलने का कौशल है। तुम नहीं बदली बिल्कुल, उसी तरह डांटती हो आज भी, पर बात इतनी सी है इसलिए सोचा कि ....। इस संवाद से स्पष्ट है कि जगमोहन घर, दफ्तर और बाहर की प्रत्येक वस्तु में कपड़ों की तरह ही अन्तर करना और रखना जानता है। जबकि जगमोहन सावित्री कहीं अधिक व्यावहारिक व्यक्ति है। वह शिष्ट भाषी होने के साथ ही टिपटाप रहने का स्वभावी है, बड़े-बड़े लोगों तक उसकी पहुँच है, लेकिन सावित्री को जगमोहन भी आधा-अधूरा लगता है।

मोहन राकेश के अन्य नारी पात्रों के समान ही सावित्री भी दीन हीन अथवा आत्मसमर्पण करने वाली नारी न होकर अपने अहं एवं स्वाभिमान को सुरक्षित रखने वाली एवं स्वावलम्बी स्त्री है। सावित्री ऐसी नारी नहीं है जो सब कुछ नियति समझकर स्वीकृत करती जाए। वह सम्पूर्ण व्यक्तित्व की तथा सब भोगों की मांग करती है अपनी इच्छापूर्ति के लिए प्रयत्न करती है। अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए कई ऐसे लोगों से सम्पर्क करती है जिनमें कुछ विशेष हो जिसके पास बड़ी डिग्री हो धन हो तथा इंटेलेक्चुअल हो। वह बड़े-बड़े लोगों से सम्पर्क करती है ताकि घर में कुछ अच्छा हो सके—"इसलिए कि किसी तरह इस वर्ग में बढ़ता हुआ असंतोष और विद्रोह भड़क रहा है उसका सारा कारण अशोक में छिपा हुआ है। अशोक पिता की भांति बेकार है। उसका किसी भी नौकरी करने में यमन नहीं लगता। कोई मन पसंद काम कहीं मिलता ही नहीं, पूरा दिन घर से गायब रहता है। वह जानता है कि उसकी माँ अपने बॉस सिंघानियां के माध्यम से सिंघानिया की 'इमेज' उसके मानस पटल पर बनी है। वह उसे झुठला नहीं सकता 'पांच हजार तनख्वाह पाने वाला बास हुआ तो क्या? आदमी तो नहीं लगता। न बैठने का शरूर न बात करने का।

अशोक का चरित्र परस्पर विरोधी स्थितियों विसंगतियों का शिकार, मध्य एवं निम्न मध्यवर्गीय अधूरे युवक का यथार्थ प्रतिनिधि बनकर उभरा है। आज का युवक दिशाहीन होकर क्यों विद्रोह के निराधार, आधार पर विद्रोही होता जा रहा है। इसी तथ्य को नाटककार ने अशोक के चरित्र द्वारा सशक्त ढ़ंग से उभारा है। प्रकारान्तर से लड़का बाप की जिन्दगी को दोहरा रहा है। फर्क तो यह है कि बाप जिन्दगी के साथ चिपका हुआ है जबकि लड़का जड़ से ही उखड़ा हुआ है। परन्तु अब उसे परिवार का प्रत्येक सदस्य कुछ नहीं समझता औरयदि यह समझता है तो एक रबड़ स्टैंप, रबड़ भी नही रबड़ का टुकड़ा। परिवार में उपेक्षा और खिंचाव के कारण सावित्री की स्थिति भी सुखद नहीं है वह भी एक मशीन है जो सबके लिए आटा पीस पीस कर रात को दिन और दिन को रात करती रहती है।

'आधे-अधूरे' में सिंघानिया आज के उच्च अधिकारियों या सत्ताधिकारियों के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत हुआ है। इसके माध्यम से नाटककार ने पदाधिकारी अवसरवादी एवं अपने पद का दुरुपयोग करने वाले लोगों का चित्रण किया है। वह सावित्री का बॉस है और सावित्री के घर में उसका आना-जाना भी है। महेन्द्रनाथ को सिंघानिया का आना पसन्द नहीं है। इसीलिए सावित्री द्वारा उसके घर आने के कारण बताने पर महेन्द्रनाथ कह उठता है - "हाँ सिंघानिया तो लगवा ही देगा जरूर इसीलिए बेचारा आता है यहाँ चलकर महेन्द्रनाथ के इस ढंग से कहने का अर्थ वास्तव में सिंघानिया के आन्तरिक रूप को उद्‌घाटित करना है कि घर का कुछ बन सके कि मेरी अकेली के ऊपर बहुत बोझ है, इस घर का जिसे कोई और भी मेरे साथ ढोने वाला हा सके। अगर मैं कुछ खास लोगों के साथ सम्बन्ध बनाकर रखना चाहती हूँ तो अपने लिए नहीं तुम लोगों के लिए।" इस प्रकार सावित्री आधुनिक नारी की महत्वाकांक्षाओं तथा तज्जनित विसंगतियों की प्रतिमूर्ति है।

बिन्नी भी अपनी मां की तरह अस्थिर चित्तवृत्तियों तथा असुरक्षा की शिकार है। वह भी अपनीही माता की तरह पूर्णता की खोज में अर्थात् अपनी इच्छाओं की पूर्ति के उपायों में लगी रहती है। वह अपनी प्रौढ़ मां के प्रेमी मनोज के साथ घर से भाग जाती है किन्तु कुछ समय के बाद यह अनुभव करती है कि किसी अज्ञात कारण वश दोनों के बीच एक दीवार खड़ी हो गयी है दोनों एक दूसरे को अजनबी महसूस करते हैं। माँ के यह पूछने पर कि उसे किस बात की शिकायत है वह स्पष्ट कह नहीं पाती—"शादी से पहले मुझे लगता था कि मनोज को बहुत अच्छी तरह जानती हूँ पर अब आकर .... अब आकर मुझे लगने लगा है कि वह जानना बिल्कुल जानना नहीं था।" बिन्नी का व्यक्तित्व बिखराव से पूर्ण है। भावुकता उसे और तोड़ देती है—विषम परिस्थितियां उसके हृदय में कटुता के स्थान पर अवसाद की सृष्टि करती है। उसके मन में अब भी माता-पिता के प्रति आदर और स्नेह है। वह घर के प्रति लगाव महसूस करती है।

बिन्नी बारह वर्ष की है। घर के वातावरण ने उसे कटु तथा ढीठ बना दिया है। उसकी किसी को चि नहीं अत: वह भ प्रतिक्रिया स्वरूप किसी की परवाह नहीं करती। स्कल से आकर कहती है—"स्कूल में लगे तो कोई पैसा नहीं होता पास में और घर आने पर घण्टा-घण्टा दूध ही नहीं होता गरम" अभाव के क स्कूल में उसे अपमानित किया जाता है, घर के लोगों को लेकर आस-पड़ोस के लोगों से उसे तरह—तरह बातें सुननी पड़ती हैं। वह अपनी पड़ोसी सहेली से पुरुष-स्त्री के सम्बन्धें की चर्चा करती है तथा अशोक छिपायी गयी अवांछित पुस्तके पढ़ती है।

इस प्रकार 'आधे-अधूरे' का पारिवारिक यथार्थ राकेश से कहीं अधिक उनकी पत्नी अनीता का भ हुआ यथार्थ है। 'चन्द संतरें और के प्रारम्भिक पृष्ठ इसके प्रमाण हैं। ब्रजमोहन शाह का यह संकेत भी बेह होता यदि इस नाटक में मोहन राकेश के साथ अनीता का नाम भी आता क्योंकि यह नाटक उन्हीं की कहानी पर आधारित है। अनीता राकेश ने राकेशकी घरवाली और मित्रों की महफिल लगाने के जो विवरण f वे 'आधे-अधूरे' में महेन्द्रनाथ के सम्बन्ध में मिलते-जुलते हैं और सावित्री की बातों से मेल खाते हैं। दोस्तों लिए अपने को ढालने की आत्मघाती प्रवृत्ति महेन्द्रनाथ और मोहन राकेश में समान दिखती है। महेन्द्र भी प आदमी है जिसका घर-बार है महेन्द्र ने विवाह क्या किया। अब वह पहले की तरह हंसता नहीं ... महेन्द्रन घर के अन्दर दिन रात छटपटाता है। बच्चों को पीटता है बीवी के घुटने तोड़ता है .... वहीं महेन्द्र जो दोस्तों बीच दब्बु सा बना हल्के-हल्के मुस्कुराता रहता है, घर आकर दरिन्दा बन जाता है। जैसे कि राकेश का घर व्यवहार कुछ और होता था और घर से बाहर एकदम बदल जाता था। इसी को ही महेन्द्रनाथ के माध्यम व्याख्यायित किया है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि राकेश के तीनों नाटकों में युग सत्य के साथ आधुनिक जीवन और परिव की भयंकर समस्याओं का उद्घाटन किया है। उन्होंने आधुनिक जिन्दगी की, समस्याओं को करीब से उ बहुत कुछ झेल कर पहचाना है उसके बाद उसे विभिन्न आयामों में रूपायित किया है। परिवार और समाज क टूटन उनके नाटकों का मुख्य विषय है अत: कहा जा सकता है कि मोहन राकेश के नाटक आधुनिक परिवेश अनुकूल हैं।

निष्कर्षत: आषाढ का एक दिन मोहन राकेश की निजी अनुभूति है। आषाढ़ का एक दिन में कालिद का राजाश्रय लेना और उसको छोड़ देना उसी प्रकार मोहन राकेश को अनेक नौकरियां मिली और छोड़ द अनुभव से भी वो ही मानसिकता है। उस समय का नाटक एक तरफ आजीविका के लिए संघर्ष कर र युवावस्था में यौन आकर्षण की भावना है। कालिदास के द्वारा अपना लेखन और मोहन राकेश का बम्बई अभिजात वर्ग की महिला और उसका आकर्षण था लेकिन लेखन का धर्म सबसे ऊपर था। आषाढ़ का ए दिन में अम्बिका का व्यक्तित्व मोहन राकेश की मां का ही व्यक्तित्व है। मोहन राकेश की डायरी इस तथ्य द प्रकट करती है कि इनके सम्पर्क में अनेक लड़कियां आईं। उनके संसर्ग में जी हुई रोमांटिक अनुभूतियों द निरुपण ही इस नाटक में हुआ है।

लहरों के राजहंस में सौदारानन्द को आधार बनाकर नाटक लिखना में नाटक की दुविधा और संशय व ओर संकेत है। नाटक के प्रारम्भ में ही लेखक ने बहुत अच्छा प्रतीक दिया है। पुरुष मूर्ति चाहे फैलाये हुए ना मूर्ति आंखें झुकी हुई और बाहें सिमटी हुई इस ओर संकेत करती हैं कि पुरुष इस भौतिक संसार से ऊपर उठन चाहता है लेकिन सुन्दरी जो कि दिल्ली में उनके सम्पर्क में आई लड़की थी वो उसे अपनी बाहों में समेटे हुए उसे ऊपर उठने नहीं देना चाहती। यह कहानी अनीता औलक के मां-बाप की कहानी है।

मोहन राकेश ने मध्यवर्गीय विसंगतियों को बहुत नज़दीक से देखा है। कुछ विद्वानों का कहना है उस सा अनुभव घटनाओं को आधार बनाकर ही आधे-अधूरे नाटक लिखा है।

6.4. रसानुभूति का स्वरूप

रस नाट्य का अनिवार्य तत्व है विभाव अनुभाव तथा व्याभिचारी भावों के संयोग में रस की उत्पत्ति होती है। रस सम्बन्धी भरत का विवेचन व्यावहारिक ही है, शास्त्रीय कम। अभिनय का दृष्टिकोण सामने रखकर ही उनका विधान किया गया है। साधारणीकरण इत्यादि की समस्याएं बाद में उठायी गयी हैं जिसका अभिनय के व्यावहारिक पक्ष से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं।

भरत ने नाट्य के लिए आठ रस आवश्यक समझे हैं। जिनमें मुख्य चार हैं शेष रसों की उत्पत्ति इन्हीं चारों से होती है। शृंगार से हास्य की, रौद्र से करुणा की वीर से अद्‌भुत की तथा वीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती है।

6.4.1. शृंगार रस

शृंगार का वर्ण श्याम तथा देवता विष्णु माने गये हैं। रति उसका स्थायी भाव होता है। अवस्था आदि के कारण शृंगार दो प्रकार का होता है। सम्भोग और विप्रलम्भ। संभोग शृंगार, सुगन्धित अंग-राग, अलंकार प्रियजन, विषय सुन्दर भवन इत्यादि का उपभोग उपवनगमन का अनुभव श्रवण, दर्शन, क्रीड़ा और लीला इत्यादि के द्वारा उत्पन्न होता है। विप्रलम्भ शृंगार का अभिनय निर्वेद, ग्लानि, शंका, श्रम, चिन्ता, निद्रा, स्वप्न, व्याधि, उन्माद् इत्यादि अनुभावों के द्वारा होता है। शृंगार के सम्बन्ध में भरत ने पूर्ववर्ती श्लोक भी उद्‌धृत किया है - "आंखें और चेहरे की प्रसन्नता, मुस्कराहट, प्रमोद और सुन्दरता के साथ अंगों के संचालन द्वारा शृंगार का अभिनय किया जाता है।

6.4.2. करुण रस

करुण रस का वर्ण कपोल्वत होता है और इसके देवता यम होते हैं इसका स्थायी भाव शोक होता है। यह शाप क्लेश में पतित, प्रियजन के वियोग, विभव नाश, देश निर्वासन, अग्नि इत्यादि में जलकर मर जाना अथवा व्यसनों में फंस जाने इत्यादि विभावों से होता है। आंसू गिराने, विलय करने, मुख सूख जाने, विवर्णता के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए। निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, ओत्सुक्य, मोह, श्रम, भय, विषाद, ग्लानि, जड़ता, कम्पन, अश्रु और स्वर भेद इसके व्याभिचारी होते हैं।

6.4.3. रौद्र रस

रौद्र रस का वर्ण लाल होता है देवता रुद्र राक्षस दानव और उद्धत मनुष्यों के आश्रित, युद्धजन्य, क्रोध रूप, स्थायी भावात्मक रौद्र रस होता है। यह रस क्रोध, अन्नतभाषण, उपगात आदि विभावों से उत्पन्न होता है। मारना, फाड़ना, मसलना, काटना, शस्त्र उठाना, शस्त्र प्रहार, खून देना, रौद्र रस के अनुभाव है। लाल-लाल नेत्रों से भृकुटी चढ़ाना, दांतों का किटकिटाना, होठों का चबाना, गालों का फड़कना, हाथों को रगड़ना इत्यादि अनुभावों द्वारा इसका अभिनय किया जाता है।

राकेश कथावस्तु और चरित्र का ताना-बाना द्वन्द्व की विरोधी रेखाओं और रंगों से बुनते हैं। वे कथावस्तु तथा चरित्र के परस्पर विरोधी सूत्रों से अपने नाटकों का ऐसा ढांचा खड़ा करते हैं जो तनाव और द्वन्द्व की स्थितियों से आगे बढ़ता है। 'आषाढ़ का एक दिन' में एक ओर पहले-पहले मेघों से मल्लिका का भीगा-भीगा महसूस करना दूसरी ओर मल्लिका की चुप्पी और आंसू, एक ओर ग्रामीण जीवन का निरीह अस्तित्व और दूसरी ओर राजसैनिक द्वारा आहत मृगशावक एक ओर मल्लिका का भावना से भावना का वरण दूसरी ओर कालिदास का उपेक्षा भाव जैसी विरोधी स्थितियां कथापट को बुनती हैं। विरोधी रेखाओं और रंगों में कही-कहीं ऐसी निरीहता और करुणा व्यथित होती है और उनके बीच विडम्बना के इतने तीखे 'शेड' अर्थ ध्वनियां उभरती हैं।

'आषाढ़ का एक दिन' नाटक के अंक विभाजन के मूल में तनाव का उत्तरोत्तर उत्कर्ष है। तनाव नाटक आरम्भ से अन्त तक है लेकिन आरम्भ में तनाव में वह उग्रता नहीं है। जो दूसरे और तीसरे अंक में है। प अंक में जो तनाव है उसके मूल में सदिच्छा है। मल्लिका की रुमानी प्रकृति के विरुद्ध अनुभवी अम्बिका यथार्थ चेतना में मल्लिका के भले की ही कामना निहित है। इस प्रकार नाटक के पहले अंत का क्षीण सा त दूसरे अंक में भीषण प्रहार और तीसरे अंक में प्राण में परिणत हो जाता है।

इस प्रकार से नाटक में संघर्ष की मूल धाराओं के भीतर टकराहट भरी अनेक कथा-स्थितियां समायी हैं। एक कथास्थिति के साथ दूसरी कथास्थिति का सहज रूप से योग होता गया है और इस प्रकार टकराहट पक्ष बदलते रहे हैं। फिर कथा की एकसूत्रता बनी रही है। एक दो को छोड़कर सभी कथा - स्थितियां मूल व के भीतर निष्पन्न हुई हैं परिणाम यह हुआ कि कथा की अखण्डता का बोध अक्षुण्ण रहा है और साथ वैविध्य और गति का मान बना रहा है।

'आषाढ़ का एक दिन' नाटक की सफलता का मूल कारण यही नहीं कि इसमें कालिदास के माध्यम आज के सृजनशील व्यक्ति की प्रतिभा से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों को उठाया गया है या इसमें सृ प्रेरणा तथा सृजन प्रक्रिया के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। वस्तुत: इसकी लोकप्रियता का मूल क यह है कि 'आषाढ़ का एक दिन' में विविध प्रकार के पारस्परिक सम्बन्धों के माध्यम से प्रेम के अनेक रूपों सम्प्रेषित किया गया है। प्रणयानुभूति के उल्लास, उमंग और करुणा को रंगमंच पर जितनी सघनता के साथ नाटक में प्रस्तुत किया गया है अन्यत्र संभव नहीं हुआ इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि इस नाटक में क रस की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है।

'लहारों के राजहंस' में पार्थिव-अपार्थिव के द्वन्द्व को जहाँ मंच पर रखे दीपाधारों तथा सुन्दरी व जैसे प्रतीक पात्रों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। वहाँ सभी दृश्यबन्ध के मंचीय उपकरण भी इस उद्देश्य रखे गए हैं। सुंदरी के प्रकोष्ठ में मदिरा कोष्ठ और शृंगार कोष्ठ के साथ झूले की योजना पार्थिव जीवन-मू को व्यक्त करती है।

राकेश ने दाम्पत्य प्रणय एवं शृंगार का जैसा निरुपण इस नाटक में किया है, हिन्दी रंगमंच पर अ नहीं मिलता। सुन्दरी के शृंगार में नंद की तल्लीनता एक पूरी सच्चाई है किन्तु नन्द के व्यक्तित्व को अ रूपासक्ति के घेरे में बांधकर रखने वाली सुंदरी यह स्वीकार नहीं करना चाहती कि नन्द की रचनाओं का व्यापक है, उसके और भी क्षितिज हैं। गौतम बुद्ध का आह्वान उसे भौतिक तल्लीनता से छिटकाता है। सुन्दरी शृंगार में हृदय से सटाए दर्पण में जहां सुन्दरी की छाया थी। बुद्ध के आह्वान के पश्चात् वह धुंधला गई। सुं स्पष्टताया के साथ उसमें अपनी छाया नहीं देख पाती और भाई गौतम बुद्ध की दूसरी प्रकार पर मोहासक्त की तल्लीनता टूट जाती है तथा हाथ से गिरकर दर्पण भी टूट जाता है। नाटककार राकेश ने मोहासक्त नन्द मानसिकता का मंच पर परिवर्तन बहुत कुशलता से दिखाया है।

वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता के अनुसार इसमें कोई सन्देह नहीं कि बदले परिवेश में मध्य वर्ग के सामान्य अ रोजमर्रा के अभावपूर्ण जीवन और आपसी तनावपूर्ण स्थितियों के बीच में से ही 'आधे-अधूरे' नाटक ने ल लिया है।

प्रस्तुत नाटक के आरम्भ होने से पहले और समाप्त होने के बाद मानसिक तनाव और संघात दीख पड़ है। इस आलोक में वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता के विचार मान्य हैं कि तनावपूर्ण विस्फोटक स्थिति के नाटक का आर होता है। बरसों से इस नाटक के पात्र इसी स्थिति को जी रहे हैं। बरसों से महेन्द्रनाथ से अपने आपको झटक की कोशिश में लगी सावित्री अन्तत: इस घर को छोड़ने का निश्चय कर ही लेती है किन्तु इस कोशिश

उसकी असफलता और महेन्द्रनाथ का घर लौट आना तथा जीवन पर्यन्त इसी स्थिति को जीने के लिए विवश होना ही इस नाटक की त्रासदी है। इस विषाक्त वातावराण जीते हुए धीरे-धीरे झुरते जाना ही इस नाटक की नियति है। पति-पत्नी के तनाव के साथ-साथ स्वभाव में असन्तोष, विद्रोह और उच्छृंखलता नाटकीय संघर्ष को तीव्र रूप देती है।

इस नाटक में समकालीन महानगरीय मध्यवर्गीय जीवन में अनेक स्तरों पर चल रहे विविध तनावों को अभिव्यक्ति मिली है। इस नाटक में एक परिवार की कशमकश आपसी तनाव, टूटते सम्बन्धों का यथार्थवादी चित्रण किया गया है। गिरीश रस्तौगी के अनुसार 'आधे-अधूरे' में आधुनिक भारतीय मध्यवर्गीय परिवार में बिखराव और संत्रास की कहानी है।

इस नाटक के सभी पात्र 'आधे-अधूरे' हैं। पूरेपन की तलाश में वे तनावमय स्थिति में रहने को विवश हैं। गिरीश रस्तौगी का मत है कि यह नाटक आज के जीवन की मौजूदा विडम्बना की स्थिति को सामने लाता है। व्यापक दृष्टि से उसे टूटते-बिखरते, बिगड़ते, उलझते मानवीय सम्बन्धों की जटिलता का नाटक कह सकते हैं - "जहाँ हर व्यक्ति अपूर्ण और सम्पूर्णता की खोज में भटक रहा है लेकिन उस सम्पूर्णता के साथ ही उस आत्मीयता को पाना सभी के लिए मुश्किल है।

6.4.4. संवाद

'आषाढ़ का एक दिन' के संवाद भी परम्परा को ग्रहण कर उसे नया रूप देते हैं। 'प्रसाद' के नाटकों में सांस्कृतिक दीप्ति-सम्पन्न संवादों की जो परम्परा दिखलायी देती है। उसे मोहन राकेश ने इस नाटक से ग्रहण किया है किंतु उसकी भाववेगमयी गति छोड़ दी है। उसके स्थान पर घात-प्रतिघात शैली अपनाई है। इसलिए उनके संवाद दैनिक व्यवहार के अधिक निकट हैं और इसीलिए अपेक्षाकृत सहज भी है किंतु इस सहजता के साथ उसमें पैनापन और वेग बना रहा है।

गिरीश रस्तोगी के अनुसर इस नाटक के संवाद नाटकीय संवादों के सम्बन्ध में प्रचलित अवधारणा के आधार पर नहीं देखे जा सकते हैं, संवाद अभिनयात्मक हैं, संक्षिप्त हैं, चुस्त हैं या प्रवाहशील हैं बल्कि इन संवादों की सारी सुंदरता रचाव में है। इस नाटक के संवाद पात्रों के व्यक्तित्व के भिन्न स्तरों से अभिन्न रूप से जुड़े हैं, इसीलिए कहीं तेजी है, कहीं ठहराव, कहीं भावुकता है, कहीं कठोरता, कहीं द्वन्द्व तो कहीं यथार्थता का स्वर। मल्लिका के संवादों में निरन्तर समान गति, काव्यात्मकता का पुट और भावुकताभरी शब्दावली मिलेगी तो अम्बिका के संवादों में एक स्थिर सधा हुआ तीव्र स्वर और मातृ हृदय की पीड़ा से उत्पन्न कम्पन, कठोरता, वितृष्णा, व्यथा, चिंता, जड़ता का मिश्रित रूप, रंगिणी-संगिणी के संवाद उनका प्रियमुमंजरो के संवादों में अभिजात्य वर्ग के संस्कारों की शालीनता के साथ-साथ एक सी लय का उतार-चढ़ाव है। जैसा कि उसकी गतियों और एक्शन में भी। कालीदास की कोमलता, संवेदनशीलता, द्वन्द्व उसके संवादों से पूरी तरह अभिव्यक्त होता है। दूसरी तरफ विलोम जब भी बोलता है तो उसके संवादों में एक खास तरह का लहजा है समयानुकूल रंग बदलने वाली व्यावहारिक दृष्टि के अनुकूल परिवर्तन और उतार-चढ़ाव है। रुकना, झटका, तेजी से बोल जाना, ये सब उसे स्पष्ट करते हैं। कालिदास और विलोम के संवादों में दो दृष्टियों का अन्तर साफ दिखायी देता है साथ ही दोनों का एक दूसरे से सम्बन्ध भी।

कहना न होगा कि 'आषाढ़ का एक दिन' में संवादों की यह स्वाभाविकता और वैशिष्ट्य न अनायास आयी है न सायास, यह पात्रों के अन्तर्मन तक उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की आन्तरिकता तक राकेश की पहुंच का स्वाभाविक परिणाम है। यह भाषा शक्ति की पहचान और शब्दों की आन्तरिकता की खोज है और वह नाटक की मौलिकता और आत्मा में प्रवेश और रंगमंच के यथार्थ की पकड़ का सफल परिणाम है। बिना 'अन्तर्दृष्टि' के ऐसे लगाव के साथ संरचना सम्भव नहीं हो सकती है। 'आषाढ़ का एक दिन' में चाहे कोई भी

कमज़ोरी है लेकिन उसके संवाद अपनी नवीनता, विविधता और विशिष्टता में अप्रतिम हैं। इसके संवाद म चारित्रिक विशेषताओं विशिष्टताओं या कमज़ोरियों को उज़ागर नहीं करते बल्कि नाटक की गति बनाए रख है।

'लहरों के राजहंस' में नन्द और सुन्दरी के संवादों में अभिन्य की पूरी छूट दी गयी है क्योंकि संव स्थिर या केवल भाषण शैली जैसे नहीं हैं वे तो सूक्ष्म मन:स्थितियों को कहने वाले हैं। सुन्दरी अभिजात्य वर्ग दर्प को व्यक्त करने वाली टोन और लय में खास अन्दाज़ में फिर बहुत उतार-चढ़ाव में बोलती है। नन्द संवादों में टोन और लय का उतना उतार-चढ़ाव नहीं वे अधिकतर धीमी लय और एक से स्वर के हैं क्योंकि वह रूप-आकर्षण में बंधा और संशयग्रस्त हैं केवल तीसरे अंक में जहाँ उसके द्वन्द्व को चरम-सीमा त दिखाया है। वहाँ लय और स्वर में तीव्रता है। छोटे-छोटे असम्बद्ध रुके-रुके टूटते से संवाद इस नाटक ज्यादा हैं जो जटिलता को, उलझन के संकेत से व्यक्त करते हैं। ऐसे संवादों की गठन में पात्रों के मुख पर बहु से भाव, प्रश्न, स्थितियां आती चलती हैं। उदाहरणार्थ अलका के सम्बन्ध में सोचती हुई और बोलती हुई सुंद के संवाद पृ० (41) कहीं कहीं बड़ी कन्टीन्यूटी है संवादों में और वो पात्रों के स्वर का परिवर्तन में भी जैसे :

सुन्दरी : इन सबसे कहने जाने की आवश्यकता आपको क्यों हुई?

क्या आप पहले से जानते थे कि वे लोग नहीं आयेंगे?

मैत्रेय : इसका उत्तर कुमार दे सकते हैं।

सुन्दरी : तो इन सबने सन्देशा भेजा था कि ये नहीं आयेंगे?

नन्द : सबने तो नहीं ..... पर इनमें कई लोगों ने सन्देशा भेजा था।

राकेश के संवादों में द्वन्द्व की मन्द और तीव्र लय पकड़ी है। तो प्रणय के क्षणों में रोमांस की लय को भी बड़ी सफलता से छुआ है। नन्द और सुंदरी जब भी निजी क्षणों में बातचीत करते हैं तो उन संवादों में आत्मीय क्षणों की आपसी सम्बन्धों की कोमलता, भावमयता और निजीपन है। उनकी भाषा, संवाद, योजना, नाटकीय दृष्टि और रंग चेतना का ही परिणाम है।

'लहरों के राजहंस' के दूसरे अंक की शुरूआत नेपथ्य से आ रहे श्यामांग के स्वर से होती है 'कहाँ हूँ मैं? क्या हूँ मैं? इस ज्वर प्रलाप के ये प्रश्न मूलत: श्यामांग के न होकर नन्द के ही हैं क्योंकि अगले ही संवाद में नन्द कहता है कि ये स्वर मेरी चेतना पर भी पहरा दे रहे हैं।

यद्यपि इस नाटक में तनाव शिथिल और द्वन्द्व सूक्ष्म होने पर भी नाटकीय प्रभाव को अक्षुण्ण बनाए रखने में संवादों की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण रही है क्योंकि उनका प्रयोजन कहीं भी घटनाक्रम का उन्मेष मात्र नहीं रहा। अनेक स्थलों पर संवादों में चारित्रिक सूक्ष्मता की अभिव्यंजना अत्यन्त प्रभावशाली रूप में हुई है। नाटक में नन्द के प्रवेश के साथ ही उसके संवादों से उसका दुविधाग्रस्त व्यक्तित्त्व उजागर होने लगता है। जब सुन्दरी उससे पूछती है 'आप कुछ कह रहे थे' ? तो उत्तर में नन्द कहता है 'हाँ' 'नहीं' और जब पुन: सुन्दरी उससे पूछती है "आप कुछ कह रहे थे"? इसी प्रकार सुन्दरी का अहंकार उसके एक-एक शब्द से व्यक्त होता है। किंतु एक स्थान पर उसका अहम् एकदम उभर आता है जब वह आवेश में आकर मैं ... कि मैं कहने लगती है : 'आपने यह नहीं सोचा कि मैं ..... कि मैं .....।"

वीरेन्द्रराज मेंहदीरत्ता के मत में 'आधे-अधूरे' नाटक में संवादों का बढ़िया चयन और रवानगी ने कथ्य की स्वामियों की तरह चरित्र की घटनाहीनता और विकास के अभाव को अपने में समेटकर उन्हें अभिनेय बना

दिया है। इसके संवादों और भाषा की प्राय: प्रत्येक आलोचक ने प्रशंसा की है। कहने में भी संकोच नहीं कि भाषा और संवादों के कारण इसके कथ्य और इसके शिल्प की सारी दुर्बलताएं छिप जाती हैं।

6.4.5. अभिनय

मोहन राकेश ने रंगमंच के सम्बन्ध में अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किए हैं उन्होंने नाट्य कृति और रंगमंच को सही परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया है।

इससे पूर्व नाटक के साहित्यिक रूप पर विशेस बल दिया जाता रहा किन्तु राकेश ने नाटककार का सम्बन्ध रंगमंच से जोड़कर दोनों के अन्तर्सम्बन्ध पर भी महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। वे ये मानते हैं कि अब तक नाटककार अपनी रचना प्रक्रिया को मंचीकरण की प्रक्रिया से अलग रखता है तब तक कृति मंच के अनुरूप सिद्ध नहीं होगी। ऐसी स्थिति में पाण्डुलिपि की मनमानी शल्य क्रिया आवश्यक हो जाती है जो नाटककार के अहं को ठेस पहुँचाती है। इसलिए दोनों का एक धरातल पर आना अनिवार्य है यही नहीं वो इस बात को भी मानते हैं कि नाटक के मंचीकरण में नाटककार का महत्वपूर्ण योग होना चाहिए।

रंगमंच को लेकर के पिछले कुछ दशकों में जो प्रश्न उठाए गए हैं राकेश उनके प्रति कम जाकरूक नहीं थे। उदाहरण के लिए रंगमंच को दर्शक तक ले जाने या दर्शक को रंगमंच तक लाने के लिए क्या उपाय किए जाने चाहिए, प्रयोगशील रंगमंच को आर्थिक संकटों के बीच किस तरह जीवित रहना चाहिए। सर्वांग और विसंगत रंगमंच की भावी सम्भावनाएं क्या हैं। इन विषयों पर उन्होंने यत्र-तत्र स्फुट रूप में विचार किया है। राकेश की दृष्टि में हमें 'रंगमंच का विकास' मौलिक रूप से करना होगा। 'आषाढ़ का एक दिन' की भूमिका में उन्होंने इसी तथ्य पर बल देते हुए लिखा है, "हमारे देनन्दिन के जीवन के रागरंग को प्रस्तुत करने के लिए हमारे संवादों और स्पंदनों को अभिव्यक्त करने के लिए जिस रंगमंच की आवश्यकता है वो पाश्चात्य रंगमंच से कहीं भिन्न होगा। इस रंगमंच का रूप विधान नाटकीय प्रयोगों के आम्यंतर से जन्म लेगा और समर्थ अभिनेताओं और दिग्दर्शकों के हाथों उसका विकास होगा। हिन्दी रंगमंच की दिशा का निर्देश करते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा है कि, "हिन्दी भाषी प्रदेश की सांस्कृतिक पूर्तियों और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करना होगा।

हिन्दी रंगमंच को मोहन राकेश ने एक नयी दिशा प्रदान की है। अपने नाट्य प्रयोगों में राकेश बहुत सफल रहे हैं। रंगमंच की दृष्टि से होने वाली भूलों से मोहन राकेश ने बचने का पूर्ण प्रयास किया है। आषाढ़ के 'दो शब्द' के माध्यम से नाटककार ने यह स्वीकार किया है, 'हिन्दी नाटक रंगमंच की किसी विशेष परम्परा के साथ अनुस्यूत नहीं हैं। पाश्चात्य रंगमंच की उपलब्धि ही हमारे सामने है। जीवनप्रकाश जोशी मानते हैं कि मोहन राकेश मौलिक महान नाटककार न होकर अपने समय का हिन्दी में सबसे तगड़ा प्रयोगधर्मी नाटककार है। नाटक और रंगमंच की सम्भावनाओं का प्रयोग मोहन राकेश ने किया है। उनके तीनों नाटकों 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस', 'आधे-अधूरे' में यह स्पष्ट देखा जा सकता है। हिन्दी रंगमंच के आन्दोलन को विकसित करने में राकेश के नाटकों का महत्वपूर्ण स्थान है। विशेष रूप से राकेश ने अपने नाटकों के द्वारा हिन्दी नाटक को रंगभाषा देने का महत्वपूर्ण स्थान है।

अंकों एवं दृश्यों के परिवर्तन के साथ अन्य नाटककारों की भांति मोहन राकेश के नाटकों के लिए रंगमंच पर कोई विशेष परिवर्तन नहीं करना पड़ता। 'आषाढ़ का एक दिन' के तीनों अंक सामान्य परिवर्तन के साथ एक ही रंगमंच पर खेले जा सकते हैं। रंगमंच पर किसी प्रकार का विशेष आयोजन नहीं करना पड़ता। अम्बिका का घर ही सम्पूर्ण नाटक की घटनाओं का केन्द्र है। वहीं पर सारी घटनाएं घटती हैं। अन्य दृश्यों और घटनाओं की सूचना मात्र रंगमंच पर प्रस्तुत की जाती है। इसलिए असम्भव दृश्यों से बड़ी बारीकी के साथ नाटककार बच निकलता है। इससे स्पष्ट है कि मोहन राकेश को रंगमंच का विशेष ध्यान था और नाटक की सच्ची परख

रंगमंच पर ही संभव है। इस प्रकार राकेश ने अभिनव रंगमंच प्रयोगों के माध्यम से मोहन राकेश ने हिन्दी एक रंगमंच प्रदान किया है जो उसका अपना है।

मोहन राकेश ने रंगमंच में शब्द की महत्ता स्वीकार करते हैं। इस नई दिशा को संकेतित करते हुए उन्हें लिखा है- "मुझे लगता है हमारे प्रयोगशील रंगमंच की वही दिशा हो सकती है वो दिशा रंगमंच के शब्द औ मानव पक्ष को समृद्ध बनाने की है यही रंगमंच में शब्दाकार का स्थान महत्वपूर्ण हो जाता है।

नाटक साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा जनमानस को अधिक आकर्षित करने का मूल कारण र है कि नाटक की अभिनेयता सामाजिक को अपने करीब लाकर उनके हृदय पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डाली जो नाटक अभिनय की दृष्टि से जितना अधिक सफल होगा उतना ही अधिक प्रभाव सामाजिक पर पड़ेगा। इ दृष्टि से हम 'लहरों के राजहंस' को देखते हैं तो सफल सिद्ध होता है क्योंकि इसमें नन्द का जंगल में आखे करना, श्यामांग का कमल-ताल में पत्थर फैंकना, गौतम बुद्ध के पास नदी के किनारे नन्द का मुण्डित हो इत्यादि घटनाएं परोक्षरूप से घटित होती हैं। केवल उनकी सूचना रंगमंच पर संवाद या ध्वनि के माध्यम से जाती है। इस तरह दर्शक उन घटनाओं से परिचित हो जाता है। 'लहरों के राजहंस' का कथानक इतना सुगठि है कि दर्शकों को बोझिल नहीं होना पड़ता। इसके संवाद छोटे-छोटे और चुटीले होने के कारण नाटक र अभिनेयता में चार-चांद लग गया है।

इसी प्रकार सुन्दरी द्वारा अलका से उसके तथा श्यामांग के प्रेम के विषय में पूछने पर—'अलका का हे काटकर सिर झुका लेना या श्यामांग अपराध प्रसंग में नंद के पूछताझ करने पर सुन्दरी के एकदम उत्तेजित अ नाराज हो उठने पर नन्द का "पलभर चुपचाप उसे देखते रहना और फिर पास आकर उसके कन्धे पर हाथ र देना' अपने आप में एक सशक्त अभिनय है जो शब्दों की अपेक्षा अधिक नाटकीय और अभिव्यंजनापूर्ण है।

मोहन राकेश मानते हैं कि 'वास्तविक अभिनय शब्दों का नहीं, शब्दों के बीच में होता है। वाक्य के बी का रिक्त स्थान अभिकला को विस्तार देता है।

6.5. वस्तु संप्रेक्षण और रंग तंत्र पहचान

इस बात को स्वीकार करना पड़ेगा कि राकेश का हर नाटक अपने ऐतिहासिक आवरण में भी आधुनि जीवन की जटिलता, आज के मनुष्य की पीड़ा और अन्तर्द्वन्द्व को ही अभिव्यक्त करता है और अनुभव औ यथार्थ को ही मुख्य आधार मानता है। राकेश ने अनुभूति की न्यूनता औरअभिव्यक्ति की असमर्थता को क कलाकृति की असफलता का मुख्य कारण माना है। अनुभूति ही रचना का प्रवाह है। यहीं वह यह भी स्पष करते हैं कि 'एक कलाकृति के आन्तरिक गुण की पहचारन यह है कि उसमें सम्प्रेषणीयता कितनी है — व एक अनुभूति को कितनी तीव्रता और कितनी ईमानदारी के साथ सम्प्रेषित करने में समर्थ है .... मा सम्प्रेषणीयता ही कसौटी नहीं है कसौटी है मर्यादागत सम्प्रेषणीयता। नाट्य विधा के सम्बन्ध में सम्प्रेषणीयत का प्रश्न और बड़ा हो जाता है क्योंकि यह साक्षात्कार का प्रत्यक्ष माध्यम है स्पष्ट है कि राकेश ने अनुभूति क प्रमुख मानते हुए भी उसी अभिव्यक्ति को सार्थक माना है जो अपने नियंत्रण में रहकर अनुभूति को अपन तीव्रता में अनुभव कर सके, वास्तविक प्रभाव को पैदा कर सके और यही 'सम्प्रेषण अनुभूति के साथ-सा सम्प्रेषण' का भी महत्व हो जाता है।

राकेश से पहले बहुत समय तक हिन्दी नाटक समकालीन जीवानुभूति की अभिव्यक्ति का माध्यम नह बन पाया था। मोहन राकेश ने नाटक के माध्यम से आधुनिक जीवन की विकट स्थितियों तथा मानव-मन क जटिलताओं को अभिव्यक्ति दी। सही अर्थों में हिन्दी नाटकों को रंगचेतना से अनुप्राणित करने का श्रेय मोह राकेश को ही जाता है। राकेश के प्रयत्न से नाटक लेखन और रंगतंत्र का एक ऐसा सम्बन्ध बना कि जिससे

नाटक की संरचना में आमूल परिवर्तन आया तथा हिन्दी नाटक को एक नया धरातल मिला। इसलिए एक आलोचक ने मोहन राकेश को हिन्दी नाटक का मसीहा तक कह दिया है।

मोहन राकेश की विशिष्टता नाटक की रचना प्रकिया और रंग प्रस्तुतीकरण प्रक्रिया में घनिष्ठ सम्बन्ध बनाने में है। आज यह स्वीकार किया जाने लगा है कि नाटक का मूल्यांकन उसे रंगमंच से अलग करके नहीं किया जा सकता। रंगतंत्र नाटक संरचना को नियन्त्रित करता है। इसलिए किसी नाटक रचना को समझने के लिए नाटककार की मंच परिकल्पना का विश्लेषण आवश्यक है। युग विशेष की रंगशैली प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से नाटक रचना को प्रभावित करती है। नाटककार के सामने जैसा रंगमंच होगा उसी की रंग-रूढ़ियां अनजाने ही नाटक संरचना का अंग बन जाएगी। भले ही नाटककार उनका विरोध ही क्यों न करे।

लेखक की रंग चेतना ने ही इस नाट्य रूप को नियोजित किया है। कथ्य सम्प्रेषण के लिए मोहन राकेश ने रंग-उपकरणों का प्रयोग बड़ी कुशलता से किया है। दृश्य बन्ध में प्रयुक्त सज्जा के उपकरण मध्यवर्गीय प्रवृति को स्पष्ट करते हैं। शेरू में लिखा है :- "एक चीज का दूसरी चीज से रिश्ता तात्कालिक सुविधा की मांग के कारण लगभग टूट चुका है फिर भी लगता है कि यह सुविधा कई तरह की असुविधाओं के समझौता करके की गयी है, बल्कि कुछ असुविधाओं में ही सुविधा खोजने की कोशिश की गयी है। यह रंग-संकेत नाटककार की रंगचेतना का परिचय देता है।

'आषाढ़ का एक दिन' की रंगसृष्टि भी नाटकीय अवधारणा के समान ही काव्यतत्व पर आधारित है। यही राकेश 'रंगमंच का कवि' लगता है। आषाढ़ के झरते मेघ, सुखाने के लिए फैलाये हुए गीले कपड़े, अम्बिका की ठोस और मल्लिका की तरल भाव-मुद्राएं, अनुस्वार और अनुनासिक की बनावटी भंगिमाएं, ग्रामवासियों का भेला देहातीपन और राजपुरुषों के दर्पपूर्ण चेहरे और अन्ततः दीपक की लौ में डूबा सब चेहरो में मल्लिका का एक चेहरा ऐसे दृश्य बिम्ब प्रस्तुत करता है जो रंगमंच की कविता रचते हैं। राकेश ने रंगमच की यह कविता सामान्य क्रिया-व्यापारों और भावों के द्वारा भी रचकर दिखाई है। उदाहरण के लिए अम्बिका का सूप से अनाज फटकना एक ऐसा ही सहज व्यापार है जो उसकी मनोदशा को व्यक्त करता है। इसी प्रकार मल्लिका कालिदास की पाण्डुलिपियां इकटठी करती है और इस आकांक्षा से कि वह उस पर महाकाव्य लिखे और कोरे पत्रों को संजोकर रखती है किंतु कालिदास देखता है कि उन कोरे पत्रों पर आंसू, स्वेद कणों, नखों, सीलन ने समय की कविता लिख डाली है। इस प्रकार इस नाटक की सबसे बड़ी शक्ति उसके प्रतीक और बिम्ब विधान में आंकी जा सकती है।

'आषाढ़ का एक दिन' की नाटक को सफलता का श्रेय नाटककार की रंगचेतना को देना होगा। रंगतत्र के सभी उपकरणों का ऐसा सटीक प्रयोग इस रचना में हुआ है कि उसकी प्रत्येक स्तर की प्रस्तुति एक निश्चित प्रभाव छोड़ जाती है। रंग चेतना नाटक रचना का अभिन्न अंग बनकर आई है। कथ्य और रंगशिल्प के अपूर्व समीकरण द्वारा नाटक समुचित प्रभाव डालने में सफल होता है। निःसन्देह 'आधाढ़ का एक दिन' हिन्दी नाटक साहित्य में दिशा संकेत देने वाली रचना है।

'लहरों के राजहंस' नाटक में जिस खूबसूरती से रंग उपकरणों की सहायता से मूल द्वन्द्व को सम्प्रेषित करने में रंगयुक्ति का प्रयोग किया है वैसा पहले नहीं किया गया। ये दोनों दीपाधार नाटक के मूल द्वन्द्व के साथ दो मूलभूत टकराती जीवन-दृष्टियों तथा पात्रों की प्रतीकात्मकता को भी स्पष्ट करते हैं।

मोहन राकेश रंगतंत्र और रंग संकेत की गहरी पहचान को भी व्यक्त करते हैं। नन्द के लौट आने पर अलका शृंगार कोष्ठ के पास से टूटा दर्पण हटाना चाहती है किंतु हटा नहीं पाती। जब भी सुन्दरी का मन डोलने लगता है वह झूले के पास होती है या झूले पर बैठती है अथवा उसमें सो रही होती है। इसी प्रकार निर्देशक सारे

नाट्य व्यापार तथा गति संचार की योजना दृश्यबन्ध के इन उपकरणों के सन्दर्भ में करता हुआ नाटक के मूल संवेद्य को अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से सम्प्रेषित कर सकता है।

निष्कर्षत: मोहन राकेश ने भारतीयों की तत्कालीन रंगस्थिति को ध्यान में रखकर यथार्थवादी शिल्प स्वीकार किया। इन्होंने अपने नाटकों में जिस तरह के प्रयास किए। इसी प्रक्रिया ने इनके रंगशिल्प को रूप दिया। राकेश ने यथार्थवादी रंगशिल्प की सीमाओं से जूझते हुए ऐसी नाट्य भाषा की तलाश की जिससे सीमित शब्दों के द्वारा व्यापक जीवनानुभूति की अभिव्यक्ति मिल सके।

मोहन राकेश ब्रेक्थ के रंगमंच संस्कृत रंगविधान से परिचित न थे ये उनका चुनाव था कि उनके नाटक भारतीय रंगभवनों की वस्तुस्थिति के अनुरूप होंगे तभी वे नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत किए जायेंगे ओर ऐसा हुआ मोहन राकेश ने जिस तरह से अपने शिल्प को अर्जित किया। निजी अनुभवों को पात्रों के माध्यम से व्यक्त करना हिन्दी नाटकों में शुरू नहीं हुआ था। मोहन राकेश की रोमांटिक अनुभूतियाँ ही उनकी अभिव्यक्ति है मूल प्रेरणा प्रणय सम्बन्धों में रही है। राकेश ने अपने समकालीनों के नाटक देखे। उनसे बहुत कुछ अर्जित किया और कुछ को अस्वीकार किया। लक्ष्मी नारायण लाल ने उस समय ढ़ेर सारे प्रयोग किए। गिरीश कर्नाड ने भी लोकनाट्य के प्रयोग किये। मोहन राकेश की रंगभवनों की वस्तुस्थिति के प्रति जागरूकता ही इनके रंगमंच सम्बंधी चिंतन का परिणाम है।

मोहन राकेश का रंगमंच सम्बन्धी चिंतन बहुत सहज अनुभव है। आषाढ़ का एक दिन में अपेक्षाकृत अधिक कठिन शब्द हैं। लहरों के राजहंस की धारणा अलग हो गई है। सही मायनों में जो सोच विकसित हुई वह 'आधे-अधूरे' में हुई है। (अपने शब्द)

इसी प्रकार 'लहरों के राजहंस' में श्यामांग का प्रलाप रंगानुभूति को गहरा कर देता है। प्रतिभावान निदेशक और रंगकर्मियों तथा अभिनेताओं को अपने जीवन की सार्थकता का आभास देने का मौका राकेश के नाटक अवश्य देते हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' की अपेक्षा 'लहरों के राजहंस' विशिष्ट रंगानुभूति प्रदान करते हैं अपने युग की मानसिकता के बदलते तेवर को नाटकीय संदर्भों में पकड़ने का प्रयत्न राकेश ने इसमें सार्थक ढंग से किया है।

6.6. नाट्यभाषा के विविध पक्षों की पहचान

मोहन राकेश के समस्त नाट्य लेखन को बदले और निरन्तर बदलते हुए मानवीय सम्बन्धों के संदर्भ में सही नाटकीय शब्द की तलाश कहा जा सकता है। नाटक में शब्द की उचित एवं सार्थक जगह खोजने की जैसी छटपटाहट, बेचैनी और प्रयोगधर्मिता राकेश में है वैसी अन्य किसी नाटककार में नहीं है। राकेश जानते हैं कि केवल शब्द अपने आप में महत्वपूर्ण नहीं हैं। उनका आसपास के शब्दों से सम्बन्ध और सन्दर्भ ही उन्हें अर्थपूर्ण बनाता है।

लहरों के राजहंस की भाषा राकेश के अपने व्यक्ति नाटक की वस्तु, चरित्र, वातावरण तथा रंगमंचीय रुढ़ियों औरआज.के दर्शक पाठक की मानसिकता के भीतर रूप ग्रहण करती है। राकेश के ही पहले दो नाटकों और तीसरे नाटक की भाषा का अन्तर इसी सत्य को रेखांकित करता है कि राकेश ने भाषा के संदर्भ में अपने व्यक्तित्व के मुकाबले नाटक की आंतरिक अपेक्षाओं को अधिक महत्व दिया। मोहन राकेश मानते हैं कि वास्तविक अभिनय शब्दों का नहीं शब्दों के बीच में होता है।

6.6.1. संस्कृतनिष्ठ शब्दावली का प्रयोग

'आषाढ़ का एक दिन' तथा 'लहरों के राजहंस' नाटक ऐतिहासिक कथ्य पर आधारित है। गुप्तकालीन और बौद्धकालीन वातावरण के निर्माण के लिए इन नाटकों में संस्कृतनिष्ठ शब्दावली का प्रयोग किया गया है।

ऐतिहासिक वातावरण को उभारने के लिए आषाढ़ का एक दिन में 'तल्य', 'आस्तरण', 'प्रकोष्ठ' इत्यादि और 'लहरों के राजहंस' में 'आसाब', 'चन्दनलेप' इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया गया है। इस नाटक में पात्रों के नाम बौद्धकालीन हैं - मैत्रेय, अग्निवर्मा, लोहिताक्ष, शलिमित्र इत्यादि इन नाटकों की भाषा साहित्यिक होते हुए भी सुबोध है।

6.6.2. पात्रानुरूप शब्द

पात्रानुरूप शब्दों या भाषा का आशय उस पात्र के प्रदेश, वर्ग के अनुसार भाषा का प्रयोग तथा संवादों द्वारा उनके चरित्र को उभार देना मात्र नहीं है। पात्रानुसार भाषा का अभिप्राय: यह भी है कि पात्रों द्वारा प्रयुक्त शब्द उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के अनुरूप हो। मोहन राकेश के पात्रों द्वारा प्रयुक्त शब्द और संवादों की लय उनके व्यक्तित्व एवं चरित्र को स्पष्ट करती है।

'आषाढ़ का एक दिन' में आद्यान्त संवाद पात्रों के व्यक्तित्व के भिन्न स्तरों से भिन्न रूप से जुड़े हैं। जैसे मल्लिका के संवादों में उसकी भावुकता के अनुरूप काव्यात्मक शब्दावली है इसीलिए मल्लिका-"वंचित .... सहलाती मेघ रोम सीजना जैसे शब्दों का प्रयोग अधिक करती है। विलोम के संवाद उसका व्यक्तित्व उभारने के साथ-साथ कालिदास का चरित्र भी उदघाटित करते जाते हैं। प्रियंगुमंजरी की भाषा उसकी अहम्वादिता के अनुरूप है।

'लहरों के राजहंस' की भाषा पात्रों के चरित्रों की परिचायक है। एक विद्वान के अनुसार - 'अनेक स्थलों पर संवादों में चारित्रिक सूक्ष्मता की अभिव्यंजना अत्यन्त प्रभावशाली रूप में हुई है। नाटक में नन्द के प्रवेश के साथ ही उसका दुविधाग्रस्त व्यक्तित्व उजागर होने लगता है .... इसी प्रकार सुंदरी का अहंकार उसके एक-एक शब्द से व्यक्त होता है। सुंदरी का विश्वास है - 'नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है' उसे अपने सौन्दर्य पर इतना गर्व है, इसी सौन्दर्य से वह नन्द को बांधे रखना चाहती है।

6.6.3. मौन

संवादों के बीच मौन का नाटकीय उपयोग शब्दों से भी अधिक अर्थवान होता है। शब्दों के बीच की नि:शब्दता उत्सुकता बढ़ाती है। राकेश के विचार में मौन नाटकीय तनाव को वहन करने के साथ-साथ पहले तथा बाद के शब्द में सेतु का कार्य भी करता है तथा अर्थ की विभिन्न परतें खोलने वाला होता है। इन्होंने अपने नाटकों में मौन का रंगमंचीय प्रयोग किया है।

'आषाढ़ का एक दिन' में मौन पात्रों की मन: स्थितियों को समझने, उनकी वेदना को गहराने तथा तनाव को व्यक्त करने में सहायक है। प्रथम अंक में मल्लिका अम्बिका से उसकी उदासी का कारण पूछती है तब अम्बिका उसे स्थिर दृष्टि से देखती रहती है फिर आंखे नीचा करके कहती है - "अग्निमित्र आज लौट आया है। चुप रहने के बाद अग्निमित्र को लौट आने की बात कहने से आशंका होती है कि वह कोई सन्तोषजनक उत्तर लेकर नहीं आया।

'लहरों के राजहंस' में मौन भी पात्र की मन:स्थिति के परिचायक हैं। इस नाटक में नाटककार ने लम्बे मौन की योजना न करके समस्या नाटकों की तरह संवादों के मध्य 'डाट्स' द्वारा क्षणिक विराम की योजना की है। श्यामांग, नंद और सुंदरी के संवादों के मध्य 'डाट्स' की योजना द्वारा उनके द्वन्द्व, पीड़ा और उलझन को व्यक्त किया है।

'आधे-अधूरे' में भी मौन नाटकीय स्थिति के प्रभाव को गहराते हैं। तनाव की चरम परिणाम के समय नि:शब्दता की स्थिति गहरा प्रभाव छोड़ती है। सावित्री जगमोहन के साथ जाती है तत्पश्चात् कुछ क्षणों के लिए

मंच खाली रह जाता है। छोटी लड़की रोती हुई आती है - थोड़ी देर ठहरती है और रोते-रोते अन्दर चली जाती है मंच कुछ क्षण फिर खाली रह जाता है। यह सीन या जड़ता स्थिति के सूनेपन, उजड़ेपन को गहरा देती है और उसका अनुभव प्रेक्षकों को करवा देती है। छोटी लड़की अपने पास बहुत सी चीजो के न होने की शिकायत करती है - तब खामोशी फैल जाती है जिससे निम्नमध्यवर्ग की आर्थिक स्थिति के यथार्थ का एहसास हो जाता है।

6.6.4. शब्देत्तर सम्प्रेषण के माध्यम

कोई भी नाटक केवल छपे हुए पृष्ठों पर समाप्त नहीं हो जाता बल्कि वह रंगमंच पर ही सम्पूर्णता प्राप्त करता है। समस्त रंगमंचीय संयंत्र और उपकरण, दृश्यसज्जा, पात्रों की वेशभूषा, उनकी हरकतें तथा भंगिमाएं सम्प्रेषण में सहायक होती है। मोहन राकेश ने अपने नाटकों में इन शब्देत्तर-सम्प्रेषण के माध्यमों का सुनियोजित प्रयोग किया है। राकेश रंगमंच में गहरी दिलचस्पी रखते थे उनके अनुसार हिन्दी रंगमंच का विकास तभी होगा जब वह भारतीय परिवेश और रंगधर्मिता के अन्दर के रूप लेगा।

6.7. हरकत की भाषा

संवादों के साथ-साथ उनके अनुरूप कार्य-व्यापार योजना ही नाटक को वास्तविक स्वरूप देती है। पात्रों की शारीरिक क्रियाएं, मुद्राएं, भंगिमाएं भाव-सम्प्रेषण में सहायक हो सकती है। राकेश की नाट्य भाषा की पहली पहचान शब्दों और शारीरिक क्रिया का गहरा सम्बन्ध है। संवाद और कार्य-व्यापार का जैसा सुन्दर समन्वय राकेश के नाटकों में मिलता है। वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

राकेश के पात्रों की हरकतें उनके व्यक्तित्व के अनुरूप हैं। यथार्थवादी अम्बिका सदैव कार्यरत रहती है मल्लिका की भंगिमाओं से उसका चांचल्य प्रकट होता है तो सुंदरी का कार्य-व्यापार उसके रूप-गर्व एवं अहंकार को व्यक्त करते हैं। सावित्री की चाल-ढाल से उसकी खीझ, बेचैनी, घुटन व्यक्त होती है। राकेश ने पात्रों के कार्य व्यापार द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति करवायी है।

'लहरों के राजहंस' के पात्रों के कार्य-व्यापार उनके आन्तरिक भावों को सम्प्रेषित करने वाले हैं। नाटक के आरम्भ में अलका का एक बार श्यामांग को देखना फिर प्रयत्नपूर्वक सुंदरी की बात पर ध्यान केन्द्रित करना उसके श्यामांग के प्रति प्रेम-भाव को व्यक्त करता है। इसी प्रकर सुन्दरी का झूले को हिलाना उसके अनिश्चय और मानसिक हल-चल का सूचक है।

हरकत की भाषा का सबसे अधिक प्रयोग 'आधे-अधूरे' में किया गया है। नाटक के आरम्भ में पात्रों के तनाव को व्यक्त करने के लिए शब्दों की अपेक्षा शारीरिक क्रियाओं का आश्रय ही अधिक लिया है और लम्बे-लम्बे निर्देश आंगिक अभिनय के लिए दिए गए हैं। आग्रह और नाट्यान्विति से स्वतंत्र काव्यबिम्बों से मुक्ति के लिए भीषण संघर्ष करती दीखती है।

'आषाढ़ का एक दिन' का सबसे सबल पक्ष ऐसी नाट्य भाषा की खोज है जो क्लासिक नाटकों की भाषा के करीब पड़ते हुए भी आम लगने लगती है। ऐसी भाषा जो मात्र पाठ्य नहीं है वरन् उच्चारण के स्तर पर भी सहज लगती है। ऐसी भाषा जो पाठ्य और उच्चरित भाषा के व्यवधान को तोड़ती है। मोहन राकेश ने प्रसाद से ही भाषा व्यवहार के सूत्र लेकर उन्हें मांजा, चमकाया और अपने नाटकों की संवादयोजना में एक रवानी ला सकने में सक्षम हो सके।

संवादों की भाषा तो इस बात की साक्षी है कि नाटककार ने प्रसाद की भाषा के आदर्श को अपनी भाषा प्रकृति के अनुरूप बनाकर ग्रहण किया है। जिस युग की कथावस्तु इस नाटक में है उसका प्रभाव उत्पन्न करने

के लिए मोहन राकेश ने उस युग के कुछ भाषा संस्पर्श इसमें रखे हैं फिर भी भाषा की संरचना समग्रत: संस्कृत शब्दावली से आक्रांत नहीं है। तत्सम और तद्भव शब्द हिन्दी की अपनी प्रकृति के अनुसार घुले मिले हैं। कहीं-कहीं तो वाक्य रचना पर अंग्रेजी का प्रभाव भी दिखलायी दे जाता है। इस नाटक की भाषा को लक्षण व्यंजना से बहुत बल मिला है। लाक्षणिक प्रयोगों के कई रूप यहाँ देखने को मिलते हैं। प्रथम अंक में 'भूमि' और 'सूत्र' शब्दों का जो प्रतीकात्मक प्रयोग हुआ है। उसके मूल में लक्षणा शक्ति है, क्रिया प्रयोगों में भी अनेक स्थानों पर लाक्षणिक वक्रता दिखलायी देती है। लक्षणामूलक व्यंजना का चित्रात्मक प्रयोग इस नाटक में एकाधिक स्थान पर मिलता है और व्यंजना की भूमि अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है।

इस प्रकार नाट्य भाषा को स्वरूप देने से मोहनराकेश का योगदान भुलाया नहीं जा सकता। इन्होंने ही नाट्य भाषा सम्बन्धी चिंतन आरम्भ किया। आगे के नाट्य साहित्य पर इस चिंतन का गहरा प्रभाव देखा जा सकता है। हिन्दी नाटक और रंगमंच के विकास में इनके नाटकों का महत्वपूर्ण योगदान इनकी नाटय भाषा के कारा ही है। निष्कर्षत: हरकत की भाषा के प्रति सचेतता भी राकेश के नाट्य चिंतन का परिणाम है।

6.8. प्रेषक संदर्भ और नाट्य संरचना

किसी भी नाटककार को नाटक का सृजन करते समय प्रेक्षक सचेतना का ध्यान रखना पड़ता है। 'लहरों के राजहंस' नाटक में सुंदरी के सौंदर्य से सम्मोहित नंद का तत्काल बौद्ध-भिक्षु के रूप में लौटना और सुंदरी से उसके 'रूप और गर्व' और व्यक्तिगत सुख-कामना को अपने भिक्षा-पात्र में डाल देने की निर्द्वन्द्व याचना करना तथा सुंदरी का भिक्षुओं के समवेत स्वर में अन्तत: अपना स्वर भी मिला देना परिणति की दृष्टि से अतिनाटकीय ही नहीं अकलात्मक भी बना देता है। इस दृष्टि से राकेश यहाँ इतिहास की यथातथ्यता से आक्रान्त दिखाई देते हैं। नन्द और सुंदरी के चरित्रों की रूपरेखाएं यहाँ काफी स्थूल हैं और रंग अत्यन्त चरख, उनमें अपने पद-प्रतिष्ठा और व्यक्तित्व के अनुकूल मर्यादा, गरिमा और अभिजात्य का अभाव है। नंद और सुंदरी अपने व्यवहार में फिल्मी नायक और नायिका प्रतीत होने लगते हैं। इस प्रकार नाटककार को प्रेक्षकों की तरफ से सचेत रहना पड़ता है।

6.9. नाटकीय संरचना

साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक की संरचना अधिक जटिल और कठिन होती है क्योंकि नाटककार को केवल पाठक का ही नहीं, अभिनेता, रंगशाला और दर्शक का भी ध्यान रखना पड़ता है। वाल्टेयर के अनुसार नाटक की सफलता बहुत कुछ उसके विषय पर निर्भर करती है। इस दृष्टि से सुंदरी नंद और गौतम बुद्ध से रची-बुनी 'लहरों के राजहंस' की कहानी न केवल रोचक और आकर्षक है बल्कि अत्यंत नाटकीय और उत्तेजक भी है। तीन अंकों और नन्द के भवन में सुन्दरी के कक्ष के एक ही दृश्य बन्ध वाले नाटक का संरचना और शिल्प के स्तर से हिन्दी नाटकों में अपना विशिष्ट और निश्चित स्थान है क्योंकि यह नाटक एक विशेष रचना-पद्धति और शिल्प-विधान के अनुसार सुसंगठित और तर्कसंगत, रूपबंध का निर्माण करता है।

परन्तु जयदेव तनेजा के अनुसार गौतम और नंद के बीच जो कुछ भी हुआ उसकी चार बार पुनरावृत्ति नाटक की संरचना को शिथिल ही नहीं करती उस घटना के तीव्र नाटकीय प्रभाव को भी नगण्य बना देती है। तनेजा जी के विचार से एक ही बात बार-बार ठीक उसी रूप में कहलवाकर नाटककार ने भयंकर भूल की है यदि उस पूरी घटना को चारों स्थानों पर तोड़ कर अंशों में व्यक्त किया होता तो जिज्ञासा और नाटकीयता बनी रह सकती थी। इस प्रकार प्रत्येक पात्र अपने सीमित सत्य को ही प्रस्तुत करता है।

इसी प्रकार से 'लहरों के राजहंस' के श्यामांग का प्रलाप रंगानुभूति को गहरा कर देता है। प्रतिभाव निर्देशक और रंगकर्मियों तथा अभिनेताओं को अपने जीवन की सार्थकता का आभास देने का मौका राकेश ने नाटक अवश्य देते हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' की अपेक्षा 'लहरों के राजहंस' विशिष्ट रंगानुभूति प्रदान करते अपने युग की मानसिकता के बदलते तेवर को नाटकीय संदर्भों में पकड़ने का प्रयत्न राकेश ने इसमें सार्थक ढं से किया है।

निष्कर्षत: नाटक रचना के समय नाटककार जितना अपने प्रेक्षकों की उपस्थिति के सम्बन्ध में सचे होगा उतनी ही नाट्य प्रस्तुति प्रभावपूर्ण होगी। प्रेक्षकों के प्रति सचेतता नाट्य संरचना को प्रभावित करती है मोहन राकेश का नाट्य शिल्प के प्रति चिंतन ही इस सजगता का कारण था।

निष्कर्ष यह है कि नाटकों की रचना प्रक्रिया में रचनाकार को रचना में निस्संग होना पड़ता है। रचन कौशल के प्रविधान पर ही विशेष श्रम करना पड़ता है।

राकेश के नाटकों में परिवेश इस दृष्टि से सक्रिय है कि आज के युग में व्यक्ति के ऊपर सामूहिक परिवेश का बहुत बड़ा दबाव है। राकेश के नाटक समूह की इसी भूमिका के विरुद्ध व्यक्ति को स्थापित करते हैं। पर व्यक्ति परिवेश के नीचे दबा लगता है। 'लहरों के राजहंस' में नन्द और सुंदरी समूह की शक्ति को महसूस करते हैं जब कोई भी अतिथि कामोत्सव में उपस्थित नहीं होता। 'आषाढ़ का एक दिन' में ग्रामीण समाज का सारा सत्त्व कालिदास के विरूद्ध है और उज्जयिनी में जाकर तो परिवेश ही उसकी विनाशकारी स्थिति का कारण बनता है। व्यक्ति और समाज का ही नहीं, व्यक्ति का, निजी सम्बन्ध भी एक परिवेश क निर्माण करता है। 'आधे-अधूरे' में यही परिवेश अधिक मुखर है जो व्यक्ति के कार्य-कलाप को नियंत्रित करत है। इस तरह नाटक के ऐतिहासिक परिवेश और चिन्तन को लेकर राकेश का चिंतन बिल्कुल मौलिक होता है।

मोहन राकेश के सभी नाटक इसके प्रमाण हैं कि मनुष्य और जीवन यथार्थ को उसकी सामाजिक परिस्थितियों के परिपार्श्व में परखने आंकने का आग्रह मोहन राकेश में बराबर रहा। मोहन राकेश में यथार्थ की परख जितनी गहरी होती गयी है। उनकी रचना-दृष्टि में उतनी ही अधिक प्रामाणिकता भी आती गयी है। यथार्थ की एक पकड़ और प्रामाणिकता के कारण क्रमश: उनकी भाषा और अभिव्यक्ति में भी एक परिवर्तन आता गया है। 'आषाढ़ का एक दिन' से लेकर 'छतरिया' तक यह रचनादृष्टि स्पष्ट लक्षित होती है।

मोहन राकेश उन साहित्यकारों में से हैं जिन्होंने जिन्दगी को बहुत गहराई से महसूस किया है। उन्होंने एक प्रामाणिक ज़िन्दगी भोगी थी साथ ही उन्हें एक संवेदनशील और भावप्रवण हृदय भी मिला था। वैसे तो किसी भी रचनाकार के लिए रचना ही मूल लक्ष्य होती है। राकेश की दृष्टि भी रचनाकार की है। पर रचना के अन्दर ही सत्य की तलाश उनमें सर्वत्र दिखाई देती है। मोहन राकेश कहीं-कहीं अपने नाटकों में दार्शनिक मुद्रा धारण कर लेते हैं पर यह दार्शनिक मुद्रा उनकी रचना-दृष्टि की देन है।नाटकों में विचार भी हैं और अनुभूति भी पर अलग-अलग तत्वों के रूप में नहीं। दोनों का समन्वय उनकी रचना-प्रक्रिया का महत्वपूर्ण अंग है।

वस्तुत: मोहन राकेश ने नाट्य लेखन और चिंतन के नए आयाम खोजे हैं। यद्यपि इनसे पूर्व उपेन्द्रनाथ अश्क, जगदीश चन्द्र माथुर आदि नाटककारों ने भी नाटक और रंगानुभूति का समन्वय किया तथा नाटक के लिए रंगजागरूकता पर विशेष बल दिया है किन्तु मोहन राकेश के नाटक रंग परम्परा से पूर्णत: अनुस्यूत हैं और उनका नाट्य चिंतन भी रंगमंच की चेतना से पूर्णत: अनुप्राणित है।

मोहन राकेश ने यथार्थवादी शिल्प स्वीकार किया।

संदर्भित पुस्तकें

आधुनिक हिन्दी नाटकों में प्रयोग धर्मिता — डॉ० सत्यवती त्रिपाठी

मोहन राकेश: व्यक्तित्व एवं कृतित्व — डॉ० सुषमा अग्रवाल

मोहन राकेश और उनके नाटक — गिरीश रस्तोगी

मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक — डॉ० नेमिचन्द्र जैन

आधुनिक साहित्य कोश — डॉ० चन्द्रकांत टोपीवाल

मानवीय परिभाषा कोश: साहित्य खंड — श्री राय

अपने नाटक के दायरे में मोहन राकेश — तिलकराज शर्मा

अज्ञेय और मोहन राकेश के उपन्यासों में यथार्थ की परिकल्पना — डॉ० रॉय जोसेफ

प्रतिक्रियाएँ — डॉ० देवराज

मोहन राकेश की रंगसृष्टि — डॉ० जगदीश शर्मा

स्वातन्त्रोत्तर हिन्दी मोहन राकेश के विशेष संदर्भ में — डॉ० रीता कुमार

हिन्दी नाटक और नाटय समीक्षा — स० नरनारायण

मोहन राकेश के नाटक: एक मूल्यांकन — डॉ० प्रसून प्रसाद

मोहन राकेश और उनके नाटक — डॉ० गिरीश रस्तोगी

हिन्दी नाटक: उद्‌भव और विकास — डॉ० दशरथ ओझा

हिन्दी नाटक: सौ वर्ष का सफरनामा — डॉ० ए० अब्दुर्रशीद

आधुनिक नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन — गणेश दत्त गौड़

मोहन राकेश के कथा साहित्य में मानवीय संबंध — डॉ० चमनलाल गुप्ता

आधुनिक हिन्दी नाटक का संघर्ष तत्त्व — डॉ० सा० का० गायकवाड़

नाटककार मोहन राकेश — प्रकाश जीवन जोशी

मोहन राकेश के साहित्य का सामाजिक चित्रण — अर्जुनदेव तड़वी

मोहन राकेश के नारी संसार — डॉ० श्रीमती मीना पिपलापुरे

मोहन राकेश के नाटक: एक मूल्यांकन — डॉ० प्रसून प्रसाद

नाटक और यथार्थवाद — कमलिनी मेहत्ता

मोहन राकेश के नाटकों की समीक्षा — प्रो० राजेश शर्मा

आधुनिक नाटकों में प्रयोगधर्मिता — डॉ० सत्यवती त्रिपाठी

अपने नाटकों के दायरे में मोहन राकेश — तिलकराज शर्मा

आधुनिक नाटकों का मसीहा: मोहन राकेश — डॉ० गोविन्द चातक

रंगशिल्पी: मोहन राकेश — डॉ० नरनारायण राय

बोध प्रश्न

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न–

1. नाटय वस्तु और विन्यास शिल्प क्या है? मोहन राकेश ने अपने नाटकों में नाटय वस्तु और विन्यास शिल्प को किस प्रकार मान्यता दी है?
2. चारित्रिक परिकल्पना और संरचना की दृष्टि से मोहन राकेश के नाटकों की विस्तृत विवेचना कीजिए।
3. मोहन राकेश की नाटयभाषा के विविध पक्षों को प्रकट कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक की ऐतिहासिकता को लेकर उठे विवाद के विषय में नाटककार ने क तर्क दिया?
2. 'मोहन राकेश के नाटकों में कार्य-व्यापार के स्थान पर नाटय स्थितियाँ और उससे जाग्रत संवेदन मुख्य हो जाती हैं।' इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं?
3. 'लहरों के राजहंस' नाटक के आधार पर स्पष्ट कीजिए कि मोहन राकेश के नाटकों में कार्य-व्यापार स्थान पर नाटय स्थितियाँ और उससे जाग्रत संवेदनाएँ मुख्य हो जाती हैं।
4. 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक शिल्प के स्तर पर भारतीय और पाश्चात्य दोनों नाटय तत्वों का उपयो करता है।' इस कथ्य के समर्थन में अपने विचार प्रकट कीजिए।
5. चारित्रिक परिकल्पना और संरचना की दृष्टि से मोहन राकेश के नाटक 'लहरों के राजहंस' की विवेचन कीजिए।
6. मोहन राकेश ने अपने नाटकों में घात-प्रतिघात की शैली को अपनाया है। सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. शृंगार रस से युक्त मोहन राकेश का कौन-सा नाटक माना जाता है?
2. करुण रस से युक्त मोहन राकेश का कौन-सा नाटक माना जाता है?
3. आधे-अधूरे नाटक किस प्रकार की कहानी है?

इकाई

7

मोहन राकेश का नाट्य चिंतन

संरचना

7.1. प्रस्तावना
7.2. कहानी साहित्य
7.3. उपन्यास साहित्य
7.4. निबंध साहित्य
7.5. यात्रा विवरण, संस्मरण, डायरी और अनुवाद साहित्य
7.6. नाटक एवं एकांकी साहित्य
  7.6.1. आषाढ़ का एक दिन
  7.6.2. लहरों के राजहंस
  7.6.3. आधे-अधूरे
  7.6.4. अण्डे के छिलके, अन्य एकांकी तथा बीज नाटक
7.7. मोहन राकेश के नाटकों में जीवन सत्य
7.8. मोहन राकेश के नाटकों में अस्तित्ववादी चिंतन
7.9. मोहन राकेश के नाटकों में साहित्यिक चिंतन
  7.9.1. साहित्य और साहित्यिक चिंतन
  7.9.2. नाटक साहित्य में युग परिवेश
  7.9.3. नाटक और रंगमंच
7.10. नाटककार और रंगमंच
7.11. नाटक रचना प्रक्रिया
7.12. नाटक भाषा योजना

7.1. प्रस्तावना

"कुछ लोगों की जिन्दगी में बिखराव होता है। मैं अपने को ऐसे ही लोगों में पाता हूँ। बिखरना और बिखेरना मेरे लिए जितना स्वाभाविक है, सम्भलना और समेटना उतना ही अस्वाभाविक।"

—मोहन राकेश

मोहन राकेश के इस आत्मकथन से लगता है कि उनका जीवन बेतरतीब रहा होगा लेकिन उनके साहित्य से ऐसा आभास नहीं मिलता। इसलिए समीक्षक कहानी सार कमलेश्वर का कहना है—

"बड़ी बेतरतीब जिन्दगी है मेरे दोस्त की, पर सतह से नीचे उतरते ही एक जबरदस्त अनुशासन दिखाई पड़ता है, वह अनुशासन है दिमाग और से जन का ऊपरी जिन्दगी में वह जितना असंगठित और बिखरा हुआ

दिखाई देता है, उतना ही संगठित और व्यवस्थित है—उसके लेखन की प्रक्रिया जितनी बेतरतीबी मसल-मसलकर वह सिगरेट के टुकड़े जगह-जगह फेंकता है, उतने ही करीने से वह अपने विचार औ अनुभवों को सजाता है।''

अत: राकेश जी के भीतर का कलाकार सदा सजीव एवं सजग रहता है, इसी कारण उनका साहित्य सजीव एवं सप्राण है। एक नाटककार के रूप में उन्हे विशेष ख्याति मिली। आधुनिक नाट्य जगत में उन्हें नाट का मसीहा कहा जाता है। राकेश जी ने यद्यपि कोई नाट्य दिशा-निर्देश नहीं दिए, फिर भी यह सत्य है कि काव्य तत्वों और साहित्यिक गुणों से सम्पन्न हिन्दी नाटक को सरलतम रंगमंच तक लाने का श्रेय मोहन राके को ही दिया जाएगा। आज जो रंगमंच उपलब्ध है उस दृष्टि से मोहन राकेश का व्यक्तित्व निश्चय ही प्रसाद से बहुत आगे है, क्योंकि इनके नाटकों में कोरा बौद्धिक-विलास, कामजन्य कुण्ठाएँ और समस्याओं का चित्र नहीं है, बल्कि एक सफल रंगमंच नाटक में जो अपेक्षित सामग्री है, वह इनमें है।

लेखक के रूप में मोहन राकेश की प्रतिभा का प्रथम स्फुटन कहानी के रूप में ही संभव हो सक कहानीकारों के रूप में मोहन राकेश एक ओर प्रेमचन्द और पुराने कहानीकारों के छोर पर का सस्पर्श करते तो दूसरी ओर उन्हें नई कहानी के प्रस्तोता का महत्व भी प्राप्त है। कहानी के बाद वे उपन्यास रचना के क्षेत्र आए। उसके बाद ही उन्होंने नाटक, एकांकी नाटक और निबन्ध रचना जैसे अन्य विधात्मक साहित्यिक रू को अपनाकर एक कुशल कलाकार की चहुँमुखी प्रतिभा का परिचय दिया, यों तो उनकी लेखन (कहा लेखन) प्रतिभा का प्रस्फुटन उनके विद्यार्थी काल में ही हो चुका था, किंतु प्रकाश में वे प्राध्यापक बनने औ इसे छोड़ने आदि के बाद ही आ सके। जैसा कि ऊपर व्यक्त किया जा चुका है, कहानी के अतिरिक्त राकेश उपन्यास, नाटक, एकांकी निबंध आदि रचे हैं, जबकि उनकी प्रतिभा का मान-नाटककार के रूप में प्रतिष्ठित हो सका।

राकेश के साहित्य पर यहाँ हम संक्षेप में विचार करेंगे।

7.2. कहानी साहित्य

मोहन राकेश 'नई कहानी' के दौर में आए। उन्होंने अपने अध्ययन काल में ही कहानी लिखना आरम्भ कर दिया था। कमलेश्वर का मानना है कि राकेश जी की सर्वप्रथम लिखित कहानी 'नन्हीं' और पहली प्रकाशि कहानी 'भिक्षु' है। इन दोनों कहानियों में राकेश जी की ज्वलन्त साहित्यिक माया के अग्नि बीज मौजूद हैं वास्तव में उनका कहानीकार के रूप में व्यक्तित्व सर्वाधिक प्रखर एवं मौलिक हैं। उन्होंने निम्नलिखि कहानी-संग्रह हिन्दी कथा-साहित्य को प्रदान किए हैं—

कहानी संग्रह	प्रकाशन वर्ष
1. इन्सान के खण्डहर	1950 ई०
2. नए बादल	1957 ई०
3. जानवर और जानवर	1958 ई०
4. एक और जिन्दगी	1961 ई०
5. फौलाद का आकाश	1966 ई०
6. आज के साए	1967 ई०
7. मेरी प्रिय कहानियाँ	1971 ई०

8. चेहरे तथा अन्य कहानियाँ 1972 ई०

9. क्वार्टर और अन्य कहानियाँ 1972 ई०

10. वारिस तथा अन्य कहानियाँ 1972 ई०

11. पहचान तथा अन्य कहानियाँ 1972 ई०

राकेश जी के प्रथम कहानी संग्रह 'इन्सान के खण्डहर' में लेखक का ध्यान अभिजात वर्ग और मध्यम वर्ग की घुटी हुई चेतना पर गया है। प्रस्तुत संग्रह की कहानियों में जहाँ शोषित और श्रमिक वर्ग के प्रति सहानुभूति है तो वहीं धनिष्ठ वर्ग के प्रति आक्रोश का उगलता हुआ लावा है। अन्य कहानी-संग्रहों में भी लेखक की इसी भावना का विकास होता गया। उपर्युक्त कहानी संग्रहों में संकलित 'मिस पाल', 'मलबे का मालिक', 'भूखे', 'क्लेम', 'जानवर और जानवर', 'परमात्मा का कुत्ता', 'सुहागिन', 'एक और जिन्दगी', 'मवाली', 'फौलाद का आकाश', 'आद्रा' आदि कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में चर्चा का विषय रही हैं।

7.3. उपन्यास साहित्य

मोहन राकेश कहानीकार की भाँति ही उपन्यासकार के रूप में भी सजग और यथार्थवादी रहे हैं। सर्वप्रथम उन्होंने 'स्याह और सफेद' नामक उपन्यास था, किन्तु उसे प्रकाशित नहीं करवाया। उन्होंने निम्न उपन्यास हिन्दी जगत को दिए हैं—

1. अंधेरे बंद कमरे 1961 ई०

2. न आने वाला कल 1962 ई०

3. अन्तराल 1972 ई०

4. कांपता हुआ दरिया

5. स्याह और सफेद

6. नई एक अकेले

'अंधेरे बंद कमरे' राकेश का प्रसिद्ध एवं प्रथम उपन्यास है इसे कई दृष्टियों से उनकी प्रतिनिधि रचना भी कहा जाता है। समीक्षाओं का विचार है कि प्रस्तुत उपन्यास में उनका व्यक्तित्व अपनी अधिकांश इकाई के साथ आया है। 'न आने वाला कल' में राकेश जी ने निजी अनुभवों का काफी उपयोग किया है। 'अन्तराल' उपन्यास की कहानी भी मानवीय संबंधों की कहानी है।

7.4. निबंध साहित्य

राकेश जी ने निबंध क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा का प्रमाण दिया है। अपने निबंधों में उन्होंने अनवरत गतिशील एवं परिवर्तनशील जीवन और उसके भाव-बोध को बड़ी ही पैनी दृष्टि से पकड़ने का सफल प्रयास किया है। अपनी सर्जनाओं की भूमिका के रूप में उन्होंने कुछ आलोचनात्मक निबंध तो रचे ही हैं, इसके अतिरिक्त भी उनका निबंध साहित्य उपलब्ध है। राकेश जी के निबंध साहित्य में निम्न रचनाएं विशेष उल्लेखनीय है—

1. परिवेश

2. रंगमंच और शब्द

3. साहित्कार की समस्याएं

4. कुछ और अस्वीकार

5. नई निगाहों के सवाल : हाशिए पर अप्रकाशित

7.5. यात्रा-विवरण, संस्मरण, डायरी और अनुवाद साहित्य

अपने शैशव काल से राकेश रंगीन मिजाज के रहे हैं, वे घुमक्कड़ी प्रवृति के थे। उन्होंने अनेक यात्राओं भी की थी। यात्राओं में उन्होंने प्रकृति एवं जीवन का जिस प्रकार का अनुभव किया, उन सबका वर्णन उन यात्रा-विवरणों, संस्मरणों, डायरी और आत्मकथा के रूप में उपलब्ध है।

यात्रा-वत्त 1. आखिरी चट्टान तक

2. पतझड़ का रंगमंच

3. ऊँची झील

डायरी 1. व्यक्तिगत

2. आत्मकथा

अनुवाद 1. शाकुन्तल

2. एक औरत का चेहरा

7.6. नाटक और एकांकी साहित्य

राकेश जी आधुनिक नाटक के मसीहा हैं। उन्हें देश-दिश में सर्वाधिक प्रतिष्ठा नाटककार के रूप में ही प्राप्त हो सकी है। उनके व्यक्तित्व का सारा द्वन्द्व और उनका जागरूक चेतन नाटकों में ही सर्वाधिक प्रखरता के साथ रूपाचित हो सका।

राकेश के नाटक अधिकांशत: ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर रचे गये हैं। उपर उनका अन्तराल,उनका भाव बोध जितना ऐतिहासिक है, उससे भी कहीं अधिक आधुनिक है। 'आधे-अधूरे' तो समग्रत: आधुनिक भाव-बोध से संयत नाटक ही है, यद्यपि उसकी मूल चेतना और समस्या को हम चिरन्तन भी कह सकते है ऐतिहासिकता के संदर्भ में राकेश का अपना विचार एवं कथन विशेष उल्लेखनीय है। उनका कहना है——

"इतिहास या ऐतिहासिक व्यक्ति का आश्रय साहित्य को इतिहास नहीं बना देता। इतिहास तथ्यों क संकलन करता है, उन्हें एक समय तालिका में प्रस्तुत करता है। साहित्य का ऐसा उद्देश्य कभी नही रहा। इतिहास के रिक्त कोष्ठों की पूर्ति करना भी साहित्य का उपलबध क्षेत्र नहीं है। साहित्य इतिहास के समय में बाधा नही समय में इतिहासकार विस्तार करता है, युग से युग को अलग नहीं करता, कई-कई युगों से एक साथ जोड़ देता है। इस तरह इतिहास के 'आज' और 'कल' उसके लिए 'आज' और 'कल' नहीं रह जाते समय की असीमितत में कुछ ऐसे जुड़े हुए क्षण बन जाते हैं जो जीवन को दिशा संकेत देने की दृष्टि से अविभाज्य हैं।"

वास्तव में ये सारी बातें राकेश के अपने नाटकों में पूर्णतया चरितार्थ होती हैं। राकेश जी ने केवल तीन ही नाटक लिखे हैं।

1. आषाढ़ का एक दिन

2. लहरों के राजहंस

3. आधे-अधूरे

हमारी प्रस्तुत रचना एवं आलोचना का मुख्य विषय राकेश के 'लहरों के राजहंस' नाटक का समग्र मूल्यांकन करना ही है, पर लेखक समग्र व्यक्तित्व एवं कृतित्व की सम्पूर्ण झांकी पाने की दृष्टि में यहाँ अन्य नाटकों का संक्षिप्त आंकलन भी दिया जा रहा है -

7.6.1. आषाढ़ का एक दिन

राकेश जी का यह पहला और प्रसिद्ध, चर्चित नाटक है, चर्चा का मुख्य विषय इसमें प्रयुक्त कालिदास का चरित्र-चित्रण है। कालिदास जैसे चरित्र पर लिखना स्वयं में एक कठिन कार्य है। यहाँ नाटककार का उद्देश्य कालिदास के माध्यम से एक ऐसे सर्जव का चित्र प्रस्तुत करता है जिसके अपने द्वन्द्व होते हैं। महाकवि की कथा कहना नाटक का उद्देश्य नहीं है। एक क्रांति को प्रतीक रूप में व्याख्यायित करना राकेश का प्रमुख आशय प्रतीत होता है, इसीलिए ऐतिहासिक पात्रों के साथ यहाँ कल्पित पात्र भी हैं, जो पुराने पात्र हैं, जैसे-स्वयं कालिदास, उन्हें भी आज की पृष्ठभूमि में रखकर देखा गया है। मल्लिका के कथन से नाटक का आरम्भ होता है—"आषाढ़ का एक दिन और ऐसी वर्षा माँ-ऐसी धारासार वर्षा—दूर-दूर तक की उपत्यकाएं भीग गयीं और मैं भी तो, देखो न माँ कैसी भीग गयी हूँ।" 'आषाढ़ का एक दिन' आधुनिक संदर्भ को व्यक्त करता है। कालिदास की प्रिया मल्लिका कालिदास के चले जाने पर यातना में डूब जाती है। नाटकांत में करूण यथार्थ प्रस्तुत किया गया है।

7.6.2. लहरों के राजहंस

'लहरों के राजहंस' मोहन राकेश का दूसरा नाटक है। यहाँ नाटककार ने नंद और सुन्दरी और गौतम बुद्ध नामक ऐतिहासिक पात्रों के माध्यम से प्रवृति और निवृति मार्गों के बीच युगों-युगों से मानव की दन्द्वग्रस्त चेतना को उजागर किया है। दूसरे शब्दों में 'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास ही यहाँ नंद बनकर आया है। विरक्ति एवं पलायन का भाव-रूप यहाँ भी 'आषाढ़ का एक दिन' के समान विद्यमान है। 'लहरों के राजहंस' का अत्यन्त संक्षेप में कथानक केवल इतना ही है कि तथागत (गौतम बुद्ध) अपने नाई नंद के द्वार से बिना भिक्षा पाए ही लौट जाने से बाध्य हुए, क्योंकि उनकी पुकार से वहाँ कोई सुन न पाया। पता चलने पर क्षमा याचना के विचार से नन्द तथागत के पास गया। उसकी सुन्दर पत्नी सुन्दरी उसकी अनवरत प्रतीक्षा करती रही। नन्द कुछ देर के लिए लौट कर आया, पर वह नंद नहीं जो कि गया था, बल्कि एक दूसरा प्रव्रज्याग हीत नंद घर आया और चला भी गया। सुन्दरी के लिए सारा सुखद अतीत एक सपना या कपोल-कल्पित तथ्य मात्र बनकर रह गया। स्पष्ट है कि एक क्षण की चूक ने तथागत नंद के द्वार से भिक्षा पाए बिना ही लौट लौट गए-विलासी नंद और उसकी गर्विणी पत्नी सुन्दरी के समस्त जीवन की धारा ही बदल डाली। इस एक क्षण को ही नाटककार मोहन राकेश ने 'लहरों के राजहंस' नाटक के बड़े ही सजीले, नाटकीय एवं जैसे भोगे हुए क्षण के रूप में चित्रित करके उभारा है।

'लहरों के राजहंस' नाटक में अन्तर्द्वन्द्व चिरन्तन मानवीय द्वन्द्व के रूप में चित्रित हुआ है। नाटककार यह मानकर चला है कि द्वन्द्व का एक क्षण ही जीवन की समूची आस्थाओं में आमूल-चूल परिवर्तन ला देने के लिए पर्याप्त हुआ करता है। बाकी सारी स्थितियाँ तो मात्र गुजरने के लिए हुआ करती हैं। इन्हीं सब कारणों से हमने 'लहरों के राजहंस' नाटक को राकेश के पहले नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' की अगली कड़ी माना है दोनों के मूल संबंध में वास्तव में कोई भी मौलिक अन्तर नहीं। फिर दोनों के पात्र परिवेश, कथा एवं कथानक समान रूप से ऐतिहासिक भित्तियों पर भी अंकित किए गए हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' में यदि कालिदास के साथ विलोम भी है, तो लहरों के राजहंस में नंद के साथ श्यामाँग भी है। विलोम और श्यामांग दोनों उलझे और उखड़े हुए व्यक्तित्व होते हुए भी वास्तव में सुलझाव और अन्त: संयोजना करते हैं। दोनों ही वास्तव में विरोधों-अवरोधों के सुन्दर, सजग एवं सजीव प्रतीक हैं। उतने ऐतिहासिक सत्य नहीं, जितने प्रतीक। इस दृष्टि

से 'लहरों के राजहंस' के समग्र रूप को हम एक ऐतिहासिक मिथक ही नहीं, बल्कि युग-युगों की द्वन्द्व चेतना के संदर्भों में एक समग्र प्रतीक एक समूचा बिम्ब कह सकते हैं। यही इस दूसरे नाटक की वास्तवि सफलता एवं सार्थकता है।

7.6.3. आधे-अधूरे

राकेश का यह तीसरा और अंतिम नाटक है। इस नाटक का कथ्य अपने आप में चिरन्तन प्रश्नों एवं स को संजोए रखते हुए भी पूर्ववर्ती दोनों नाटकों से सर्वथा भिन्न है। इसे आधार-भत्ति वर्तमान से भोगे जा जीवन को बनाया गया है, न कि अतीत अथवा इतिहास को। आप का जीवन जिन अनेक प्रकाश की विसंगति के फलस्वरूप अधूरेपन की अनुभूतियों से भर चुका है। विशेषत: अर्थ और काम से लेकर, उन्हीं से ट जीवन्त पात्रों के माध्यम से रूपाकार प्रदान करने की सफल चेष्टा की गई है। यहाँ एक ऐसे परिवार का चप किया गया है जो अपने आप में आश्वस्त नहीं है। उसके सामने जीवन का कोई प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट लक्ष्य नहीं अत: सम्पूर्ण परिवार ही एक प्रकार की हीन-ग्रंथियों से ग्रसित होकर एक विचित्र-सा अधूरा अ अपरिपन्द-सा व्यवहार करता हुआ दिखाई देता है। अत: रूपाकार की दृष्टि से यह पूर्णत: यथार्थवादी ह

7.6.4. अण्डे के छिलके, अन्य एकांकी एवं बीज नाटक

राकेश के मरणोपरान्त इसका प्रकाशन हुआ है। इसमें संकलित 'शायद' और 'हाँ' दो एकांकी नाटक स्वयं नाटककार ने बीज नाटक नाम से अभिहित किया है। इसी में संकलित 'छतरिया' नामक रचना से पाश्च नाटक के नाम से अभिहित किया गया है। इसमें चार एकांकी थी संकलित हैं—'अण्डे के छिलके', 'सिपा की माँ', 'प्यालियाँ टूती हैं', 'बहुत बड़ा सवाल' आदि।

अत: राकेश जी ने व्यवहार-जगत के समान साहित्य के क्षेत्र में भी अनेक प्रयोग किए। इसे एक विचि संयोग ही कहा जाएगा कि उनके प्रयोग व्यवहार-जगत में उतने सफल न हो सके जितने कि साहित्य जगत में अत: वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे।

7.7. राकेश मोहन के नाटकों में जीवन सत्य

हिन्दी नाटक के क्षेत्र में मोहन राकेश का योगदान अविस्मरणीय है। राकेश जी ऐतिहासिक, पौराणिक आधुनिक, सामाजिक नाटक लिखने वाले एक समर्थ कलाकार हैं। उनके प्रत्येक नाटक में द्वन्द्व व सत उद्घटित होता है। राकेश कृत आषाढ़ का एक दिन हिन्दी नाटक यात्रा में नाटयकृति का एक ऐसा पड़ाव जहाँ से न केवल राकेश की रचना यात्रा आरंभ होती है बल्कि हिन्दी के मूल नाटक का श्रीगणेश भी होता है हिन्दी नाट्य जगत और रंग जगत की सारी जड़ता और प्रचलित रूढ़ियों को तोड़ने वाला यह नाटक राकेश क भारतीयता और आधुनिकता हमारे अपने परिवेश में से ही समस्याओं से उत्पन्न द्वन्द्व की खोज निकालने क आकुलता को प्रत्यक्ष सामने लाती है।

आषाढ़ का एक दिन के कथानक का सम्बन्ध कवि कालिदास के जीवन से है। उसकी प्रेयसी गाँव क एक सीधी-सादी भावुक, प्रेममयी और सम्पूर्ण समर्पण की भावना से युक्त लड़की मल्लिका है। इसका प्रेम निश्छल और अनश्वर है। यह प्रेम पवित्र भूमि पर अवस्थित है। इसका प्रमाण है कि मल्लिका कालिदास के व्यक्तित्व को अधिक पूर्ण देखने की आकांक्षा रखती है। अपना सर्वस्व समर्पित करके वह कालिदास को महान कवि के रूप में देखती है और एक तरह से पूरे नाटक पर उसी का कोमल समर्पणशील व्यक्तित्व छा जाता है।

दूसरी तरफ कालिदास की रचनात्मक प्रतिमा का मूल प्रेरणा मे मल्लिका कहीं न कहीं बैठी हुई है कालिदास के माध्यम से वर्तमान की स्थिति पर ध्यान देते हुए राकेश ने दिखाना चाहा है कि एक सृजनशील कलाकार किस तरह व्यवस्था द्वारा कुचल और तोड़ दिया जाता है। आज के मूल्य बोध से युक्त असाधारण

कवि या साहित्यकार न व्यवस्था को एकदम छोड़ पाता है और न उससे समझौता करते हुए चल पाता है। कालिदास का अर्न्तद्वन्द्व और टूटन आज के साहित्यकार का द्वन्द्व और पीड़ा है।कालिदास के टूटे हुए व्यक्तित्व में हम राकेश के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब देख सकते हैं, सत्य यह है कि कालिदास के चरित्र-चित्रण में स्वयं राकेश की उनके अपने व्यक्तित्व की द्वन्द्वों शंकाओं और प्रश्नों की अभिव्यक्ति हुई है।

मोहन राकेश की नाट्य यात्रा का दूसरा पड़ाव है ऐतिहासिक आख्यान पर आधारित लहरों के राजहंस अश्वघोष के महाकाव्य सौदरानंद से कथानकीय उपजीत्य लेकर उसकी कथावस्तु का नाटकीय पुनराख्यान किया गया है। इसमें आधुनिक जीवन का पर्याप्त भावबोध है। नाटक में पारिवारिक सुख लिप्सा और आरोपित आध्यात्मिकता के आपसी विरोध के बीच खड़े एक व्यक्ति के निर्णय एवं चयन के द्वन्द्व को जीवन्तता प्रदान करना नाटक में एक प्रयास जान पड़ता है। एक स्त्री और पुरुष के आपसी सम्बंधों के संघर्ष और अन्तर्विरोध में इस द्वंद को देखा जा सकता है।

"नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है और उसका आकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।"

'लहरों के राजहंस' की आधुनिकता बौद्धकालीन ऐतिहासिक परिवेश पर आधारित है। नंद और सुंदरी का नाटक में जिस रूप में प्रस्तुतिकरण हुआ है वह सर्वथा आधुनिक है।

"नंद का अन्तर्द्वद, तनाव, अस्थिरता, घुटन और जीवन जगत में उसकी आसक्ति, उसका उतार-चढ़ाव आधुनिक मनुष्य की स्थिति और उसकी नियति का प्रमाणिक दस्तावेज है।"।

सिद्धार्थ का सौतेला भाई नंद गौतमबुद्ध के सिद्धान्तों से अधिक अपने बड़े भाई से प्रभावित है एक तरफ उसे सुंदरी का अनुपम सौंदर्य अतिशय अनुराग में बांधता है; दूसरी ओर अपने बड़े भाई के प्रति आदर और सम्मान उसे खींचता है सुंदरी और सिद्धार्थ के बीच आकर्षणों में खड़ा नंद का अन्तर्दंद उसे तोड़ देता है। उसका यही टूटना आज के मनुष्य के टूटने की संवेदना है।

आधुनिक हिंदी नाटक साहित्य की परिसम्पदा की श्रीवृद्धि में मोहन राकेश प्रणीत आधे-अधूरे नाटक उनकी तीसरी एवं एक जबरदस्त कड़ी है। यह नाटक एक मध्यवर्गीय परिवार के विघटन और स्त्री-पुरुष के संघर्ष के बारे में है। इस नाटक में सावित्री नामक स्त्रीअपने पति महेंद्र से असंतुष्ट है और अपने लिए एक पूर्ण आदमी की तलाश में है और उसका यह दर्द उसके इस कथन से प्रदर्शित होता है जब वह कहती है कि 'सब के सब एक जैसे हैं, अलग-अलग मुखौटे पर चेहरा सब का एक है। आधे-अधूरे का सर्वाधिक महत्व उसके भोगें हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति है। नेमिचन्द्र जैन के विचार में आधे-अधूरे का महत्व यह है कि वह आज के यथार्थ को सीधे पेश करता है; अतीत की किसी कथा के माध्यम से नहीं। नाटक में व्यक्ति के अपने भावबोध उसके जीवन और उसके परिवेश को एक सार्थक सत्य से साक्षात्कार प्राप्त हो सका है।

अत्यन्त छोटे-छोटे संवादों बल्कि बिन्दुओं के माध्यम से बात की गंभीरता को व्यक्त करने की क्षमता के साथ यह नाटक पूर्ण नहीं बल्कि प्रारंभिक अधूरेपन के साथ उनकी कलम से जन्म लेकर पाठकों के बीच आया अपनी अंतरंगता का पूरा विश्वास रखकर कमलेश्वर जी ने इस अपूर्ण कार्य को पूरा करने का साहस जुटाया। मोहन राकेश की सहधर्मिणी अनीता राकेश ने स्वयं स्वीकार किया है - "अपने भीतर व पैर तले की जमीन के रिहर्सल ही नहीं, पूरा नाटक पूरी साज-सज्जा के साथ अंतिम रूप से खेल चुके थे-एक माने में अब केवल टाइपराइटर पर कागज चढ़ाकर उसे उतारना ही बाकी था और विश्वनाथ जी को उसे प्रकाशनार्थ दे देना/अन्य नाटकों की तरह इस मन की उलझनों और बिखराव का प्रतिफल है-"पैर तले की जमीन", नाटक में उन्होंने मनोवैज्ञानिक द्वन्द्वों को अपने पात्रों के माध्यम से उजागर किया है-अबदुल्ला अत्यंत द्वन्द्वग्रस्त पात्र है आधे-अधूरे की भाँति पैर तले की जमीन भी अस्त-व्यस्त, हड़बड़ाहट, बेचैनी, खालीपन, तथा चारों ओर के

बिखराव से आरम्भ होता है। नाटककार अयूब के माध्यम से कहता है उधर ... मुझे एक और चाहिए। और ..... जो मौत के खतरे के बावजूद मेरा ..... साथ दे सके। मुझे। नहीं समझे ..... कोई बात नहीं। इस प्रक मोहन राकेश का प्रत्येक नाटक जीवन के कटु सत्य को उद्घाटित करता है जो आज के जीवन का यथार्थ है।

मोहन राकेश अपने नाटकों में जीवन के जिन सत्यों का उद्घाटन करते हैं; उनके वह मात्र द्रष्टा औ श्रोता ही नहीं भोक्ता भी हैं। सामाजिक भौतिक, बौद्धिक, उपयोगितावादी और उपभोक्तावादी उपसांस्कृतिक मूल्यों की स्वीकृति के कारण मानव जीवन बिखराव, टूटन, घुटन, ताव और संत्रास झेलने को अभिशप्त है किन्तु इनकी मुक्ती प्राप्त करने में भी मनुष्य असमर्थ है। क्योंकि वह उपभोक्तावाद का शिकार तो है ही, संघ शक्ति में भी रहित है। वह चाहकर भी उक्त मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन नहीं कर पाता है और उन्हें मानवी अस्मिता की रक्षा करते हुए मानवीय मूल्यों से सम्पृष्ट नहीं कर पाता है।

7.8. मोहन राकेश के नाटकों में अस्तित्ववादी चिन्तन

मानव अस्तित्व क्या है? किस प्रकार का है? किस सीमा तक का है? ईश्वर है या नहीं? आस्ति—नास्ति के द्वन्द्व से ही अस्तित्ववादी विचारधारा का जन्म हुआ, किसी ने ईश्वर को नकारा, किसी ने स्वीकारा। यहीं से अस्तित्व का इतिहास आरम्भ हुआ। यूँ तो संसार में प्रत्येक जीव-जन्तु, वनस्पति का अपना अस्तित्व है, किन्तु विवेच्य अस्तित्ववाद का सम्बन्ध आम व्यक्ति के अस्तित्व से है। व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता तथा विचारधारा को सुरक्षित रखना चाहता है। इस चाहत के परिणामस्वरूप ही अस्तित्ववादी विचारधारा का जन्म हुआ।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत शोध पत्र में मोहन राकेश के नाटकों का मूयांकन करते हुए उन्हें अस्तित्ववादी चिन्तक सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। चिन्तन का यह स्वरूप पाश्चात्य चिन्तन से आयातित नहीं है वरन् भारतीय पृष्ठभूमि पर अपने वर्तमान में भोगी गयी त्रासदी से उत्पन्न है जो मोहन राकेश को पाश्चात्य चिन्तकों से जोड़ने वाला और बहुत करीब है।

साहित्य अवलोकन

"मैं तुम्हारा किसी का विश्वास ओढ़कर नहीं जी सकता।"-'लहरों का राजहंस'- मोहन राकेश 2005 (राजकमल प्रकाशन) विवेच्य नाटक में पात्र नंद का यह कथन अस्तित्ववादी सोच को परिभाषित करता है। मैंने अपना नाम खोकर एक विशेषण उपार्जित किया है और मैं नाम नहीं केवल विशेषण हूँ"—आषाढ़ का एक दिन'—मोहन राकेश 2005 (राजपाल प्रकाशन) मोहन राकेश के चर्चित नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' प्रमुख पात्र कालिदास में उपरोक्त कथन अस्तित्ववादी चिन्तन को ही रेखांकित करती है।

मेरी कामना मेरे अन्तर की है मेरे अन्तर में ही उसकी पूर्ति हो सकती है बाहर का आयोजन मेरे लिये इतना महत्व नहीं रखता, जितना कुछ लोग समझ रहे हैं।" 'आधे-अधूरे' - मोहन राकेश 2009 (राधाकृष्ण प्रकाशन)। उपरोक्त पंक्तियाँ मोहन राकेश के चर्चित नाटक 'आधे-अधूरे' की हैं जो कि स्त्री-पुरुष संघर्षों का जीता जागता उदाहरण प्रस्तुत करता है।

मोहन राकेश के नाटकों में आधुनिक बोध—डॉ० सी० विश्वनाथन, 2017 (अमल प्रकाशन, कानपुर)। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने आधुनिक भावबोध के अन्दर अस्तित्ववादी चिन्तन को ही विशेष रूप से प्रकट किया है।

विषय विस्तार

अस्तित्ववाद एक मानव केन्द्रित विचारधारा है जिसका आरम्भ पश्चिम में हुआ। यूँ तो भारतीय दर्शन में भी आत्मा-परमात्मा पर चिन्तन कर शरीर की नश्वरता को स्वीकारा गया है। यह चिन्तन मानव अस्तित्व से ही

सम्बन्ध है, किन्तु पश्चिम में अस्तित्ववादी विचारधारा के जन्म का मुख्य कारण महायुद्धों की विभीषिका से उत्पन्न नपुंसकता और निस्सारता थी। वैज्ञानिक शास्त्रों के सहारक अम्बार ने मनुष्य को बौना बना दिया। अपने ही हाथों से निर्मित पुर्जों के आगे मनुष्य असहाय हो गया। नीत्शे ने ईश्वर के मृत्यु की घोषणा की। वस्तुत: ईश्वर की मृत्यु का आशय परम्परागत नैतिक मूल्य और सड़ी-गली मान्यताओं से था जो समाज के लिये थोथे और जर्जर हो चुकी थी। सोरेन कीर्केगार्द से लेकर अल्वेयर कामू तक ने अपने चिन्तन को अस्तित्ववाद की वैचारिक भूमि पर प्रस्तुत किया।

सोरेन कीर्केगार्द को अस्तित्ववादी विचारधारा का जनक माना गया है, तत्पश्चात जर्मनी, फ्रांस और रूस के अनेक चिन्तकों ने इस विचारधारा की पुष्टि की, इन्होंने माना कि भय, कष्ट, पीड़ा, अपराध भावना, संघर्ष, असन्तोष और मृत आदि बिन्दुओं का चरम विस्तार सार्वभौमिक है और इसका प्रभाव घातक है। मानव इससे पलायन नहीं कर सकता। महायुद्धों की विभीषिकाओं से उत्पन्न पीड़ा और असहाय अवस्था ने इस विचारधारा को जन्म दिया। युद्धों में संलग्न रहने वाले देशों के साथ-साथ दूसरे देशों के भी सामाजिक, नैतिक, आर्थिक और राजनैतिक मूल्यों में बदलाव आया।

आस्था, अविश्वास और मूल्य संक्रान्ति ने व्यक्ति को एकाकीपन अजनबीपन और कुण्ठाओं की पीड़ा में अकेला छोड़ दिया। द्वितीय महायुद्ध ने एक बार फिर जीवन की निस्सारता और थोथेपन का अहसास कराया। वैज्ञानिक विकास के नाम पर संहारक शस्त्रों के अम्बार के आगे मनुष्य बौना हो गया, जिससे उसकी सुरक्षा को ही नहीं मानवीयता को भी खतरे मे डाल दिया, जिसके कारण उसकी रही सही मान्यतायें भी हिल गयीं। टूटन और अस्थिरता के मध्य जो शेष रहा वह अव्यवस्था का एहसास था, जिसके बीच व्यक्ति घिर गया। यहीं से मानव अस्तित्व के आगे एक प्रश्नचिन्ह लग गया। इसी निराशा में कीर्केगार्द एक शती के बाद मसीहा नजर आने लगा। साहित्य या दर्शन कोई उसके प्रभाव से नहीं बचा। इसी परिवेश का भोगते हुये नीत्शे और दास्तोवस्की ने उसे आधुनिक भाव-बोध से जोड़ा, जो आगे चलकर यास्पर्स, हेडेगर, मार्शल, अलवेयर, कामू, काफ्का, सार्त्र और वर्दिएफ के दर्शन का प्रस्थान बिन्दु बना यही चिन्तन अस्तित्ववाद कहलाया।

अस्तित्ववाद के प्रभाव से विसंगत वादी नाटकों का जन्म हुआ, यद्यपि विसंगत नाटकों की जड़े उन्नीसवीं सदी के नाटकों में ही पड़ गई थी, किन्तु 1950 के आस'पास से यह विसंगत नाटयधारा अपनी तीव्रगति से प्रवाहमय हुयी।

पश्चिम से विसंगत नाट्य लेखन के वैचारिक संकट का द्योतक माना गया, क्योंकि उन्होंने यह अनुभूत किया कि मनुष्य की सहायता न तो विज्ञान कर सकता है और न ही परम्परा से चले आ रहे सड़े-गले जीवन मूल्य। उन्होंने शाश्वत सुनिश्चित नैतिकता को भी नकार दिया और माना कि कुछ भी पूर्व निर्धारित नहीं है, मनुष्य का स्वयं अपने होने को परिभाषित करना है, जिस जगत में वह है वह प्रयोजनहीन है, जिसमें वह असहाय और अकेला है। इसी पीड़ा से मनुष्य की निर्थकता और नास्तिभाव को सिद्ध करता है। विसंगति नाटक का यही दर्शन है। सन् 1945-1965 के काल खण्ड में लिखे गये नाटकों ने परम्परागत मूल्यों का विरोध करते हुये जीवन को विसंगति का पर्याय माना और अस्तित्व की विरूपता को स्वीकार किया।

भारत में फ्रांस-जर्मनी, रूस जैसी परिस्थितियाँ तो उत्पन्न नहीं हुयीं किन्तु इस काल खण्ड के साहित्य में इस चिन्तन का भी कुछ निर्णायक रहा। वहीं भारत में भी हिन्दी कविता कहानी ने इस विसंगतावादी भूमि पर अपने चिन्तन को रोपा, जबकि नाट्य विधा सामाजिक यथार्थ से जुझती रही। यह निश्चित है कि जब दो धारायें मिलती हैं या एक दूसरे से सम्पर्क में आती हैं तो नये रंग उभरते हैं। जयशंकर प्रसाद, लक्ष्मी नारायण लाल, जगदीश चन्द्र माथुर, धर्मवीर भारती और मोहन राकेश ने हिन्दी नाट्य धारा के विश्व की विराट चेतना में समन्वित कर नवीन कलेवर प्रदान किया। साहित्य पूर्व का हो या पश्चिम का उसका जुड़ाव मुख्य रूप से मनुष्य

से होता है। भारत में यह चिन्तन कतिपय बदलाव के साथ कभी विसंगतवाद कभी नवस्वच्छन्दवाद तो क
व्यक्तिवाद के रूप में जाना गया। इसे कभी दादावाद तो कभी व्यक्तिवाद कहा गया, किन्तु ने एक ऊँची छल
के साथ नाट्य साहित्य को पाश्चात्य से जोड़ दिया।

मोहन राकेश के मूल चिन्तन का आधार पाश्चात्य जगत में व्याप्त निराशा नहीं वरन स्वतंत्रता के पश्च
देश में व्याप्त मुद्रास्फीति महंगाई, भ्रष्टाचार, कालाधन, लूटखसोट और बेरोजगारी के नारों ने एक ऐसी स्थि
खड़ी कर दी, जहाँ व्यक्ति के अस्तित्व के आगे प्रश्न चिन्ह लग गया। कई प्रश्न उभरकर सामने आये। भारत
चिन्तकों ने स्वीकार किया निर्माण हुआ बड़े-बड़े भवनों का, सरकारी और अर्द्धसरकारी संस्थाओं समीति
और आयोगों का कारखानों और मशीनों का, बाँध और विकास योजनाओं का और शासकीय शब्दकोशों च
इस निर्माण की सतह से नीचे इंसान का जो रूप सामने आया वह बहुत ही विकृत था लगा कि आसपास
बड़े-बड़े परिवर्तनों के साये में लोग निरन्तर पहले से छोटे और कमीने होते जा रहे हैं।

जिन्दगी का सारा अन्दरूनी ढाँचा भुरभुरी मिट्टी की तरह झडता-ढहता जा रहा है। स्पष्ट है f
विश्वयुद्धों के परिणामस्वरूप जो नपुंसकता और निस्सारता पश्चिम की मिली वही मानसिकता टूटन भारत व
स्वतंत्रता के बाद मिली। ऐसी स्थिति में अस्तित्ववादी विचारधारा उर्वर सिद्ध हुयी न केवल कविता और क
साहित्य इससे प्रभावित हुआ वरन् नाटय साहित्य भी इससे अछूता न रहा।

मोहन राकेश के चर्चित नाटक 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों का राजहंस', 'आधु-अधूरे' व 'पैर त
की जमीन' अस्तित्ववादी चिंतन का दृष्टांकन करने वाले नाटक हैं। चाहे आषाढ़ का एक दिन का कालिदास
या लहरों का राजहंस का नंद हो याआधे-अधूरे का महेन्द्रनाथ। ये सभी पात्र अपने-अपने अस्तित्व की तला
में भटक रहे हैं। नंद का सिर मुंडवाकर बौद्ध धर्म स्वीकार करना, कालिदास का राजसी ठाट-बाट छोड़क
मल्लिका के पास लौटना ये सभी उदाहरण मोहन राकेश के अस्तित्ववादी सोच को ही प्रकट करते हैं।

पश्चिम में विकसित हुई अस्तित्ववादी चिन्तनधारा के पीछे जो भी कारण रहे हो किन्तु भारतीय परिवे
में उसका व्यापक प्रभाव देखा गया। वैसे तो हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं में अनेकानेक रूपों में च
चिन्तन देखने को मिलता है, लेकिन स्वतंत्रता के पश्चात हिन्दी नाटककारों ने विशेष रूप से इस चिन्तन प
मनन किया, चाहे उसके कारण जो भी हो। विशेषकर मोहन राकेश और उनके नाटक अस्तित्ववादी चिन्तन
जीते जागते उदाहरण हैं।

मोहन राकेश के नाटकों ने स्वातंत्रय भावना वैयक्तिता, सामाजिकता, आस्था - अनास्था पीड़ा व
स्वीकृति को व्याख्यायित किया गया है, जो कि अस्तित्ववादी चिन्तन की प्रमुख विशेषतायें हैं। स्वतंत्रता का अ
यहाँ पर उच्छंखृलता नहीं है अपितु दायित्व से जुड़ी आंतरिकता है। वैयक्तिता अस्तित्ववाद की एक प्रमु
प्रवृत्ति है। राकेश के नाटकों का अध्ययन करने के उपरान्त ज्ञात होता है कि स्थापित मान्यताओं और सामाजि
रीति-रिवाजों के कारण व्यक्ति दूसरों के समक्ष अपने को अकेले ही पाता है।

आस्था-अनास्था का स्तर अस्तित्ववादी चिन्तन में उभरता रहा है। राकेश के नाटकों का अध्ययन कर
के पश्चात् हमें ईश्वर धर्म, अध्यात्म में अनास्था के स्तर दिखाई पड़ते हैं। राकेश के सभी नाटकों में नाटक
पात्र अस्तित्ववाद की पीड़ा से ग्रस्त हैं और अस्तित्व की सुरक्षा के लिये संघर्ष कर रहे हैं।

निष्कर्ष

मोहन राकेश के नाटकों का अध्ययन करते हुए यह ज्ञात होता है कि मोहन राकेश भारतीय अस्तित्ववाद
चिन्तकों की अपेक्षा पाश्चात्य चिन्तकों के अधिक करीब हैं। यद्यपि मोहन राकेश की दो कृतियों पैर तले क
जमीन और लहरों के राजहंस को जयदेव तनेजा और गोविन्द घातक द्वारा अस्तित्ववादी निर्धारित किया गया है

किन्तु मेरी दृष्टि से उनकी सम्पूर्ण नाटक ही अस्तित्ववाद से आच्छादित हैं क्योंकि उनके नाटकों के सभी पात्र आधुनिक मानव की उस व्यग्रता और टूटन को व्यक्त करते हैं जिसे जीने के लिये व्यक्ति अभिशप्त है। पाश्चात्य चिन्तकों के बहुत करीब होने के बावजूद राकेश के चिन्तन भारतीयता को ओढ़े हुए हैं, यही राकेश की मौलिकता है।

7.9. मोहन राकेश के नाटकों में साहित्यिक चिन्तन

7.9.1. साहित्य और साहित्यिक चिन्तन

'साहित्य' शब्द की व्याख्या करते हुए हिन्दी साहित्य कोश के रचयिताओं ने लिखा है - साहित्य सहित + यत् प्रत्यय, साहित्य का अर्थ है। शब्दऔर अर्थ की यथावत् सहभाव अर्थात् साथ होना। इस प्रकार सार्थक शब्द मात्र का नाम साहित्य है।

'साहित्य' शब्द की व्युत्पति का रहस्य जानने के लिये इतिहास का जानना बहुत जरूरी है। साहित्य शब्द का प्रचलन इस वर्ष में सातवीं आठवीं शताब्दी में हुआ था। इससे पहले संस्कृत में साहित्य के स्थान पर काव्य शब्द का ही प्रयोग मिलता है। भामह, राजशेखर, कुन्तक जैसे आचार्यों ने काव्य की परिभाषा करते हुए शब्द और अर्थ के सहभाव को काव्य बताया तथा इसी प्रसंग में उन्होंने संहिता, सहभाव आदि का उल्लेख किया। लेकिन आगे चलकर शब्द और अर्थ के सहभाव (साहित्य) के स्थापन पर केवल सहभाव (साहित्य) ही रह जाता है।

साहित्य के मुख्यत: चार तत्व निर्धारित किये गये हैं - भाव, कल्पना, बुद्धि और शैली। साहित्य का मुख्य तत्व'भाव' ही है। यही उसकी आत्मा है। साहित्य का प्रमुख लक्षण रागात्मकता होने के लिए भावों का चित्रण कल्पना शक्ति के प्रयोग के द्वारा ही सम्पन्न होता है। एक साधारण घटना को भी कवि 'कल्पना' के रंग में रंगकर भव्य रूप प्रदान करता है। साहित्य में बुद्धि तत्व का सम्बन तथ्यों, विचारों और सिद्धान्तों से है। साहित्य में किसी न किसी रूप में विचारों, तथ्यों और सिद्धान्तों का भी समावेश किया जाता है। इसके अभाव में साहित्य कोरी भावनाओं का चीत्कार बन जाएगा। कवि या साहित्यकार जिस भाषा, जिस ढंग से अपने भावों विचारों को व्यक्त करता है, वही 'शैली' है।

मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। जब से मनुष्य का जन्म हुआ, वह अनेक विषयों पर विचार करता आया है। मानव की प्रारम्भिक अवस्था पशु-तुल्य थी, चिन्तन ने उसकी पशुवृत्ति को धीरे-धीरे क्षीण करके उदारवृति का पोषण और विकास किया।

उसके हृदय की कला को व बुद्धि के अनेक विषयों को जागृत किया। पशुओं का मांस खाकर ही मनुष्य तृप्त नहीं हुआ, बल्कि उनके मांस से बाघ बनाना भी उसने सीखा। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के पश्चात् वह हृदय और बुद्धि की बातें सोचने लगा। इसी से काव्य, साहित्य व दर्शन का जन्म हुआ।

मानव की अन्त: यात्रा और बाह्य संघर्ष जिस परिवेश में घटित होते हैं, उसी से मानव की अनुभूति कल्पना और चिन्तन को निरन्तर गति प्राप्त होती है। परिवेश और मानवीय जीवन संघर्ष के समानान्तर क्रम की अभिव्यक्ति ही साहित्य है। साहित्य स्रष्टा जहाँ एक ओर परिवेश के परम्परित मूल्यों का अन्वेषण करता है, वहीं दूसरी ओर परिवर्तित युग बोध के अनुसार उन्हें नया संस्कार भी देना होता है। वे दोनों अन्त: संस्कार ही उससकी भाव-भूमि को निर्मित करते हैं।

हिन्दी नाटक भारतेन्दु युग में ही अपनी लक्ष्मण रेखा से निकला। बाद में जिस साहित्य दौर ने हिन्दी नाटक को समकालीन परिस्थितियों से जोड़ा, वह यथार्थवाद ही है। इस दिशा में अनेक नाटककार सामने आए और उन नाटककारों में मोहन राकेश ऐसे कलाकार हैं, जिन्हें नए नाटक की पहल करने का श्रेय प्राप्त है।

मोहन राकेश ने जिस युग में अपनी साहित्य साधना प्रारम्भ की थी, उस युग में प्राचीन मान्यताएँ बड़ी तीव्रता से बदल रहीं थी। यह युग नवोन्मेष का युग था इसी कारण उन्होंने अपने साहित्य में नवयुग की संस्कृति सभ्यता, सांस्कृतिक चेतनाओं आदि का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है।

मोहन राकेश ने गद्य साहित्य की सभी विधाओं पर अपनी लेखनी चलाई, लेकिन प्रसिद्धि उन्हें नाटककार के रूप में प्राप्त हुई। उन्होंने हिन्दी नाटक को एक नयी जमीन पर खड़ा किया। मोहन राकेश ने यह सिद्ध कर दिया कि नाटककार के रूप में वही व्यक्ति सफल हो सकता है, जो स्वयं अपने सब चरित्रों का अभिनय कर सके।

श्रेष्ठ कलाकार वही व्यक्ति हो सकता है जो कार्य से अधिक कारण को महत्व देता है। जो वर्तमान को समझने के लिये अपने अतीत का ठीक-ठाक विश्लेषण कर सकता है और भविष्य को दिशा देने के लिए वर्तमान की दिशा दृष्टि का सच्चा प्रतिनिधित्व कर सकता है।

मोहन राकेश के नाटक केवल हिन्दी के नाटक ही नही, बल्कि समकालीन भारतीय नाट्य प्रवृत्तियों के द्योतक भी हैं। इन्होंने यद्यपि चार नाटक लिखे हैं, तथापि जिन्दगी की सच्चाइयों से साक्षात्कार करने वाले ये नाटकीय प्रसंग बोध और संवेदना के स्तर पर युग यथार्थ के नाटक हैं।

राकेश के नाटक हिन्दी नाट्य परम्परा में आधुनिकता की शुरूआत करते हैं। उन्होंने यथार्थ के तीखे रूप के साथ-साथ नाट्य अनुभूतियों का जीवन्त रूप भी प्रस्तुत किया है। कथ्य, शिल्प और भाषा का रूप नाट्य परम्परा में नवीनता लिए हुए हैं। राकेश का नाट्य चिन्तन क्रमश: इस प्रकार है-

7.9.1.1. नाटक साहित्य में युग परिवेश

रचना की प्रासंगिकता जीवन सन्दर्भों से जुड़े रहना ही है। जो रचना हमारे जीवन के जितनी अधिक निकट है वह उतनी ही अधिक प्रासंगिक है। जीवन से जुड़े रहने का अर्थ जीवन की सम-विषयक स्थितियों की स्वीकृति ही नहीं, उनसे टकराना और जूझना भी है। अपने आस-पास के दायरे को तोड़ना या तोड़ने की प्रक्रिया में स्वयं उनसे कट जाना, क्योंकि रचना की सार्थकता इसी में है कि इससे दायरे की मानसिक अपेक्षाओं की पूर्ति कहाँ तक होती है।

मोहन राकेश का समस्त रचना संसार समसाक्षयिक युग चेतना से सम्पन्न है। इन्होंने धर्म, परम्परा, वैज्ञानिक तर्क बुद्धि तथा मानव जाति के विकासशील ऐतिहासिक बोध को वैयक्तिक तथा सामाजिक आदर्शों व मूल्यों के निष्कर्ष रूप में स्वीकार किया है। उनकी समस्त अनुभूति परिवेश से जुड़े रहने की अनिवार्य अनुभूति है।

आदमी के अस्तित्व संकट में आज युग परिवेश का बड़ा हाथ है। जीवन सत्य है और जीवन का सत्य इस बात में है कि व्यक्ति जाने अनजाने में मिले परिवेश में ही रहता है। इस आत्मपरक स्थिति और परिवेश की स्वीकृति, इन दोनों आयामों पर ही मनुष्य का जीवन निर्भर करता है। मनुष्य जीवन नहीं, मनुष्य और परिवेश का सम्बन्ध ही समस्या और संकट को जन्म देता है। राकेश के नाटक इसी द्वन्द्व में जन्म लेते हैं।

आज के युग में व्यक्ति पर सामूहिक परिवेश का बहुत दबाव है। समूह, संगठन, व्यवस्था सब व्यक्ति पर हावी होने के कारण उसकी वैयक्तिकता के लिए खतरा हो गया है। राकेश के नाटक व्यक्ति को समूह की इसी भूमिका के विरूद्ध स्थापित करते हैं किन्तु व्यक्ति परिवेश के नीचे दबा महसूस होता है। 'लहरों के राजहंस' में नन्द और सुन्दरी समूह करते हैं, जब कोई अतिथि कामोत्सव में उपस्थित नहीं होता।

'आषाढ़ का एक दिन' में ग्रामीण समाज का सारा सत्य कालिदास के विरूद्ध है और उज्जयिनी में जाकर तो पीरवेश ही उसकी विनाशकारी स्थिति का कारण बनता है। सिर्फ व्यक्ति और समाज की ही नहीं व्यक्ति का निजी सम्बन्ध भी एक परिवेश का निर्माण करता है।

राकेश के नाटकों का जीवित संसार उन्हीं व्यक्तियों का है जो परिस्थितियों से घिरे हुए हैं और उनकी टकराहट में आने से टूट जाते हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में राकेश ने कालिदास के माध्यम से व्यक्ति और राज्य की आपसी टकराहट को व्यक्त किया है। कालिदास के सामने राज्य द्वारा दिये गये सम्मान और राज्यकाय को स्वीकार करने का प्रश्न नहीं, बल्कि प्रश्न स्वतंत्रता, व्यक्तित्व और अधिकार का है—"मैं राजकीय मुद्राओं से क्रीत होने के लिए नहीं हूँ।" यह पंक्ति उसके स्वाभिमान और स्वतंत्रता की गहरी इच्छा को ही प्रकट करता है।

परिवेश में रहकर टूटना या बिखरना ही जीवन के लिए काफी नहीं होता। जीवन में एक स्थिति मोहभंग की भी है। इन समस्त परिस्थितियों के बीच जूझता हुआ आदमी कभी-कभी विभाजित भी हो जाता है। राकेश के पात्र इस स्थिति में कभी अपने आप को जोड़ते हैं कभी तोड़ते हैं। उन्हें कोई भी जिन्दगी रास नहीं आती, न कवि की न राज्याश्रय की, न सुन्दरी का भोग ही उन्हें तुष्ट करता है। यह नियति उन्हें उस विद्रोह में खड़ा करती है, जो राकेश के नाटकों का केन्द्रीय तत्व है।

वास्तव में मोहन राकेश में आज के व्यक्ति को आन्तरिक पीड़ा, अकुलाहट से सुरक्षित रखने की ललक थी। इसे आत्मसात कर उन्होंने व्यक्ति, घटना और परिस्थितियों को एक व्यापक सन्दर्भ में देखा और पहचाना है। सबके द्वन्द्व और अर्न्तद्वन्द्वों का यथार्थ वर्णन किया है। राज्याश्रय के लिए उदासीन कालिदास गुप्त राज्य की ओर से कश्मीर का शासन भार सम्भालने के लिए जाने वाला मातृगुप्त और सत्ता प्रभुता के मोह से मुक्त राजकीय वस्त्रों में क्षत-विक्षत कालिदास की मन:स्थिति का विमोचन इस अर्न्तद्वन्द्वों को संकेतित करने के लिए ही है। यह द्वन्द्व कालिदास का ही नहीं, आज के सन्दर्भों से जुड़ी सृजनशील प्रतिभा का है।

मोहन राकेश ने अपने नाटकों में व्यक्ति को सामयिक परिस्थितियों से ऊपर उठ सहज सम्भावनाओं के बीच देखा है। अपने ऐतिहासिक और समस्या प्रधान नाटकों में इन्होंने भूले बिसरे इतिहास को कल्पना के रंगों में उभार कर पुन: जीवित कर दिया है।

7.9.1.2. नाटक और रंगमंच

नाटक कहानी और उपन्यास की तरह पाठ्य पुस्तक मात्र नहीं है, बिल्क नाटक एक जीवंत अनुभव है जो अपनी जीवन्तता सही अर्थों में रंगमंच पर ही प्राप्त करता है। रंगमंच को उसका निष्कर्ष मानकर ही उसकी निजी सत्ता की खोज सम्भव है। यदि रंगमंच की आत्मा नाटकीयता है तो नाटक की आत्मा रंगमंचीयता है।

नाटक एक त्रिकोण से आबद्ध है - नाटककार, निर्देशक और दर्शक, लेकिन अभिनेता और अन्य सारा समूह भी इसका अनिवार्य अंग है। अत: रंगमंच पर दृष्टिगोचर होने वाली नाट्य प्रक्रिया इनके सहयोग और सामंजस्य से ही सम्भव है। यहाँ पर यह सत्य भी स्पष्ट होता है कि जिस समय किसी देश का रंगमंच जितना विकसित होगा नाट्य रचना उसी प्रकार की रंगशालाओं के अनुरूप होंगी। जैसे कालिदास और शेक्सपीयर के सामने अभिनय और निर्देशन की सशक्त परम्परा थी, रंगशाला का एक सुव्यवस्थित रूप था और नाटककार भी रंगशिल्प व अपने युग की अभिनय शैली से पूरी तरह परिचित थे।

मोहन राकेश का सारा नाट्य लेखन गहरे रंगानुभव से जुड़ हुआ है। उन्होंने नाट्य लेखन में कलात्मक रंग तत्व की सही तलाश की है। राकेश के नाटकों ने हिन्दी रंगमंच को सक्रियता ही नहीं दी, नाटक को सही

मायने में रंगमंच से जोड़ा भी है। प्रचलित नाट्य रूढ़ियों को तोड़कर आधुनिक रंगमंच की कल्पना को भी साकार किया है।

कई बार नाटक पढ़ने पर भी फीका लगता है और अभिनीत देखने पर प्रभावित करता है। कई बार अच्छे से अच्छा नाटक भी रंगमंच पर आकर असफल हो जाता है, क्योंकि नाटक संश्लेषणात्मक कला होने के कारण विशिष्ट सन्तुलन की मांग करता है। नाटक में बिम्बों, ध्वनियों और प्रतीकों द्वारा भाषा की सूक्ष्म पकड़ का परिचय अन्य नाटककारों की भान्ति राकेश ने भी बड़ी सतर्कता से दिया है।

मोहन राकेश ने नाटक की मूल सत्ता की खोज भी की है। राकेश ने नाटककार की खुली दृष्टि सहयोग-मनोवृति और नाटक की मौलिकता की समझ का परिचय दिया है। 'आषाढ़ का एक दिन' पहला नाटक है जिससे रंगमंच की शक्ति और सम्भावनाओं को पहचानने वाला रंगकर्मियों का एक पूरा दल तैयार किया गया।

हिन्दी के नए नाटकों ने मोहन राकेश से विभिन्न रंग शैलियों को लिया और यह दृष्टि पैदा की कि एक ही नाटक पर भिन्न-भिन्न प्रयोग सम्भव हैं। हर नाटक के पीछे नाटककार की अपनी रंग कल्पना होती है। उसे खेजना, समझना समीक्षक का दायित्व है।नाटक पर विचार करते समय उसकी कथा वस्तु, पात्र भाषा आदि पर सोचना जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक रचना पद्धति को प्रभावित करने वाली रंगमंच की रूढ़ियों और प्रदर्शन की शैलियों पर विचार करना। आधुनिक नाटकों में कथानक का विशेष होना प्रमुख बात नहीं है। राकेश के नाटकों का सौन्दर्य कथानक विशेष में नहीं, पात्रों की बातचीत और क्रियाओं में है जो नाटक को बनाते हैं। ज्यादा महत्वपूर्ण पात्र और संवाद ही हैं। पात्र ऐतिहासिक भी हो सकते हैं, पौराणिक भी या प्रतीक भी। कथानक को गढ़ने व बुनने में संवाद ही मुख्य होते हैं। राकेश मानते हैं कि संवादों के संक्षिप्त या लम्बे होने से उतना अन्तर नहीं पड़ता जितना कि उनके पीछे व्यापक नाट्यानुभूति होने से।

7.10. नाटककार और रंगमंच

साहित्य औरअन्य कलाकृतियां हमें अपने आपको समझने में सहायता देती हैं। उनके माध्यम से अपने आपको देखकर हमारी अपने आप से पहचान घनिष्ठ है। साहित्य के माध्यम से जीवन का वास्तविक परिचय भले ही गहरी झुंझलाहट को जन्म दें; लेकिन व्यक्ति को आत्म-सन्तोषअवश्य ही प्राप्त होता है। राकेश का पूरा व्यक्तित्व साहित्यिक व्यक्ि तत्व से अलग नहीं था। यह बात दूसरी है कि सारा नाट्य लेखन गहरे रंगानुभव से जुड़ा होने के बावजूद भी वे अपने आपको उसका हिस्सा स्वीकार नहीं करते थे। इसका कारण मन की बाधा नहीं; बल्कि बाह्य परिस्थितियाँ हैं।

राकेश नाटककार के रंगमंच के सबसे बड़े समर्थक थे। वस्तुत: रंगमंच का सारा रूप विधान नाटककार का अपना होता है। कोई भी नाटककार रंग दृष्टि के अभाव में रचना नहीं कर सकता। स्वयं राकेश की भी अपनी एक रंग दृष्टि थी, जिसके द्वारा उन्होंने रंगमंच के बारे में नये सिरे से सोचने की शुरूआत की। उनके नाटकों की रंगक्षमता उन स्थितियों पर निर्भर करती है, जिनमें वे पात्र को भी खड़ा करते हैं। वे नाटक में दृश्य की अपेक्षा शब्द पर अधिक बल देते थे।

पश्चिम रंगमंच जिसमें दृश्य की क्षमता पर अधिक बल दिया जाता था, वह अब श्रीहीन होता जा रहा है। राकेश ने नाटक में जिस शब्द को स्थापित करने पर बल दिया है-वही रंगमंच की सही दिशा है। उन्होंने नाटक को दृश्य की अपेक्षा श्रव्य माध्यम माना है। दृश्यत्व के बावजूद भी नाटक में शब्द की आधारभूमि से इन्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि शब्द ही दृश्य को जन्म देते हैं, और दृश्य शब्द की सहचारिता में ही अर्थ ग्रहण करता है।

राकेश नाटक के मंचीकरण में नाटककार का एक महत्वपूर्ण योगदान मानते हैं। मंचीकरण की प्रक्रिया में नाटककार का अपना भी अधिकार होता है। किन्तु इसका अभिप्राय: यह नहीं कि नाटककार की मौजूदगी के बिना कोई नाटक खेला ही न जाए। राकेश के विचार से रंगमंच की पूरी प्रयोग प्रक्रिया में नाटककार केवल एक अभ्यागत सम्मानित दर्शक बना रहे, न तो यह स्थिति स्वीकार्य है और न ही यह कि नाटककार की प्रयोगशीलता उसकी अपनीअलग चारदीवारी तक ही सीमित रहे व क्रियात्मक रंगमंच की प्रयोगशीलता उससे अलग अपनी चारदीवारी तक।

अत: इन नाटकों को एक ही धरातल पर लाने के लिए अपेक्षित है कि नाटककार पूरी रंगप्रक्रिया का एक अनिवार्य अंग बनकर रह सके।

7.11. नाटक रचना प्रक्रिया

प्रत्येक रचनाकाल के लिए रचना मूल लक्ष्य होती है। राकेश की दृष्टि भी रचनाकार की है और रचना के अन्दर सत्य की तलाश उसमें सर्वत्र दिखाई देती है। कथावस्तु, चरित्र-सृष्टि, नाट्य स्थितियों सबकी उनके नाटकों में वैचारिक परिणीत दिखाई देती है। वे अपनेभाव विचार और दृष्टि को जीवन के सम्पूर्ण चित्र के साथ मिला देते हैं। इसीलिए कही-कहीं राकेश अपने नाटकों में दार्शनिक मुद्रा भी धारण कर लेते हैं। यह दार्शनिक मुद्रा उनकी रचना दृष्टि की ही देन है। यही कारण है कि उनकी नाट्य कृतियां हृदय और बुद्धि दोनों अपेक्षाओं की ही पूर्ति करती हैं।

रचना प्रक्रिया में विचार करते हुए राकेश ने उसके अनुभूति पक्ष को ही अभिव्यक्त किया है। हर अनुभूति विचार को जन्म दे या न दे, किसी न किसी रूप में अभिव्यक्त अवश्य होती है। यदि वह शब्दों में अभिव्यक्त न हो तो मुख मुद्रा व अन्य चेष्टाओं में अभिव्यक्त होती है। अनुभूति चाहे किसी भी रूप में अभिव्यक्त हो, उसका प्रभाव उसके आश्रय स्थान से बाहर भी रहता है। कोई व्यक्ति अनुभव के प्रभाव को अपने तक सीमित नहीं रख सकता।

स्वयं अपने अनुभव को बताते हुए उन्होंने लिखा है लेखन की इच्छा में जिस वस्तु का सबसे अधिक सरोकार होता है, वह यह है कि मैं नाटक लिखे बिना नहीं रह सकता। मेरे अन्दर और बाहर की शक्तियाँ ऐसी विवशता पैदा कर देती हैं कि मैं अनेक कठिनाईयों के बावजूद भी लिखने बैठ जाता हूँ। यह केवल लिखने की विवशता नहीं, अपने आपको अभिव्यक्त और सम्प्रेषित करने की विवशता भी है। जो अपने आप में कम नाटकीय नहीं।

एक कलाकृति के आन्तरिक गुण की पहचान यही है कि उसमें सम्प्रेषणीयता कितनी है। वह एक अनुभूति को कितनी ईमानदारी और तीव्रता के साथ सम्प्रेषित करने में समर्थ है। सामर्थ्य का निश्चय कला की मर्यादा की दृष्टि में रखकर ही होगा। वास्तव में कला की सृष्टि अनुभूति के सत्य को किसी तथाकथित कलात्मक रूप में ढलने के लिए नही, बल्कि अपनी मर्यादा से उसे व्यक्त करने के लिए है। उसकी सफलता मधुर प्रभाव की सृष्टि में नहीं, बल्कि वास्तविक प्रभाव के सम्प्रेषण में है।

मनुष्य और जीवन को परखने में सामाजिक परिस्थितियों में परखने व आंकने का आग्रह राकेश में बराबर रहा है। उन्होंने तेजी से बदलती हुई परिस्थितियों, बदलते जीवन मुल्यों को जाना। जीवन में बदलते मान-मूल्यों ने राकेश को यथार्थ दृष्टि दी। उनकी आस्था, अनास्था इसी यथार्थ बोध का परिणाम है। अनुभूति के मार्ग परआने वाला छोटे से छोटा कण भी उन्हें प्रभावित करता है। वे हर घटना, दृश्य में सार्थक मानवीयता खोजना चाहते हैं।

राकेश में यथार्थ की परख जितनी गहरी होती गयी है, उनकी रचना दृष्टि में उतनी ही अधिक प्रामाणिकता आती गई है समकालीन जीवन के स्वर उनके साहित्य में सुनाई देते हैं।

इनके नाटक मानव का बहुत ही निराशाजनक बिम्ब उभारते हैं।वे नाटक के साथ ही जीवन का अन्त नहीं मानते। वास्तव में जहाँ नाटक समाप्त होता है, वहीं से जीवन का वास्तविक प्रारम्भ होता है।

7.13. नाटक भाषा योजना

अभिव्यक्ति के लिए भाषा से उलझने की समस्या हर लेखक के सामने आती है। यह समस्या सिर्फ उनलोगों के सामने नहीं आती, जो चिन्तन और अनुभूति की दृष्टि से अन्दर से बिल्कुल साफ हैं। या कुछ अनुभूतियों व विचारों के दायरे में ही सोचते हैं। प्राय: ऐसे लोगों को भाषा की कोई समस्या नहीं सताती। अपने मन की हर बात के लिए उपयुक्त भाषा उन्हें आसानी से मिल जाती है।

नाट्य भाषा के सम्बन्ध में राकेश की स्पष्ट धारणा थी-भाषा केवल शब्दयोजना नहीं। भाषा की सजीव अर्थवता जोकि शब्दों की रूढ़ अर्थयुक्तता से अलग है, कुछ अंश तक ध्वनि, स्वराघात और शब्दों के विशिष्ट विन्यास पर निर्भर करती है। परन्तु मुख्य रूप से इस अर्थवता की उपलब्धि प्रयोग की ऐतिहासिकता, विचार और अनुभूति की आन्तरिक लय तथा बिम्बों के संयोजन में लेखक की आन्तरिक अपेक्षा से होती है। भाषा के अर्थ साथ-साथ रखे गए शब्दों का सम्मिलित अर्थ ही नहीं, उस संयोजन से प्राप्त होने वाला एक और अर्थ भी है।

अपने विकास क्रम में प्राय: सभी भाषाओं ने दूसरी भाषाओं के शब्दों को आत्मसात किया है। कोई भी भाषा एक स्थिर, निश्चित और अन्तिम रूप में अवतरित नहीं होती, बल्कि समय के संस्कार से निरन्तर अपने आपको बदलती रहती है।

हिन्दी का जो रूप हम आज देखते हैं, जानते हैं, पिछले सौ वर्षों में ही कितना बदल गया है। बदलने के क्रम में ही कई शैलियाँ विकसित हुई हैं। हर जीवित भाषा निरन्तर एक संक्रमण की स्थिति में रहती है। यह उसके जीवित होने का ही प्रमाण है।

जैसे-जैसे अनुभव बदलते गये वैसे-वैसे भाषिक अभिव्यक्ति की स्थितियां भी बदलती गई। बदलती हुई संवेदना के साथ एक नई भाषा की खोज होने लगी। एक ऐसी भाषा की खोज जिसमें युग की उन मन: स्थितियों और संवेदनाओं को अभिव्यक्त किया जा सके, जो पूर्ववर्ती भाषा में ठीक से व्यक्त नहीं हो रही थी। नाटक के क्षेत्र में यह खोज कविता और कहानी के बाद में हुई है।

अभिप्राय: यह है कि पूर्ववर्ती परम्परा में नाटक साहित्य था। इसलिए नाटक की भाषा साहित्यिक मानी जाती थी। नाटककार साहित्यिक प्रभाव के लिए लिखते थे। किन्तु जब यह भाषा रंगमंच पर प्रयुक्त होती थी तो प्रेक्षक और मंच के बीच एक दीवार खड़ी हो जाती थी। इसलिए नाटक की भाषा साहित्यिक मानी जाती थी। नाटककार साहित्यिक प्रभाव के लिए लिखते थे। किन्तु जब यह भाषा रंगमंच पर प्रयुक्त होती थी तो प्रेक्षक और मंच के बीच एक दीवार खड़ी हो जाती थी। इसलिए राकेश ऐसी मंचीय भाषा की तलाश में थे, जो समसामयिक प्रेक्षक के साथ सम्बन्ध स्थापित कर सके।

जिन लोगों ने अपने आपको इतिहास से बड़ा मानते हुए भाषा को व्यक्ति स्तर पर नई अर्थवता देने का प्रयास किया, वह बहुत जल्द अपने लिए वैसे ही छोटे-छोटे दायरे बना कर रह गए जैसे सहज-सरल अनुभूतियों को सहज भाषा में व्यक्त करने वालों के लिए पहले से ही बने हुए थे। जीवन के विविध रंगों को पहचानने का अवसर उन्होंने नहीं आने दिया।

राकेश की भाषा का स्तर साहित्यिक है किन्तु इसकी साहित्यिकता नाट्यानुभूति से भी जुड़ी हुई है, जो वास्तविक रंगानुभव प्रदान करती है। इन्होंने संस्कृत शब्दों की कलात्मक संगति बिठाई है। इनके नाट्य भाषा में सृजनात्मकता है। यह वक्तव्य बनकर सामने नहीं आती बल्कि नाट्य स्थितियों के बीच ही पैदा होती है। राकेश के विचार से – भाषा बोझिल और क्लिष्ट तब होती है जब वह नाट्य स्थिति और रंगानुभव से विलग हो।

शब्दों के चुनाव की समस्या बहुत कुछ वस्तु की अपेक्षा पर भी निर्भर करती है। रचना का वस्तु पक्ष भी आज बहुत से शब्दों के आघात के लिए उत्तरदायी है। ऐसे अनेक शब्द हैं जो हमारी जनभाषा के अंग बन चुके हैं और साहित्यिक अभिव्यक्ति से उनका बहिष्कार करना जनभाषा का बहिष्कार करना है।

नाट्य भाषा के सम्बन्ध में राकेश की स्पष्ट धारणा थी कि भाषा केवल योजना नहीं, भाषा की सजीव अर्थवता जोकि शब्दों की रूढ़ अर्थयुक्तता से अलग है। कुछ अंश तक ध्वनि, स्वराघात और शब्दों के विशिष्ट विन्यास पर निर्भर करती है। परन्तु मुख्य रूप से इस अर्थवता की उपलब्धि प्रयोग की ऐतिहासिकता, विचार और अनुभूति की आन्तरिक लय तथा बिम्बों के संयोजन में लेखक की आन्तरिक अपेक्षा से होती है। भाषा का अर्थ साथ-साथ रखे गए शब्दों का सम्मिलित अर्थ ही नहीं; उस संयोजन से प्राप्त होने वाला एक और अर्थ भी है।

नाटक में भाषा की वास्तविक पहचान संवाद के दायरे में ही होती है। इसलिए नाटक में संवाद से हटकर भाषा का सवाल ही नहीं उठता। राकेश अपने नाटकों में निर्दिष्ट प्रभाव के लिए शब्दों का इन्द्रजाल खड़ा कर देते हैं। शब्द के नाटकीय प्रयोग में उसकी अर्थवता का विस्तार राकेश की नाट्य भाषा और संवादों का महत्वपूर्ण गुण है।

नाट्यानुभूति नाट्य भाषा में ही सजीव होती है। यह भाषा यर्थाथ के जितनी समीप होगी, उतनी ही प्राणवान होगी। लेकिन यर्थाथ भाषा के नाम पर वह खीचड़ी भाषा को प्रश्रय नहीं देता बल्कि अक्षतर की भाषा पर बल देता है जिसे लय नियोजन में ही पाया जाता है। प्रयोग के स्तर पर मोहन राकेश ने अपने नाटकों में नवीन संवेदना के अनुरूप ही भाषा का संस्कार किया है। यह भाषा मूलत: द्वन्द्व और तनाव की ही भाषा है। इनकी भाषा अर्थ के विभिन्न आयामों को उद्घाटित करती है। बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से मार्मिक अन्तरंग क्षणों का बोध कराती है।

राकेश रंगमंच में शब्द की अत्याधिक महत्ता स्वीकार करते थे। शब्द की क्षमता रंगमंच की एक बहुत बड़ी शक्ति होती है। यह शक्ति भाषा और संवाद पर निर्भर करती है। इन्होंने अपने नाटकों में भाषा के सर्जनात्मक प्रयोग का परिचय दिया है और संवादों को नाट्य स्थिति के अनुरूप गढ़ा है। संवादों को एक विशिष्ट शिल्प में ढाल कर उन्हें व्यंजना वक्रता धवन्यात्मकता तथा पाठ से भिन्न विशिष्ट अर्थ का गौरव प्रदान करते हैं। इस नई दिशा को संकेतिक करते हुए उन्होंने लिखा है – मुझे लगता है कि हमारे प्रयोगशील रंगमंच की वही दिशा हो सकती है, जो रंगमंच के शब्द और मानव पक्ष को समृद्ध बनाती है। यही रंगमंच में शब्दाकार का स्थान महत्वपूर्ण हो जाता है।

रंगमंच की शब्द निर्भरता का अर्थ रंगमंच में शब्द की आधारभूत भूमिका है। इस भूमिका का निर्वाह निश्चित सीमा में शब्दों के संयम से ही हो सकता है; इसके अतिरिक्त उपेक्षित प्रयोग से नहीं। बिना नाटकीय प्रयोजन के प्रयुक्त शब्दों से रंग सिद्धि सम्भव नहीं; क्योंकि बिम्ब को जन्म देने के साथ-साथ उस बिम्ब से संयोजित रहने की सम्भावना भी शब्दों में होनी आवश्यक है।राकेश ने शब्द के अर्थ और ध्वनि दोनों आयामों का स्वीकार करते हुए कहा है कि शब्द योजना अपनी आन्तरिक लय के बिना प्राणवान नहीं हो सकती। लय

और ध्वनि का संयोजन ही उसे अर्थवता प्रदान करता है और नाद के आरोह अवरोह में ही शब्द का आन्तरि नाटक निहित है। इन्होंने लय और संसर्ग से अर्थ के अनेक आयाम उभारे हैं।

नाटक दृश्य काव्य होने के साथ एक शब्द माध्यम भी है। कथ्यों को दर्शक तक सम्प्रेषित करने में श की महत्वपर्ण भूमिका होती है। शब्दकथ्य को ही उजागर नहीं करता वरन् दृश्य और बिम्बों की रचना में सहायक होता है। शब्द मूलत: ध्वनि पर आधारित होता है। भाषा का लिखित रूप बहुत बाद में विकसित हु है और उसकी सुविधा के लिए ही शब्द की सत्ता प्रतिष्ठित हुई।

यद्यपि राकेश रंगमंच पर शब्द को प्रतिष्ठित करने के लिए प्रयत्नशील थे तथापि वह शब्द को रंगम परथोपना नहीं चाहते थे। शब्दों का रंगमंच केवल शब्दाकार का रंगमंच नहीं हो सकता। शब्दाकार, परिचालन अभिनेता इन सबके सहयोगी प्रयास से ही उसका अन्वेषण और परिसंस्कार किया जा सकता है।

राकेश ने शब्दों के बीच मौन का भी रंगमंचीय उपयोग किया है।जहाँ शब्द निरर्थक हो जाते हैं वहाँ म उनके नाटकों में एक नाटकीय क्षण बन जाता है। वह ऐसा लम्बा शब्दहीन प्रयोग भी करते हैं जहाँ शब्द क्रि में ढ़ल जाता है। कहीं-कहीं ऐसी क्षणिक नि:शब्दता का भी प्रयोग है, जो नाटकीय तनाव को वहन करने समर्थ होता है और संवादों के अन्तराल पर निर्भर करता है। राकेश के विचार से शब्दों और ध्वनियों नाटकीय रंगमंच का आधार मानने का अर्थ बिम्ब का अस्वीकार नहीं है। अर्थ केवल इतना है कि इस माध्य की आन्तरिक निरन्तरता शब्दों औरध्वनियों परनिर्भर करती है; उसी तरह जैसे सिनेमा में आन्तरिक निरन्तर बिम्बों पर निर्भर करती है। वे संवाद को क्रिया व्यापार, दृश्य, मौन, बिम्ब आदि के साथ जोड़ने में सफल ह हैं। संवाद की क्रिया से औरक्रिया को नाटकीय अर्थ से जोड़ना राकेश के रंगभाष्णों की एक बहुत ब उपलब्धि है। कई अवसरों पर शब्द क्रिया में भी बदल जाते हैं। भावना अस्तित्व का रूप ले लेती है और श बहुत पीछे छूट जाते हैं।

अन्तत: मोहन राकेश एक ऐसे साहित्यकार थे, जिन्होंने ढ़र्रे की अपर्याप्तता और अप्रासंगिकता महसूस करते हुए अपने लिए एक नई राह बनाई। साहित्य की अलग-अलग विधाओ में उनका रचना कौश उनकी चिंतन शक्ति और अनुभूति का रूप सामने आ चुका है। इन्हांने अपने प्रयासों से नाटक, कहानी अ उपन्यास को नयी जमीन दी है।राकेश ने बदलती हुई परिस्थितियों की चुनौतियों को जिस प्रकार वैयक्तिक स्त पर झेला, उसी प्रकार साहित्यिक स्तर पर भी उन अनुभूतियों का साक्षात्कार किया है। आत्म-संघर्ष अ रचना-संघर्ष की समानान्तरता से ही उनके साहित्य में सृजनात्मक धरातल सदा एक जैसा नहीं रहा। उनक सृजन, बोध और संवेदना के विभिन्न धरातलों परआधारित है। धरातल सदा एक जैसा नहीं रहा। उनका सृजा बोध और संवेदना के विभिन्न धरातलों पर आधारित है। धरातलों के बदलाव में ही उनके साहित्य के रच परिप्रेक्ष्य और दृष्टि के क्रमिक विकास को देखा जा सकता है।

मोहन राकेश के नाटकों का मूल कथ्य अधूरेपन की यंत्रणा ही है। इसी यंत्रणा को उन्होंने अपने समग साहित्य में विभिन्न कोणों, स्तरों और आयामों में प्रस्तुत किया है। चुनौतियों को स्वीकार करने का एहस अत्यन्त तीव्र और तीक्ष्ण था। इसलिए यह तनाव मात्र एक वैयक्तिक तनाव न होकर युग का तनाव है। व सामाजिक चेतना को यर्थाथ की ही एक सीमा रेखा मानते थे।

राकेश ने अपने नाटकों में आधुनिक संवेदना की तीखी चुभन के बहु आयामी धरातलों को उभारने क प्रयत्न किया है। इसमें एक अंतरंगता और आत्मियता के साथ जीवन का अत्यन्त समीपी अंकन हुआ सम्बन्धों के उलझाव और व्यक्ति के बिखराव को उन्होंने अपने नाटकों में यर्थाथ रूप से उभारा है। अप नाटकों में राकेश ने विषम पात्रों की सृष्टि के द्वारा भी तनाव की रचना की है।

राकेश ने नाटक में रंगशिल्प को विशेष महत्व दिया है। उन्होंने अपने समस्त नाटकों की रचना रंगमंच की दृष्टि में रखकर की है। आज के जीवन की सच्चाईयों और व्यक्ति की स्थिति को राकेश ने नाट्कीय बिम्बों में अनुभव के नये कोण और अन्दाज के नये पहलू के साथ उभारा है। यह अनुभव और अन्दाज आधुनिकता का बोध लिए हुए है। आज के युग में नर-नारी के बीच लुप्त होते सम्प्रेष्ण से उत्पन्न त्रासदी को जिस क्षमता के साथ राकेश ने अपने नाटकों को उभारा है, वह नाट्कीय प्रतीभा की परिचायात्मक होने के साथ-साथ नाटक की नयी सम्भावनाओं को भी उजागर करती है।

राकेश के साहित्य में केवल आज का परिवेश ही जीवन्त रूप में प्रस्तुत नहीं हुआ बल्कि आज के जीवन का समस्त परिप्रेक्ष्य भी उद्घाटित हुआ है। सार्थक सम्बन्धों की खोज मात्र कुछ सुविधाजनक स्थितियों को जुटा लेने के लिए नहीं बल्कि युग के सांस्कृतिक संकट से उभरने के लिए है। अत: मोहन राकेश की सूक्ष्म व नवीन कथ्य दृष्टि, शिल्प दृष्टि और भाषा दृष्टि साहित्य को एक सजीव, मौलिक आधुनिक व जीवन्त रूप प्रदान करती है।

संदर्भित पुस्तकें

मोहन राकेश का नारी संसार	—	डॉ० मीना पिपलापुरे
मोहन राकेश और उनके नाटक	—	गिरीश रस्तोगी
मोहन राकेश के नाटक	—	डॉ० द्विजराम यादव
नाटक रंगमंच और मोहन राकेश	—	डॉ० सुरेन्द्र यादव
मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक	—	डॉ० नेमिचन्द्र जैन
अपने नाटक के दायरे में मोहन राकेश	—	तिलकराज शर्मा
नाटककार मोहन राकेश	—	जीवन प्रकाश जोशी
नाटककार मोहन राकेश	—	सुन्दरलाल कथूलिया
नाटककार मोहन राकेश: कल्पना का यथार्थ	—	विष्णुकान्त शास्त्री
मोहन राकेश की रंगसृष्टि	—	डॉ० जगदीश शर्मा
मोहन राकेश व्यकितत्व और कृतित्व	—	डॉ० रमेश कुमार जाधव
मोहन राकेश व्यक्तित्व और कृतित्व में उद्धृत	—	डॉ० घनानन्द एम० शर्मा
मोहन राकेश के नाटक: एक मूल्यांकन	—	डॉ० प्रसून प्रसाद
मोहन राकेश और उनके नाटक	—	डॉ० गिरीश रस्तोगी
मोहन राकेश व्यक्तित्व और कृतित्व	—	डॉ० सुषमा अग्रवाल
मोहन राकेश के कथा साहित्य में मानवीय संबंध	—	डॉ० चमनलाल गुप्ता
नाटककार मोहन राकेश	—	प्रकाश जीवन जोशी
मोहन राकेश के साहित्य का सामाजिक चित्रण	—	अर्जुनदेव तड़वी
मोहन राकेश के नाटक; एक मूल्यांकन	—	डॉ० प्रसून प्रसाद
मोहन राकेश का नाटय साहित्य	—	डॉ० पुष्पा बंसल
नाटक रंगमंच और मोहन राकेश	—	डॉ० सुरेन्द्र यादव
मोहन राकेश के नाटकों की समीक्षा	—	प्रो० राजेश शर्मा

अपने नाटकों के दायरे में मोहन राकेश	— तिलकराज शर्मा
आधुनिक नाटकों का मसीहा: मोहन राकेश	— डॉ० गोविन्द चातक
रंगशिल्पी: मोहन राकेश	— डॉ० नरनारायण राय

बोध प्रश्न

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न–

1. 'मोहन राकेश में ज्वलन्त साहित्यिक भाषा के अग्नि बीज मौजूद हैं।' उनकी कहानियों के आधार पर इस विषय की विवेचना कीजिए।
2. मोहन राकेश के नाटकों में जीवन सत्य की विवेचना कीजिए।
3. मोहन राकेश के नाटकों में विषय विस्तार पर चर्चा कीजिए।
4. मोहन राकेश के साहित्य और साहित्यिक चिंतन पर प्रकाश डालिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. मोहन राकेश ने कौन-कौन-से उपन्यास लिखें हैं? उनके नाम लिखिए।
2. निबन्ध के क्षेत्र में मोहन राकेश का क्या योगदान है?
3. अस्तित्ववादी चिन्तन किसे कहते हैं?
4. विसंगवादी नाटकों का जन्म किस प्रकार हुआ?
5. 'मोहन राकेश का समस्त रचना संसार समसाक्षिक युग चेतना से सम्पन्न है।' इस कथन से आप कहं तक सहमत हैं?

अति लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. मोहन राकेश ने कौन-कौन-से यात्रा वृत्तान्त लिखे हैं?
2. मोहन राकेश की रचना 'एक औरत का चेहरा' किस प्रकार की विधा है?
3. अस्तित्ववादी विचारधारा का जनक किसे माना गया है?

इकाई

8

मोहन राकेश की नाट्य कला

संरचना

8.1. प्रस्तावना
8.2. मोहन राकेश के नाटक
8.3. आषाढ़ का एक दिन
8.3.1 मूल संवेदना
8.3.2 पात्रों का चरित्र-चित्रण
8.3.3 अनुस्वार/अनुनासिक
8.3.4 द्वंदवादी चेतना
8.4. लहरों के राजहंस कथा वस्तु का क्रमिक विकास
8.4.1 पात्रों का मनोवैज्ञानिक धरातल पर चित्रण
8.4.2 व्यवस्था एवं संस्थागत टकराहट
8.5. आधे अधूरे
8.5.1 महानगरीय जीवन की त्रासदी
8.5.2 पात्रों की आधी अधूरी स्थिति
8.5.3 मूल्यों का प्रश्न
8.6. पैर तले जमीन

8.1. प्रस्तावना

नाट्य साहित्य में मोहन राकेश का योगदान अति प्रशंसनीय रहा है। राकेश ने स्वयं के जीये और भोगे हुए क्षणों को अपने नाटकों में वाणी दी। राकेश को सर्वाधिक सफलता अपने नाटकों के माध्यम से ही मिली। राकेश ने अपने जीवनकाल में तीन संपूर्ण—'आषाढ़ का एक दिन' (1958 ई०), लहरों के राजहंस (1963 ई०), आधे-अधूरे (1969 ई०) लिखें वहीं 'पैर तले की जमीन' अपूर्ण नाटक लिखा जिसे उनके मित्र कमलेश्वर जी ने पूर्ण किया।

'अंडे के छिलके अन्य एकांकी तथा बीज नाटक' पुस्तक में राकेश की चार एकांकियाँ—अंडे के छिलके, सिपाही की माँ, प्यलियां टूटती हैं, बहुत बड़ा सवाल है तथा दो बीज नाटक शायद और 'हं:' हैं। ये सभी एकांकी व्यंग्यपरक हैं। इनमें सामाजिक रूढ़ियों, युद्ध, कृत्रिम अभिजात्यता और कर्मचारियों के ढोंग को उजागर किया गया है।

राकेश जी यदा-कदा लेख एवं निबंधों की भी रचना करते रहे जिनमें प्रमुख हैं—परिवेश, रंगमंच और शब्द, कुछ और अस्वीकार, नयी निगाहों के सवाल : हाशिये पर, साहित्यकार की समस्याएँ तथा अन्य यत्र-तत्र प्रकाशित निबंध इसके अतिरिक्त यात्रावृत-चट्टान तक, पतझड़ का, रंगमंच ऊँची झील खासे प्रसिद्ध हुए।

राकेश अपनी लेखन ..... प्रक्रिया में नये आयामों की स्थापना करते हुए अपनी डायरी और अनुवादों के लिये चर्चित रहे हैं।

8.2. मोहन राकेश के नाटक

स्वातन्त्र्योत्तर नाटककारों में स्व० जयशंकर प्रसाद की रिक्तता की पूर्ति यदि किसी नाटककार द्वारा संभव हो सकी तो वे हैं—'मोहन राकेश'। अपने प्रथम दो नाटकों 'आषाढ़ का एक दिन और लहरों के राजहंस' ऐतिहासिक कलेवर को संजोए ये नाटक आधुनिक युगबोध का चित्रांकन करने में सफल रहे हैं। अपनी दोनों ही नाटयकृतियों में राकेश काफी संस्करणों तक निखार लाने के लिये सतत् परिवर्तन करते रहे। राकेश जी ने इतिहास को नवीन संदर्भों का संस्पर्श दिया। अपनी नाट्यकला में इन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों शैलियाँ एवं नाटय तत्वों को रूपायित किया है। 'आधे-अधूरे' नाटक में इन्होंने मध्यवर्गीय परिवार के संघर्षपूर्ण जीवन को कथानक का आधार बनाया है। इस नाटक में स्त्री-पुरुष संबन्धों में बढ़ते तनाव, घुटन, जीवन की विडम्बनाओं और विसंगतियों को उभारा गया है। वस्तुत: यह नाटक अधूरेपन में पूरेपन की तलाश का प्रयास है। अधिकतर आलोचकों ने इस नाट्यकृति को 'समकालीन जीवन की सही तस्वीर' कहा है।

राकेश जी का चौथा नाटक 'पैर तले की जमीन' अस्तित्ववादी दर्शन पर आधारित है। नाटक का नाम स्थितिबोधक है। इस नाटक में अस्तित्व का संकट तब पैदा होता है जब पैर तले की जमीन पानी के अंदर जाने लगती है।

'अंडे के छिलके' एकांकी पीढ़ियों के अन्तराल को दर्शाती है जहाँ बुजुर्ग और युवा पीढ़ी के लोग एक साथ रहते हैं। 'सिपाही की माँ' में एक माँ के हृदय की चिंता को आवाज दी गई है जबकि 'प्यालियाँ टूटती हैं' स्वातंत्रयोत्तर भारत में पारिवारिक सम्बन्धों के टूटने की व्यथा-कथा है। आज की व्यवस्था पर व्यंग करती राकेश की एकांकी 'बहुत बड़ा सवाल' वास्तव में ही प्रश्नों के ताने-बाने में बुनी हुई है। शायद और हं: दोनों बीच नाटक अर्थहीनता से जड़ बने लोगों का चित्रण करते हैं।

8.3. आषाढ़ का एक दिन (1958)

राकेश की प्रथम नाट्यकृति 'आषाढ़ का एक दिन' ने राकेश को नाटककार बना दिया। यह कहना गलत नहीं होगा कि यह नाटक राकेश के नाट्य साहित्य का प्रस्थान-बिन्दु है। काल्पनिक कथानक और ऐतिहासिक कलेवर के ताने-बाने में बुने इस नाटक का मुख्य पात्र कालिदास है। कालिदास एतिहासिक पात्र होते हुए भी उसके घात-प्रतिघात आधुनिक है, ग्राम-प्रांतर में पले-बड़े कालिदास का भावात्मक लगाव ग्राम्यबाला मल्लिका से हो जाता है। कालिदास को राजकीय सम्मान प्राप्त करने के लिए मल्लिका प्रेरित करती है ताकि उसकी प्रतिभा अपने चरम तक पहुँच सके। कालिदास का राजकीय सम्मान के लिए उज्जयिनी जाना, वहाँ महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना करना, गुप्तवंशी राजदुहिता व प्रियंगुमंजरी से विवाह होना सभी घटनाएँ एक-दूसरे से क्रमिक रूप से संबंधित है। नाटक का प्रारंभ आकर्षक, मध्य में नाटकीय मोड़ और अंत तक नाटक में गतिशीलता बनी रहती है।

8.3.1. मूल संवेदना

आषाढ़ का एक दिन नाट्यकृति में राजाश्रय साहित्यकार की सृजनशीलता के मार्ग की बाधा किस प्रकार बनता है? मूल रूप से इस विषय को आलोच्य नाट्यकृति में उठाया गया है। कालिदास के माध्यम से सर्जन और राजाश्रय के द्वंद को मुखर करते हुए इस अंतर्द्वंद में टूटते कलाकार के व्यक्तित्व और यथार्थ स्थिति का चित्रांकन किया गया है।

आलोच्य नाट्यकृति में पुरुष की अहमवृत्ति को शिकार बनी मल्लिका की अवश-विवश स्थितियों को दर्शाया गया है तथा साथ ही नारी की घुटन को प्रस्फुटित किया गया है। स्वयं नाटककार अपनी पुस्तक 'साहित्यिक और संस्कृतिक दृष्टि' में लिखते हैं -

"मैं इस नाटक में आज के लेखक की दुविधा का चित्रित करना चाहता था - लेखक जो राज्य या इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं द्वारा प्रस्तावित के प्रति आकर्षित होता है और दूसरी ओर कहीं अपने प्रति प्रतिबद्ध भी होता है।"

नाटक की मूल संवेदना कालिदास के सृजन प्रेरणा स्रोत को केंद्र में रखकर आगे बढ़ती है। कालिदास की कविता का जन्म ग्राप्रान्तर के रमणीक एवं प्रकृति के निश्छल वातावरण में होता है। जहाँ मल्लिका का स्नेह, विश्वास, प्रेम, आत्मसमर्पण उसे उसकी प्रतिभा को उज्जवल बनाने का अवसर देती है। मल्लिका की प्रेरणा पाकर कालिदास का कवि रूप निखार पाता है।

नाट्यकृति में नया मोड़ तब आता है जब राज्य कालिदास को सम्मानित करना चाहता है परन्तु कालिदास को ग्रामप्रान्तर की भूमि से स्वयं को जुड़ा हुआ पाता है वह नयी भूमि को अपनाने में आशंकित है जबकि मल्लिका कालिदास के व्यक्तित्व को पूर्ण विकसित देखना चाहती है, अत: वह कालिदास को नयी भूमि अपनाने व राज्य द्वारा दिये जाने वाले सम्मान को अपनाने के लिये प्रेरित करती है।

नई भूमि को अपनाने पर कालिदास का व्यक्तित्व विघटित होता चला जाता है। डॉ० रमेश गौतम जी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी के प्रतीक नाटक' में लिखा है-राजाश्रय और राजसत्ता प्राप्त करने के बाद कालिदास कुछ नहीं कर पाता, वह सब कुछ खो देता है, यहाँ तक की अपने प्रेरणादायक परिवेश के जीवंत तत्व मल्लिका को भी।"

कलाकार की रचनात्मक में बाधक राजकीय वातावरण एवं राजदुहिता प्रियंगुमंजरी से विवाह कालिदास के व्यक्तित्व को त्रासद, खंडित और टूटे हुए व्यक्तित्व में परिणत कर देते हैं जहाँ वह अपनी प्रेरक शक्ति मल्लिका को भी खो बैठता है।

राजकीय परिवेश कालिदास को सुख, एश्वर्य, मान-सम्मान देने में तो समर्थ रहा परन्तु एक कलाकार के मन को पोषित एवं तुष्ट न कर सका। यही कारण रहा कि कालिदास की राजकीय वातावरण से मुक्ति की कामना उसे यह पुन: ग्रामप्रान्तर के परिवेश में लौट जाने के लिये उद्वेलित करती है। कालिदास स्वीकार करता है कि उसका सर्जक कलाकार मन राजकीय परिवेश में कुछ नहीं लिख पाया जो कुछ उसने लिखा वह ग्रामप्रांतर के जीवन का ही संचय था।

इस प्रकार इस नाट्क में एक कलाकार की व्यथा को चित्रित किया है तथा साथ ही एक कलाकार अपने मूल परिवेश से किस प्रकार जुड़ा होता है इसको रूपायित करने में लेखक सफल रहा है।

8.3.2. पात्रों का चरित्र चित्रण

कालिदास

आलोच्य नाट्यकृति कालिदास के विभाजित मन का चित्रांकन करती है एक सृजनशील कलाकार का पहला वरन् उसका लेखन ही होता है इसके विपरीत कालिदास अपने अभावपूर्ण जीवन की प्रतिक्रिया स्वरूप कश्मीर की शासन व्यवस्था का अंग बनने तथा मात्र गुप्त का कलेवर अपनाने पर छटपटाता है। राजव्यवस्था उसके व्यक्तित्व को खंडित, अस्त-व्यस्त और जर्जर बना डालती है। आत्मीयता का अभाव उसे सालता रहा। कालिदास का व्यक्तित्व सत्ता के समक्ष निरीह एवं विवश दिखाई देता है वह सृजन एवं राजनीति में तालमेल बिठा पाने में असमर्थ है।

राजनीति से प्राप्त मातृगुप्त के कलेवर को अपनाने में वह स्वयं को असमर्थ पाता है। उसकी पत्नी प्रियंगुमंजरी उसे साहित्य और राजनीति के अंतर को स्पष्ट करती है कि राजनीति साहित्य नहीं है। इसमें एक-एक क्षण का महत्व है कभी एक क्षण के लिये भी चूक जायें, तो बहुत बड़ा अनिष्ट हो सकता है एक राजनीतिज्ञ के रूप में वह असफ रहता है। राजसत्ता का मोह उसकी कलाकार व्यक्तित्व को धूमिल कर देता है।

राजनीति किस प्रकार महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिये एक कलाकार को परिधि में बांधकर चलती है इसका पता कालिदास के व्यक्तित्व से चलता है। कालिदास अपने परिवेश से जुड़ा हुआ व्यक्ति है इसलिए 'मेघदूत' की रचना करते समय वह अपने ग्रामप्रान्तर के परिवेश की स्मृतियों में खो जाता है। वह भावनाशील व्यक्ति है जो राजसत्ता प्राप्त होने तथा सुख-सुविधाएँ, ऐश्वर्य प्राप्त होने पर भी उदास है। प्रियंगु से विवाह भी उसे उसकी ग्रामप्रान्तर की भूमि और मल्लिका की याद से अलग नहीं कर पाता क्योंकि मानसिक रूप से वह अपने प्रदेश से ही जुड़ा पाता है।

मल्लिका

कालिदास की बचपन की संगिनी मल्लिका के भीतर कोमलता, भावुकता, प्रेम, प्रतिदान रहित आत्मसमर्पण दृष्टिगत होता है। कालिदास की रचनाओं के प्रति उसका स्वाभाविक मोह है। वह कालिदास की प्रेरक शक्ति के रूप में मल्लिका का व्यक्तित्व एवं आचरण पारंपरिक धारणाओं पर प्रश्नचिन्ह लगाता दिखाई देता है।

मल्लिका प्रेरक शक्ति के रूप में कालिदास को राजकीय सम्मान लेने के लिए प्रेरित करती है तथा उसके व्यक्तित्व को पूर्ण विकसित होते देखना चाहती है। कालिदास के आभावपूर्ण जीवन एवं समाज द्वारा यदा-कदा उपहास का कारण बन चुके उसके जीवन को सुख-सुविधाओं से युक्त देखना ही मल्लिका का सपना है। कालिदास की उन्नति ही उसका सुख है। कालिदास और अपने संबंध को वह सभी संबंधों से बड़ा मानती है। अपनी माँ अम्बिका को वह बताती है कि मेरे लिए मेरी भावना ही सर्वोपरि है जो कि कोमल, पवित्र और अनश्वर है, मैंने भावना में एक भावना का वरण किया है।

मल्लिका को विलोम की संगनि बनाना स्वीकार्य नहीं परन्तु परिस्थितयाँ दोनों को दांपत्य सूत्र में बाँध देती है जहाँ प्रेम का सर्वथा अभाव ही दृष्टिगत होता है। वस्तुत: उसका चरित्र समाज की मान्यताओं को अस्वीकार करता है जहाँ पति-परमेश्वर है, उसकी इच्छा सर्वोपरि है।

अत: व्यवहार रूप में पल्लिका विलोम को अवश्य अपनाती है परन्तु मानसिक रूप में कालिदास से ही जुड़ी है।

प्रियंगुमंजरी

कालिदास का विवाह राजदुहिता प्रियंगुमंजरी से होने के बाद प्रियंगु अपने वैवाहिक जीवन से संतुष्ट नहीं हो पाती। प्रिंगु कालिदास से बाह्य रूप से जुड़ने में सफल हो जाती है परन्तु आंतरिक रूप से वह कालिदास को स्पर्श तक नहीं कर पाती। अपने दाम्पत्य जीवन को प्रेमपूर्ण बनाने में सतत् प्रयत्नशील रहती है तभी वह ग्रामप्रांतर के उस रमणीय वातावरण को साथ ले जाना चाहती है जिसके अभाव में कालिदास अपने रचना संसार से पूरी तरह जुड़ नहीं पा रहा है। प्रियंगु के भीतर नारी सुलभ चेष्टाएँ भी हैं तभी वह कालिदास की प्रेरक शक्ति मल्लिका को विवाह, घर का परिसंस्कार करने को कहती है ताकि उसके हृदय के सच को जान सके।

प्रियंगु राजपुत्री है इसलिए वह राजनीतिक महत्वकांक्षाओं की पूर्ति के लिए कालिदास को राजपुरुष बनाना चाहती है जबकि कालिदास भावनाशील पुरुष है वह प्रयास करती है कि राजनीति की ओर बढ़ा कालिदास का कदम कहीं पीछे न हट जाए।

अपने और कालिदास के सतही संबंध को वह ऊपर उठाकर आत्मिक रूप से जुड़ता हुआ देखना चाहती है जिसमें वह असफल रहती है।

प्रियंगु के भीतर ईर्ष्या की भावना भी पल्लवित होती है तभी वह देखना चाहती है वह घर मल्लिका का स्वरूप व ग्रामप्रांतर का वातावरण जहाँ की प्रेरणा ने कालिदास को मेघदूत का रचयिता बना दिया।

विलोम

विलोम मल्लिका से विवाह करने में तो सफल हो जाता है परन्तु वह भी मल्लिका के बाह्य रूप को ही प्राप्त कर पाता है क्योंकि मल्लिका के हृदय में तो आज भी कालिदास ही है। बाह्य रूप में मल्लिका और विलोम पति-पत्नी के संबंधों को वहन तो करते हैं परन्तु दांपत्य संबंध में जिस कोमलता, विश्वास, प्रेम, भावुकता, समर्पण की आवश्यकता होती है उसे वह पाने में सफल नहीं हो पाते।

आलोच्य नाट्य कृति में विलोम असफल कालिदास है जबकि कालिदास को सफल विलोम कहा गया है क्योंकि कालीदास को वह प्रेम सदैव मिलता है जिसकी कामना विलोम ने की थी इसलिए कालीदास सफल विलोम है विलोम सफल तभी हो पाता जब उसे अपने प्रेम के बदले मल्लिका से भी प्रेम मिलता परन्तु वह प्रेम विलोम को न मिल सका इसलिए विलोम को असफल कालिदास कहा गया है।

अंबिका

अंबिका मल्लिका की माँ के रूप में नाटक में दृष्टिगोचर होती है जो कालिदास के चले जाने पर मल्लिका को विवाह के लिए समझाती है परन्तु मल्लिका को अपने जीवन में किसी का भी हस्तक्षेप स्वीकार नहीं। अंबिका के माध्यम से लेखक नेबुजुर्ग पीढ़ी और मल्लिका के माध्यम से युवा पीढ़ी के विचारों को समाज के समक्ष रखा है।

अंबिका और मल्लिका के माध्यम से बुजुर्ग पीढ़ी और युवा पीढ़ी के विचारों में बढ़ती खाई की ओर संकेत किया गया है जहाँ बुजुर्ग पीढ़ी समाज के पारम्परिक रीति रिवाजों और उनके कुछ कहने से भयभीत है वहीं युवापीढ़ी स्वतंत्र होकर जीने तथा अपने अस्तित्व को कायम रखने की आकांक्षी है अत: राकेश ने दोनों के माध्यम से पीढ़ी अंतराल के भाव को मुखरित किया है।

मातुल

कालिदास के मामा मातुल को जब अपने अभावपूर्ण जीवन में राजाश्रय का प्रलोभन दिया जाता है तो वह तुरंत उसे स्वीकार कर लेते हैं परन्तु राजनीतिक वातावरण उन्हें सुख देने के बजाय उनके निजत्व और उनके अस्तित्व की पहचान को भी उनसे छीन लेता है यह वातावरण उसे देता है शारीरिक अपंगता, अस्त-व्यस्त शरीर और अभिशप्त वापसी।

8.3.3. अनुस्वार/अनुनासिक

राज्य व्यवस्था के प्रतीक अनुस्वार और अनुनासिक केवल स्थान और क्रम बदलने को ही परिवर्तन कहते हैं धैर्य और परिश्रम का इसमें नितांत अभाव है। इसलिए कार्य करने से पूर्व ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं इसलिए जो सामान जहाँ था उसे ऐसे ही रहने दिया जाये से दोनों सहमत हैं। अनुनासिक के पूछने पर और तो कुछ शेष नहीं अनुस्वार उत्तर देता है—मेरे विचार से कुछ भी शेष नहीं।

8.3.4. द्वंद्ववादी चेतना

'आषाढ़ का एक दिन' राकेश की निजी जीवन की घटना है जिसमें राकेश घुटा, जीया, छटपटाया और तनावपूर्ण रहा। आलोच्य नाटक में राकेश ने कालिदास के मुख से कहलवाया है—मैंने जब-जब लिखने का

प्रयत्न किया, तुम्हारे और अपने जीवन के इतिहास को फिर - दोहराया और उनसे हटकर लिखना चाहा तो रचना प्राणवान नहीं हुई।" (पृष्ठ 117) अत: यहाँ कालिदास की सर्जनात्मक शक्ति एवं राजाश्रय के द्वन्द्व को मुखर किया गया है।

कालिदास के माध्यम से आधुनिक व्यक्ति की नियति को चित्रित किया है जहाँ वह सदा द्वन्द की स्थिति में जीता है भावना और अर्थ सत्ता के बीच फंसे कालिदास की स्थिति आज के व्यक्ति से मेल खाती है जहाँ अभाव व्यक्ति को अर्थ सत्ता की ओर जाने के लिए प्रेरित करती है और अर्थ सत्ता प्राप्त करते ही अस्तित्व का संकट व्यक्ति को द्वन्द के घेरे में ला खड़ा करता है। भौतिकता वादी दृष्टि को अपनाए या भावनामयी दृष्टि के इसी द्वन्द में वह मल्लिका से विवाह नहीं कर पाता।

निक्षेप और मातुल कालिदास की चेतना को भौतिकता की ओर मोड़ते हैं। मातुल के अनुसार "सम्मान मिलता है, ग्रहण करो। नहीं, कविता का मूल्य ही क्या है "कालिदास को मिलने वाला सम्मान उसके वंश का सम्मान है न कि उसके कवित्व का, निक्षेप भी कालिदास को सम्मान पाने के लिए प्रेरित करते हैं। इस प्रकार एक और कालिदास राजाश्रय और अपने कलाकार मन के द्वन्द को झेलता है। तो दूसरी ओर अपनी प्रेमिका मल्लिका और पत्नी प्रियंगु के बीच भी द्वन्द को भोगता है कभी वह मल्लिका की ओर उन्मुख होता है तो कभी प्रियंगु के बातों को गौर से सुनता है। राजनीति और भावना प्रवण साहित्य के बीच के द्वन्द राकेश ने कालिदास के माध्यम से चित्रित किया है।

8.4. लहरों के राजहंस कथावस्तु का क्रमिक विकास

लेखन क्रम की दृष्टि से 'लहारों के राजहंस' राकेश का द्वितीय नाटक है। ऐतिहासिक कथा पर आधारित इस नाटक का नाम प्रतीकात्मक है। लहरों पर तैरते राजहंस की ही भाँति नाटक के पात्र नन्द और श्यामांग, भाव एवं विचार के धरातल पर अस्थिर तरंगों में तैर रहे हैं जहाँ गति तो है पर दिशा नहीं।

आलोच्य नाट्यकृति में कपितवस्तु के राजकुमार नन्द के बौद्ध भिक्षु बनने एवं उसकी पत्नी सुंदरी के रूप गर्व की कथा कही गई है। नन्द के जीवन की महत्वपूर्ण घटना है कि न तो वह मुग्ध कामुक प्रेमी के रूप में संतुष्ट है और नहीं निवृत्तिवादी भिक्षु के रूप में। दुविधाग्रस्त मानसिकता से पीड़ित नन्द के संशयग्रस्त जीवन को चित्रित करने में नाटककार सफल रहा है। प्रस्तुत नाटक में नन्द का भिक्षु बनना और सौन्दर्य की गगरी का छलकना दोनों ही आत्मविभोर कर देते हैं।

प्रस्तुत नाटक तीन अंकों में विभाजित है प्रतीकात्मकता का निर्वाह करते हुए नाटक में कामोत्सव का आयोजन एक तनाव उपस्थित करता है, कामोत्सव में किसी का न आना, सुंदरी के आक्रोश का चरम नाटकीय बिंदु है। अनिश्चय, अनिर्णय और चुनाव के संकट से गुजरना समकालिन मनुष्य की नियति बन चुकी है। नंद भी ऐसी ही परिस्थिति में जीने के लिए अभिशप्त है। उसका व्यक्तित्व दो भिन्न प्रवृतियों में विभक्त है। एक ओर वह सुन्दरी की ओर आकर्षित है तो दूसरी ओर बुद्ध की वाणी भी उसके आकर्षण का केन्द्र है उसकी अन्तश्चेतना के दो कोण सुंदरी और बुद्ध हैं उसके लिए किस ओर अधिक आकर्षण है अपने गंतव्य का निर्णय वह अंत तक नहीं कर पाता उसकी अवस्था तरंगों पर दोलायमान होने वाले राजहंसों की सी हो गई है। नंद अपने जीवन को संपूर्णता में जीना चाहता है इसलिए वह भोग और विराग दोनों जीवन दृष्टियों को अपने अन्दर समेटना चाहता है।

नंद सुन्दरी के रूप पर मोहित होते हुए भी भिक्षुओं के स्वर को सुनकर विह्वल हो उठता है। सुंदरी नन्द की मन: स्थिति को जान लेती है तथा उसे वचनमुक्त कर जाने को कहती है। नन्द बुद्ध क्षमा याचना के लिए जाता है परन्तु वह जब लौटता है तो भिक्षु बनकर। सुंदरी के अहम् को इससे चोट पहुँचती है वह उसे दूसरा

व्यक्ति कहकर सम्बोधित करती है। जबकि नन्द स्वीकारकरता है कि "अंतर पड़ता यदि मेरा हृदय बदल जाता।" वह सुंदरी को विश्वास दिलाना चाहता है कि भिक्षु बनकर भी वह आंतरिक रूप से परिवर्तित नहीं हुआ है।

अत: नंद का बुद्ध के पास जाना उसके आध्यात्मिक आकर्षण को इंगित करता है परन्तु सुंदरी के पास लौट आना इस बात को दर्शाता है कि वह भौतिकता में जीने वाला व्यक्ति ही है।

8.4.1. पात्रों का मनोवैज्ञानिक धरातल पर चित्रण

राकेश ने आलोच्य नाट्यकृति के पात्रों का चित्रण मनोवैज्ञानिक स्तर पर किया है राकेश के पात्र भैतिकता और आध्यात्मिकता, पार्थिव और अपार्थिव, अस्तित्व और अनास्तित्व कई स्तरों पर एक साथ जीते हैं।

नन्द के भीतर प्रतिरोधक क्षमता का अभाव है इसलिए वह एक मार्ग चुनने में असमर्थ है कभी वह सुंदरी की ओर आसक्त होता है तो कभी बुद्ध की ओर। सुंदरी और बुद्ध उसके लिए दो व्यक्ति या व्यक्तित्व नहीं है अपितु दो जीवन-दृष्टियाँ हैं। नन्द न तो बुद्ध के समान तपस्या को ही जीवन का चरम सत्य मानते हैं और न ही सुंदरी के समान है जो मात्र भौतिक ऐषणा पूर्ति को ही जीवन मानती है। नन्द की अपनी विचारधारा है उसका अस्तित्व, भौतिकवादी और आध्यात्मिक विचारधाराओं में कहीं खो गया है जिसे वह खोजना चाहता है।

अत: नन्द अनिश्चय की स्थिति में जीता है। वह जीवन में निश्चय ही नहीं कर पाता कि उसे किस मार्ग पर अग्रसर होना है। वह अपनी चेतना को एक प्रश्नचिन्ह के रूप में देखता है जहाँ अनास्था के बीच वह स्वयं को फंसा हुआ पाता है। सारांशत: नंद चुनाव के संकट से गुजरता हुआ एक संशयग्रस्त व्यक्तित्व है अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक होते हुए भी उसका मन दुविधाग्रस्त है।

सुंदरी नंद की पत्नी है। वह अहम् प्रिय है और द्वेष से ग्रस्त है। सुंदरी भौतिकता को पूरी तरह से अपने जीवन में अपनाती है। उसकी नंद के प्रति पूर्ण आसक्ति है तथा वह चाहती है नंद उसके सौन्दर्य पर आसक्त रहे। कामोत्सव के आयोजन को वह अपनी कामना का उत्सव मानती है। गोविन्द चातक के अनुसार—"इन्द्रिय स्तर पर जीने वाली वह नारी स्वकेन्द्रित होने के नाते सचेतन चुनाव नहीं कर पाती। वह अपने अस्तित्व में भौतिक जगत से बद्ध है वह पर बद्धता ज्ञान के स्तर पर नहीं द्वेष के स्तर पर है।"

सुंदरी को नन्द पर पूर्ण विश्वास है इसलिए वह उसे बुद्ध के क्षमा याचना के लिए भेजती है परन्तु जब नंद केश कटवा कर लौटता है तो सुंदरी उसे 'दूसरा व्यक्ति' कहकर सम्बोधित करती है। यह स्थिति नंद के लिए असह्य है क्योंकि उसके अनुसार परिवर्तन का आधार आंतरिक परिवर्तन है न कि केश कटना। नंद रात के समय ही घर छोड़कर चला जाता है तब सुंदरी भी घर पर अकेली रह जाती है। उसे भी यह घर अपना घर नहीं लगता।

सुन्दरी मानती है कि यशोधरा का आकर्षण ही गौतम बुद्ध को निर्वाण के मार्ग की ओर ले गया है। उसकी दृष्टि में गौतम बुद्ध का कामनाओं को जीतना भी एक कामना ही है जो उन्हें भौतिकता से जोड़ता है। सुन्दरी कहती है कि गौतम बुद्ध के पास एकत्रित होने वाली भीड़ धर्म और उपदेश के लिए नहीं बल्कि एकतार और नीरस जीवन में नवीनता का आभास पाने के लिए होती है।

गौतम बुद्ध अध्यात्म को जीवन में सर्वोपरि मानते हैं और जीवन को क्षणभंगुर व नश्वर मानते हैं। सुन्दरी का कथन है कि राजकुमार सिद्धार्थ को गौतम बुद्ध बनाने के पीछे यशोधरा का अपकर्षण है इसलिए वह कहती है— "नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है तो उसका आकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है। जब नन्द लौटकर नहीं आते तो सुन्दरी संशयग्रस्त हो जाती है और उसे लगता है-क्या उनके पंखों में इतनी शक्ति रही

होगी कि अपनी इच्छा से उड़कर कहीं चले जाते? और जिस ताल में इतने दिनों में थे, उसका अभ्यास उसका आकर्षण क्या इतनी आसानी से छूट सकता था?'' रूपगर्विता सुंदरी को इस बात का विश्वास था कि भौतिक ऐषणाएँ नन्द को आसक्त कर वापस लौटा लाएंगी! परन्तु जब नन्द नहीं लौटते तब सुंदरी के भीतर अंतर्द्वन्द व्याप्त हो जाता है।

राजहंसों के माध्यम से पात्रों की मन: स्थिति को रूपायित किया है। सुंदरी कहती है कि आध्यात्मिक बातें मनुष्य को आकर्षित तो करती हैं वह उन्हें आश्चर्यचकित हो सुनता भी है परन्तु परिस्थितियाँ रूपी लहरें व्यक्ति को अपने साथ बहा ले जाती है नंद के माध्यम से आधुनिक व्यक्ति की मन: स्थिति को नाटककार ने चित्रित किया है। नंद कहता है-''मैं चौराहे पर खड़ा एक नंगा व्यक्ति हूँ जिसे सभी दिशाएँ लील लेना चाहती हैं।'' इस नाटक में श्यामांग को नन्द के मन के प्रतीक के रूप में चित्रित किया है। उसका प्रलाप नन्द की अकुलाहट अनिश्चितता और विश्राम को संकेतित करता है-कोई स्वर नहीं है ... कोई किरण नहीं है ... सब कुछ अंधकूप में डूब गया है ... कोई मार्ग नहीं है ... लहरों पर से ... यह छाया हटा दो मुझसे यह छाया ओढ़ी नहीं जाती।'' अत: श्यामांग नन्द की अंत: मनोदशा की दुविधाग्रस्त चेतना का साकार प्रतीक बनकर सामने आया है।

8.4.2. व्यवस्था एवं संस्थागत टकराहट

लहरों के राजहंस नाट्यकृति में समाज-व्यवस्था परिवार संस्था एवं विवाह संस्था में अनास्था दृष्टिगत होती है। यही आधुनिक जीवन की विडम्बना है। पति-पत्नी का एक दूसरे की भावनाओं को न समझना विवाह संस्था पर प्रश्नचिन्ह लगाता है। नाटक में नन्द और सुंदरी ऐसे ही दम्पती हैं जो एक-दूसरे की भावनाओं को नहीं समझते। सुंदरी का अहंग्रस्त व्यक्तित्व नन्द की इच्छाओं, आकांक्षाओं को दबाता है जिसके कारण वह सुंदरी के समक्ष बौना दिखाई देता है। दूसरी ओर नन्द भी सुंदरी के विश्वास को बार-बार तोड़ता है। दाम्पत्य जीवन में जिस विश्वास, समर्पण की आवश्यकता होती है उसका सर्वथा अभाव नन्द और सुंदरी के दाम्पत्य जीवन में दृष्टिगत होता है।

अपने बड़े भाई गौतम बुद्ध के सम्मान के कारण नन्द अपने केश तो कटवा डालता है परन्तु सुंदरी का उसको न पहचानना उसे अधिक सालता है।दोनों ही स्वयं को गृहस्थ जीवन में भी अकेला अनुभव करते हैं। केश कटने पर नंद स्वयं को अकेला पाता है तो दूसरी ओर सुंदरी नन्द के घर छोड़कर चले जाने पर स्वयं को अकेला पाती है। सुंदरी का यह वाक्य-''इतना ही समझ पाए हैं ये?'' से स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में उत्पन्न तनाव, उलझन और आपसी समझ के अभाव को चित्रित किया है। अत: इस नाटक की भीतर पात्र बार-बार समाज व्यवस्था एवं परिवार संस्था से टकराता है। किंतु अलका और श्यामांग का सम्बन्ध नन्द और सुंदरी के आवेशपूर्ण और कामनात्मक सम्बन्ध से भिन्न है। नन्द सुन्दरी के समक्ष अपने मन की बात प्रकट नहीं कर पाता इसलिए श्यामांग के माध्यम से नन्द के अंतर्संघर्ष को नाटककार ने हमारे सामने प्रस्तुत किया है। नंद का केश मुंडन, व्याघ्र से युद्ध नन्द के अंतर्द्वन्द और संशय को व्यक्त करते हैं।

नाटक में 'अलका' मौन प्रेमिका के रूप में उभरी है। जिसके हृदय में श्यामांग के प्रति प्रेमानुकरण हो चुका है। वह सुन्दरी की दासी है परन्तु वह सुंदरी की सखी भी है। वह कभी-कभी सुन्दरी के मन की बात कहती है—''मैं और भिक्षुणी का वेश। .... नहीं मैं ऐसी बात नहीं सोच सकती। अभी नहीं।'' अत: अलका का व्यक्तित्व कभी-कभी सुंदरी के अस्तित्व को स्पष्ट करता है। अपने व्यक्तिगत विचारों को सुंदरी नंद पर थोपना चाहती है तथा उस पर शासन करना चाहती है दाम्पत्य सम्बन्ध में मधुरता का अभाव आलोच्य नाट्यकृति में दिखाई देता है।

8.5. आधे-अधूरे

8.5.1. महानगरीय जीवन की त्रासदी

आलोच्य नाट्यकृति में जीने वाले व्यक्ति के जीवन की त्रासदी का खाका खींचा है। यथार्थवादी समस्या नाटक होने के नाते यह नाटक समकालीन जीवन की सच्ची तस्वीर प्रस्तुत करता है। साथ ही इस नाटक के पात्र भी महानगरीय त्रासदी को झेलने वाले आधू-अधूरे हैं। 'आधे' का अर्थ 'हाफ' है और अधूरे का 'इनकम्पलीट' अर्थात् सम्पूर्णता का अभाव। महानगरीय जीवन भी मनुष्य के अभाव को आर्थिक समस्या, अस्तित्व संकट को इंगित करता है।

नाटककार ने अपने इस नाटक में स्पष्ट किया हैं कि महानगर में जीने वाला मध्यमवर्गीय परिवार कैसे-कैसे संघर्षों से गुजरता है? जब परिवार की आय अधिक थी तब सावित्री और महेन्द्रनाथ का परिवार चार सौ रुपये वाले मकान में रहता था, टैक्सियों से आना-जाना था, दावतें उड़ती थी, शराब चलती थी। बच्चे कान्वेंट में पढ़ते थे। परंतु इस ऐशो-आराम ने और सामाजिक-स्तीकरण की भूख ने महानगर में जीने वाले इस परिवार को एकाएक निम्नमध्य वित्तीय परिवार की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया। घर का मुखिया महेन्द्रनाथ निठल्ला हो गया और स्त्री को नौकरी करके परिवार का दायित्व ग्रहण करना पड़ा। आर्थिक-समस्या एक अच्छे-खासे परिवार को दीमक की तरह कैसे चाट जाती है यही इस नाटक का मूल बिंदू है।

आज महानगरीय जीवन में अजनबीपन का व्यवहार दिखाई देता है। सम्बन्धों में मधुरता का आभाव, दाम्पत्य जीवन में समझ का आभाव एवं पारिवारिक वैषम्य ही को देखा जा सकता है। आधे-अधूरे में चित्रित घर भी ऐसा है। इस घर में या तो कोई होता ही नहीं है और यदि होते हैं तो उनके मध्य वार्तालाप नहीं होता, इस कारण दूरियाँ बढ़ती जाती हैं। बदलते जीवन मूल्यों ने इस परिवार को तोड़ दिया है। इस घर का मुखिया एक ओर तो चाहता है कि सावित्री घर की आर्थिक स्थिति को संभाले, साथ ही वह यह भी चाहता है कि वह पराये पुरुषों के साथ संपर्क न रखे।

सावित्री के बॉस सिंघानिया को एक भ्रष्ट अफसर के रूप में चित्रित किया है जिनके लिए हर काम एक व्यवसाय है, उसकी कीमत चुकानी ही पड़ती है। जगमोहन एक ऐसे पुरुष के रूप से सामने आता है जिसके लिए स्त्री-प्रेम मात्र एक क्रीड़ा है। इसी प्रकार के मानवीय सम्बंध दाम्पत्य संबंधों को विघटन के कगार पर ला खड़ा करते हैं।

महानगर में आज एक आदर्श परिवार को खोज पाना असंभव सा प्रतीत होने लगा है। आज परिवार में निहित एकात्मकता एवं आत्मीयता के सूत्र पूरी तरह बिखरे हुए नजर आते हैं। आज की युवा पीढ़ी में बढ़ता असंतोष, आत्मीय सम्बन्धों की निरर्थकता, यांत्रिकता से टूटते जीवन-मूल्य ही महानगरीय जीवन के पर्याय बन चुके हैं। औद्योगिकरण और शहरीकरण की बढ़ती गति ने परिवारों में तनाव और संघर्ष की स्थिति को ही जन्म दिया है। परिवार के टूटने और बिखरने को ही जन्म दिया है। परिवार के टूटने और बिखरने का कारण बढ़ती उच्चाकांक्षाएँ और आर्थिक दबाव ही है। सुषमा अग्रवाल ने अपनी पुस्तक 'समकालीन नाटय साहित्य और मोहन राकेश के नाटक' में स्पष्ट रूप से लिखा है।

"आधे-अधूरे एक मध्यमवर्गीय परिवार के अलग-अलग कोणों से लिए गए अनेक स्नेप्स का 'एल्बम' है जिसमें कोई रंगीन तस्वीर नहीं है। सबके सब खाका जैसे या स्कैचेज जैसे।"

अत: सावित्री और महेन्द्रनाथ का यह घर पूरी तरह से महानगरीय जीवन की त्रासदी को प्रकट करता है।

8.5.2. पात्रों की आधी-अधूरी स्थिति

आधुनिक जीवन का साक्षात्कार करने वाला यह नाटक बेहद चर्चित रहा है। इस नाटक में महानगर में रहने वाले मध्यवर्गीय आधुनिक परिवारों का प्रतिबिंब देखा जा सकता है। इस नाटक में चर्चित परिवार के सदस्य स्वयं अधूरे होते हुए भी पूरे पन की तलाश करते हैं यही इस परिवार की विडम्बना है। नाटककार इस परिवार के माध्यम से सामान्य परिवार को चित्रित करना चाहता है इसलिए पात्रों को पुरुष एक, पुरुष दो, पुरुष तीन, पुरुष चार, स्त्री, बड़ी लड़की, छोटी लड़की, लड़का आदि कहकर पात्रों को प्रस्तुत करता है। इस नाटक का प्रत्येक पात्र चाहे वह महेन्द्रनाथ हो या अशोक, या फिर गृहस्वामिनी सावित्री, बड़ी लड़की बिन्नी, छोटी लड़की किन्नी सभी व्यक्तिगत रूप से आधी-अधूरी स्थिति में जीते हैं। इस घर की प्रत्येक वस्तु अव्यवस्थित है और वस्तुओं की ही भाँति पात्र भी अव्यवस्थित हैं। इस घर में जाने क्या है जो किसी को भी चैन से रहने नहीं देता। बड़ी लड़की अपनी अस्वाभाविक स्थिति के लिए उस चीज को ही जिम्मेदार मानती है।

इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता है कि एक ही पुरुष, चार-चार पुरुषों की भूमिका मात्र वस्त्र परिवर्तन के आधार पर ही करता है। पुरुष एक (महेन्द्रनाथ), पुरुष दो (सिंघानिया), पुरुष तीन (जगमोहन) पुरुष चार (जुनेजा) के रूप में चित्रित हैं।

पुरुष एक महेन्द्रनाथ घर का स्वामी है, वह बेकार, निराश और असफल पति है। शादी के बाद ही उसकी पत्नी को वह एक पूरे आदमी का आधा-चौथाई अर्थात् अधूरा, लिजलिजा चिपचिपा-सा आदमी लगने लगा। वह बेरोजगारी के कारण पत्नी की फटकार सुनता है। आर्थिक दृष्टि से वह अपनी पत्नी पर निर्भर है। वह स्वयं को एक घिसा हुआ रबड़ का टुकड़ा मानता है। वह कई बार सोचता है कि इस परिवार में उसकी हैसियत ही क्या है? परिवार के सदस्य उसे रबड़ स्टैम्प के ठप्पे के रूप में इस्तेमाल करते हैं। केवल जरूरत के वक्त यही बात उसे भीतर तक कचोटती है। उसकी कुण्ठा का कारण पारिवारिक अधिकारों से वन्चित होना है। जिस परिवार संस्था में प्रेम और सौहार्द होना चाहिए वही परिवार बिखरा हुआ और अधूरेपन को लिए हुए है।

सावित्री आत्मनिर्भर होते हुए भी असंतुष्ट है। अपनी आर्थिक स्थिति को मजबूत करने के लिए वह उच्च पद पर आसीन औरआर्थिक रूप से मजबूत पुरुषों से सम्बन्ध बनाती है। सावित्री घर के दायित्व का बोझ ढोते-ढोते थकी हुई नारी के रूप में चित्रित है जो पति बच्चों द्वारा ताने दिए जाने पर, आरोप लगाये जाने पर वह तिलमिला उठती है। पूरे पुरुष की तलाश उसकी अधूरी जिन्दगी को दर्शाता है जहाँ वह स्वतंत्र होकर केवल अपनी जिन्दगी को पूर्ण रूप से जीने की आकांक्षा रखती है।

सावित्री और महेन्द्रनाथ के असफल दाम्पत्य सम्बन्धों का प्रभाव बड़ी लड़की बिन्नी और मनोज के सम्बन्धों पर भी पड़ता है। इनके आपसी सम्बन्ध भी मधुरता और प्रेम के स्थान कटुता से भर जाते हैं। इस परिवार के भीतर ही ऐसी कटुता व्याप्त है जो किसी को सहज स्थिति में रहने नहीं देती।

इस दंपत्ति के बच्चे भी उदण्ड और जिद्दी है तीन भाई-बहन अशोक, बिन्नी और किन्नी की तनातनी के कारण इस घर का वातावरण है। इस घर के बच्चे कई अर्थों में संक्रमणशील समाज की पैदाइश है। अशोक को लगता है यह घर पूरी तरह से टूट चूका है जबकि बिन्नी सब कुछ बंधा रहने की कोशिश में संलग्न है और किन्नी को सदा यही लगता है कि कोई-कोई उसे प्यार करे, उसकी तरफ ध्यान दे। संवेदना से वंचित इस परिवार के सभी सदस्य अकेलेपन, विषाद अपरिचय एवं कटुता के वातावरण में जीने को विवश है। सावित्री महेन्द्रनाथ को आधा-अधूरा इसलिए समझती है क्योंकि वह कोई भी काम बिना अपने मित्रों के परामर्श के नहीं कर सकता। यहाँ तक की महेन्द्र ने विवाह तक अपने मित्र जुनेजा के परामर्श कर ही किया था यह सावित्री की खीज का कारण है। वह अपनी अंतर्वेदना का स्पष्ट करते हुए कहती है की 'मत कहिये मुझे महेन्द्र की पत्नी क्योंकि वह अधूरे आदमी की पत्नी कहलवाना पसन्द नहीं करती।

इस नाटक के पात्रों का सम्पूर्णता की तलाश करना, आर्थिक दबाव, उच्च वर्ग के प्रति बढ़ता आकर्षण, दिखावा उन्हें खोखला बनाता है। अशोक के भीतर बढ़ता असंतोष, आक्रोश आज की युवा पीढ़ी के आक्रोश को दर्शाता है वह मानता है कि सिंघानिया जैसे लोगों के आने से हम कितने छोटे हैं उससे और छोटे हो जाते हैं अपनी नजर में। सिंघानिया भ्रष्टाचारी अफसर है, केवल अपनी हाँकता है। सुनने की बजाये सुनाने में विश्वास करता है अशोक और सावित्री के मध्य कटुता का कारण है कि सावित्री व्यक्ति को अर्थ की कसौटी पर परखती है इसलिए वह आदमी को नहीं, बल्कि उसके रुतबे, पद और तनख्वाह को महत्व देती है।

घर की आर्थिक विषमता ने सभी पात्रों को अव्यवस्थित कर दिया। बिन्नी का मनोज के साथ भाग जाना या छोटी लड़की किन्नी का पुरुष-स्त्री के सम्बन्धों में रूचि दिखाना और घरवाली को 'मिट्टी के लौंदे' कहना यही दर्शाता है। सावित्री का अपनी जिन्दगी को लेकर फैसला करना हो या ये कहना - "सब के सब ... सब के सब ... एक से। बिल्कुल एक से हैं आप लोग? अलग-अलग मुखौटे पर चेहरा? ... चेहरा सबका एक ही।" उसकी असंतुष्टता को इंगित करता है साथ ही महेन्द्रनाथ का कहना की - मुझे पता है कि मैं एक कीड़ा हूँ जिसने अंदर ही अंदर इस घर को खा लिया है।" उसके असहाय पन को दर्शाता है। बुजुर्ग जुनेजा का सावित्री पर किया गया व्यंग्य कि बीस साल पहले भी सावित्री को महेन्द्रनाथ लिजलिज़ा और चिपचिपा सा ही लगता था परन्तु उसका जिम्मेदार उस समय जुनेजा नहीं बल्कि उसके माता-पिता थे। और अब .....। नेमिन्द्र जैन ने नटरंग पत्रिका के अंक 22 में लिखा है—

"अजीब है आज का इन्सान, खुद अधूरा होते हुए भी वह दूसरों में पूर्णता खोजता फिरता है। पूर्णता जो नितांत खोखली और काल्पनिक है। हम इसी की खोज में भटकते हैं। इसी नतीजे में अपनी और अपनों की ज़िन्दगी तबाह करते हैं।

मोहन राकेश ने अपने नाटक आधे-अधूरे में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जिससे सामान्य जनता के समक्ष वस्तु स्थिति का सम्पूर्ण चित्र उभर जाए। 'घरघुसरा रबर स्टैम्प, मिट्टी के लौंदे, कुछ ऐसे ही शब्द हैं। नाटक में घर के समान का बिखरा होना, कैंची की कच-कच की आवाज या फिर महेन्द्रनाथ का ये कहना मैं जिन्दगी काट रहा हूं। मैं जीवन के बिखराव, सम्बधों में कटाव और दूरियों को ही दर्शाता है।

8.5.3. मूल्यों का प्रश्न

स्वातान्त्रयोत्तर युग की परिस्थितियों ने हमारी सांस्कृतिक धरोहर एवं हमारे जीवन मूल्यों को लील जाने का भी कार्य किया है। 'अर्थतंत्र' के बढ़ते जाल ने मनुष्य के जीवन को विषाक्त एवं कटु बना दिया है। आधुनिक जीवन में 'अर्थ' के बढ़ते वर्चस्व ने मूल्यों पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया है। आज व्यक्ति के सामाजिक रूप, व्यवहार एवं दृष्टिकोण का नियम अर्थतंत्र ही करता है। आज जीवन की सार्थकता को अर्थार्जन से जोड़कर देखा जाता है। आत्मीयता एवं संवेदना का स्थान गौण होता जा रहा है। यही कारण है कि जीवन का हर पहलु, परिवार संस्था, विवाह संस्था, हमारी संस्कृति पर संकट आच्छादित है। आलोच्य नाट्यकृति में गृहस्वामीनी सावित्री 'अर्थ' को ही महत्व देती है। आर्थिक सुदृढ़ता की लालसा उसे नैतिक पतन की ओर धकेलती है। अपनी उच्चाकांक्षाओं की पूर्ति हेतु वह आत्मीय सम्बन्धों को भी ताक पर रख देती है।

सावित्री और महेन्द्रनाथ का परिवार उच्चवर्ग के स्वप्न देखता है। दिखावटी जिन्दगी का सहारा लेता है। फलत: आर्थिक असंतुलन से टूटता है। अशोक और महेन्द्रनाथ की बेकारी ने इस समस्या को और जटिल बना दिया है।

परिवार संस्था के भीतर जिस आत्मीयता की आवश्यकता है वह इस परिवार से नदारद है माता-पिता अपने बच्चों को जो स्नेह और सुरक्षा प्रदान करते हैं। सावित्री और महेन्द्रनाथ दोनों ही वे अपने बच्चों को न दे

सके जिसके कारण तीनों ही बच्चें बिन्नी, किन्नी, अशोक नैतिक पतन की कगार तक जा पहुँचे। यह परिवा संस्कार, मूल्यों, स्नेह, आत्मीयता का वातावरण दे सकने में असफल रहा है। और आज का व्यक्ति भी अप स्वार्थी मनोवृत्ति के कारण स्वयं के विषय में ही सोचता है अन्यों से कुछ लेना-देना नहीं। आज शुष्क संवेदना मनुष्य के नैतिक पतन का कारण बन चुकी हैं।

आज के समाज में त्याग, संयम, आत्मीयता, निष्ठा, अन्डरस्टैंडिंग जैसे मूल्यों का नितांत अभा दृष्टिगोचर होता है। आलोच्य नाट्यकृति में चित्रित परिवार इसका ज्वलंत उदाहरण है।

8.6. पैर तले की ज़मीन

अस्तित्ववादी चिंतन के धरातल पर स्थित 'पैर तले की जमीन' मोहन राकेश जी का अंतिम नाटक है मोहन राकेशअपने जीवनकाल में इस नाटक का केवल खाका और प्रथम अंक ही पूर्ण लिख पाए थे। उनके देहावसान के पश्चात् इस नाटक का दूसरा अंक उनके घनिष्ठ मित्र कहानीकार कमलेश्वर जी ने पूर्ण किय नाटककार के अनुसार इस नाटक के चार भाग हैं - बाढ़, जमीन कटना, आत्मस्वीकार और बाढ़ का उतरन इस नाटक का परिवेश श्रीनगर का 'टूरिस्ट क्लब ऑफ इंडिया' है। इस क्लब में कुछ ऐसे लोग एकत्रित हैं ज अपने जीवन की रिक्तता, बेचैनी और कडुवाहट को भुला देना चाहते हैं। इस नाटक के पात्र अलग-अलग परन्तु नियति ने उस दिन के लिए उन्हें एक स्थल पर ला दिया है। अचानक बाढ़ के आने से टूरिस्ट क्लब का शहर से जोड़ने वाला पुल टूटने लगता है और उनका संपर्क बाहर की दुनिया से कट जाता है। आसन्न मृत्यु का छाया में पात्रों की मनोवृत्ति कैसे बदलती है इसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण राकेश जी ने बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है।

आलोच्य नाट्यकृति में मनुष्य के अस्तित्व से जुड़े प्रश्नों को उठाया गया है। जब संकट सामने आता तभी व्यक्ति को अस्तित्व की पहचान होती है। इसलिए नाटककार ने इस नाटक के पात्रों के समक्ष बाढ़ आने पा मृत्यु के संकट को लाकर खड़ा कर दिया है। मृत्यु को सामने देख सभी पात्र अपने चेहरे पर चढ़े मुलम्मे का उतार देते हैं और जीवन के मूल तत्व को पाते हैं किन्तु कुछेक घंटों के बाद बाढ़ के पानी के कम होने का सूचना मिलती है, टेलीफोन की घंटी बजती है और जीवन के बचने का आश्वासन मिलता है, सब पुनः पहल की मनःस्थिति को प्राप्त होते हैं।

पुरुष पात्र अयूब अपनी पत्नी सलमा से निराश है।वह जिन्दगी को ढोता है और निजी जीवन में पूर्णता क तलाश करता है। उसे एक ऐसी स्त्री की तलाश है जो उसका हर स्थिति में साथ दे सके। वह उस हर स्त्री क कब्रिस्तान की संज्ञा देता है जिसकी इनोसेंस और भोलापन मर चुका है। दूसरी ओर सलमा को न तो जिंदगी से प्यार है न तो मौत का डर। उसके लिये जिंदगी और मौत दोनों समान हैं। अनिच्छा से हुए विवाह के कारण व अयूब से आंतरिक रूप से जुड़ नहीं पाती और भरे-पूरे घर में रहते हुए भी कब्रिस्तान में बदलती जा रही है।

अतः नाटक में चित्रित पात्र अयूब, अपनी स्वतंत्रता और अस्तित्व को बनाये रखना चाहता है। दाम्पत जीवन में असफल अयूब, रीता और नीरा के साथ अनैतिक आचरण करता है। दूसरी ओर अयूब की पत्न सलमा परंपरागत मूल्य 'पति परमेश्वर' को नकारती है और अयूब से घृणा करती है।

अपने अस्तित्व में बाधक मूल्यों को आज का व्यक्ति अस्वीकारता है। युवा पीढ़ी अपने ऊपर किसी प्रका का प्रतिबंध स्वीकार नहीं करती और न ही किसी क्षेत्र को निषिद्ध मानती है इसलिए बाढ़ की सूचना मिल परभी नीरा स्वीमिंग पुल में स्नान करती है, आधुनिक संगीत सुनती है और छोटी लड़की होने के बावजूद छोट कहलाना पसंद नहीं करती। इस प्रकार नीरा में निषेध की भावना उसके आधुनिकता को दर्शाती है।

रीता को सामाजिक व्यवस्था का बंधन रास नहीं आता। अयूब की अमानुषिक वृत्ति का शिकार बनते समय उसे डर अयूब से नहीं बल्कि अपने भीतर के तृप्ति रूपी जानवर से है। अपनी तृप्ति उसके लिये महत्वपूर्ण है न कि मूल्य। अपनी तृष्णा के लिये मूल्यों को ताक पर रखना मंजूर है। संकट के समय भी वह चयन की क्षमता रखती है वह अपनी मर्ज़ी से अपना अन्त तय करना चाहती है। वह पूरी तरह से अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक है जो आधुनिकता से जोड़ता है।

आज का व्यक्ति कितना मुखौटावादी हो गया है। व्यक्ति की इसी मुखौटावादी प्रवृत्ति को इस नाटक में दर्शाया है। बाढ़ के आने पर मृत्यु का संकट जब गहराने लगता है तब सभी पात्र अपने-अपने 'खोल' से बाहर आने लगते हैं तब अयूब कहता है-"सब एक-दूसरे का खोल उतरते देखना चाहते हैं- मगर अपना खोल बनाये रखते हुए।"

पूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले झुनझुनवाला का चरित्र समय की वर्तमान व्यवस्था को दर्शाता है। मृत्यु को सामने देखकर वह भी भयभीत हो जाता है जीवन की अंतिम घड़ी में वह आत्मस्वीकार करता है कि मैंने धर्म, नैतिकता, विज्ञान, राजनीति सबको अपना व्यापार बनाया। कालाबाजारी, रिश्वतखोरी समाज संस्था की जड़ों को कैसे हिला रही है यह विषय नाटक के मूल रूप से उभरा है। पंडित आत्म हनन की स्थिति में जीता है। मृत्यु के कगार पर खड़ा होकर वह भी अपने नंगेपन के साथ तथा स्वतंत्र होकर मरना चाहता है। अत: इस नाटक के पात्र चाहे रीता हो या नीरा, झुनझुनवाला या पंडित, अयूब या सलमा सभी में संस्थागत टकराहट और पारंपरिक मूल्यों का निषेध ही दृष्टिगोचर होता है।

अत: इस नाटक में मोहन राकेश जी ने मूल्य-विघटन, अस्तित्व-चेतना, सम्बन्धों के खोखलेपन, विसंगति, भय, पीड़ा, व्यक्ति की निम्नतर वृत्तियों को अनूठे ढंग से दर्शाया है। नाटक की सभी स्थितियाँ पैर तले की जमीन पर टिकी हुई हैं जैसे ही जमीन पानी के अंदर जाने लगती है अस्तित्व संकट खड़ा हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के पैर के नीचे धरती है, जब तक बोध होता है तब तक अस्तित्व की संभावना है।

अंडे के छिलके अन्य एकांकी तथा बीज नाटक

नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से आलोच्य एकांकी संग्रह में चार एकांकियाँ, दो बीज नाटक और एक पार्श्व नाटक है। इन एकांकियों में राकेश जी ने व्यंगयपरक शैली को अपनाते हुए आज की राजनैतिक व्यवस्था, सामाजिक मूल्यों, पीढ़ी अन्तराल, युद्ध जिन्दगी से हताश आधुनिक व्यक्ति के विविध पहलुओं को दर्शाया है।

अंडे के छिलके एकांकी में एक ऐसे परिवार को चित्रित किया गया है जहाँ अंडे खाना वर्जित है परन्तु इस घर में अंडे छिपाकर खाये जाते हैं। रामायण और महाभारत के बदले उपन्यास पढ़े जाते हैं। इस एकांकी का सारा घटनाक्रम अंडे के छिलकों को लेकर चलता है। एकांकी का नाम प्रतीकात्मक है। आज प्राचीन जीवन मूल्य मात्र छिलको के रूप में ही शेष है। माँ जमुना धार्मिक विचारों की महिला है और पुरानी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करती है जबकि घर के अन्य सदस्य श्याम, गोपाल, माधव, बीना और राधा दोहरा जीवन जीते हुए आधुनिकता की ओर अग्रसर हैं।

सिपाही की माँ एकांकी में एक माँ की ह्रदय की वेदना को उभारा गया है। युद्ध की घटनाएँ और उसके समाचारों से एक माँ का ह्रदय कैसे छलनी होता है। राकेश जी इस एकांकी में यह दिखाने के साथ-साथ मूल्यों में ह्रास को राष्ट्रीयता से जोड़कर प्रस्तुत किया है। आधुनिक युग की कृत्रिम सभ्यता में 'प्यालियाँ टूटती हैं' एकांकी परिवारिक सम्बन्धों के टूटने का पक्ष चित्रित करती है। अत्याधुनिक समाज में आज जो व्यक्ति 'फिट' नहीं बैठता है उसे टूटी प्यालियाँ की तरह फेंक दिया जाता है। 'सामाजिक सिस्टम' पर व्यंग्य करती एकांकी

'बहुत बड़ा सवाल' एकांकी यह दर्शाती है कि आज काम कम, बातें अधिक होती हैं। सभाओं में एक–दूसरे आरोप-प्रत्यारोप अधिक होता है। अत: आज की व्यवस्था के कारण ही जीवन और कार्य की एकरसता हुई है।

राकेश के दो बीज नाटक शायद और हं: की विशेषता है कि संवादों में तारतम्यता नहीं है। पुरुष बोलता है स्त्री उसे सुनकर कुछ और ही संवाद बोलने लगती है। जो कि बड़ा ही नाटकीय लगता है। प नाटक छतरियाँ में केवल एक पात्र ही मंच पर आता है। पार्श्व से आने वाली ध्वनि के टूटने, पारिवा सम्बन्धों के विघटन, राजनैतिक निष्क्रियता और भ्रष्टाचार, समाज-व्यवस्था के खोखलेपन की कहानी क है।

मोहन राकेश के नाटकों का मंचन

आधुनिक हिंदी नाटक और रंगमंच को एक नवीन दिशा दिखलाने वाले राकेश के नाटकों का मंचन में ही नहीं वरन् विदेशों में भी सफलतापूर्वक हुआ है। रंगमंचीय आन्दोलन का सूत्रपात राकेश के प्रथम ना 'आषाढ़ का एक दिन' से ही माना जाता है। इनके नाटकों की प्रस्तुतियों का आँकडा शतकों में पहुँच चुक साथ ही इसका महत्वपूर्ण बिंदु यह है कि इनके नाटक अन्य भाषाओं जैसे अंग्रेजी, पंजाबी, गुजरा ती, मर कन्नड़ आदि भाषाओं में भी मंचित हुए हैं। वैसे तो माना जाता है कि नाटक अभिनीत होने के लिये ही हो परंतु राकेश ने अपने नाटकों में अपनी शैली को ऐसे तराशा है कि उनके नाटक न केवल संचित होते हैं ब रेडियों पर सुनने व पाठकों द्वारा आनंदित होकर पढ़े भी जाते हैं।

भारतेन्दु जी, उमाशंकर प्रसाद, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीनारायण लाल जी के नाटकों ने हिन्दी रंगमंच प्रतिष्ठित करने में सहायक भूमिका तो निभाई परंतु रंगमंच को सुदृढ़ता एवं विकास की दुनिया में पदार्पण द का श्रेय राकेश जी को ही दिया जा सकता है।

राकेश के नाटकों पर न केवल 'उसकी रोटी' और 'आषाढ़ का एक दिन' दो फिल्में बनीं बल्कि उ नाटकों को संगीत नाटक अकादमी साहित्य कला परिषद से अनेक पुरस्कार एवं सम्मान प्राप्त हुए हैं। ने फैलोशिप पाने वाले वह प्रथम नाटककार हैं। आज भी राकेश के नाटकों का मंचन श्रीराम सेंटर, राष्ट्रीय न विद्यालय में होता रहता है। अनेक थीएटर फेस्टिवलम् में राकेश के नाटकों का मंचन होना इस बात को दर्श है कि आज भी भारतीय रंगकर्मी चाहे रामगोपाल बजाज हो, सुरेश अवस्थी, द.ब. कारत, ओमशिव ध्यानचंद जालान, सुधा शिवपुरी, इब्राहिम अलकाजी, अल्लना इन सभी अपनी क्षमता के प्रदर्शन का अ राकेश के नाटकों को ही मानते हैं। राकेश के समस्त नाटकों की प्रदर्शन सूची नेमिचंद जैन द्वारा सम्पा पुस्तक 'मोहन राकेश' के सम्पूर्ण नाटक में उपलब्ध है।

संदर्भित पुस्तकें

मोहन राकेश के नाटक: एक मूल्यांकन	– डॉ० प्रसून प्रसाद
मोहन राकेश और उनके नाटक	– डॉ० गिरीश रस्तोगी
मोहन राकेश व्यक्तित्व और कृतित्व	– डॉ० सुषमा अग्रवाल
मोहन राकेश के कथा साहित्य में मानवीय संबंध	– डॉ० चमनलाल गुप्ता
नाटककार मोहन राकेश	– प्रकाश जीवन जोशी
मोहन राकेश के साहित्य का सामाजिक चित्रण	– अर्जुनदेव तड़वी
मोहन राकेश के नाटक: एक मूल्यांकन	– डॉ० प्रसून प्रसाद

मोहन राकेश का नाटय साहित्य — डॉ० पुष्पा बंसल

नाटक रंगमंच और मोहन राकेश — डॉ० सुरेन्द्र यादव

मोहन राकेश के नाटकों की समीक्षा — प्रो० राजेश शर्मा

अपने नाटकों के दायरे में मोहन राकेश — तिलकराज शर्मा

आधुनिक नाटकों का मसीहा: मोहन राकेश — डॉ० गोविन्द चातक

रंगशिल्पी: मोहन राकेश — डॉ० नरनारायण राय

बोध प्रश्न

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न–

1. 'आषाढ़ का एक दिन' की मूल संवेदना की व्याख्या कीजिए।
2. मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' के नायक के चरित्र का वर्णन कीजिए।
3. मोहन राकेश के नाटक 'लहरों के राजहंस' की कथावस्तु के उत्तरोत्तर विकास पर प्रकाश डालिए।
4. मोहन राकेश के नाटक 'लहरों के राजहंस' की व्यवस्था और संस्थागत टकराहट पर प्रकाश डालिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक का आदि, मध्य तथा अन्त भाव किस प्रकार का है?
2. 'मोहन राकेश का नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' उनकी द्वन्द्ववादी चेतना का प्रतीक है।' इस विषय पर टिप्पणी कीजिए।
3. मोहन राकेश के नाटक 'लहरों के राजहंस' के पात्र नन्द का मनोवैज्ञानिक धरातल पर चित्रण कीजिए।
4. मोहन राकेश के नाटक 'आधे अधूरे' में महानगरीय जीवन की तबाही का मंजर दिखाया गया है। इस विषय पर अपने विचार प्रकट कीजिए।
5. मोहन राकेश के नाटक 'आधे अधूरे' में पात्रों की आधी अधूरी स्थिति दिखाई देती है। इस विषय में आपका क्या मत है?
6. अस्तित्ववादी चिंतन के धरातल पर स्थित मोहन राकेश के नाटक 'पैर तले की जमीन' की कथावस्तु अपने शब्दों में लिखिए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. कमलेश्वर ने मोहन राकेश के किस नाटक को पूर्ण किया?
2. 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक का मुख्य पात्र कौन है?
3. 'आधे अधूरे' नाटक का मुख्य पात्र कौन है?
4. मोहन राकेश के नाटक 'पैर तले की जमीन' की नायिका कौन है?

❑❑❑

इकाई

9

आषाढ़ का एक दिन : एक विवेचना

संरचना

9.1. प्रस्तावना
9.2. आषाढ़ का एक दिन—तात्विक विवेचन
9.3. वस्तु—योजना
9.4. पात्र का चरित्र-चित्रण
9.4.1. मल्लिका
9.4.2. कालिदास
9.4.3. विलोम
9.4.4. अंबिका
9.5. कथोपकथन अथवा संवाद-योजना
9.6. देशकाल वातावरण
9.7. भाषा-शैली
9.8. कहानी का उद्देश्य अथवा संवाद
9.9. रंगमंच और अभिनेयता
9.9. रंगमंच और अभिनेयता
9.10. नाटक का सारांश

9.1. प्रस्तावना

आधुनिक नाटकों का स्वरुप परम्परागत नाट्क-परम्परा से एकदम हटकर है। नाटक इस दृष्टि से अ परम्परागत आधारों पर नाटकों के विवेचन-विश्लेषण का कोई औचित्य नहीं रह गया। इस प्रकार नाटक प रस एवं किसी विशिष्ट उद्देश्यों को सामने रखकर रचे जाते थे। '**आषाढ़ का एक दिन**' नाटक में जिस प्र के और जिस ढंग से कथ्य-कथानक की योजना की गई, पात्रों को योजना और उनके चरित्र-चित्रण किये हैं, उन सब में परम्परा का निर्वाह किसी भी रूप में नहीं हुआ है बल्कि एक नव्य प्रकिया और प्रणाली नाटककार ने अपनाई है। इन स्थितियों में परम्परागत दृष्टियों और आधुनिक दृष्टियों से नाटक के जो क्रम तीन, छः या सात तत्व स्वीकार किए गये हैं, उनका कसोटी पर '**आषाढ़ का एक दिन**' आज से कि सी ना को परखने कोई तथ्य नहीं है। फिर भी विशुद्ध अकादामक स्तर पर भी नाटकों अथवा साहित्य के अ विधात्मक रूपों के तात्विक विवेचनों की परम्परा विद्यमान है। इस दृष्टि से कृति का मूल्याँकन यहाँ प्रस्तुत हैं।

9.2. आषाढ़ का एक दिन–तात्विक विवेचन

नाटक मूलत: साहित्य का एक दृश्य विधानात्मक विधा और स्वरूप है। कथात्मक साहित्य के अन्त आने वाले विधात्मक रूपों के आधुनिक पारप्रेक्ष्य में मूख्यत: छ: तत्व स्वीकार किये जाते हैं। पर जहाँ त

कथात्मक-साहित्य के इस दृश्य-स्वरूप या विधा का प्रश्न है, दृश्यमयता के कारण इसके क्रमश: सात तत्व स्वीकार किये जाते हैं। यहाँ आषाढ़ का एक दिन नाटक के तात्विक विवेचन के लिए नाटक के सात मुख्य तत्व स्वीकार किए गए हैं। क्रमश: उन तत्वों के नाम हैं—1. वस्तु योजना, कथात्मक या कथा वस्तु 2. पात्र और चरित्र-चित्रण 3. कथोपकथन या सम्वाद 4. देशकाल और वातावरण 5. भाषा-शिल्प 6. उद्देश्य एवं सन्देश और 7. रंग-मंच एवं अभिनेयता। जब हम इन तत्वों की कसौटियों पर '**आषाढ़ का एक दिन**' नाटक को कसते हैं तो निम्नलिखित तथ्य हमारे सामने आते हैं।

9.3. वस्तु-योजना

इसे कथानक और कथावस्तु के नाम से भी आभहित किया जाता है। नाटक का वस्तु-योजना आधिकारिक दृष्टियों से इतिहास संयत होते हुए भी विशुद्ध ऐतिहासिक नहीं बल्कि कल्पना-प्रधान ऐतिहासिक है। क्योंकि नाटककार ने कथानक के नायक कालिदास को युग-युगों का सृजन चेतना का प्रतीक मानकर उसका चित्रण किया है। अत: वस्तु-विन्यास एवं विकास में आधुनिक बल्कि यथार्थ युग-बोध अधिक समान्वत एवं संयत हो पाया है। वस्तु-विन्यास और विकास के लिए नाटककार ने कालिदास के सम्बन्ध में प्रचलित मान्य कवदान्जयों, लोक-कथाओं और ऐतिहासिक अनुमानों का सहारा ही अधिक लिया है, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से कथा-नायक कालिदास जहाँ युग-युगों का सृजन-प्रतिभा का प्रतीक बनकर हमारे सामने आया है, वहाँ कथा-नायिका भी एक प्रकार से युग-युगों का समार्पता प्रेमिका और नारी के रूप में ही हमारे सामने आया है, वहाँ कथा-नायिका भी एक प्रकार से युग-युगों का समार्पता प्रमिका और नारी के रूप में ही हमारे सामने चित्रित हो पाई है। कुल मिलाकर '**आषाढ़ का एक दिन**' का वस्तु-योजना उपेक्षा एवं अपमान सहते हुए ग्राम-प्रांत में स्थानीय काव्य के रूप में रहने वाले कालिदास के अपने काव्य '**ऋतु संहार**' के बल पर मल्लिका के पास से राज्य कवि बन कर जाने और फिर अपनी वास्तिविक भूमि की खोज में उसके पास लौटकर वापस आने पर समय के प्रभावों को लक्षित करके किसी अज्ञात दिशा में मल्लिका के पास से चले जाने तक का ही है। इसी को ही नाटककार ने ऐतिहासिक पर्यावरणों में युगान सन्दर्भों में रूपायत एवं ह्रदय रूप में प्रस्तुत किया है।

वस्तु-विवेचन करने से पहले संक्षेप में और उसके विन्यास को देख लेना उचित रहेगा। अत्यन्त सक्षिप्तक्रम में इसका रूप इस प्रकार है—किसी अनजाने पर्वतीय प्रदेश सें सदियों में पहले या अनजाने काल में, पहाड़, प्रकृति की गोद में बसे **किसी गाँव में कालिदास नामक एक व्यक्ति का जन्म हुआ**। यह जन्म से ही कवि प्रतिभा से संयत था। पर शेशवा सुकुमार क्षणों में ही वह अपने माता-पिता के स्नेह-लालच से वंचित हो गया। उसके पशु-पालक मामा ने अत्यधिक उपेक्षा, अवमानना की छाया में उसका लालन-पालन किया। उसे पशुपालक बनाना चाहा, पर उसका सहजात काव्य-प्रतिभा उसे पर्वतीय प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में विचरण करते रहने के लिए विवश करता रहा। परिणामत: घर परिवार और ग्राम्य समाज की ओर से उसे आवारा समझा जाने लगा। पर गाँव की एक बालिका जो बचपन से ही उसके साथ खेला कूद कर बड़ी हुई थी, यौवन-काल में मल्लिका के रूपों में उसकी काव्य-प्रतिभा से, उसके समूचे व्यक्तित्व से प्रेम करती रही। उसकी प्रतिभा को सम्मान की वस्तु समझती रही। अपनी माता अम्बिका के अनवरत विरोध के बावजूद मल्लिका किसी भी लोकापवाद की चिंता किए बिना आंतरिक भावना के स्तर पर कालिदास से प्रेम करती रही। उसी के स्नेह-प्रेम की छाया में प्रकृति और उसका अनवरत प्रेरणाओं से कालिदास ने '**ऋतु संहार**' उज्यायना के राज-दरबार में पहुँचा। यहाँ सभा उससे अत्यधिक प्रभावित हुई। उज्जायना सम्राट ने कालिदास को बुलवाकर राज-कवि के सम्मानित पद पर प्रतिष्ठित किया। मल्लिका को आंतरिक प्रेरणा और आग्रह से उज्जायना पहुँच कर कालिदास ने मान-सम्मान धन-वैभव और यश सभी कुछ प्राप्त कर लिया। विदुषी

राजपुत्री प्रियंगु मजरी से उसका विवाह भी हो गया, पर स्यात् कालिदास मानसिक सन्तोष और शान्ति न प सके। एक प्रकार से या बाह्य दृष्टियों से अपने विगत जीवन को एकदम भुलाकर कालिदास अपने वर्तमान में ह रम गया, फिर भी वह अशान्त रहा, असन्तुष्ट रहा।

अपने उखड़े और भटके मन की शन्ति के लिए अब उसने अपना रूख राजनीति की ओर किया। व मातृगुप्त के नाम से काश्मीर का शासक बन कर काश्मीर गया। पर स्वभावत: राजनीतिज्ञ न होने के कारण व अपने-आपको राजनीतिज्ञ क्षेत्रों में भी जमा न सका। उज्जायना-सम्राट का निधन हो गया। काश्मीर की प्रजा ने विद्रोह कर दिया और उसे संभाल पाने में अस्मर्थ होकर कालिदास वहाँ से भाग खड़ा हुआ। उधर उसक अनवरत प्रतीक्षा और नितान्त उपेक्षा से टूट कर बेचारी मल्लिका ने जीवन जीने और शरीर को बनाये रखने क विवशता से बाध्य होकर कालिदास के प्रतिद्वंद्वी और अपने लिए घृणा के साकार रूप विलोम को अपन समर्पण कर दिया। उसकी माँ का भी रोग-शय्या पर एड़ियाँ रगड़-रगड़ कर स्वर्गवास हो गया। अपने घर म अब मल्लिका ने आम्बिका का और मल्लिका का स्थान उसे विलोम से प्राप्त बच्चे ने ले लिया था। काश्मीर स भाग कर वर्षों बाद कालिदास अपनी मूल भूमि से पुन: जुड़ने का साध लेकर, एक नये आषाढ़ की पहली व में भीगता हुआ, भागता हुआ अपने गाँव, मल्लिका के घर पहुँचा। वह जीवन को 'नये अर्थ' से आरम्भ कर चाहता था, पर जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, तब तक वहाँ की परिस्थितियों में आमूल-चूल परिवर्तन आ चुका था। अपने-आप से, अपना अनवरत परिस्थितियों और उनकी मार से असन्तुष्ट कालिदास दस परिवर्त को सहन न कर सका। उसके लिए तिल-तिल टूट और बिखर कर भी मल्लिका ने जिस आन्तरिक भावना क सहेज रखा था, उसका कोई मूल्य नहीं था। उसकी स्थिति को बिना सुने-समझे कालिदास आषाढ़ वर्षा में जैस भागता-भागता आया था, उसी प्रकार वह सदा के लिए जाने कहाँ पलायन कर गया। अन्तिम बार उसे पुका कर, पर अन्त में परिस्थितियों के कारण आ गये जीवन के विवश वर्तमान यथार्थ को, अपने बच्चो को चूमक अपने सीने से और अधिक सटा कर रह गया। इसी कोण पर वस्तु-योजना का पर्यवसान हो जाता है।

इसी कथानक को नाटककार ने एक सफल नाटकीय परिवेश एवं दृश्य स्वरूप प्रदान किया है तीन-अंकों में वस्तु का विभाजन किया गया है। उसका विस्तार और व्यापकता को बड़ा ही तीव्र विकास क आयाम प्राप्त हुआ है। नाटककार ने वस्तु-योजना की सूच्य-विद्या को भी अपनाया है। उसी के माध्यम स ग्राम-प्रान्तर में उसका अनवरत प्रतीक्षा में बैठा मल्लिका को कालिदास की समस्त गतिविधियों एवं नव क्रिया-कलापों की सूचना मिलती रहती है। उज्जायना पहुँच कर कालिदास ने प्रियंगु मजरी से विवाह किया अनेक नये काव्य रचे, फिर काश्मीर का शासक बना और फिर वहाँ से भाग भी आया-इन सब बातों को वस्तु के अन्तराल में सूच्य रूप में सुघड़ता से संजोया एवं पिरोया गया है। इसी कारण नाटक में वर्णित कल्पित एव अनुमानित तथ्य भावपूर्ण विश्वसनीय एवं ऐतिहासिक बन गए हैं। जहाँ तक वस्तु-विकास का प्रश्न है, वह सब विश्वसनीय, सीधे, सरल और द्रुत रूप में खड़ा हुआ है। बीच में सहायक या उप-वस्तुओं तथा दार्शनिक चर्चाओं का किसी भी प्रकार का बोझलता भी नहीं है। परिणामत: प्रत्येक प्रकार का प्रेक्षक एवं पाठक सहज ह उसका अन्त:सालिला की गइराई नाप पाने में समर्थ हो जाता है। वस्तु-विधान के बीच में दन्तुल, रागना-सागना अनुस्वार जैसे पात्रों का योजना से एक विशेष-प्रकार की वक्रभंगमा तो आ गई है, नाटकीयता को भी प्रश्रय मिला है और मनोरंजक तत्वों का समावेश भी हो गया है। वस्तु-विधान में स्थायी प्रभाव छोड़ जाने वाले मार्मिक स्थल भी अनेक हैं। सभी पात्रों और उनके क्रिया-कलापों की योजना मूलत: कालिदास के आस-पास ह परिभ्रमित होती दिखाई गई है। अत: कालिदास को युग-युगों का सृजनात्मक चेतना का प्रतीक मानक नाटककार जो कुछ भी कहना चाहता था, वह सब सुघड़ता से कह एवं सम्प्रेषित कर पाया है।

नाटकीय वस्तु-योजना में सकलन त्रय का विशेष महत्व माना जाता है। 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में स्थान, समय और कार्य-संकलनत्रयता के इन तीन तत्वों में से 'समय' की रक्षा तो सम्भव नहीं हो सकी

ऐतिहासिक नाटकों में हुआ भी नही करता; पर स्थान और कार्य की एकता ने इस कमी को कहीं भी अनुभव नहीं होने दिया। इसी कारण वस्तु-विधान के आदि, मध्य, अन्त को समझने, उसे समेटने में किसी भी प्रकार की कमी की अनुभूति नहीं होती। एक स्वाभाविक जिज्ञासा, उत्सुकता, कोतूहल आदि आद्यान्त प्रेक्षकों के मन में बने रहते हैं यहाँ सब वस्तु-विधान को सहज ही अभिनेय बना देते हैं। कालिदास और मल्लिका के प्रेम-सम्बन्धों को भी बड़ा ही सन्तुलित एवं सुव्यवस्थित आदान-प्रदान किया गया है। नाटकीय दृष्टियों से कार्य-व्यापार सभी कुछ अत्यधिक सुसंगठित एवं सुनियेजित हैं। त्रासदीय तत्वों की योजना बड़े हो भव्य एवं ऊर्जास्वत रूप में हो सकी है।

अत: कुल मिला कर सभी दृष्टियों से **'आषाढ़ का एक दिन'** नाटक की वस्तु-योजना को सफल, सार्थक, प्रभावी एवं सम्प्रेषणाय ही कहा जाएगा।

9.4. पात्र का चरित्र-चित्रण

कथानक और उससे सम्बन्धित घटनाओं की सृष्टि पात्रों के द्वारा ही हुआ करती है। इस प्रकार या पात्र होंगे तो उनका चरित्र-चित्रण भी अनिवार्यत: होगा। नाटककार राकेश चूँकि कालिदास को सर्जनात्मक प्रतिभा का प्रतीक मान कर चला है। एक सर्जक को किस प्रकार की स्थितियों और अन्तद्वन्द्वों से गुजरना पड़ता है, यहाँ सब चित्रण करना उसका उद्देश्य रहा है।

9.4.1. मल्लिका

अनुपम त्यागमयी, निश्चल हृदया तथा प्रेमी की मंगल-कामना के लिए अपने जीवन के लिए अपने जीवन के स्वप्नों को न्यौछावर कर देने वाली मल्लिका की यश-सुरभि से प्रस्तुत कृति मल्लिका-पुष्प की सुगंध के समान ही गमक रही है। यह नाटक के आरंभ में हमें इसके नायक कालिदास से पूर्व मल्लिका के दर्शन होते हैं और नाटक की समाप्ति पर स्वपुत्री को आवेशावस्था में चूमती मल्लिका ही हमारी दया की पात्री के रूप में रंगमंच पर विद्यमान रहती है। नाटक कृति की विविध घटनाएँ उसी के प्रभावशाली व्यक्तित्व से अन्तर्सम्बधित हैं वह तो एक ऐसा प्रकाश-केन्द्र है जिसके प्रकाश में हमारे समक्ष नाटक के अनरू समस्त पात्रों के भले-बुरे सुंदर-कुरूप चरित्र-चित्र सुस्पष्ट हो उठते हैं।

जहाँ तक मल्लिका के चारित्रिक गुणावगुणों का प्रश्न है उसमें हमें गुण-ही-गुण परिलक्षित होते हैं यदि उसका कोई अवगुण या दोष है तो वह मात्र यह है कि वह कालिदास को प्रेम करती है और वह प्रेम भी ऐसा जिसमें स्वार्थ को स्थान न होकर प्रिय की मंगल-भावना प्रधान है, जिसमें आदान प्रदान की नहीं अपितु प्रदान की भावना का प्राबल्य है, जिसमें प्रेम की निश्चलता के निर्वाह के बदले दुनिया को अगूँठा दिखाने की शक्ति है। हाँ, यह दूसरी बात है कि इस प्रकार की नादानी करने वाली ललनाओं को स्वार्थी पुरूष वर्ग की ओर से विश्वासघात-उपेक्षा अवहेलना आदि के जो पुरस्कार प्रदान किए जाते हैं—मल्लिका की नियति भी उससे भिन्न नहीं है। उस अनाथ कलिका को निष्ठुर पुरूष वर्ग द्वारा पैरों तले रौंद दिया जाता है—उसकी भावनाएँ, उसकी आशा-आकांक्षाएँ आकाश-कुसुम मात्र रह जाती है। उसके चरित्रांकन को निम्नांकित शीर्षकों में विभक्त करके अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है—

पितृहीन अल्हड़ किशोरी—हतभाग्या मल्लिका का प्रथम दुर्भाग्य तो यही है कि उसके सिर से असमय ही पिता की छविछाया उठ जाती है तथा उसके कोई भाई भी नहीं हैं, मल्लिका और उसकी माँ को ही किसी प्रकार उदर-पूर्ति के साधन जुटाने पड़ते हैं। मल्लिका उल्हड़ नवयौवना है, वह जग-रीति का सम्यक् ज्ञान नहीं रखती अत: इस तथ्य के परिणाम निकाल सकता है। उसकी देखभाल करने वाली है उसकी वृद्धप्राय माँ, जिसकी अपनी इकलोती पुत्री या कहिए जीवन की एकमात्र आधार पुत्री पर अपेक्षा से अधिक स्नेह-भाव है।

वह मल्लिका को जग की उँच-नीच समझाने के लिए उससे रूठती तो है, किन्तु अपनी अल्हड़ पुत्री पर कं कड़ा प्रतिबन्ध नहीं लगा पाती। कहा जा सकता हैं कि मल्लिका के पिता जीवित होते तो कद्‌चित् उसके जीव की वह दयनीय परिणति नहीं होती जो नाटक में चित्रित की गई है।

हठीली पुत्री—अम्बिका की इकलौती संतान होने के कारण मल्लिका के चरित्र में उस हठ और दुराग्र का पर्याप्त पुट है जो प्राय: ही इकलौती संतानों में पाया जाता है। अम्बिका उसे बार-बार यह समझाने की चेष्ट करती है कि मात्र भावनाओं में खोये रहकर जीवन की प्रत्यक्ष आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं की जा सकत किन्तु मल्लिका की हठ के समक्ष उसे हार माननी पड़ती है। उदाहरणार्थ अम्बिका इस बात पर मल्लिका बड़ी रूष्ट है कि वह वर्षा होने की सम्भावना होने पर भी घर नहीं लौटी और कद्‌चित अपने प्रेमी कालिदास साथ वर्षा में भीगती रही है। वह मल्लिका की बातों की उपेक्षा करती हुई उसे 'ना' अथवा 'हाँ' में ही उत्तर दे है तो मल्लिका उसके हाथ से यह कहकर छाज ही छीन लेती है कि मैं तुम्हें काम नहीं करने दूँगी और उसे व रख आती है। स्वय मल्लिका का ही यह कथन—**"मेरे घर में रहने पर भी तुम अकेली होती हो? कभी मेरी भर्त्सना करती हो कि मैं घर में रहकर तुम्हारें सब कामों में बाधा डालती हूँ और कभी कह हो....."**— इस तथ्य का उद्‌घाटन करता है कि उसे माँ के दुलार-भाव ने किस सीमा तक बिगाड़ रखा है, व माँ के कार्यों में हाथ नहीं बँटाती, अपितु माँ को खिजाती रहती है।

कल्पनाजीवी एवं भावुकतामयी—मल्लिका अत्याधिक भावुक है। प्रेमी के साथ वर्षा में विहार क के अनन्तर उसका अंग-प्रत्यंग हुलसने लगता है—वह भावुकता के गगन में विहार करने लगती है। नाटक आरम्भ में ही उसके द्वारा स्व-माता से कही गई यह उक्ति कवित्व एवं भावुकता से ओत-प्रोत है —**"मु** भीगने का तनिक खेद नहीं। भागती नहीं तो आज मैं वंचित रह जाती।...चारों ओर धुँआरे मेघ घिर आए थे। जानती थी वर्षा होगी। फिर भी मैं घाटी की पगडंडी पर नीचे-नीचे उतरती गई। एक बार मेरा अंशुक भी हवा उड़ा दिया। फिर बूँदें पड़ने लगी।... वह बहुत अद्‌भुत अनुभव था माँ, बहुत अद्‌भुत। नीलकमल की त कोमल-आर्द्र, वायु की तरह हल्का और स्वप्न की तरह चित्रमंय।...मैं चाहती थी उसे अपने में भर लूँ औ आँखें मूंद लूँ ××× आज के वे क्षण मैं कभी भूल नहीं सकती। साक्षात्कार मैंने कभी नहीं किया। जैसे व सौंदर्य अस्पृश्य होते हुए भी माँसल हो। मैं उसे छू सकती थी, देख सकती थी, पी सकती थी। तभी मुझे अनुभ हुआ कि क्या है, जो भावना को कविता का रूप देता है।" मल्लिका के सन्दर्भ में यदि यह कहा जाए f कल्पना और भावना ही उसके ओढ़ना और बिछौना हैं तो अत्युक्ति नहीं होगी। वह इतनी अधिक कल्पनाजी और भावुकतामयी है कि अपने और कालिदास के **'प्रेम संबंध'** को वास्तविकता के स्थान पर भावना के स्त पर प्रतिष्ठित करती है—जिसका अभिप्राय यही है कि कालिदास उसे अपनाना चाहे अथवा नहीं किन्तु व उसका मनसा वरण कर चुकी है और आजीवन कुँवारी रहते हुए भी कालिदास के प्रेम की माला जपते रहने व प्रस्तुत है। वह अपनी माँ से यह कहते हुए कि मैं विवाह करना ही नहीं चाहती, यह भी स्पष्ट कर दे है—"मैंने भावना में एक भावना का वरण किया है। मेरे लिए वह सम्बन्ध और सब सम्बन्धों से बड़ा है। वास्तव में अपनी भावना से ही प्रेम करती हूँ जो पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है।" यह उनकी भावुकता का प्रमाण है कि आत्मकेन्द्रित कालिदास मल्लिका से विवाह करना नहीं चाहता, किन्तु मल्लिका उसकी इस उपेक्ष और निस्संगता की भावना का दोष परिस्थितियों के सिर मढ़ती हुई कहती है—साधनहीन और अभावग्रस जीवन में विवाह की कल्पना ही क्यों की जा सकती है? हम यह कहना चाहेंगे कि मल्लिका का यह कथ नितांत भवुकतामय है—ज्ञात नहीं उसे किस आधार पर यह आशा थी कि उसके निठल्ले से प्रेमी की आर्थिक स्थिति कभी सुधर भी सकती है और जब वह सुदिवस आयेगा तब वह मुझसे विवाह कर लेगा?

भावुकता का मल्लिका अंतिम दृश्य के अतिरिक्त कभी भी परित्याग नहीं कर पाती। उसे यह समाचार मिल जाता है कि कालिदास ने नरेश पुत्री से विवाह कर लिया है, उनका अधिकांश समय वारांगनाओं के साहचर्य में व्यतीत होता है, फिर भी कल्पनाजीवी मल्लिका यह आशा संजोये बैठी रहती है कि मेरे प्रेमी महाशय मुझे विस्मृत न कर पाएँगे। ग्राम-प्रांतर में आने पर कालिदास उससे मिलने नहीं आता, फिर भी भावुकतामयी मल्लिका स्वयं को कालिदास से पृथक् विक्षिन्न नहीं समझती। नाटक के तृतीय अंक में मातुल ये यह सूचना पाकर कि कालिदास ने काशमीर का शासन भार त्यागकर संन्यास ले लिया है, वह कालिदास के ग्रंथों को सम्बोधित करती हुई जो उद्‌गार व्यक्त करती है, उससे अधिक भावुकता और क्या हो सकती है? "यद्यपि तुम्हारे जीवन में नही रहीं, परन्तु तुम मेरे जीवन में सदा विद्यमान रहे हो। मैंने कभी तुम्हें अपने पास से हटने नहीं दिया। तुम रचना करते रहे और मैं समझती रही कि मै सार्थक हूँ, मेरे जीवन की भी कुछ उपलब्धि है (ग्रंथ को घुटनों पर रख लेती है) और आज तुम मेरे जीवन से तटस्थ हो सकते हो, परन्तु मैं तो अब तटस्थ नहीं हो सकती। तुम जीवन को मेरी दृष्टि से क्यों नहीं देखते?" कहना न होगा कि उसकी इस भावुकता ने जहाँ पाठक-प्रेक्षकों की दृष्टि में उसका चारित्रिक उत्कर्ष किया है, वहाँ वस्तु जगत् में उसका जीवन दु:खागार बन जाता है।

निश्चल, नि:स्वार्थ प्रेमिका—सच्चा प्रेम निश्चल ओर नि:स्वार्थ होता है—उसमें स्वार्थ-भावना का कलुष नहीं होता। इस कसोटी की दृष्टि से मल्लिका का चरित्र बड़ा प्रशंसनीय है। यह उसकी कालिदास के प्रति निश्चल नि:स्वार्थ प्रेम से अर्जित शक्ति का ही प्रताप है कि वह माता का विरोध और लोकापवाद सहकर भी अपनी प्रेम-भावना में न्यूनता नहीं आने देती। उसकी माता चाहती है कि कालिदास उज्जयिनी जाने से पूर्व उससे विवाह कर ले तथा विलोम तो इस तथ्य को मल्लिका ही नहीं अपितु कालिदास के भी सम्मुख प्रस्तुत कर देता है, फिर भी मल्लिका नहीं चाहती कि वह अपने प्रेमी के उज्जयिनी-गमन में अपने विवाह का बखेड़ा खड़ा करके अड़चन डाल दे। उसके स्व माता से कहे गए इन उद्‌गारों में उसका नि:स्वार्थ ह्दय छलक उठा है—माँ *आज तक का जीवन जिस किसी तरह बीता ही है। आगे भी बीत जायेगा। आज जब उनका जीवन एक नई दिशा* ग्रहण कर रहा है, मैं उसके सामने अपने स्वार्थ का उद्‌घोष नहीं करना चाहती।"

कालिदास उसके अनुराग की ओर इंगित करते हुए उज्जयिनी नहीं जाना चाहते, किन्तु मल्लिका के ह्दय में यह धारणा घर कर गई है कि ग्राम में रहते हुए उनकी काव्य-प्रतिभा का सम्यक् विकास नहीं हो सकता। अत: वह उनसे बड़ा मार्मिक प्रश्न करती है—"तुम समझते हो कि तुम इस अवसर को ठुकराकर यहाँ रह जाओगे तो मुझे सुख होगा"? वह सरला इस तथ्य को भी स्पष्ट कर देती है कि प्रथम तो तुम यहाँ से जाकर भी मुझसे दूर नहीं हो सकते? तथा मैं तुम्हें घेरना नहीं चाहती, इसलिए जाने का आग्रह कर रही हूँ।

मल्लिका का ह्दय भी बड़ा उदार है। उसे अब यह ज्ञात होता है कि उसके प्रेमी के विषय में ऐसा लोकोपवाद है कि उसका अधिकांश समय वारांगनाओं के साहचर्य में व्यतीत होता है, तो वह कह देती है—"कोई व्यक्ति उन्नति करता है तो उसके नाम के साथ कई तरह के अपवाद अनायास जुड़ने लगते हैं।" जब निक्षेप कालिदास पर यह आक्षेप करता है कि वे यहाँ रहते हुए तो कहा करते थे कि मैं जीवन भर विवाह नहीं करूँगा जबकि उन्होंने उज्जयनी जाकर विवाह कर लिया है और उनके इस आग्रह की रक्षा के लिए तुमने अभी तक कौमार्य-व्रत ही ले रखा है, तो वह तुरन्त कह उठती है —'उनके प्रसंग में मेरी बात कहीं नहीं आती। मैं अनेकानेक साधारण प्राणियों में से हूँ। वे आसाधारण हैं। उन्हें जीवन में असाधारण का ही संसर्ग चाहिए।" वह नि:स्वार्थ, प्रेममयी तो यह सोचकर प्रमुदित है कि मैं स्वप्रेमी के काव्योत्कर्ष में बाधक नहीं बनी हूँ, मैंने उन्हें उज्जयिनी भेजकर बड़ा उत्तम कार्य किया है। हाँ, भाग्य के हाथों ठोकरें खाकर उसे इस तथ्य का ज्ञान हो जाता है कि जीवन भावना और कल्पना के आधार पर नहीं जिया जा सकता, उसकी स्थूल अपेक्षाएँ बड़ी निष्ठुर और

क्रूर होती हैं उसकी भावनाएँ कालिदास की सतत् उपेक्षा के कारण कुंठित हो उठती है—अपने अभावमय या कहिए वास्तविक जीवन में उसे विलोम की अंकशयिनी बनने को विवश होना पड़ता है- वह अपना नाम खोकर एक विशेषण (कुलटा) मात्र रह जाती है।

सच्चे प्रेमी और प्रेमिकाओं का एक-दूसरे को देखने का दृष्टिकोण बदल जाता है—उन्हें उनके अवगुण भी गुण प्रतीत हुआ करते हैं। मल्लिका कालिदास की सच्ची प्रेमिका है और उसे अपने हृदय का समस्त भावना से अनुराग करती है। यही कारण है कि वह स्वप्रेमी के विरोध में एक शब्द तक नहीं सुन पाती और उसके दोषों को भी गुण, उसकी दुर्बलताओं को भी शक्ति के रूप में प्रस्तुत करती है। उसका हृदय यह अनुभव करके कचोट उठता है कि उसकी माँ भी ग्राम के अन्य लोगों की तरह कालिदास को संदेह ओर वितृष्णा की दृष्टि से देखती है जब दंतुल और कालिदास में आहत हरिणशावक को लेकर विवाद होता है तो आरम्भ में तो वह दंतुल को यह फटकारती है कि तुम्हें ऐसे लांछन (चोरी करने में निपुणता) लगाते लज्जानुभव नहीं होता। जब कालिदास हरिणशावक को लेकर चला जाता है और दंतुल अपनी तलवार की मूठ पर हाथ रखकर पीछा करना चाहता है, तो वह उसका मार्ग रोक कर खड़ी हो जाती है और उसे डपटती हुई सी कहती है —"ठहरो राजपुरूष! हरिणशावक के लिए हठ मत करो। तुम्हारे लिये प्रश्न अधिकार का है, उनके लिये संवेदना का। कालिदास नि:शस्त्र होते हुए भी तुम्हारे शस्त्र की चिन्ता नहीं करेंगे।" वह अपनी माँ से इस हेतु झगड़ती है कि वह कालिदास के विषय में उदारतापूर्वक नहीं सोचती, उसे पूर्वाग्रह के कारण उसके गुण भी दोष प्रतीत होते हैं। अम्बिका बड़ा स्वाभाविक प्रश्न करती है कि यदि उसका भी तुमसे भावना का संबंध है, तो वह तुमसे विवाह क्यों नहीं करता? यह प्रश्न अपने आप में बड़ा सार्थक था, किन्तु मल्लिका का प्रेमा आप्लावित हृदय इस विराट प्रश्न को भी यह कर कर हवा में उड़ा देता है —'तुम उनके प्रति सदा अनुदार रही हो माँ। तुम जानती हो कि उनका जीवन परिस्थितियों की कैसी विडंबना में बीता है। मातुल के घर में उनकी क्या दशा रही? उस साधनहीन और अभावग्रस्त जीवन में विवाह की कल्पना ही क्योंकर की जा सकती है।" विलोम जब-जब कालिदास पर व्यंग्य प्रहार करता है या अम्बिका से बातें करते हुए उस पर आक्षेप लगाता है वह विलोम पर बिगड़ उठती है। निक्षेप द्वारा इस ओर इंगित करे पर कि व्यवसायियों के मुख कालिदास के विषय में कुछ अपवाद (वारांगनाओं का सहचर्य) सुनने को मिले हैं तो कालिदास का पक्ष लेती हुई कह उठती है कि उन्नति करने वालों के विषय में लोगों को इस प्रकार के अपवाद फैलाने की आशा ही होती है। जब कालिदास उज्जयिनी से दो-तीन वर्ष पश्चात् ग्राम-प्रांतर में आने पर भी मल्लिका से साक्षात्कार करने नहीं आते और अम्बिका तथा विलोम उनके इस आचरण की कटु शब्दों में निंदा करते हैं, तो मल्लिका उत्तेजित हो उठती है। वह विलोम की बाँह पकड़ कर अपने घर से बलात् निकाल देने की चेष्टा करती है और उसके द्वारा ढीठतापूर्वक जब भी न जाने पर अपनी माँ से कातर स्वर में कहती है-"माँ इनसे कहो ये यहाँ से चले जायें। मैं नहीं चाहती कि इस समय यहाँ कोई अयाचित स्थिति उत्पन्न हो।" कालिदास द्वारा उससे बिना मिले ही लौट जाने पर उसके संयम का बाँध टूट जाता है—**"अब भी रोती हो? उसके लिए? उस व्यक्ति के लिए जिसने...?"** —तो मल्लिका और भी अधिक सिसकती हुई कह उठती है—**"उनके संबंध में कुछ मत कहो माँ, कुछ मत कहो..."**

स्वाभिमानी—मल्लिका के हृदय में आत्म-सम्मान या स्वाभिमान की भावना भी पर्याप्त मात्रा में है। प्रियंगुमजरी उसके समक्ष यह प्रस्ताव रखती है कि तुम्हारे घर का परिसंस्कार करा दिया जाये, किन्तु वह उसके इस प्रस्ताव को विनम्रतापूर्वक अस्वीकार कर देती है, क्योंकि इससे उसके आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचती है —"आप बहुत उदार हैं। परन्तु हमें ऐसे घर में रहने का ही अभ्यास है, इसलिए हमें असुविधा नहीं होती।" विलोम से वह घृणा करती है और रंगमात्र भी अहसान नहीं चाहती। इसलिये जब वह उसकी माँ के लिए मधु दे जाने की बात करता है तो वह कह देती है—**"हमें मधु की अवश्यकता नहीं है। हमारे घर में मधु पर्याप्त**

मात्रा में है।'' कालिदास जब ग्राम-प्रांतर में आकर भी उससे मिलने नहीं आता तो उसका स्वाभिमान आहत हो उठता है और उसके मुख से ये शब्द फूट पड़ते हैं ''आज वर्षों के अनंतर तुम लौटकर आये हो। सोचती थी कि तुम आयोगे तो उसी तरह मेघ घिरे होंगे, वैसा ही अन्धेरा-सा दिन होगा, वैसे ही एक बार मै वर्षा में भींगूंगी और तुमसे कहूँगी देखो मैंनें तुम्हारी सब रचनाएँ पढ़ी हैं। × × × परन्तु आज तुम आए हो तो वातावरण और है। और ... और नहीं सोच पाती कि तुम भी कहीं हो या ...। इसी प्रकार जब प्रियगुमंजरी उसके समक्ष यह प्रस्ताव रखती है कि वह अनुनासिक और अनुस्वार नामक राज्यधिकारियों में से किसी के साथ विवाह कर ले, तो उसके आत्माभिमान को बड़ी ठेस पहुँचती है और उससे कह देती है कि आप इस विषय में चर्चा न ही करें तो अच्छा है। हाँ, उसका यह स्वाभिमान अन्त तक स्थिर नहीं रह पाता उसे नियति के समक्ष घुटने टेकने पड़ जाते हैं। वह उसी विलोम की अंक-शयिनी बनने को विवश हो जाती है, जिससे वह तीव्र घृणा करती आयी है।

विनम्र-मल्लिका के चरित्र में विनम्रता का प्रर्याप्त पुट है और वह प्रस्तुत नाटक के प्राय: प्रत्येक पात्र के साथ शालीनता प्रदर्शित करती है। विलोम के प्रति उसका मन कटु घृणा से भरा रहता है, किन्तु उसकी कटूक्तियों का उत्तर देते हुए भी वह आर्य तथा अन्य आदरास्पद शब्दों का ही प्रयोग करती है उदाहरणार्थ उसके कुछ कथन दृष्टव्य हैं—

(क) ''आर्य विलोम, यह समय और स्थान निस्सन्देह इन बातों के लिए नहीं है। मैं आपको इस समय यहाँ देखने की आशा नहीं कर रही थी।''

(ख) ''आर्य विलोम, आप अपनी सीमा से बाहर जाकर बातें कर रहे है। मैं बालिका नहीं हूँ, अपना शुभ-अशुभ समझती हूँ।'

(ग) ''आर्य विलोम, मैं इस प्रकार की अनर्गलता को अक्षम समझती हूँ।''

निक्षेप तथा प्रियंगुमंजरी से हुए वार्तालापों से भी मल्लिका की शालीनता टपकती है। उसके प्रियंगुमंजरी से कही उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—''यह हमारा सौभाग्य होगा कि आप कुछ दिनों के लिए इस प्रदेश में रह जाएँ। यहाँ आपको असुविधा तो होगी, फिर भी...।'' तथा ...''क्षमा चाहती हूँ। मैं अपने को ऐसे गौरव की अधिकारिणी नहीं समझती।''

करूण-हृदया – आलोच्य नाटक के आरंभिक दृश्य में ही हमें मल्लिका के करूणा-आप्लावित हृदय के दर्शन हो जाते हैं। कालिदास द्वारा उसके विषय में कहे गये वे शब्द पूर्णतया सार्थक हैं जिन्हें वे हरिणशावक को देखती है, वह अधीर हो पूछ बैठती है —'' यह आहत हरिणशावक? यहाँ ऐसा कौन व्यक्ति है जिसने इसे आहत किया? क्या दक्षिण की तरह यहाँ भी...?'' उसके लिए दूध ले आती है और उसे गोद में लेकर प्रेम-भावना पर विजयी दृष्टिगत होता है। वह कालिदास-कालिदास पुकारती हुई ड्योढ़ी तक आ पहुँचती है, किन्तु अपनी गोद में पुत्री को देखकर ठिठक जाती है और उसे आवेशपूर्वक चूम-चूम कर यह भाव व्यक्त कर देती है कि प्रेमी के लिए मैं संतति की उपेक्षा नहीं कर सकती।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि मल्लिका का चरित्रांकन कृतिकार ने बड़ी सहृदयतापूर्वक किया है। उसमें उसके उदार चरित्र को इतना महिमामंडित कर दिया है कि कृति के नायक कवि-कुल गुरू कालिदास का चरित्र मलिन प्रतीत होने लगता है। मोहन राकेश ने **'लहरों के राजहंस'** की भूमिका में मल्लिका के विषय में जो उद्‌गार व्यक्त किये है। वे पूर्णतया सार्थक हैं—''मल्लिका का चरित्र एक प्रेयसी और प्रेरणा का नहीं , भूमि में रोपित उस आस्था का भी है जो ऊपर से झुलसकर भी अपने मूल में विरोपित नहीं होती।'' नाटक में मातुल द्वारा उसके विषय में प्रयुक्त किए गए ये विशेषण भी पूर्णतया उचित हैं कि ''वह सारे प्रदेश में सबसे सुशील, सबसे भोली लड़की है।'' उसके प्रेमी द्वारा यद्यपि उसकी प्रेम-भावना के साथ खिलवाड़ ही किया जाता है,

किन्तु अंतत: वह भी यह स्वीकार करते मिलता है कि मेरे समस्त कृतित्व की मूल प्रेरणा तुम्हीं रही हो कुमार-संभव की तपस्विनी उमा, मेघदूत की विहार-विमर्दिता यक्षिणी तथा अभिज्ञान-शांकुतलम की शकुन्तल तुम्हीं हो। मल्लिका की अनूठी समर्पण-भावना, निश्चल प्रेम, अनुपम त्याग, धैर्य, विनम्रता, दयार्द्रता और स्वाभिमान की जितनी भी प्रशंसा की जाए वही कम है। अपने इस चारित्रिक औदात्य के कारण ही वह तब भी हमारी घृणा नहीं अपितु करूणा की ही पात्र बनती है, तब परिस्थितियों की मार के समक्ष घुटने टेककर वह विलोम की अवैध संतति की जननी बन जाती जाती है। उसका चरित्र पुकार-पुकार कर इस तथ्य की उद्घोषणा कर रहा है कि नारी का जीवन कितना दयनीय हाते हुए भी किस प्रकार अमित प्रेरणा का स्रोत होता है—त्यागमयी नारियाँ अपने प्रियजनों के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर देती हैं, फिर भी उन्हें प्राप्य गौरव नहीं मिल पाता।

9.4.2. कालिदास

कालिदास कि चरित्रांकन के विषय में मोहन राकेश पर यह दोषारोपण किया गया है कि उन्होंने कालिदास के चरित्र को गिरा दिया है और हम ही ऐसा भी अभिमत रखते हैं। नाटक के प्रथम अंक के उस प्रसंग के अतिरिक्त जिसमें वे एक आहत हरिणावशावक की रक्षा करते हुए दंतुल से शत्रुता तक मोल ले लेते हैं और उसकी धमकियों की चिंता न करते हुए हरिणशावक को लेकर चल देते है, तथा राज्याश्रय स्वीकार करन नहीं चाहते, अन्यथा नाटक के अन्य प्रसंगों में उनका चरित्र एक साधारण मानव से भी दुर्बल है। प्रश्न इस बात का नहीं है कि कालिदास का अपना व्यक्तिगत जीवन कैसा रहा होगा—संभव है वे इसमे भी अधिक दुर्बल-प्रतित हो रहे हों—किन्तु अपने प्रसिद्ध पूर्वजों का चरित्रांकन यदि हमें ऐसे रूप में न करें-जिससे उनके प्रति हमारी घृणा ही उद्बद्ध हो तो अच्छा है। कालिदास की अम्बिका ओर विलोम द्वारा जो निन्दा की जाती है और वह निन्दा भी ऐसी कि जो सारहीन नहीं प्रतीत होती। मल्लिका के पावन-प्रेम को सर्वथा भुलाकर जिस रूप में वे नरेश-दुहिता से विवाह करकें वहीं के हो रहते है मल्लिका की सुधि तक नहीं लेते, उनका समय वारंगनाओं के साहचर्य में व्यतीत होने का अपवाद फैलाती है। ग्राम-प्रांतर में आकर भी वे मल्लिका से नहीं मिलते, तथा नाटक के अन्त में अपनी इस स्वार्थध मनोवृति को प्राप्त करने के पश्चात् कि मैं तो समझ रहा था कि तुम अर्थात् मल्लिका और ग्राम की सभी वस्तुएँ यथावत होंगी, वे निरीह, दयनीय मल्लिका को जिस तरह क्षण भर में ही त्याग कर भाग खड़े होते हैं- उनका यह आचरण किसी भावुक कवि के लिए तो शोभन हैं कि नहीं, किसी साधारण मनुष्य को भी शोभा नहीं देता। हाँ, कालिदास इस नाटक के नायक हैं और मल्लिका के अतिरिक्त अन्य पात्रों में सर्वप्रथम स्थान रखते हैं। मल्लिका के समान वे नाटक के सभी पात्रों में संसर्ग में नहीं तो नहीं आतें, हाँ अधिकांश पात्रों संसर्ग में आते हैं। दंतुल से उनका हरिणशावक के विषय में विवाद होता है विलोम उनका प्रतिद्वन्द्वी है, मातुल उनका भमा है। इसी प्रकार प्रियंगमंजरी उनकी पत्नी है, तो नाटक की नायिका-मल्लिका उनकी प्रेयसी है। अंबिका उनकी इस हेतू आचोलना करती रहती है कि उन्होंने उसकी पुत्री को गुमराह रखा है, तो रंगिणी और संगिनी उनकी जन्मभूमि का विशेष अध्ययन करने आती हैं। हाँ, प्रस्तुत नाटक के गुमराह कर रखा है, तो रागिणी और संगिनी उनकी जन्मभूमि का विशेष अध्ययन करने आती हैं। हाँ, प्रस्तुत नाटक की घटनाओं की योजना में वे द्वितीय स्थान के ही अधिकारी हैं, प्रथम स्थान मल्लिका का ही है। पात्रों में के चरित्र के विविध पक्षों को निम्नांकित शीषकों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) पशुओं के प्रति दयालु —प्रस्तुत नाटक के प्रथम अंक की आरंभिक घटना से ही पात्रों में वे चरित्र के इस पक्ष पर प्रकाश पड़ जाता है। दंतुल द्वारा आहत हरिणशावक दौड़कर उसकी गोंद में आ जाता है जिसे देख कर वे ऐसा दुखानुभव करते हैं मानों उन्हीं के शरीर में बाण लगा हो। वे गोद में उठा कर मल्लिका के घर की ओर चल देता है, अपनी सहृदयमा का परिचय देते हुए कहता है—"हम जिएँये हरिणशावक

जिएँगें न! एक बाण प्राण ले सकता है तो उँगलियों का कोमल स्पर्श दे भी सकता है। हमें नये प्राण मिल जाएँगें। हम कोमल आस्तरण पर विश्राम करेंगे। हमारे अंगों पर घृत का लेप होगा। कल फिर हम वनस्थली में घूमेंगे। कोमल दुर्वा खायेंगे। खायेंगे न?''

मल्लिका के घर पहुँचकर वे ऐसी बातें करता है मानो उस आहत हरिणशावक और स्वयं में कुछ अंतर ही न हो- ''हम सोयेंगे? हाँ, हम थोड़ी देर सो लेंगे तो हमारी पीड़ा दूर हो जाएगी। परन्तु उससे पहले पहमें थोड़ा दूध पी लेना हैं।... मल्लिका, थोड़ा दूध हो तो किसी भाजन में ले आओं।'' वे मल्लिका से यह कामना भी व्यक्त करता है कि वह उसको आस्तरण पर सुला दे। जब दंतुल वहाँ आकर उस आहत हरिणशावक को माँगता है और कहता है कि यह मेरी संपत्ति है तब कालिदास उत्तर देता है - ''यह हरिणशावक इस पार्वत्य भूमि की संपत्ति है राज-पुरूष! और इसी पार्वत्य भूमि के निवासी हम इसके सजातीय हैं। तुम यह सोचकर भूल कर रहे हो कि हम इसे तुम्हारे हाथ सौंप देंगे।... मल्लिका, इसे अंदर ले जाकर तल्प पर या किसी आस्तरण पर ...'' यह जानते हुए भी कि किसी राज-पुरूष से झगड़ा मोल लेना अच्छा नहीं है वह हरिणशावक को लेकर चल देता है और दंतुल देखता ही जाता है। कालिदास के स्वभाव से परिचित मल्लिका उसके विषय में ठीक ही कहती है। ''ठहरो राजपुरूष! हरिणशावक के लिए हठ मत करो। तुम्हारे लिए प्रश्न अधिकार का है, उनके लिए संवेदना का। कालिदास नि:शस्त्र होते हुए भी तुम्हारे शस्त्र की चिंता नहीं करेंगे।''

(ख) स्वाभिमानी —कालिदास के चरित्र में स्वाभिमान की भावना भी पर्याप्त मात्रा में है। वह समझता है कि राज्यश्रय में रहने वाले कवियों को नरेशगण थोड़ी-सी मुद्राएँ देकर अपनी क्रीत-दास बना लेते हैं जिससे उनकी काव्य-प्रतिभा का उचित विकास नहीं हो पाता और वे उन नरेशों की प्रशस्ति में रचनाएँ लिखने लगते हैं। यही कारण है कि कालिदास के मामा मातुल राजकीय सम्मान मिलने की बात सुनकर बड़े प्रसन्न होते हैं किन्तु कालिदास उसे ठुकराते हुए जगदम्बा के मंदिर में जा छुपते हैं। मातुल के शब्दों में ''मैंने कहा कविवर, आचार्य आपको साथ उज्जयिनी ले जाने के लिए आए है। राज्य की ओर से आपका सम्मान होगा। (रूक जाता है) सुन कर रूकें। रूक कर जलते अंगारें की दुष्टि से मुझे देखा। —मै राजकीय मुद्राओं से क्रीत होने के लिए नहीं हूँ।' ऐसे कहा जैसे राजकीय मुद्राएँ आपके लिए विरह में घुली जाती हों। और चल दिये।... मेरे लिए धर्म संकट खड़ा हो गया है कि अनुनय करता हुआ आपके पीछे-पीछे जाऊँ या अभ्यागतों को देखूँ।'' अंम्बिका उनके इस आचरण को ढोंग बताती हैं किन्तु निक्षेप स्पष्ट कर देता हैं कि वे ढोंग नहीं कर रहे अपितु उन्हें राजकीय सम्मान का वास्तव में ही मोह नहीं है।

(ग) दुर्बल हृदय प्रेमी—मल्लिका की तुलना में कालिदास एक दुर्बल हृदय प्रेमी सिद्ध होता है। मल्लिका अपना तन-मन उन पर न्यौछावर कर देती है और उसे विवाह करने की आशा में किसी अन्य पुरूष से विवाह करने से इन्कार कर देती हैं जैसा कि निक्षेप कथन से ज्ञात होता है, कालिदास ने भी ग्राम-प्रांतर में रहते हुए यह इच्छा व्यक्त की थी कि मैं आजीवन विवाह (मल्लिका के अतिरिक्त किसी अन्य युवती से) नहीं करूँगा, किन्तु वी उज्जयिनी जाकर नरेशपुत्री प्रियगमंजरी से विवाह कर लेता हैं। जब उनके उज्जयिनी जाने का समय अम्बिका औ विलोम मल्लिका को इस बात के लिए भड़काते हैं कि उसका और कालिदास का विवाह हो जाना चाहिए, तो वह अपनी उदास भावन का परिचय देती हुई कह देती है कि वह अवसर पर जबकि उनके जीवन में महान परिवर्तन आने वाला है मैं अपने स्वार्थ का परिचय नहीं देना चाहती। इसके विपरीत जब विलोम कालिदास से मल्लिका के साथ विवाह करने के विषय में प्रश्न करता हैं तो कालिदास यह कह कर टाल जाता है कि तुम दूसरों के घर में अनाधिकार आने के समान उनके जीवन में भी अनाधिकार प्रवेश कर जाते हो। इसके साथ ही कालिदास ग्राम-प्रांतर को त्यागने से पूर्व मल्लिका के विषय में विशेष लगाव नहीं दिखाता। अपितु वे वहाँ न जाने का जो कारण बताता है उससे यह ध्वनि निकलती है कि उसकी दृष्टि में मल्लिका का

मूल्य वहाँ के पशुपालों और हरिणशावकों से अधिक नहीं हैं कालिदास —"मैं अनुभव करता हूँ ग्राम-प्रांतर मेरी वास्तविक भूमि हैं। मैं कई सूत्रों से इस भूमि से जुड़ा हूँ। उन सूत्रों में तुम हो, यह आकाश औ मेघ हैं, यहाँ की हरीतिमा है, हरिणों के बच्चें हैं, पशुपाल हैं।"

कालिदास को यह तथ्य भली प्रकार विदित है कि उन्हें उज्जयिनी जाने के लिए विवश करती मल्लिका की मनोदशा कैसी हो उठी हैं और वे उससे कहते भी हैं —'मैं चाहता हूँ कि इस समय तुम अप आँखें देख सकती' किन्तु वे राजधानी में पहुँच कर मल्लिका को सर्वथा भुला देता हैं।

वह नरेश पुत्री से विवाह कर लेता है और जैार कि लोकापवाद था। वे वीरंगनाओं के साहचर्य में जीव व्यतीत करने लगता है। मल्लिका के हृदय को बड़ा आघात पहुँचता है जब वह ग्राम-प्रांतर में आकर मल्लिका से नहीं मिलता। इस विषय में नाटक के तीसरे अंक में वह जो तर्क प्रस्तुत है वे बड़े लचर हैं। समझ नहीं आता कि ऐसी वह कौन-सी विश्वविजय की यात्रा पर निकल रहे थे जिसमें व्याघात पड़ जाता, यदि मल्लिका से मिलकर जाता? उसका यह कथन कितना खोखला है—'मैं तब तुमसे मिलने के लिए नहीं अ क्योंकि तुम्हारी आँखें मेरे अस्थिर मन को और अस्थिर कर देंगी। मैं उनसे बचना चाहता था। उसका कुछ परिणाम हो सकता था। मैं जानता था तुम पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी, दूसरे तुमसे क्या कहेंगे। फिर भी स सम्बन्ध में निश्चित था कि तुम्हारे....भाव हो हो जाएगा। और मैं यह आशा लिए हुए चला गया कि एक व ऐसा आएगा तब मे। तुमसें यह सब सह सकूँगा।

कालिदास के चरित्र में यह विचित्र असंगति परिलक्षित होती है। कि वह अपनी प्रेमिका मल्लिका जीवन को पुष्प की पंखुड़ियों की भाँति मसल कर नष्ट-भ्रष्ट कर देता है उस पितृ एम् मातृहीना, दीन-हीं नवयौवना की ओर रंचमात्र भी ध्यान नहीं देता, जबकि दावा यह करता हैं कि यह उनके जीवन का म प्रेरणास्त्रोत रही है। अंबिका द्वारा उसके विषय में कहे गये यह शब्द उचित ही प्रतीत होते हैं - "मैं ऐसे व्यक्ति को अच्छी तर से समझती हूँ। तुम्हारे साथ उसका इतना ही संबंध है कि तुम एक उपादान हो, जिसके आश्रय वह अपने प्रेम कर सकता है, अपने पर गर्व कर सकता है। परन्तु तुम क्या सजीव व्यक्ति नहीं हो?" प्रस्तु नाटक में वास्तव में ही कालिदास को मल्लिका के प्रति अपने उत्तदायित्व का निर्वाह नहीं कर पाते, मल्लिका के समान कुछ क्षण तक पाठक-प्रेक्षक भी कालिदास के इस कथन से प्रभावित होते हैं—"ल सोचते है, मैने उस जीवन और वातावरण में रह कर बहुत कुछ लिखा हैं। परन्तु मैं जानता हूँ मैंने वहाँ रह क कुछ नहीं लिखा। जो कुछ लिखा है वह यहाँ के जीवन का संचय था। कुमारसंभव की भूमिका यह हिमा और तपस्विनी उमा तुम हो। मेघूदत में यक्ष की पीड़ा मेरी पीड़ा है और विरह-विमार्दिता यक्षिणी तुम हो, यह मैंने स्वयं यहाँ होने और तुम्हें उज्जयिनी में देखने की पीड़ा मेरी पीड़ा है और विरह-विमर्दिता यक्षिणी तुम यद्यपि मैने स्वयं होने और तुम्हें उज्जयिनी में देखने की कल्पना की। अभिजान शाकुंतलम में शकुंतम में रूप तुम्हीं मेरे सामने थीं। मैंने जब-जब लिखने का प्रयत्न किया तुम्हारे और अपने जीवन के इतिहास को फिर—फि दोहराया। और जब उससे हट कर लिखना चाहा तो रचना प्राणवान नहीं हुई। रघुवंश में आल का विलाप मेरी ही वेदना की अभिव्यक्ति थी और...।" तदनंदर जब हम उसे यह इच्छा व्यक्त करते देखते हैं कि मल्लिका के साथ रहते हुए जीवन को पुनः अथ से आरम्भ करना चाहता है तो यह सोचकर प्रमुदित हो उठते कि चलो सुबह का भूला शाम को घर आ पहुँचा है। किन्तु हमारी इस प्रसन्नता और मल्लिका आशा-आकाँक्षाओं पर शीघ्र ही तुषाराघात हो जाता है जब कालिदास यह ज्ञात होने पर कि मल्लिका विलोम अवैध पुत्री की माँ बन चुकी हैं, मल्लिका को बिलखती छोड़ जाता है। और उसे विवशतापूर्वक विलोम समक्ष आत्मसमर्पण करना पड़ता है। कालिदास के प्रेम में त्यास और क्षमा का कोई स्थान ही नहीं है, वे तो म ग्रहण करना ही जानता है, इसलिए वह मल्लिका के इस परिस्थितिजन्य चारित्रिक-स्खलन को क्षमा नहीं क

पाता। कालिदास का यह आचरण न तो एक सच्चे प्रेमी के अनूकूल है और न एक महान कवि के ही, बेचारी मल्लिका उसकी अहं तुष्टि का क्षुद्र माध्यम मात्र बनकर रह जाती हैं।

(घ) वाक्पटु— कालिदास कवि-कलाकार हैं और कवि भी उत्तम कोटि का, अत: उसका वाक्पटु होना स्वाभाविक ही है। वे अपने आचरण से तो नहीं, हाँ अपनी बातों से अपने विपक्षियों और मित्रों को प्रभावित करने में पटु हैं। **वह मल्लिका के घर में घुस आने वाले दंतुल को डपटते हुए पूछता है** —"जहाँ तक मैं जानता हूँ हम लोग परिचित नहीं हैं। तुम्हारा एक दूसरे के अपरिचित घर में आने का साहस कैसे हुआ?" इसी प्रकार वह विलोम द्वारा यह प्रश्न करने पर कि तुम राजधानी अकेले ही जाओगे अथवा मल्लिका के साथ विवाह करके इसे भी अपने साथ ले जाओगे? ऐसा उत्तर देते हैं जिसमें विलोम को बगले झांकनी पड़ती है —"मैं तुम्हारी प्रशंसा करने के लिए अवश्य बाध्य हूँ। तुम दूसरों के घर में ही नहीं, उनके जीवन में भी अनाधिकार प्रवेश कर जाते हो।" इसी प्रकार वह मल्लिका से भी चिकनी-चुपड़ी बातें ही करते रहते हैं। अपने आचरण द्वारा ऐसा कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं करता जिससे यह स्पष्ट हो सके कि उसे वास्तव में मल्लिका से कितना प्रेम हैं।

(ड.) स्वार्थी एवं आत्मकेन्द्रित — प्रस्तुत नाटक में कालिदास का जैसा चरित्रांकन किया गया है उससे वे एक आत्म-केन्द्रित एवं स्वार्थी व्यक्ति सिद्ध होता है। क्योंकि जब अंबिका की वास्तव में ही मृत्यु हो जाती है तब भी कालिदास वह मल्लिका के भरण-पोषण की चिंता या उसको पत्नी के रूप में अपना लेने की चेष्टा करता हुआ नहीं दिखाई देता। वह काश्मीर के शासक होने का जो भार स्वीकार करते है उसके मूल में भी उसकी यह स्वार्थ-भावना है कि वह अपने विरोधियों से बदला लेना चाहता है। उसी के शब्दों में —"तुम्हें बहुत आश्चर्य हुआ था कि मैं काश्मीर का शासन संभालने जा रहा हूँ। तुम्हें यह बहुत अस्वाभाविक लगा होगा। परंतु मुझे कुछ भी अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। अभावपूर्ण जीवन की वह एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। संभवत: उसमें कही उन सबसे प्रतिशोध लेने की भावना भी थी जिन्होंने जब-तब मेरी भर्त्सना की थी, मेरा परिहास उड़ाया था।"

विलोम से जब कालिदास मल्लिका के घर से चले जाने के लिए कहता है तो उसके द्वारा द्वारा कालिदास आलोचना करना पूर्णतया सार्थक होने के साथ-साथ उसके स्वार्थी एवं आत्म-केंद्रित स्वरूप पर भी प्रकाश डालता है— "क्योंकि तुम यहाँ लौट आए हो?... क्योंकि वर्षों से छोड़ी हुई भूमि आज फिर तुम्हें अपनी प्रतीत होने लगी है? क्योंकि तुम्हारें अधिकर शश्वत हैं? (हँसता हैं) जैसे तुम से बाहर जीवन की गति ही नहीं हैं। तुम्हीं तुम हो और कोई नहीं हैं। समय निर्दय नहीं रहा। उसने औरों को अवसर दिया हैं। निमार्ण किया हैं।... तुम्हें उसके निर्माण से वितृष्णा होती है, क्योंकि तुम जहाँ अपने को देखना चाहते हो नहीं देख पाते।"

(च) असफल राजनेता —भावुक कवि और साहित्यकार राजनीति में सफल नहीं हो पाते क्योंकि उसमें छल छद्म और राजनैतिक जीवन के विषय में व्यक्त किये गये ये उद्गार उचित ही हैं —"किसी और के लिए वहीं वातावरण और जीवन स्वाभाविक हो सकता था। मेरें लिए नहीं था। एक राज्यधिकारी का कार्यक्षेत्र में कार्यक्षेत्र से भिन्न था। मुझे बार-बार अनुभव होता कि मैंने प्रभुता और सुविधा के मोह से उस क्षेत्र में अनाधिकार प्रवेश किया है और जिस विशाल क्षेत्र में मुझे रहना चाहिए था उससे हट पाया हूँ।" प्रियमंजरी के अग्रलिखित कथन से इसी तथ्य का प्रकाशन होता हैं कि कालिदास स्वयं का राजनैतिक जीवन के अनुरूप ढ़ाल नहीं पाता —"वे भी जब-तक यहाँ के जीवन की चर्चा करते हुए आत्मादी-मृत हो जाते हैं। इसलिए राजनैतिक कार्यों से कई बार उनका मन उचटने लगता हैं।... ऐसे अवसरों पर उनके मन को संतुलित रखने के लिए बहुत प्रयत्न करना पड़ता है।" संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रस्तुत नाटक में कालिदास का जिस रूप में चरित्रांकन किया गया है, उसमें से हमें उसके चरित्र के मात्र दो ही गुण ही प्रभावित कर पाते हैं। उसका पशु

पक्षियों के प्रति करूणा प्लावित हृदय रखना और अपने कवि-व्यक्तित्व की रक्षा करने के लिए राजकीय सम्मान को ठुकराने को प्रस्तुत हो जाना। वह स्वार्थी हैं, आत्म-केंन्द्रित है —अपने प्रेयसी के साथ विश्वासघात करता है, तथा राजकीय सम्मान प्राप्त करके अपना चोला गिरगिट की तरह बदल लेता है। ऐश्वर्य-मद में वे अपनी प्रेयसी मल्लिका को तो भूल ही जाता है, उसे अपने मामा मातुल की भी कोई चिंता नहीं है। मातुल के भवन के पुनर्निर्माण और उसको काश्मीर ले जाने में उसका नहीं अपितु प्रियगुमंजरी का हाथ है। विदुषी प्रियगुमंजरी ही मल्लिका के ग्राम-प्रांतर के वातावरण को काशमीर ले जाने की इच्छा से जहाँ वहाँ के हरिणशावक आदि उपादान साथ ले जाती है, वहाँ मातुल को भी साथ ले जाती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि कविकुल-गुरू की उपाधि से समाहित होने वाले तथा विश्व-साहित्य में भारतीय साहित्य को सम्मान स्थान दिलाने वाले कालिदास का चरित्रांकन अपेक्षित रूप में नहीं हुआ हैं। इस संदर्भ में मोहन राकेश द्वारा 'लहरों के राजहंस' में व्यक्त किया यह अभिमत भी संदर्भगत त्रुटि का मार्जन नहीं कर पाता —"मुझे आश्चर्य हुआ कि आलोचक संस्कृत के पंडित होकर भी कालिदास को व्रती, तपस्वी, महात्मा मानते हैं। अभिज्ञान शाकुंतलम्, कुमार-संभव तथा मेघदूत पढ़कर यदि कालिदास का ऐसा ही चित्र उनके मन में बनता है, तो क्या कहा जा सकता है, रूढ़ि-ग्रस्त संस्कार ही जहाँ व्यक्ति का विवेक बन जायें, वहाँ और आशा करना भी व्यर्थ है।"

9.4.3. विलोम

विलोम को कुछ आलोचकों ने इस नाटक का खलनायक बताया है जो उचित नही हैं वह अधम पात्र तो अवश्य हैं क्योंकि कृति की नायिका की विवशता का लाभ उठाकर उसे अपनी अंकशायिनी बनने को विवश कर देता हे किन्तु खलनायक का मुख्य लक्षण यह है कि वह नायक और नायिका के मिलन में पग-पग पर बाधा पहुँचाया करता है, जबकि नाटक के आरंभिक भाग में विलोम उनके मिलन में बाधक बनने के स्थान पर उनका विवाह कराने का समुत्सुक मिलता हैं इसलिए विलोम को इस नाटक का खलनायक न मान कर अधम पात्र ही मानना चाहिए। विलोम के चरित्र में अवगुणों की प्रधानता है, जिनमें से प्रथम यह है कि उस मल्लिका से प्रेम करता है, जो उसे घृणा करती है और इसके कारण ही उसके चरित्र में अन्य अवगुणों का समावेश हो जाता है। मल्लिका के प्रेम को जीतने के लिए वह उसकी माँ की चापलूसी करता रहता है, तथा कालिदास की निंदा। बेचारी अंबिका भी वही करना चाहती है जो उसकी पुत्री की इच्छा है, और मल्लिका की इच्छाएँ कालिदास की इच्छाओं से प्रभावित हैं, और चूंकि कालिदास को स्पष्टवक्ता विलोम का मल्लिका के यहाँ आना नहीं सुहाता, अत: अंबिका भी विलोम के आने पर प्रसन्नता व्यक्त नहीं करती। विलोम के नाटक में प्रथम बार पदार्पण के समय ही उसके और अंबिका के मध्य जो वार्तालाप होता है। उससे यह तथ्य भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है—

"**अंबिका** : विलोम! ... तुम यहाँ क्यों आये हो?
विलोम बाई और दीपक की ओर चला जाता है
विलोम : दीपक जला दूँ!
(उल्मुक से छूकर दोनों दीपक जला देता है और कहता है)
विलोम का आना ऐसे आश्चर्य का विषय है।...
अंबिका : तुम चले जाओ विलोम! तुम जानते हो कि तुम्हारा यहाँ आना...
विलोम : मल्लिका को पसन्द नहीं हैं।
(दीपक जलाकर अंबिका की ओर घूमता है।)

मैं जानता हूँ अंबिका! मल्लिका बहुत भोली है। वह लोक और जीवन में संबध में कुछ नहीं जानती। ... वह नहीं चाहती कि मैं इस घर में आऊँ क्योंकि कालिदास नहीं चाहता।...और कालिदास क्यों नहीं चाहता? क्योंकि मेरी आँखों में उसे अपने हृदय का सत्य झाँकता दिखाई देता है। उसे उलझन होती है! ... किन्तु तुम तो जानती हो अंबिका मेरा एकमात्र दोष यह है कि मैं जो अनुभव करता हूँ, स्पष्ट कह देता हूँ।

जैसा कि कहा जा चुका है वह अंबिका का कृपा पाने की चेष्टा करता रहता है। इस उद्देश्य से वह अंबिका की दयनीय दशा के प्रति संवेदना व्यक्त करता रहता है—"देख रहा हूँ इस समय तुम बहुत आर्त नहीं रहीं अंबिका? तुम्हारा तो जीवन ही पीड़ा का इतिहास हैं? पहले से कहीं दुबली हो गई हो!... सुना है कालिदास उज्जयिनी जा रहा है।" अंबिका उसके कथन की किंचित उपेक्षा करती है तो वह मल्लिका और कालिदास का विवाह हो ही जाना चाहिए, इस तथ्य पर बल देता हुआ तथा अंबिका की दयनीय दशा के प्रति संवेदना व्यक्त करता हुआ कहता है — "कालिदास उज्जयिनी चला जाएगा और मल्लिका जिसका नाम उसके कारण सारे प्रांत में अपवाद का विषय बना है, पीछे यहाँ सब पड़ी रहेंगी? क्यों अंबिका? × × × क्यों तुमने इतने वर्ष यह सब पीड़ा क्या इसी दिन के लिए सही है? दूर से देखने वाला ही अनुभव कर सकता है कि इन वर्षों में तुम्हारे साथ क्या बीता है। समय तुम्हारें मन, शरीर और आत्मा की इकाई को तोड़कर रख दिया है। तूमने तिल-तिल कर अपने को गलाया है कि मल्लिका को किसी अभाव का अनुभव न हो और आज जबकि उसके जीवन-भर अभाव का प्रश्न उसके सामने है, तुम कुछ सोचना नहीं चाहती?

विलोम ढीठ है। अंबिका उससे वहाँ से चले जाने का अनुरोध करती हैं किन्तु वह धृष्टतापूर्वक कह देता है कि इस समय मैं अपना तुम्हारे पास होना बहुत आवश्यक समझता हूँ? कालिदास और मल्लिका के आने पर कालिदास से प्रश्न करता है कि क्या कल प्रात:काल यहाँ से जा रहे हों? और इस ग्राम-प्रांतर का तो नहीं भूल जाओंगे? वह उन बातों का भी वर्णन करने लगता है जिसके कारण यह संभावना हैं कि वह ग्राम-प्रांतर को भूल जायेगा। "सुना हैं, वहाँ जाकर व्यक्ति बहुत व्यस्त हो जाता है। वहाँ के जीवन में कई तरह के आकर्षण हैं ... रंगशालाएँ, मदिरालय और अन्याय विलास भूमियाँ।

कालिदास के प्रति विश्वासमयी मल्लिका विलोम के इन कथनों को सुनरूष्ट हो उठती है और विनम्र स्वर में उससे वहाँ से चले जाने का आग्रह करती हैं, किन्तु वह टस-से-मस तक नहीं होता। इस सन्दर्भ में यह तथ्य उल्लेखनीय हैं कि यद्यपि विलोम अपनी ढ़ीठता के लिए निन्दा का पात्र हैं। किंतु इसमें सन्देह नहीं कि उसे मानव-मनोविज्ञान की अच्छी जानकारी है। कुछ ही समय पश्चात् हमें उसका कथन अक्षरश: सत्य सिद्ध होते मिलता है —कालिदास वास्तव में ही राजधानी पहुँचकर वहाँ की रंगीनियों में डूब जाते हैं और मल्लिका तथा ग्राम-प्रांतर को भूल जाते हैं। विलोम ने इस तथ्य पर बल दिया था कि कालिदास के उज्जयिनी जाने से पूर्व उनसे मल्लिका का विवाह हो जाना चाहिए। यदि ऐसा हो जाता तो संभव है उनका नरेश-पुत्री के साथ विवाह नहीं होता और वे काशमीर के शासक बनने का सौभाग्य भी प्राप्त न कर पाते, किंतु वैसा होने की दशा में अंबिका और मल्लिका के जीवन नष्ट नहीं होते।

विलोम कालिदास का प्रतिद्वंद्वी हैं। उसके हृदय में यह ईर्ष्या तो है ही कि वह मल्लिका जिसको वह प्रेम करता है, कालिदास के कारण उसकी उपेक्षा करती है, उसे कालिदास की कवि के रूप में सफलता के विषय में भी ईर्ष्या है। हाँ, वह अपने ईर्ष्या-भाव को व्यक्त नहीं होते देता —उसे अपने परिहार में छिपा लेने की कला में कुशल है। वह कालिदास से कह उठता है—"विलोम क्या है? एक असफल कालिदास। ...और कालिदास? एक सफल विलोम। हम कहीं एक-दूसरे के बहुत निकट पड़ते है।" इसी प्रकार वह यह नहीं कहता कि उस कालिदास के राजकवि हो जाने का दु:ख है, अपितु इस तथ्य को इस रूप में बदल देता है कि एक मित्र से बिछुड़ने का किसे दु:ख नहीं होता। कालिदास उसकी फूटी आँखों भी नहीं सुहाता। द्वितीय अंक में वह अंबिका और मल्लिका के समीप आकर कालिदास का इस हेतु उपहास करता है कि वह ग्राम-प्रांतर में आकर भी उनके घर नहीं आया, तथा उसकी आज्ञा से वहाँ के कंकड़-पत्थर और हरिणशावक आदि उपादान काश्मीर ले जाए जा रहें हैं। तृतीय अंक में जब वह कीचड़ से लथपथ और सुरापान के कारण झूमता हुआ मल्लिका के यहाँ आता है और कालिदास को मल्लिका से बाते करते देखता है तो उसके शब्द उस पर विष में

बुझे बाणों जैसा प्रहार करते हैं। वह मल्लिका से कहता है —"तुमने अभी तक कालिदास के आतिथ्य आयोजन नहीं किया? वर्षों के अनंतर एक अतिथि घर में आए और उसका अतिथ्य न हो? तुम जानते कालिदास को इस प्रदेश के हरिणशावकों से कितना मोह हैं? (फिर वह कालिदास की ओर मुड़ता है) हरिणशावक इसमें भी हैं।... तुमने मल्लिका की बच्ची को अभी नहीं देखा? उसकी आँखे किसी हरिणशा से कम सुंदर नहीं है × × × मैं इसलिए कह रहा थ कि कालिदास ही देखकर बता सकें कि उसकी बात तक सच है, कि क्या सचमुच बच्ची की आकृति विलोम से मिलती है या ...।" जब कालिदास उससे वह चले जाने को कहता है, तो विलोम उसकी भर्त्सना और उपहास करता हुआ कह उठता हैं —"इस घर से ग्राम-प्रांतर से ही? सुना था शासन बहुत बली होता है? प्रभुता में बहुत सामर्थ्य होती है।" कालिदास के कहने पर कि मैं कह रहा हूँ, इस समय यहाँ से चले जाओ, वह कह उठता है — "क्योंकि तुम यहाँ लौट हो? क्योंकि वर्षों से छोड़ी हुई भूमि तुम्हें अपनी प्रतीत होने लगी है? क्योंकि तुम्हारें अधिकार शाश्वत (हँसता हैं) जैसे तुमसे बाहर जीवन की गति ही नहीं हैक। तुम्हीं तुम हो और कोई नहीं है। परन्तु समय नि नहीं है। उसने औरों को भी सत्ता दी है, अधिकार दिए हैं। वह धूप औ नैवेद्य लिए घर की दहेली पर रूका रहा। उसने औरों को अवसर दिया है। निर्माण किया है। अतत: वह कालिदास और मल्लिका दोनों पर ही व्यंग्य-बाण छोड़ता हुआ चला जाता है — "तुम चाहते हो इस समय में यहाँ से चला जाऊँ, मैं चला जाता इसलिए नहीं कि तुम आदेश देते हो परन्तु इसलिए कि तुम आज यहाँ अतिथि हो, और अतिथि की इच्छा मान होना चाहिए।" वह मल्लिका से कहता है —"देखना, मल्लिका, अतिथि में कोई न्यूनता न हों। जो अति वर्षों में एक बार आया है वह आगे जाने कभी आएगा या नही।" और उसकी पहली भविष्यवाणियों के स उसका इस बार का कथन भी सत्य सिद्ध होता है—कालिदास इस बार वास्तव में मल्लिका को ऐसा त्याग जाता हैं कि उसके पुन: लौटने की संभावना नहीं रहती।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि विलोम में मानवोचित दुर्बलताएं तो अवश्य है— वह कालिदास से ई करता है, मल्लिका से उसकी इच्छा के विपरीत प्रेम करना चाहता है असहाय ओर निराश्रित मल्लिका को संरक्षण तो देता है किन्तु उसके सतीत्व के मूल्य पर, किन्तु इस तथ्य में संदेह नहीं है कि वह कल्पनाजीवी होकर पदार्थ के ठोस धरातल पर जीने वाला पात्र है। मल्लिका का भी वह हितचिंतक भी अधिक है। और तथ्य पर बल देता है। कि सरल भावुकतामयी नवयौवना का विवा कालिदास के साथ हो जाए। वह दूरद्रष्ट और इस तथ्य में आशा रखता है कि समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता रहता। विलोम का चरित्रां कालिदास की अपेक्षा अधिक प्राणवान और सशक्त रूप में किया गया है।

9.4.4. अंबिका

अंबिका प्रस्तुत नाटक का ऐसा पात्र है जिसके प्रति पाठक-प्रेक्षकों की पूर्ण सहानुभूति रहती है। उस मुख्य दुर्भाग्य यह है कि वह असमय ही विधवा हो जाती है तथा उसके पुत्र भी नहीं है जो बड़ा होकर उर भरण-पोषण का उत्तरदायित्व संभाल लेता। यह भी उसका दुर्भाग्य ही है कि उसकी इकलौती पुत्री मल्लि उसके लाड़ प्यार के कारण कुछ ढीठ हो गयी है, तथा नवयौवनाओं के समान कल्पना के संसार में खोई रह है। अनुभवी अंबिका इस तथ्य से भली प्रकार परिचित है कि युवक कालिदास जैसे आत्मकेंद्रित कवि—पुरु को अपनी प्रेयसियों के जीवन से खिलवाड़ करने में ही आनंदानुभव होता है। उन्हें भले-बुरे की विशेष चि नहीं होती। वे उनसे विवाह करने का झंझट मोल लेना नहीं वाहा करते —और इन बातों को वह स्वपुत्री समझाना भी चाहती है। किन्तु वह स्व माता की उचित सीखों की ओर कान नहीं देती। परिणाम वही निकलता जिसकी उसे आशा थी, वह स्वपुत्री के दु:खों से तिल-तिल क गलती हुई, असमय ही कालाकवित हो जाती है

नाटक के प्रथम अंक के आरंभ में ही हमें अंबिका स्व-पुत्री के वर्षा में भी घर से बाहर रहने के तथ्य क लेकर विक्षुबध दिखाई देती हैं अनुभवी अंबिका यह अनुमान कर लेती है कि वह उस कालिदास के साथ

वर्षाविहार कर रहीं होगी जिसको लेकर होने वाले लोकोपवाद के कारण जीना दूभर हो रहा है। यही कारण है कि वर्षा में भीग कर लौटी मल्लिका के साथ वह बड़ी रूक्षता का व्यवहार करती है। उल्लसित मल्लिका उससे बार-बार बातें करने की चेष्टा करती है, किन्तु वह उसकी बातें का टालती रहती है। अधिक आग्रह करने वह वह कह देती है देखती नहीं हो मैं काम कर रही हूँ। हाँ, उसके हृदय में स्वपुत्री के प्रति अपार वात्सल्य-भाव है वह उससे रूष्ट तो अवश्य है फिर भी यह सोचकर कि उसे ठंड न लग जाए, उसके लिए पहले से ही सूखे वस्त्र निकाल कर रख देती है। वह उससे यह भी कहती है कि मैंने दूध औटा दिया है उसमें शक्कर मिलाकर पी लो। यह तथ्य भी उसके वात्सल्य-भाव का ही परिचायक है कि यद्यपि वह उसकी प्रशंसा करने वाले विलोम के प्रति मन से संतुष्ट और प्रसन्न ही रहती है, फिर भी उसको अपने यहाँ से जाने को कहती है, क्योंकि उसकी पुत्री को विलोम का आगमन अच्छा नहीं लगता।

प्रत्येक भारतीय जननी के समान अंबिका भी इस तथ्य के प्रति बड़ी व्यग्र है कि उसकी पुत्री के हाथ पीले हो जाएँ। वह अग्निमित्र को इस हेतु वर-पक्ष वालों के यहाँ भेजती भी हैं किन्तु यह सूचना पाकर व्यथित हो उठती है कि मेरी पुत्री ओर कालिदास के संबंधों का अपवाद वहाँ पहुँच गया है, जिससे उन्होंने विवाह करने से इन्कार कर दिया है। मल्लिका से विवाह के विषय में यह सुनकर—"किन्तु मैंने तुमसे कहा था, अग्निमित्र को कहीं भेजने की आवश्यकता नहीं है। तुम जानती हो मैं विवाह नहीं करना चाहती फिर उसके लिए प्रयत्न क्यों करती हो? तूम समझती हो मैं निरर्थक प्रलाप करती हूँ"—उसके अंतर्मन को बड़ी ठेस पहुँचती है और वि व्यथित होकर कर उठमी है कि तुम्हारी बात ही सार्थक होती जा रही है। द:ख भेरे स्वर में उसके मुख से यह उद्‌गार भी निकल पड़ते हैं—"तुम न कहो, मै तो कह रही हूँ। आज तुम्हारा जीवन तुम्हारी संपत्ति है। मेरा तुम पर कोई अधिकार नहीं है"। जब उसके इस कथन के प्रत्युत्तर में कि मैं जानती हूँ कि तुम पर आज अपना भी अधिकार नहीं है।" जब उसके इस कथन के प्रत्युत्तर में कि मैं जानती हूँ कि तुम पर आज अपना भी अधिकार नहीं है किन्तु इतना बड़ा अपवाद मुझसे नहीं सहा जाता"—मल्लिका यह कहती है कि अपवाद के विषय में जानते हुए भी मैं स्वयं को दोषी नहीं मानती क्योंकि मैंने भावना में एक भावना का वरण किया है—"और मुझे ऐसी भावना से विहुष्णा होती है × × × तूम जिसे भावना कहती हो वह केवल छलनी और आत्मप्रवचना हैं।...भावना में भावना का वरण होता है? उसमे जीवन की आवश्यताएँ किस तरह पूरी होती हैं? उसमे भावना में भावना का वरण है?"

अंबिका मानव-मनोविज्ञान की भी अच्छी पारखी है। वह कालिदास की आत्मकेन्द्रित मनोवृत्ति को जिस रूप में भर्त्सना करती है वह अक्षरश: सत्य सिद्ध होती हूँ वह उसके विषय में उचित ही कहमी है— "मै ऐसे व्यक्ति को अच्छी तरह समझती हूँ। तुम्हारे साथ उसका इतना ही संबंध हैं कि तुम एक उपदान हो, जिसके आश्रय से वह अपने प्रेम कर सकता है, अपने पर गर्व कर सकता है। परन्तु तुम क्या सजीव व्यक्ति नहीं हो! तुम्हारे प्रति उसका या तुम्हारा कोई कर्त्तव्य नहीं हैं? कल जब तम्हारी माँ का शरीर नहीं रहेगा और घर में उस समय के भोजन की भी व्यवस्था नहीं होगी, तब जो प्रश्न तुम्हारे सामने उपस्थित होगा उसका तुम क्या उत्तर दोगीं? तुम्होरी भावना उस प्रश्न का समाधान कर देगीं?" अंबिका का मल्लिका से कहा गया यह कथन भी कितना सटीक और मार्मिक है कि "किसी संबंध से बचने के लिए अभाव जितना बड़ा कारण होता है, अभाव की पूर्ति उससे बड़ा कारण बन जाती है"—जिसका अभिप्राय यह है कि कालिदास साधन-संपन्न हो जाने पर भी तुझ से विवाह नहीं करेगा और हम देखते हैं कि उसकी यह उक्ति पूर्णतया सत्स सिद्ध होती है। आलोच्य नाटक के प्रथम अंक में ही अंबिका के ये उद्‌गार सुनकर कि इस घर के तल्प और आस्तरण हरिणशावकों के लिए नहीं हैं, यह अनुमान लगाना अनुचित होगा कि उसके हृदय में दया का अभाव है। कारण यह है कि उसे कालिदास को अपने घर अधिक आना-जाना पंसद नहीं हैं और इसलिए वह उस आहत हरिणशावक को अपने

गृह में आश्रय देकर यह बखेड़ा मोल नहीं लेना चाहती कि उसको देखने के बहाने से कालिदास बार-बार उसके घर आए।

अंबिका के लोकानुभव का एक अन्य प्रमाण यह भी है कि वह कालिदास द्वारा राजकीय सम्मान स्वीकार करने में अरूचि प्रदर्शित करने को ढोंग बताती है। वह मातुल से कह देती है कि कालिदास उज्जयि अवश्य ही जायेगा और यह उसी लोकनीति-विचार का ही प्रमाण है कि वह उस सम्मान के प्रति अरु दिखाकर अपना सम्मान बढ़ाना चाहता है उसके शब्दों में—"सम्मान प्राप्त होना चाहिए कि तुम्हारा भगि लोकनीति में भी निष्णात है।" वह निक्षेप से कहती है—"राज्य कवि का सम्मान करना चाहता है। व सम्मान के प्रति उदासीन जगदंबा के मंदिर में साध ना-निरत हैं राज्य के प्रतिनिधि मंदिर में जाकर कवि अभ्यर्थना करते हैं। कवि धीरे-धीरे आँखें खोलता है। इतना बड़ा नाटक खेलना विलक्षणता नहीं है?"

कालिदास द्वारा मल्लिका के साथ विश्वासघात करके राज-पुत्री प्रियंगु-मंजरी से विवाह कर लेने दुःखी होकर अंबिका दिन-प्रतिदिन घुलती जाती है। द्वितीय अंक में प्रियंगुमंजरी के आगमन पर उसके कथन बड़ी विषाक्त व्यंग्यमयता परिलखित होती है। जब राजकुमारी मल्लिका से यह प्रश्न करती है कि क्या तुम मन में अपना घर-परिवार बसान की कल्पना नहीं है?—तो मल्लिका तो चुप रहती है किन्तु अंबिका उ आकर उत्तर देती है—"इसके मन में यह कल्पना नहीं है क्योंकि यह भावना के स्तर पर जीती है। इसके जी में...।" (साँस उखड़ आने के कारण वह अपना कथन पूरा नहीं कर पाती)। मल्लिका द्वारा यह चेष्टा कि जाने पर कि वह प्रियंगुमंजरी से कोई अशोभन बात न कह दे, मेरे और कालिदास के विवाह की बात न उठ वह उसकी भर्त्सना करती हुई कह उठती है—"मै किसी अभ्यागत से बात भी नहीं कर सकती? दिन, मा वर्ष घुटते हुए बीत जाते हैं। मेरे लिए यह घर अब घर नहीं, एक काल-गहर हैं, जिसमें मैं हर समय बंद र हूँ और तुम चाहती हो कि मैं किसी से बात भी न करूँ?" वह प्रियंगुमंजरी के समक्ष इस रहस्य का उद्घा करने की दो बार चेष्टा करती है कि हमारी इस दुरावस्था का एक कारण तुम्हारे प्रति प्राणेश्वर कालिदास हैं, किंतु अकसर खाँसी उठ आने के कारण वह अपनी पूरी बात नहीं कर पाती और प्रसंग बदल जाता है। प्र बार वह कहती है—"यह घर सदा से इस अवस्था में नहीं है राजबधू! जब मेरे हाथ चलते थे मैं प्रतिदिन लीपती-बुहारती थी। यहाँ की हर वस्तु इस प्रकार गिरी-टूटी नहीं थीं। परन्तु आजकल तो हम दोनों माँ—बेटी यहाँ टूटी-सी पड़ी रहती है। यह इसलिए कि...।" दूसरी बार यह कहती है—"परन्तु राजवधू, मैं तु कुछ कहना चाहती थी। तुम्हें बताना चाहती थी कि...।

हम लोग .... लोग ...।"

खाँसी उखड़ आने में उसके शब्द डूब जाते हैं और प्रियंगुमंजरी यह कहती हुई चली जाती है—— आपके कष्ट को समझ रही हूँ। जो भी सहायता मुझसे बन पड़ेगी अवश्य करूँगी। इस समय अनुचर प्रतीक्षा रहे हैं, इसलिए..."।

अंबिका कालिदास की ओर से निराश तो अवश्य थी किन्तु इतनी हताश नहीं थी कि कालिदास आकर भी हमारी उपेक्षा करके चला जायेगा। जब वह इस अप्रत्याशित को ही घटित होते देखती है तो मल्लि पर व्यंगबाणों की वर्षा करते हुए अपनी अंतरात्मा की व्यथा को हल्का करने लगती है "लो मेघदूत की पक्ति पढ़ो। इन्हीं में न कहती थी कि उसके अंतर की कोमलता साकार हो उठी हैं? आज उस कोमलता का और साकार रूप देख लिया? आज वह तुम्हें तुम्हारी भावना का मूल्य देना चाहता है। क्यों नहीं स्वीकार कर ले घर की भित्तियों का परिसंस्कार हो जाएगा और तुम उनके यहाँ परिचारिका बनकर रह सकोगी। इससे बड़ा क्या सौभाग्य चाहिए? ×·× × आज वह प्रभु उसके पास सम्पदा है उस प्रभुता और सम्पदा का परिचय देने लिए इससे अच्छा और क्या उपाय हो सकता था?" वह यह इच्छा व्यक्त करती है कि काश! मैं छाया—ग्रहि

राक्षसी होती। जिसका उद्देश्य मात्र यहीं है कि वह किसी प्रकार कालिदास को पकड़ पाती और उससे पूछती कि तेरे उन वायदों का क्या हुआ जो तुने मल्लिका से किए थे! किन्तु उसकी यह साध कि मैं अपने जीव काल में स्वपुत्री के हाथ पीले कर सकूँ अधूरी ही रह जाती है और यही निराश्रिता विधवा स्वपुत्री के दु:खों से अनुदिन परितापिता-विगलित होती हुई अन्ततः दम तोड़ देती है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अंबिका आलोच्य नाटक का एक जीवन्त पात्र है। वह अपनी मल्लिका विषयक वात्सल्य-भावना, उसकी हिजाकांक्षा, उसके भोलेपन के प्रति कातरता तथा कर्मठता और यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण पाठक-प्रेक्षकों की सहानुभूति अर्जित करने में पूर्णतया सफल रहती है। प्रभाव की दृष्टि से उसका चरित्र मल्लिका के अतिरिक्त अन्य सभी पात्रों से बढ़कर प्रभावशाली हैं।

9.5. कथोपथन अथवा संवाद-योजना

आधुनिक यथार्थवादी या समस्या-प्रधान नाटकों में प्राय: दो प्रकार के सम्वादों की योजना की जाती है। एक—सम्पूर्ण संवाद, इस प्रकर के संवादों में अभिनेयता की पूर्णता तो रहती है, अभिनेता अपनी बात कहने के लिए अनके शब्दों और पूर्ण वाक्यों का प्रयेग करता है। उनके असंबद्धता, अस्पष्टता और अधूरापन आभसित नहीं होता। संवादों का दूसरा प्रकार है—अपूर्ण या सांकेतिक संवाद। इस प्रकार के संवादों की योजना प्राय: असन्तुलित एवं अव्यक्त मन:स्थितियों की अभिव्यक्ति के लिए या फिर असन्तुलित पात्रों के व्यवहारों के द्योतन के लिए, अथवा भावावेश की स्थितियों के रूपायन के लिए ही प्राय: किया जाता है। इस प्रकार की संवाद-योजनाओं में सांकेलिकता के अभिध मन के लिए नाटककार या तो डैशों का प्रयोग करता है, या फिर व्याख्या-बिन्दुओं का। इस प्रकार की संवाद योजना अकसर संक्षिप्त, कभी-कभी एक शब्द मात्र ही हो जाती है। भावावेश के क्षणों में कभी-कभी इस प्रकार के संवाद लम्बे भी हो जाते हैं। उनके बीच-बीच में डैंश और व्याख्या बिन्दु भी प्रयुक्त किये जाते हैं। राकेश ने अपने नाटकों में ये दोनों प्रकार के संवाद प्रयुक्त किये हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में इन दोनों प्रकार के संवादों के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है—

मल्लिका — ये कौन लोग है माँ?

अम्बिका — संभवत: राज्य कर्मचारी हैं।

मल्लिका — ये यहाँ क्या कर रहे हैं।

अम्बिका — जाने क्या कर रहे है!... कभी वर्षों में ये आकृतियाँ यहाँ दिखाई दे जाती हैं। और जब भी दिखाई देती हैं, कोई न कोई अनिष्ट होता है। कभी युद्ध की सूचना आती है, कभी महामारी की।

दूसरे प्रकार का उदाहरण देखिए। कालिदास को उज्जयिनी ले जाने के लिए आचार्य वररूचि राज-कर्मचारियो के साथ आये हुए है। उस समय मातुल और निक्षेप में संवाद चल रहा है—

निक्षेप — किंतु मातुल ...।

मातुल — किंतु मातुल क्या? बताओ तुम मुझे मूर्ख समणते हो?

निक्षेप — नहीं मातुल ...।

मातुल — मैं मूर्ख नहीं, तो निश्चय ही तुम मूर्ख हो। ... आचार्य ने क्या कहा है?

निक्षेप — उन्होंने कहा है कि आपके साथ इस सारे ग्राम-प्रदेश में घूमना चाहते हैं ... जिस प्रदेश ने कालिदास की कविता को जन्म दिया है।

संवादों का एक अन्य प्रकार भी माना जाता है, जिसे काव्यात्मक संवाद कहते है। नाटककार प्रसाद के बाद इस प्रकार के संवाद लिखने में सर्वाधिक सफलता मोहन राकेश को ही मिल सकी है और वह भी कहीं अन्यत्र नहीं, बल्कि '**आषाढ़ का एक दिन**' में ही। वास्तव में नाटक का आरंभ ही काव्यात्मक संवाद से हुआ है यथा —

मल्लिका— तीन कमल की तरह कोमल और आर्द्र, वायु की तरह हल्का और स्वप्न की तरह चित्रमय! मै चाहती थी उसे सपने में भर लूँ और आँख मूँद लूँ।

इसी प्रकार मल्लिका के संवादो में काव्यात्मकता का समावेश सर्वत्र देखा जा सकता है। कालिदास से भी बढ़कर नाटककार ने मल्लिका से इस प्रकार के संवाद कहलाए हैं। उसका निम्न कथन तो एक भावमयी कविता ही कहा जा सकता है — "मैंने भावना में भावना का वरण किया है। मेरे लिए वह सम्बन्ध और सब सम्बन्धों से बड़ा है। मैं वास्तव में अपनी भावना से प्रेम करती हूँ जो पवित्र है, कोमल हैं, अनश्वर है...।"

कालिदास के संवादो में भी इस प्रकार की काव्यात्मकता है और विलोम के कई संवाद तो एकदम काव्य-खण्ड से ही प्रतीत होते है। यहाँ दोनो का एक-एक उदाहरण प्रस्तुत है

कालिदास— हम जिएंगे हरिण शावक! जिएँगे न, एक वाण से आहत होकर हम प्राण नहीं देंगे। हमारा शरीर कोमल है तो क्या हुआ? हम पीड़ा सह सकते हैं। एक वाण प्राण ले सकता है, तो उँगलियों का कोमल स्पर्श प्राण दे भी सकता है। हमें नये प्राण मिल जाएँगे।

विलोम— विलोम क्या है? एक असफल कालिदास। और कालिदास? एक सफल विलोम। हम कहीं एक-दूसरे से बहुत निकट पड़ते हैं।

इन तीनों प्रकार के संवादों का '**आषाढ़ का एक दिन**' नाटक में पूर्णतया सफल प्रयोग हुआ है, यह उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है। इन संवादो की सफलता केवल बाह्य योजनाओं की दृष्टियों से ही नहीं है, बल्कि कथा और कथानक का आत्म-तत्त्व या प्राणा-तत्त्व भी इनमें स्पष्ट: झलकता देखा-सुना जा सकता है। समस्या या यथार्थवादी नाटकों के समान अन्त में अत्यधिक बल्कि भाषण की सीमा तक प्रलंब संवाद भी आलोच्य नाटक के अंत में मिल जाते है। समस्या नाटकों के शिल्प और शैली की दृष्टियों से उनका अपना ही अलग और विशिष्ट महत्त्व हुआ करता है।

संवादों के इन प्रकारों के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार या रूप भी उपलब्ध होता है। संस्कृति नाटकों में '**आकाश-भाषित**' के नाम से इनका रूप प्राय: देखने को मिलता है। आजकल '**आत्म संभाषण**' के नाम से नाटकों में इसका प्रयोग प्राय: किया जाने लगता है। यथार्थवादी और समस्या-प्रधान नाटकों में तो '**आत्म संभाषण**' के नाम से नाटकों में इसका प्रयोग प्राय: किया जाने लगता है। यथार्थवादी और समस्या-प्रधान नाटकों में तो '**आत्म संभाषणात्मक-संवाद**' रहते ही हैं। कोई पात्र प्राय: अकेलेपन में ही इस प्राकर के संवाद बोला करता है! इस प्रकार के संवादों का वैशिष्ट्य यह माना जाता है कि यह तो पात्र सीधे ढंग से अपने या किसी अन्य पात्र के बारे में कुछ कहता जाता है, या फिर प्रश्नोत्तर रूप में अपनी बात व्यक्त किया करता है। ऐसा करने से प्राय: घटित घटनाओं की या तो सूचना मिल जाया करती है या फिर उनका विवेचन-विश्लेषण हो जाया करता है। नाटक '**आषाढ़ का एक दिन**' में आलोचना या विवेचन के रूप में दो-तीन स्थानों पर इस प्रकार के संवादों की योजना भी उनलब्ध हो जाती हैं काश्मीर जाते समय कालिदास अपने ग्राम प्रान्तर से गुजरता है, पर मल्लिका के घर की ओर न आकर पर्वत शिखरों की ओर चला जाता है। तब कालिदास का लक्ष्य कर मल्लिका इस प्रकार का आत्म-सभाषण करने लगती है—

मल्लिका— आज वर्षों बाद तुम लौट कर आए हो? सोचती थी तुम आओगे तो उसी तरह मेघ घिरे होंगे, वैसा ही अन्धेरा-सा दिन होगा, वैसे ही वर्षा में एक बार भीगूँगी और तुम से कहूँगी कि देखो मैने तुम्हारी सारी रचनाएँ पढ़ी हैं ...।

(कुछ पृष्ठ हाथ में ले लेती है।)

उज्यियिनी की ओर जाने वाले से कितना-कितना कह कर मैंने तुम्हारी रचनाएँ मंगवाई है।.... सोचती थी की तुम्हे भी कभी सुनाऊंगी। पर्वत शिखर से घण्टा-ध्वनियाँ गूँज उठेंगी और मै अपनी यह भेंट तुम्हारे हाथों में रख दूंगी... (कोई पर रखा ग्रन्थ उठा लेती है) कि देखो, यह तुम्हारी नयी रचना के लिए है। ये जो पृष्ठ मेने अपने हाथों से बनाकर सिये है। इन पर तुम जो भी लिखोगे, उससे मुझे अनुभव होगा कि मै भी यहाँ हूँ, मेरा भी कुछ है। (नि:श्चय ही कोई रख देती है) परन्तु आज तुम आये हो तो सारा वातावरण ही तुम्हारी है और... नही सोच पा रही कि तुम भी यही हो या..?

इससे हमें अतीत में घटित अदृश्य का बहुत कुछ पता चल जाता है। संवाद, पात्र और वक्तव्य से संबद्ध पात्र के परिवर्तित परिवेश, उनके प्रति मनोप्रतिक्रियाओं का अभ्यास भी मिल जाता है। नाटककार ने इस प्रकार के समाचारों की योजना बड़े ही नाटकीय ढ़ंग से की है, क्योंकि ऐसे संवादो के बोलने के तत्काल बाद ही नाटकीय ढ़ंग से की है। क्योंकि ऐसे संवादो के बोलने के तत्काल बाद ही किसी पात्र का प्रवेश होता है और परिवर्तित वातावरण एवं अन्त:स्थितियों का स्पष्ट उभार मिलने लगता है। इस संवाद के बाद रानी प्रियुगमंजरी के आगमन की सूचना लेकर और पूर्व-व्यवस्था के लिए प्रवेश करते है किंतु तीसरे अंक में जहाँ इस प्रकार की संवाद योजना की गई है। वहाँ उसके बाद मल्लिका के अभिलापित कालिदास का प्रवेश होता है पर एकदम विभिन्न एवं एक प्रकार से अपरिचित-अयचित स्थितियों में। वहाँ दिया जाता संभाषण पर्याप्त प्रलंब है। उससे मल्लिका के वर्तमान मन:स्थितियों का एकदम आभास मिल जाता है। संभाषण का प्रारंभ मातुल के यह सूचना देने के बाद से होता है कि कालिदास काश्मीर से भाग कर, काशी जा कर सन्यासी हो गया है। विस्मय-विमुग्य मल्लिका कहती है।

"नही तुम काशी नही गए। तुमने संन्यास नही लिया। मैने इसलिए तुमसे वहाँ जाने के लिए नही कहा था।... मैने इसलिए भी नही कहा था कि तुम जाकर वहीं का शासन सार संभालो। फिर भी जब तुमने ऐसा किया मैने तुम्हें शुभ-कामनाएँ दी-यद्यपि प्रत्यक्ष तुमने वे शुभ कामनाएँ, ग्रहण नही की। (ग्रन्थ हाथ में लिए जैसे अभियोगपूर्ण दृष्टि से उसे देखती है।) मै यद्यपि तुम्हारे जीवन मै नही रही, परंतु तुम मेरे जीवन में सदा बने रहे हो। मैने कभी तुम्हे अपने से दूर नही होने दिया। तुम रचना करते रहे और मै समझती रही कि मै सार्थक हूँ, मेरे जीवन की कुछ उपलब्धि है (ग्रन्थ को घुअनों पर रख लेती है।) और आज तुम मेरे जीवन को निरर्थक कर दोगे?" और इसी प्रकार बोलती ही जाती है। उसके इस आत्म-संभाषण से पाठक और प्रेषक के सामने मल्लिका का आत्म-विश्लेषण तो आ ही जाता है। उसका वर्तमान अभावग्रस्त पर भावनामय जीवन भी उजागर हो जाता है। कालिदास के पलायनवादी व्यक्तित्व को विश्लेषणात्मक झाँकी भी मिल जाती है और भोगी जा रही परिस्थितियाँ भी स्पष्टत: सामने आ जाती है। यही सब इस प्रकार के संवादों की विशेषता है। मुख्यत: संवादों के यहाँ रूप और प्रकार स्पष्ट करते है कि जिनका सफल प्रयोग राकेश ने अपने इस प्रथम नाटक में ही बड़ी सुघड़ता से किया है।

9.6 देशकाल-वातावरण

नाटकों के कथानक, कथ्य, पात्रों के चरित्र और साथ जुड़ा अन्य प्रकार का सभी बातों का विश्वसनीय एव ग्राह्य बनाने के लिए सजीव और सशक्त वातावरण का देशकाल के अनुरूप योजना आवश्यक हुआ करता

है। **'आषाढ़ का एक दिन'** मूलत: ऐतिहासिक परवेश और पर्यावरण वाला नाटक है—यद्यपि इसमें युग ब
भी अनिवार्य तथा अन्त:स्यूत है अत: नाटकार ने इसमें पात्रो के स्वरूप-विधान, उनके अन्त:बाह्य वि
गतिविधियों और संवाद-योजना आदि में प्रमुख: ऐतिहासिक परिवेश का पूर्णतया ध्यान रखा है— यद्यपि
उस सबसे मिलते-जुलते तत्त्व आज के ग्राम्य एवं नगरीय-सृष्टि की अद्‌भुत क्षमता विद्यमान थी जिसका प्रम
'आषाढ़ का एक दिन' समेत सभी नाटकों में मिल जाता है।

वातावरण-सृष्टि के देश-काल के अनुरूप मुख्य-दो रूप या अंग हुआ करते है-एक बाह्य और दू
आन्तरिक। बाह्य का सम्बन्ध प्रकृति भूगोल और सामाजिक या परिवेशगत आचाय-विचारों के साथ रहा क
है, जबकि आन्तरिक का पात्रो का चरित्रगत प्रवृत्तियों, मनोद्वन्द्वों और रूचियों आदि के साथ। नाटककार ने व
वातावरण-सृष्टि के बहुत सारे निर्देश तो नाटक मे नए संकेतों के रूप में चित्रित कर दिये है और कुछ का प
हमे पात्रो के संवादो के द्वारा चल जाता है। जैसे कि नाटक के आरम्भ में ही नाटककार लिखता है——

"पर्दा उठने से पूर्व हल्का-हल्का मेघ गर्जन और वर्षा का शब्द, जो पर्दा उठने से अनन्तर भी कुछ क्ष
चलता रहता है। फिर धीरे-धीरे धीमा पड़कर मिलीन हो जाता है।" इसके बाद उसने अंबिका के घर का
चित्र प्रस्तुत किया है वह समग्र ग्राम्य-परिवेश को उजागर करने वाला है। उसमे क्रमश: जो परिवर्तन आता
वह भी अगले अंकों का वर्णन-ब्यौरो और रंग-संकेतों से स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार आचार-विचारो अ
मान्यताओं आदि का ज्ञान पात्रो के संवादो से हो जाता है। प्रकृति और भूगोल का पता भी अनेकश: संवादो
हो जाता है। रागना-सागना की मल्लिका से जो बातचीत होती है, उससे परिवेश का काफी ज्ञान होता
प्रियंगमंजरी एक स्थान पर अम्बिका से कहता है।

"यहाँ से बहुत दूर तक की पर्वत श्रृखंलाएँ दिखाई देती है। कितनी निर्व्याज सुन्दरता है...। इस सौन्दर्य
सामने जीवन की सुविधाएँ हेय है।"

इस प्रकार के अन्य संवाद भी नाटक में खोजें जो सकते हैं जो देश-काल के अनुरूप बाह्य वातावरण
अध्ययन में विशेष सहायक हुआ करते हैं। बाकी नाटक के अध्ययन से बहुत सारा ग्राम्य एवं नगरीय त
अन्याय स्थितियों का भी पता चल जाता है। जैसे प्रेम-सम्बन्धों के साथ अपवादों का जुड़ना, विवाह संस्था
सम्बन्धता नैतिक मान्यताएँ एवं अवधारणाएँ पशुपालक के मुख्य धन्धे, धान के मुख्य खाद्य होने, संस्कृत व
प्रचार, व्यवसाय, औषधियों, मधु-घृत आदि के प्रयोग। इसी प्रकार नगरीय सभ्यता का चकाचौध, वहाँ व
नेतिकताओं का भाव-जैसें विवाह के बाद भी कालिदास का बार वानताओं से सम्बन्धित होना, राजकर्मचारि
कादबाब, अहपूर्ण व्यवहार, अकर्मण्यता, राजनीति और राजभवनों का कृत्रिम जीवन आदि नयी बातों व
सम्बन्ध तत्कालीन वातावरण के साथ ही हैं, जिसका हमें नाटक से स्पष्ट पता चल जाता है। तब साहित्य, कर
आदि का अत्यधिक मान था। ग्राम्य जन भी उससे सम्बद्ध और परिचित थे। तात्पर्य यह है कि बाह्य वातावर
के सन्दर्भो में देश-काल के अनुरूप प्राय: सभी बातों से हम सामान्यत: परिचित हो जाते हैं।

आन्तरिक वातावरण का सम्बन्ध लोगों का अन्त: प्रवृत्तियों के साथ जुड़ा रहा करता है। मनोद्वन्द्वों
रूप में नाटककार ने उसे भी बड़े सजीव रूप से उभारा है। जैसें सामान्यत: ग्राम्य-जन ईर्ष्या-द्वेष से पूरित थे
स्वार्थी भी थे। दूसरे की उन्नति भी उन्हें सह्य नहीं थी। विलोम अम्बिका, मातुल के माध्यम से इन बातों व
सहज ही अनुमान हो जाता है। पर निक्षेप जैसे निश्चल युवक भी थे। राज-कर्मचारी एक ओर तो गर्व से ऐठे हु
थे, जबकि दूसरी ओर उनमें खुशामद और समता का भाव। प्राय: युगीन लोगों को अन्त: प्रवृत्तियों का दृष्टिय
से स्वच्छन्द एवं स्वेच्छाचारी व्यवहार की भी जानकारी जा सकता है। तभी तो अम्बिका के घर में प्रवेश
लिए या नारी-पुरूषों को पारस्परिक बातचीत के लिए किसी प्रकार की वाधा का सामना नहीं करना पड़त

तात्पर्य यह हैं कि आन्तरिक वातावरण की भी एक स्पष्ट झलक नाटक में मिल जाती है। अत: देश-काल और वातावरण सृष्टि की दृष्टियों से भी 'आषाढ़ का एक दिन' को पूर्ण सफल नाटक कहेंगे।

9.7. भाषा-शैली

नाटकों में वहाँ भाषा सर्वाधिक श्रेष्ठ मानी जाती है कि जो कुल मिलाकर रंगमंच के सर्वथा उपयुक्त हो। इस दृष्टि से भाषा का सरल और सुबोधगम्य होना अनिवार्य है। अभिनेय होने के कारण नाटकों का सम्बन्ध सभी प्रकार के प्रेक्षकों के साथ जुड़ा रहना चाहिए। ताकि वे उसे हृदयगम कर सम्प्रोषित तत्वों एवं तथ्यों को अधिगृहीत कर सकें। 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक का कथ्य, कथानक और पात्र मुख्यत: काव्यमय है। अत: स्वाभाविक काव्यमयता का गुण इसमें स्वत: ही आ गया हैं फिर भी नाटककार ने आज की यथार्थवादी नाट्य परम्परा का भाषायी दृष्टियों से भी ध्यान रखा है। इस कारण भाषा में पात्रों की स्थिति और स्तर आदि का ध्यान रखा गया है। देश-काल के अनुरूप शब्दों का प्रयोग भी इसमें सार्थक रूप में किया गया है। कथ्य, कथानक और पात्रों के चरित्रों एवं अन्तर्द्वन्द्वों को उभार कर सजीव बना देने में नाटक की भाषा को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई हैं। उसमें रोचकता का तत्व तो है ही यथा स्थान व्यंग्य विनोद का सहज क्षमता का भी उसने व्यापक परिचय दिया है। कुल मिलाकर हम 'आषाढ़ का एक दिन' की भाषा को सहज स्वाभाविक और साहित्यिक रंगमंच के उपर्युक्त भाषा कह सकते हैं। एक उदाहरण से यह बातें पूर्णतया स्पष्ट हो जाती हैं।

प्रियंगु — लगता हैं यहाँ ग्राम-प्रदेश में रहकर भी तुम्हें साहित्य से बहुत अनुराग है। (मल्लिका की आखें झुक जाती हैं) किसकी रचनाएँ हैं ये?

मल्लिका — कालिदास की।

प्रियंगु — (प्रियंगु की भोंहें कुछ संकुचित हो ताजी हैं।) अब वे मातृ-गुप्त के नाम से जाने जाते हैं। यहाँ भी उनकी रचनाएँ मिल जाती हैं?

मल्लिका — ये प्रक्तियाँ मैने उज्जयिनी से आने वाले व्यवसाययों से प्राप्त की हैं।

समूचे नाटक की वास्तविक भाषा यहीं हैं, जबकि भावावेश के क्षणों में कही-कहीं अधिक काव्यमयता भी आ गई हैं। मल्लिका के भाषायी प्रयोगों में ऐसे क्षण विशेष आये हैं। विलोम की भाषा-शैली में व्यंग्य का वैदग्ध्य विशेष उभरा है। तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रमुखता के साथ हुआ है। आधुनिक दृष्टि से कुछ अप्रचलित शब्द भी मिलते है। जैसे आस्तरण, तथ्य, उल्मुक आदि। भाषा-शैली में मुहावरों के प्रयोग के कारण भी सजीवता का समावेश हुआ हैं। दो-चार स्थलों पर संस्कृत की उक्तियों का प्रयोग भी हुआ है। अलंकरण की प्रवृत्ति भी कही-कहीं भवावशमया स्थितियों में दिखाई देती हैं।

जहाँ तक नाटकीय शैली का प्रश्न हैं, इसें हम यथार्थवादी परम्परा के कुछ-कुछ समस्या प्रधान नाटकीय परम्परा का नाटक कह सकते हैं। इसर दृष्टि से मनोभावों के व्यक्तिकरण के लिए अनेक स्थलों पर डैशों और व्याख्या बिन्दुओं का प्रयोग किया गया है। नाट्य-शैली में त्रासदीय तत्वों का समावेश आद्यान्त द्रष्टव्य हैं। अन्त भी त्रासदीय ही कहा जायेगा। तात्पर्य यह हैं कि आज भाषा-शैली शिल्प का दृष्टियों से हिन्दी-नाटक लिस दिशा में बढ़ रहा है प्रस्तुत नाटक उस बसका एक प्रत्यक्ष दिशा-निर्देशक स्तम्भ हैं।

9.8. उपद्देश्य एवं संदेश

'**आषाढ़ का एक दिन**' इतिहास और सामयिक जीवन के यथार्थ-बोध को लेकर रचा गया नाटक है ऐसे किसी विशिष्ट भावनात्मक आदर्श को लेकर नहीं चला करते। ऐसे नाटक किसी पूर्व निर्धारित विशिष्ट उद्देश्य के परिचालित भी नही हुआ करते फिर किसी प्रकार का विशेष सन्देश की प्रवृत्ति भी ऐसे नाटकों की नही

करती। इनका उद्देश्य और सन्देश तो वास्तव में व्यवहार जगत में जो कुछ घटित हो चुका या घटित हो रहा है, उसका मात्र बोध करा देना ही हुआ करता है। इन दृष्टियों से जब हम आलोच्य नाटक '**आषाढ़ का एक दिन**' का विवेचन और विश्लेषण करते है तो पाते है कि नाटककार व्यक्ति की सर्जनात्मक चेतना में परिव्याप्त युग के द्वंन्द्वात्मक संघर्ष को ही यहां मुख्यत: रूपायित करना चाहता है। नाटककार कालिदास को युग-युग तक सृजनात्मक चेतना के द्वन्द्व का प्रतीक मानकर ही चला है। उसने एक अहनिष्ठ, आत्मजीवी और द्वन्द्व व्यक्ति-पुरूष के हाथों से चिनता काल से उत्पीड़ित एवं शोषित होती आ रही नारी का चित्रण यहाँ प्रमुखता के साथ किया है। नाटककार के शब्दों में ही तथ्य की पुष्टि देखिए। अपने दूसरे नाटक '**लहरों के राजहंस**' की भूमिका में उसने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहा है—

"कालिदास मेरे लिए एक व्यक्ति नही, हमारी सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है, नाटक में वह प्रतीक उस अन्तद्वन्द्व को संकेतिक करने के लिए है जो किसी भी काल में सृजनशील प्रतिभा को आन्दोलित करता है। व्यक्ति कालिदास को उस अन्तर्द्वन्द्व से गुजरना पड़ा या नही, यह बात गौण है। मुख्य बात यह है कि हर काल में बहुतो को उससे गुजरना पड़ा है। हम भी आज उससे गुजर रहे है।" इसी प्रकार मल्लिका के बारे में भी उपरोक्त सन्दर्भो में ही नाटककार कहता है- '**मल्लिका का चरित्र एक प्रेयसी और प्रेरणा का ही नहीं, भूमि में प्रेषित उस स्थिर अवस्था का भी है जो ऊपर से झुलस कर भी अपने मूल में विरोपित नहीं होती।**' इस स्पष्टीकरण से नाटककार का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है वह द्वन्द्वग्रस्त जीवन के यथार्थ का बोध कराना चाहता है, उसमें उसे निश्चय ही सफलता मिली है।

इसके साथ या ऐसा करते समय सामान्यत: अन्य कुछ प्रश्न भी स्वत: ही नाटक में आ गये है। जैसे कलाकार को राज्यव्यवस्था का अंग बनना चाहिए या नहीं। अंग बनकर भी प्रत्यक्ष एवं व्यावहारिक राजनीति में भाग लेना चाहिए अथवा नही। कलाकार के प्रति सामाजिकी का दायित्व क्या है या कैसा होना चाहिए। प्रेम के बाद विवाह अनिवार्य है अथवा नही। इन प्रश्नों को ऊठाकर इन सबके बारे में यथार्थ जीवन में जो विद्रूप आ गए है, उनको नाटककार ने सशक्त ढ़ंग से उभारा है। उनका यद्यपि कोई समाधान तो नही बताया और इस प्रकार कोई प्रत्यक्ष सन्देश भी नही दिया तो भी अनुमानत: या परीक्षत: यही कहता प्रतीत होता है कि कलाकार को प्रत्यक्ष ओर व्यावहारिक राजनीति में भाग नही लेना चाहिए। विशाल का स्वतंत्र अंग बना रहकर ही वह अपने सुजन की भुमिका निभा सकता है। कलाकार सभी प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति का दायित्व लेना और निभाना चाहिए। प्रेम की स्थिति में यदि विवाह हो ही जाये तो स्वभाविक एवं उपयुक्त हो सकता है। कुल मिलाकर '**आषाढ़ का एक दिन**' नाटक के उद्देश्य एवं सन्देश के बारे में यही कुछ कहा जा सकता है। इन्हीं सन्दर्भो में उसकी सफलता भी अंकित किया जा सकता है।

9.9 रंगमंच और अभिनेयता

आज का नाटक रंगमंच और अभिनेयता की समस्त संभावनाओं को सामने रखकर ही रचा जाता है। इस आलोक में यदि ऐ वाक्य में हम कुछ कहना चाहे तो कह सकते है कि '**आषाढ़ का एक दिन**' नाटक साहित्यिक रंगमंच की समग्र आवश्यकताओं और सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर ही लिखा गया है, साहित्यिक रंगमंच का सभी प्रकार की सफल संभावनाएँ भी इसमें विद्यमान है। इसका प्रमाण इस बात से मिल जाता है कि आज तक अनेक बार इस नाटक का अभिनय देश-विदेश में खुले बन्द-सभी प्रकार के रंगमंच पर पूर्ण सफलता के साथ किया जा चुका है। यद्यपि कुछ आलोचकों ने '**आषाढ़ का एक दिन**' की भाषा तथा अन्य अनेक दृष्टियों से काव्यात्मक का समावेश के कारण इसे सफल रंगमंचीय नाटक न कहने का आग्रह दिखाया है, पर आज तक के अनेक बार के सफलतम मंचन ने उनके कथनों को निरन्तर झुझला कर रख दिया है। इसकी काव्यात्मकता और साहित्यिकता किसी भी प्रकार के प्रेक्षक के लिए बोझिल प्रमाणित नही हुई, बल्कि सभी ने मुक्त कण्ठ से उसकी प्रशंसा की है।

नाटक में वस्तु-योजना एकदम सीधी-स्पष्ट और समस्त नाटकीयता के तत्वों से संवत है। किसी भी प्रकार की जटिलता उसमें नही है कि जो किसी भी प्रकार के प्रेक्षक क लिए दुर्बोध हो सके। वस्तु-निधान के प्रत्येक अन्त:दृश्य की योजना विश्वस्त एवं परिचित-सी प्रतीत होती है। पात्र-योजना यद्यपि ऐतिहासिक है, तो भी मिलाए वेशभूषा के आज की स्थितियों से बाहर कुछ भी प्रतीत या आभासित नही होता। पात्रों का मनोद्वन्द्व एवं मनोवैज्ञानिक चरित्रकरण भी सहज और स्वाभाविक है। नाटककार ने रंगमंचीय योजनाओ की सहजता का ध्यान तो रख ही है, उसके लिए सभी प्रकार के उचित निर्देश भी स्थान-स्थान पर दे दिये है। नाटकों में संवाद योजना और उसकी भाषा काव्यात्मक या साहित्यिक है, पर जैसा कि हम ऊपर कह आये है उससे अभिनय में किसी प्रकार की बाधा नही आती। अभिनय में भी किसी दुरूहता का सामना नही करना पड़ता। कहा जा सकता है कि नाटककार सुजन-प्रक्रिया मे प्रस्तुत काल से पूर्व से ही इन दिशाओं में सजग एवं सचेत रहा है। इस कारण जटिलता किसी भी रूप में नही आ पाई है।

नाटककार राकेश अपने विद्यार्थी-काल से ही रंगमंच के साथ सम्बन्धित रहे हैं। फिर अपने नाटकों के मोचित होने के समय भी वे दिग्दर्शकों के प्राय: साथ ही रहे हैं। आज के यथार्थवादी रंगमंच को उन्होंने निकट से देखा-परखा और अभिनय तत्वों की भी निकट पहचान की। इन्हीं सब अनुभवों के आधार पर ही उन्होंने अपने अन्य नाटकों के समान '**आषाढ़ का एक दिन**' में भी रंगमचीयता और अभिनेयता का सब प्रकार से ध्यान रखा है। नाटक में पात्रों की योजना सीमित है। ऐतिहासिक पर्यावरण होते हुए भी उनको और उनके परिवेश की साज-सज्जा जटिल नहीं बल्कि पूर्ण सहज रखी गयी है। अंक चाहे तीन हैं, पर आद्यान्त दृश्य एक ही बना रहता है। क्रमश: उसमें बहुत कम परिवर्तन करना पड़ता है। हास्य, व्यंग्य-विनोद के अंशों का भी पूर्णतया ध्यान रखा गया है। प्रत्येक घटना और उसका प्रस्तुतीकरण समग्रत: सहज एवं सुबोध्य रूप में हुआ हैं। नाटक में मार्मिक स्थल भी अनेक हैं, जो अपना स्थायी प्रभाव छोड़ पाने की अद्‌भुत क्षमता से संयत है। तात्पर्य यह है कि सामान्यत: रंगोपयोगी नाटकों में जो तत्व एवं तथ्य होने चाहिए, '**आषाढ़ का एक दिन**' नाटक में वे सभी पूर्ण रूप से विद्यमान है। अत: इसकी अभिनेयता के सामने किसी भी प्रकार का प्रश्न-चिन्ह अंकित नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन-विश्लेषण के आधार पर अन्त में निष्कर्षत: यही कहा जा सकता है कि आधुनिक नाटकों के तत्वों की कसौटी पर 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक सभी प्रकार से खरा उतरता है। वास्तव में पूर्ण आधुनिक और यथार्थवादी नाटकों की रचना-प्रकिया के बीच की यह ऐसी कड़ी है कि जिसने हिन्दी-नाटक की सभी प्रकार की संभावित उन्नतियों और प्रगतियों के द्वारा उद्‌घटित कर दिये।

9.10. नाटक का सारांश

आधुनिक नाटकों का स्वरूप परम्परागत नाट्य-परम्परा से एकदम हटकर है। नाटक इस दृष्टि से आज परम्परागत आधारों पर नाटकों के विवेचन-विश्लेषण का कोई औचित्य नहीं रह गया। इस प्रकार नाटक पहले रस एवं किसी विशिष्ट उद्देश्यों को सामने रखकर रचे जाते थे। '**आषाढ़ का एक दिन**' नाटक में जिस प्रकार के और जिस ढंग से कथ्य-कथानक की योजना की गई है, पात्रों की योजना और उनके चरित्र-चित्रण किये गये हैं, उन सबमें परम्परा का निर्वाह किसी भी रूप में नहीं हुआ है बल्कि एक नव्य प्रक्रिया और प्रणाली ही नाटककार ने अपनाई है। नाटक मूलत: कथात्मक साहित्य का एक दृश्य विधानात्मक विधा और स्वरूप है। कथात्मक साहित्य के अन्तर्गत आने वाले विधात्मक रूपों के आधुनिक परिप्रेक्ष्यों में मूख्यत: छ: तत्व स्वीकार किये जाते हैं। पर जहाँ तक कथात्मक-साहित्य के इस दृश्य-स्वरूप या विधा का प्रश्न है, दृश्यमयता के कारण इसके क्रमश: सात तत्व स्वीकार किए गए हैं। यहाँ '**आषाढ़ का एक दिन**' नाटक के तात्विक विवेचन के लिए नाटक के सात मुख्य तत्व स्वीकार किए गए हैं। क्रमश: उन तत्वों

के नाम है — 1. वस्तु योजनाएं कथात्मक या कथा वस्तु 2. पात्र और चरित्र-चित्रण 3. कथापकथन या सम्वाद 4. देशकाल और वातावरण 5. भाषा-शिल्प 6. उद्देश्य एवं सन्देश और 7. रंग-मंच एवं अभिनेयता। नाटक की वस्तु-योजना आधिकारिक दृष्टियों से इतिहास संयत होते हुए भी विशुद्ध ऐतिहासिक नहीं बल्कि कल्पना-प्रधान ऐतिहासिक है। क्योंकि नाटककार ने कथानक के नायक कालिदास को युग-युगों की सृजन चेतना का प्रतीक मानकर उसका चित्रण किया है। अत: वस्तु-विन्यास एवं विकास में आधुनिक बल्कि यथार्थ युग-बोध अधिक समन्वित एवं संयत हो पाया है। कथानक और उससे सम्बन्धित घटनाओं की सृष्टि पात्रों के द्वारा ही हुआ करती है। इस प्रकार यदि पात्र होंगे तो उनका चरित्र-चित्रण भी अनिवार्यत: होगा। नाटककार राकेश चूँकि कालिदास को सर्जनात्मक प्रतिभा का प्रतीक मान कर चला है। एक सर्जक को किस प्रकार की स्थितियों और अन्द्वन्द्वों सें गुजरना पड़ता है, यहीं सब चित्रण करना उसका उद्देश्य रहा है। इस दृष्टि से नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' को हम चरित्र-प्रधान कह सकते हैं। **'आषाढ़ का एक दिन'** नाटक के संवादों की प्रमुख विशेषता यह है कि यह काव्यमयता के महत्वपूर्ण गुणों से संयत हैं। इसका प्रमुख कारण है। नाटक का वर्ण्य विषय सम्वादों की योजना करते समय नाटककार ने पात्रों की स्थिति, प्रवृति और स्वभाव को भी पूर्णतया ध्यान में रखा है। अत: उनके अन्त: बाह्य चरित्रों के उद्घाटन में प्रत्यक्षत: भी सम्वाद पूर्णतया सहायक हुए हैं। **'आषाढ़ का एक दिन'** मूलत: ऐतिहासिक परिवेश और पर्यावरणों वाला नाटक है — यद्यपि इसमें युग बोध भी अनिवार्य तथा अन्त:स्यूत है। नाटक की कथ्य, कथानक ने आज की यथार्थवादी नाट्य परम्परा का भाषायी दृष्टियों से भी ध्यान रखा है। इस कारण भाषा में पात्रों की स्थिति और साहित्यिक रंगमंच के उपर्युक्त भाषी कह सकते है। नाटककार कालिदास को युग-युगों की सृजनात्मक चेतना के द्वन्द्व का प्रतीक मानकर ही चला है। उसने एक अहनिष्ठ, आत्मजीवी और द्वन्द्वग्रस्त व्यक्ति-पुरूष के हाथों से चिन्ता काल से उत्पीड़ित एवं शोषित होती आ रही नारी का चित्रण यहाँ प्रमुखता के साथ किया है। **'आषाढ़ का एक दिन'** में भी रंगमंचीयता और अभिनेयता का सब प्रकार से ध्यान रखा है। नाटक में पात्रों की योजना सीमित हैं। ऐतिहासिक पर्यावरण होतु हुए भी उनको और उनके परिवेश की साज-सज्जा जटिल नहीं बल्कि पूर्ण सहज सरल रखी गयी है। आधुनिक नाटकों के तत्वों की कसौटी पर **'आषाढ़ का एक दिन'** नाटक सभी प्रकार से खरा उतरता है। वास्तव में पूर्ण आधुनिक और यथार्थवादी नाटकों की रचना-प्रक्रिया के बीच की यह ऐसी कड़ी है कि जिसने हिन्दी-नाटक की सभी प्रकार की संभावित उन्नतियों और प्रगतियों के द्वार उद्घटित कर दिये।

संदर्भित पुस्तकें

मोहन राकेश: आषाढ़ का एक दिन	— प्रकाशक राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली
मोहन राकेश का नारी संसार	— डॉ० मीना पिपलापुरे
मोहन राकेश और उनके नाटक	— गिरीश रस्तोगी
नाटककार मोहन राकेश (संवाद शिल्प)	— मदनलाल
मोहन राकेश के नाटक	— डॉ० द्विजराम यादव
नाटक रंगमंच और मोहन राकेश	— डॉ० सुरेन्द्र यादव
मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक	— डॉ० नेमिचन्द्र जैन
उपन्यासकार मोहन राकेश	— पंडिता विमला कुमारी
अपने नाटक के दायरे में मोहन राकेश	— तिलकराज शर्मा

अज्ञेय और मोहन राकेश के उपन्यासों में यथार्थ की परिकल्पना	—	डॉ० रॉय जोसेफ
नाटककार मोहन राकेश : कल्पना का यथार्थ	—	विष्णुकान्त शास्त्री
मोहन राकेश की रंगसृष्टि	—	डॉ० जगदीश शर्मा
मोहन राकेश के नाटक : एक मूल्यांकन	—	डॉ० प्रसून प्रसाद
मोहन राकेश और उनके नाटक	—	डॉ० गिरीश रस्तोगी
नाटककार मोहन राकेश	—	प्रकाश जीवन जोशी
मोहन राकेश के साहित्य का सामाजिक चित्रण	—	अर्जुनदेव तड़वी
मोहन राकेश : रंगशिल्प और प्रदर्शन	—	डॉ० जयदेव तनेजा
मोहन राकेश के नारी संसार	—	डॉ० श्रीमती मीना पिपलापुरे
मोहन राकेशन के नाटक : एक मूल्यांकन	—	डॉ० प्रसून प्रसाद
मोहन राकेश के नाटकों की समीक्षा	—	प्रो० राजेश शर्मा
आधुनिक नाटकों में प्रयोगधर्मिता	—	डॉ० सत्यवती त्रिपाठी
अपने नाटकों के दायरे में मोहन राकेश	—	तिलकराज शर्मा
नाटककार मोहन राकेश	—	सुन्दरलाल कथूरिया
रंगशिल्पी : मोहन राकेश	—	डॉ० नरनारायण राय
आधुननिकता और मोहन राकेश	—	डॉ० उर्मिला मिश्र

बोध प्रश्न

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न–

1. मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' की तात्विक विवेचना कीजिए।
2. मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' का नायक आत्मकेन्द्रिक पात्र है। इस विषय पर तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' की वस्तु योजना किस प्रकार की है?
2. मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' की नायिका मल्लिका का चरित्र चित्रण कीजिए।
3. मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' का नायक एक दुर्बल हृदय का प्रेमी है। सपष्ट कीजिए।
4. मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' की संवाद योजना किस प्रकार की है?
5. देशकाल–वातावरण की दृष्टि से मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' की समीक्षा कीजिए।

10

लहरों के राजहंस : एक विवेचना

संरचना

10.1 प्रस्तावना

10.2 नाटक की कथावस्तु

10.3 लहरों के राजहंस—प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दर्शन

10.4 नाम की सार्थकता

10.5 प्रतीकात्मकता

10.6 काल्पनिकता एवं ऐतिहासिकता

- 10.6.1. परिवेशगत ऐतिहासिकता
- 10.6.2. भाषागत ऐतिहासिकता
- 10.6.3. आधारभूत सामग्री की ऐतिहासिकता
- 10.6.4. पात्रों का ऐतिहासिक सन्दर्भ
- 10.6.5. घटनाओं में ऐतिहासिकता

10.7 लहरों के राजहंस—उद्देश्य अथवा प्रतिपाद्य

10.8 कथोपकथन अथवा संवाद-योजना

- 10.8.1. संक्षिप्त संवाद
- 10.8.2. प्रत्रानुकूल संवाद
- 10.8.3. नाटकीय संवाद
- 10.8.4. स्वाभाविक संवाद
- 10.8.5. सरल एवं रोचक संवाद
- 10.8.6. व्यंग्यात्मकता सम्वाद
- 10.8.7. सम्वादों में गतिशीलता
- 10.8.8. मार्मिक सम्वाद
- 10.9.9. चरित्र प्रकाशन के सम्वाद

10.9. लहरों के राजहंस — भाषा-शैली

- 10.9.1. काव्यात्मकता
- 10.9.2. प्रसंगानुकूलता
- 10.9.3. सरल एवं रोचकता
- 10.9.4. मार्मिकता
- 10.9.5. प्रत्रानुकूलता
- 10.9.6. व्यंग्य की भाषा
- 10.9.7. शाब्दिक भाषा
- 10.9.8. शैली

10.10 लहरों के राजहंस — और अभिनेयता
10.10.1. आंगिक अभिनय
10.10.2. वाचिक अभिनय
10.10.3. आहार्य अभिनय
10.10.4. सात्विक अभिनय
10.11 लहरों के राजहंस की रंगमंचीयत
10.11.1. कथानक की दृष्टि से
10.11.2. दृश्य योजना
10.11.3. संकलन त्रय
10.11.4. मंच सज्जा
10.11.5. पत्र-योजना
10.12 पात्र का चरित्र-चित्रण
10.12.1. नन्द—द्वन्द्वग्रस्त चेतना का प्रतीक
10.12.2. सुन्दरी—भोगविलास की प्रतीक
10.13 श्यामसांग—अर्थववता

10.1 प्रस्तावना

'लहरो के राजहंस' नाटक में नाटककार मोहन राकेश ने मूलत: व्यक्ति की द्वंद्वात्मक चेतना को अभिव्यक्त किया है। द्वन्द्वात्मक स्थिति न्यूनाधिक रूप के सभी प्रकार के दर्शनों एवं जीवन दर्शनों में रहती है क्योंकि किसी भी प्रकार का सिद्धान्त द्वन्द्व की गहराइयों से गुजरने के बाद भी निर्मित होता है। उसका स्वरूप आकार भी तभी चित्रित होता है इसी कारण आज दर्शन एवं जीवन दर्शन के पक्षों को खोजा जाता है। यहाँ एक बात और स्पष्ट कर दूँ कि दर्शन एवं जीवन दर्शन में अन्तर होता है। दर्शन का सम्बन्ध परालौकिक भावनाओ से होता है जबकि जीवन दर्शन का संबध किसी सर्जक की सामाजिक चेतना से होता है। तद्युगीन में उसकी जो धारणाएं, मान्यताएँ बनी हुई और उनकी अभिव्यक्ति हुई है वे जीवन दर्शन कहलाती है। हाँ यह सर्वविदित है कि उस सर्जक के जीवन दर्शन के मूल में परम्परागत दार्शनिक भावनाएं भी रहती है।

10.2 नाटक की कथावस्तु

'लहरो के राजहंस' की कथावस्तु इतिहास और कल्पना के समन्वय का परिणाम है। इस नाटक में राकेश जी ने ऐतिहासिक परिवेश में आधुनिक मानवीय अन्तर्द्वन्द्व को चित्रित करने का प्रयास किया है, लेखक ने गौतम बुद्ध के जीवन काल के एक ऐसे प्रसंग का चयन किया है जिसमें नंद नामक पात्र के अन्तर्द्वन्द्व को पष्ठबद्ध किया गया है। नाटक का ऐतिहासिक आधार संस्कृत के महाकवि अश्वघोष विरचित प्रसिद्ध महाकाव्य सौदरचंद है। प्रस्तुत नाटक की वस्तु योजना का उद्देश्य और महत्व स्पष्ट करते हुए नाटक की भूमिका में डॉ० सुरेश अवस्थी लिखते है "लहरों के राजहंस" में एक ऐसे कथानक का नाटकीय पुनराख्यान है जिसमें सांसारिक सुखो और आध्यात्मिक शांति के पारस्परिक विरोध तथा उनके बीच खड़े हुए व्यक्ति के द्वारा निर्णय लेने का अनिवार्य द्वन्द्व निहित है। इस द्वन्द्व का एक दूसरा पक्ष स्त्री और पुरूष के पारस्परिक संबधों का अन्तर्विरोध है। जीवन के प्रेम और श्रेय के बीच कृत्रिम और आरोपित विरोध है, जिसके कारण व्यक्ति के लिए चुनाव कठिन हो जाता है और उसे चुनाव करने की स्वतन्त्रता भी नहीं रह जाती। चुनाव की यातना ही इस

नाटक का कथा बीज और उसका मुख्य बिन्दु है। धर्म भावना से प्रेरित इस कथानक में उलझे हुए ऐसे ही अ
प्रश्नों का इस कृति में नए भाव बोध के परिवेश में परीक्षण किया गया है।'' लहरो के राजहंस नाटक आधुनि
यथार्थवादी नाट्य रचना पद्धति पर लिखा गया है। यह नाटक तीन अंकों में विभाजित है। इसकी सम्पूर्ण व
एक ही दृश्यका पर घटित होती है। अंको का दृश्यों में विभाजन नही किया गया है। प्रस्तुत नाटक में भ
भरकम यथार्थवादी दृश्यबंध को बदलने के झंझट से बचने के लिए ही एक दृश्यबंध को स्वीकार किया गया
नाटककार ने अपने इस नाटक की सम्पूर्ण घटनाएँ एक ही स्थान पर दिखाकर स्थान अन्विति का पूरी त
पालन किया है।

प्रथम अंक

नाटककार मोहन राकेश ने इस नाटक के प्रारम्भ में ही नाटक के नायक नन्द के राजमहल के आन्तरि
दृश्य का चित्र प्रस्तुत किया है। पर्दा उठते ही मंच पर दो व्यक्ति दिखाई देते है—श्यामाँग और श्वेताँग। ये दो
ही राजमहल में कार्य करने वाले कर्मचारी है, श्यामाँग पत्तियों को तोड़ने सुलझाने में व्यस्त है जबकि श्वेत
अग्निकाष्ठ से दीपक जला रहा है। श्यामाँग सदैव ही अपने कार्य में उलझ जाता है, आज भी वह पत्तियों
सुलझाने का प्रयत्न कर रहा है, लेकिन वे और ज्यादा उलझती जाती है, ये देखकर श्वेतांग श्यामाँग से कहत
कि तुम्हारे हाथों से कार्य इसलिए उलझता है, क्योंकि तुम सोचते ज्यादा हो। राजकर्मचारी को अपना कार्य सम
पर करना चाहिए और इस चिन्तन मनन को त्याग देना चाहिए। श्वेतांग दीपक जलाने के कार्य को श्यामाँग
सौंप देता है और उसके कार्य को स्वयं करने लग जाता है, लेकिन श्यामाँग फिर सोच में पड़ जाता है। ये दो
कर्मचारी राजमहल में होने वाले कामोत्सव की तैयारी कर रहे है।

रानी सुन्दरी का नेपथ्य से स्वर सुनाई देता है। वह अपनी दासी अलका के साथ बात करती हुई आ र
है। सुन्दरी कामोत्सव के विषय में अलका से कहती है कि भोज, उपानक और नृत्य रात के अन्तिम पहर त
चलता रहेगा, जिससे वर्षों बाद भी लोगों के मन में इस कामोत्सव की याद बनी रहे। अलका के आशंका व्यक
करने पर भी कामोत्सव की सफलता के लिए उत्सुक सुन्दरी कहती है, ''रात बीतने दे, फिर अपने मन
पूछना। रात भर नगरवधू चंद्रिका के चरणों की गति से इस कक्ष की हवा काँपती रहेगी। हवा काँपती रहेगी, अ
दुलती रहेगी मदिरा, उसकी आँखों से, उसके एक-एक अंग की गौराई से। कपिल वस्तु के राजपुरूष रात
उस मदिरा में और अन्याय मणि-मदिराओं में डूबते उतराते रहेंगे'' अगर तू उस दृश्य को देखेगी तो तुझे
विश्वास नहीं होगा। जो व्यक्ति इस कामोत्सव को देखने से वंचित रह जाएंगे, वे तो कल्पना के माध्यम से
इसका आनन्द नही ले सकेंगे। सुन्दरी अलका से कहती है कि जाकर शशांर नामक व्यक्ति को स्मरण करा
कि उसे इस महोत्सव पर कुछ विशेष मदिराएं प्रस्तुत करनी है। सुन्दरी पत्तियाँ सुलझाने का कार्य श्यामाँग
लिए छोड़कर श्वेताँग को अपने साथ आने के लिए कहती है। श्यामाँग स्वयं से ही बातें करता हुआ कहता
—पिछले बसंत में जब आम खुब बौराये थे तब तो कामोत्सव के आरोपन की बात मन में भी नहीं उठी, अ
जबकि आम के वृक्षों ने भिक्षुओं का-सा वेश धारण कर रखा है। तो रानी कामोत्सव का आयोजन करना चाह
है। वह कहता है कि सुन्दरी यह जानती है कि कल प्रात: गौतम बुद्ध की पत्नी यशोधरा परिव्रज्या ग्रहण कर
वाली है। वह यह भी जानती है कि बुद्ध प्रभाव के कारण लोगों का ध्यान उस ओर अधिक है, क्योंकि
बोध-प्राप्ति के बाद गौतम बुद्ध उन दिनों पहली बार अपनी जन्मभूमि कपिलवस्तु में अपने धर्मोपदेश के लि
आए हुए थे और उनसे प्रभावित होकर अनेक लोग बुद्धमत में दीक्षित हो रहे थे, फिर भी रूप गर्वित सुन्द
कामोत्सव में रात भर नृत्य और मद्य-पान चलवाना चाहती हैं। श्यामाँग फिर से पत्तियाँ सुलझाने लग जाता है

किन्तु उनका सिरा न मिलने से छिन्न होकर उन्हें तोड़ने लग जाता है। तभी सुन्दरी की दृष्टि श्यामाँग पर पड़ जाती है और उसे डांटते हुए कहती है कि खड़े-खड़े सोचने से काम होता है? इस कार्य को किसी दूसरे को सौंपकर एकांत में बैठकर सोचते रहो कि जब करने को कोई कार्य न हो तो हाथों को क्या करना चाहिए।

अलका सुन्दरी को अपने स्वप्न (सूखा सरोवर, पत्रहीन वृक्ष और धूल-भरा आकाश) के विषय में बताती है। अलका का यह स्वप्न संभवत: आगे घटित होने वाली कथा का संकेत है। सुन्दरी यशोधरा के दीक्षा ग्रहण करने को व्यर्थ मानती है और उसका उपहास उड़ाते हुए कहती है कि बड़े आश्चर्य की बात है कि इतने वर्ष दु:ख सहने के बाद भी देवी यशोधरा अपनी पीड़ा का मान न रख सकी। यशोधरा में सौन्दर्य का आकर्षण ही नहीं है, अगर होता तो राजकुमार सिद्धार्थ दीक्षा ग्रहण न करते। नारी का आकर्षण पुरूष बनाता है, तो उसका आकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है। वह गौतम बुद्ध पर आक्षेप लगाती हुई कहती है कि जनसामान्य से यही सुना है कि गौतम बुद्ध ने कामनाओं पर विजय प्राप्त की है, लेकिन इन्हीं कामनाओं पर विजय पाना भी तो मन की एक कामना ही है। अत: उनका निवत्ति मार्ग को अपनाना अनुचित ही है। यह सुनकर अलका सुन्दरी से पूछती है कि अगर गौतम बुद्ध का निवत्ति मार्ग को अपनाना अनुचित था तो नगर के सभी बूढ़े बुद्ध के प्रति इतना उत्साह और निष्ठा क्यों रखते है? प्रत्युत्तर में सुन्दरी कहने लगी कि मनुष्य एक तरह का जीवन जीते-जीते ऊब जाता है। अत: उसे जहाँ भी नवीनता दिखाई देगी वह उसी ओर अग्रसर होगा। इसी बीच कमलताल में किसी के द्वारा पत्थर फेंकने के कारण हंसों की चीत्कार पूर्ण ध्वनि सुनाई पड़ती है। सुन्दरी उत्तेजित हो जाती है। फिर सुन्दरी इस धृष्टता के लिए उत्तरदायी व्यक्ति को पकड़कर लाने का आदेश देती है।

कुछ समय पश्चात् अलका श्यामाँग को पकड़ लाती है। सुन्दरी उससे आवेशपूर्वक पूछती है कि तुमने कमलताल में राजहंसों पर पत्थर क्यों फेंके। श्यामाँग उत्तर में कहता है कि वह हंसो पर पत्थर नहीं फेंक रहा था, बल्कि उसने तो एक डरावनी छाया पर पत्थर फेंके थे। सुन्दरी को श्यामाँग की इन बेसिर-पैर की बातों पर विश्वास नहीं होता। अलका श्यामाँग के प्रति आत्मीयता व्यक्त करते हुए उससे सच कहने को कहती है; लेकिन श्यामाँग उसी बात को दोहराता रहता है। इससे सुन्दरी क्रोधवश कहने लगी, "मुझे विश्वास है सचमुच तुमने छाया देखी है। जब तुम यहाँ काम कर रहे थे, तब भी वही छाया तुम्हारे सिर पर मंडरा रही थी। वही तुम्हें काम नही करने देती थी। आप कामोत्सव के आयोजन में वह छाया किसी को भी न घेरती, तो मुझे आश्चर्य होता।" अत: छाया को दूर हटाने का मात्र एक ही उपाय है कि तुम्हें दक्षिण के अंधकूप में डाल दिया जाए। अलका श्यामाँग से अगाध प्रेम करती है इसलिए श्यामाँग को अंधकूप में डालने की बात सुनकर दु:खी हो जाती है, उसके मुख मण्डल पर विषाद की गहन रेखाएं छा जाती है। वह सुन्दरी से कहती है कि वह कई दिनों से श्यामाँग को इसी प्रकार विक्षिप्त-सी अवस्था में देख रही है, अत: उसे दण्ड की अपेक्षा सहानुभूति की आवश्यकता है। अलका के इस कथन से सुन्दरी समझ जाती है कि इन दोनो में प्रेम सम्बन्ध है। वस्तुत: वह श्यामाँग को मुक्त कराकर उसके उपचार का कार्य व उसकी देख-रेख अलका को ही सौंप देती है।

नन्द भी शिकार खेलने के पश्चात् वापिस आता है। विलम्ब से आने के कारण वह सुन्दरी से क्षमा भी मांगता है। वह बताता है कि दिन-भर एक मृग का पीछा किया, लेकिन फिर भी वह हाथ नहीं लगा। लेकिन जब वापिस लौट रहा था तो मार्ग में उसी मृग को मृत अवस्था में पाया। वह बाण से नही, बल्कि थकान से मरा था। "बिना घाव के अपनी ही कलांति से मरे हुए मृग को देखकर मन में... इतना थका और टूटा हुआ लगने लगा कि...। नंद सुन्दरी को बताता है कि कामोत्सव में आमन्त्रित किए गए व्यक्तियों में से कुछ लोग नहीं आएंगे। वह नंद से कहती है कि आपका स्वंय लोगो के घर बुलाने जाना अपमान का विषय है। तभी मंत्रेय नामक एक: व्यक्ति 'पहले अतिथि के रूप में कक्ष में प्रवेश करता है, वह प्रथम तथा अन्तिम अतिथि है, इस बात को जानकर सुन्दरी उदास हो जाती है। मंत्रेय उन्हे सुझाव देता है कि कामोत्सव को किसी और दिन के लिए

स्थगित कर देना चाहिए, लेकिन सुन्दरी स्थगित नही करना चाहती, वह अडिग रहती है। वह अतिथियों के न आने का सारा दोष देवी यशोधरा के माथे मढ़ती है। मंत्रेय भी जाने की आज्ञा मांगता है और कहता है कि मैं यहाँ पर और ज्यादा समय रूककर सुन्दरी के उद्देग का कारण नही बनना चाहता। सुन्दरी आपे से बाहर होकर मंत्रेय से कहती है कि आते हुए आप जिनके घर से होते हुए आए थे, उनसे कह देना कि मेरे यहाँ आने के लिए वे किसी कल की प्रतिक्षा में न रहें, क्योंकि वह क़ल अब उनके लिए कभी नही आएगा नंद शशांक से कहता है कि कामोत्सव में अतिथियों के बैठने की जो व्यवस्था की गई थी, अब उसकी कोई आवश्यकता नहीं है।

द्वितीय अंक

द्वितीय अंक के प्रारम्भ में नेपठय से श्यामाँग का ज्वर-प्रलाप सुना देता है "कोई ज्वर नही है...कोई किरण नही है.... सब कुछ... सब कुछ इस अंधकूप में डूब गया।... मुझे सुलझा लेने दो... सुलझा लेने दो.. नही तो अपने हाथों का मै क्या करूँगा।.... कोई उपाय नहीं है.. कोई मार्ग नही है... इन लहरो पर से..यह छाया हटा दो... मुझसे... यह छाया नही ओढ़ी जाती...।" श्यामाँग का यह अर्थपूर्ण प्रलाप है। यह प्रलाप उसका अपना प्रलाप ही नही है, बल्कि नन्द के हृदय का द्वन्द्व भी है। श्यामाँग को दिखने वाली वह छाया बुद्ध की ही छाया है जो इतनी लम्बी एवं सघन है कि अज्ञात रूप से वह नन्द, सुन्दरी के और सभी के मन-मस्तिष्क पर छा रही है। यही कारण है कि नन्द को निद्रा का संयोग नही हो रहा है। नेपठय से ज्वराग्रस्त श्यामांग का प्रलाप सुनाई दे रहा है। अलका उसे कभी पानी पिलाती है तो कभी सोने का आग्रह करती है निद्रा भंग हो जाने के पश्चात् सुन्दरी नंद से रात-भर न सो पाने का कारण पूछती है। वह रात्रि के अपने व्यवहार के लिए क्षमा-याचना भी करती है और कहती है कि—"आप सचमुच मुझसे रूष्ट हो जाएं, दो-एक रातें मेरे कक्ष में न आएं, तो कैसा लगेगा।" यहाँ लेखक ने भावी घटना का पूर्वाभास करा दिया है। उसी समय नेपथ्य में प्रभाप कं शंख ध्वनि सुनाई देती है। सुन्दरी उठकर दर्पण के समक्ष खड़ी हो जाती है और फिर नंद से कुल पल के लिए बाहर जाने के लिए कहती है ताकि वह अलका की सहायता से अपना श्रंगार कर सके। सुन्दरी नीहारिका नामक दासी से अलका के विषय में पूछती है। नीहारिका बताती है कि वह श्यामाँग हेतु दवाई लाने के लिए वैद्यराज के पास गई है, आप कहे तो मैं उसे बुला लाऊँ। सुन्दरी कहती है कि नही, अलका को श्यामाँग का उपचार करने दे, मै अपना प्रसाधन स्वंय कर लूँगी। सुन्दरी अपने चेहरे को घुमा-फिराकर दर्पण में देखती है, फिर प्रसाधन सामग्री को सहेजती हुई एक बार नंद की ओर देख लेती है और मुस्कुराकर वाल्मीकि की पंक्ति गुनगुनाने लगती है। नंद बाहर खड़े घने जंगल की ओर देख रहे थे, तभी सुन्दरी कहने लगी कि प्रात: होते ही फिर आखेट का उत्साह जाग आया । नन्द को पहले दिन आखेट में मरे हुए मृग का स्मरण होता है और वह कहता है—"वहाँ पड़ा हुआ वह कल कैसा लग रहा था और न जाने क्यों इस प्रभात का फीका चाँद भी मुझे कुछ वैसा ही लगा... कोमल, अक्षत और निर्जीव।" मृग का प्रसंग कथानक के विकास में, नन्द के अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट करने और उसके मन में बौद्ध मतानुसार अहिंसा की स्थिति की विद्यमानता को प्रकट करने आदि की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है।

सुन्दरी नंद से कहती है कि नंद तुम्हें कामोत्सव को भूला देना चाहिए और उसको कभी न यदि करना चाहिए। वह नंद से आग्रह करती है कि वे कुछ समय दर्पण लेकर उसके समक्ष खड़े हो जाएं ताकि वह अपना श्रृंगार कर सके। वह चन्दन के लेप की कटोरी लेकर अपना विशेषक बनाने लगती है। उसी क्षण भिक्षुओं का समवेत स्वर सुनाई देने लगता है—**"धम्म शरणं गच्छामि, संघ शरणं गच्छामि, बुद्ध शरणं गच्छामि.....।'** इस स्वर को सुनकर नन्द इतना विचलित हो उठा कि उसके हाथ से दर्पण हिल गया। नंद दर्पण के न हिलने क

आश्वासन देता है, लेकिन तभी उसकी सांस से वह धुंधला हो जाता है। क्रोधित सुन्दरी नन्द से कहती है कि दर्पण को रख दीजिए, अब मुझे विशेषक नहीं बनाना। उसी समय भिक्षुओं का समवेत स्वर बहुत पास आकर एकाएक रूक जाता है। स्वर के रूकते ही दर्पण नंद के हाथ संभल न पाने के कारण नीचे गिरकर टुट जाता है। यह दृश्य देख सुन्दरी चौंक उठती है और नन्द स्तब्ध-सा पहले सुन्दरी की ओर फिर टूटे हुए दर्पण को देखने लग जाता है। भिक्षुओं और भिक्षुणियों का समवेत स्वर पुन: सुनाई देने लग जाता है और फिर वही समवेत स्वर क्रमश: दूर होता हुआ मौन हो जाता है। इसी संदर्भ में सुन्दरी नंद से पूछती है— "जानना चाहती हूँ कि क्या दर्पण का टूटना सचमुच अकारण ही था या उस समय आप कोई और बात सोच रहे थे?" सुन्दरी ही अपने प्रश्न के स्पष्टीकरण में उत्तर देते हुए कहती है—"आप उस समय यह नही सोच रहे थे कि भिक्षुओं की मंडली में शायद वे भी होंगे....शायद आपसे भिक्षा लेने के लिए ही वे इस द्वार रूकी होंगी?" वह टूटे दर्पण में अपना टूटा प्रतिबिम्ब देखकर।... ये दो भागों में बँटा हुआ सीमांत, खंडित मस्तक, खंडित चेहरा, खंडित....।" और सचमुच ही सुन्दरी का व्यक्तित्व, जीवन तथा विश्वास, उसके रूप यौवन एवं यक्षिणी होने का गर्व खंडित हो जाता है।

नन्द सुन्दरी का प्रसाधन करने के लिए ज्यों ही चन्दन के लेप से माथे पर विशेषक बनाने लगता है, तभी वायु के तीव्र गति के झोंकें से दरवाजा एक बार खुलता और फिर पुन: बन्द हो जाता है। तभी अलका अन्दर आकर नन्द को सूचना देती है कि भवन के द्वार पर स्वयं गौतम बुद्ध भिक्षा के लिए आए थे, उन्होंने आवाज लगाई, कुछ क्षण रूके और फिर उच्च भवन की खिड़किंयों की ओर निहारे तथा बिना भिक्षा पाए लौट गए। उनका नन्द के भवन की खिड़कियों की ओर देखना वास्तव में नन्द को अपने मार्ग का अनुगामी बनने का आह्वान है। नन्द की अन्तर्द्वन्द्व में उलझी आत्मचेतना वास्तव में उस आह्यवान को सुन सकती है और वह सुन्दरी से कह उठता है—"तुम्हें यह नहीं लगता कि मुझे जाकर एक बार उनसे इस प्रमाद के लिए क्षमा-याचना करनी चाहिए।" सुन्दरी इस वचन-बद्धता के साथ नन्द को जाने देती है कि वे लौट कर स्वयं ही इस विशेषक को पूरा करेंगे। वह कहती है कि आप के द्वारा लगाए गए उस बिन्दु को सूखने नहीं दूँगी। जब आप लौट आएंगे, तभी सम्पूर्ण प्रसाधन करूँगी और तभी अपनी केश राशि को बाँधूगी। नन्द कभी लौटकर न आने के लिए चला जाता है। नेपथ्य से श्यामाँग का ज्वर-प्रलाप सुनाई देता रहता है।

तृतीय अंक

इस अंक का आरम्भ नन्द के भवन और सुन्दरी के कक्ष से ही होता है। उनका कक्ष अव्यवस्थित दिखाई देता है। दीपाधारों के सभी दीपक जल रहे हैं, लेकिन फिर भी एक सूनेपन का आभास होता है। सुन्दरी को सूचना मिलती है कि कमल-ताल के राजहंस अचानक उड़कर कहीं चलें गए हैं। हंसों का कमल-ताल से उड़ जाना वास्तव में प्रतीक प्रयोग है और भावी घटनाओं का सूचक भी है वह ऐसी घटनाओं का सूचक है जो कमल-ताल से सहसा हंस-युगल के उड़ जाने के समान असंभावित नहीं, हाँ अविज्ञान और आश्चर्यप्रद अवश्य हैं। आश्चर्य और अविज्ञान स्थिति के कारण सुन्दरी कहती है—"मैं अब भी नहीं सोच पा रही कि यह हुआ कैसे ...राजहंस स्वयं उड़कर चले गये, इससे भी विश्वास नहीं होता...और यह भी मन नहीं मानता कि किसी ने उन्हें....।" अलका कहती है कि जिस एक व्यक्ति पर सन्देह होता है तो वह ज्वर ग्रस्त है तथा सारा दिन कक्ष से बाहर भी नहीं गया। अलका सुन्दरी से पूछती है कि आपको श्यामाँग पर सन्देह नहीं हैं तो फिर आप क्या सोच रहीं हैं। सुन्दरी कहती है, "...परन्तु फिर भी यह विचार आता है कि राजहंस आहत थे ... कम से कम एक अवश्य था। कल कैसा क्रंदन उसका सुना था? यहाँ प्रतीकात्मक रूप से वह आहत एवं राजहंस

स्वय नन्द ही था और मृग-प्रसंग के रूप में उसी का क्रन्दन कल सुन्दरी ने सुना था। सुन्दरी आगे कहती है ... "क्या उनके पंखों में इतनी शक्ति नहीं होगी कि अपनी इच्छा से उड़कर चले जाते?" अविज्ञात रूप से यह आक्रोश और आश्चर्य नन्द के प्रति उसके स्नेह पाश को तोड़कर मुक्ति मार्ग नहीं अपना सकता। कारण स्पष्ट है, "और जिस ताल में इतने दिनों से थे, उसका अभ्यास, उसका आकर्षण...क्या इतनी आसानी से छूट सकता था?"

अलका सुन्दरी को प्रसाधन करने के लिए कहती है, लेकिन सुन्दरी उसे डांटती हुई कहती है कि उसे कोई प्रसाधन नहीं करना है। अलका अपराध भाव से आँखे झुकाए अपने स्थान पर खड़ी रहती है। सुन्दरी का विक्षुब्ध अन्तराल पर विरोधाभास के रूप में इन शब्दों में प्रस्फुटित हो उठता है। "तू समझती है कि मैं उनके लौटने की प्रतीक्षा कर रही होती, तो अपने माथे का विशेषक, यह बिन्दु, सूख जाने न देती। परन्तु जितना समय इसे गीला रहना चाहिए था, उससे कही अधिक समय मैंने इसे गीला रखा। एक पहर, दो पहर, तीन पहर। हर बीतता हुआ क्षण मेरे प्रयत्न का उपहास उड़ाता था, फिर भी मैं अपने अन्दर के विरोध से लड़ती रही, मन के विद्रोह से किसी तरह समझाती रही, परन्तु एक क्षण आया जब वह प्रयत्न मन से हार गया मेरा गीला हाथ माथे तक जाकर लौट आया और मैंने उसे फिर गीला नहीं किया।" वह नन्द की प्रतीक्षा करते-करते थक जाती है और नन्द पर जो विश्वास उसने किया था, वह भी खत्म हो जाता है।

इसलिए तो वह कहती है—"अब मुझे प्रतीक्षा नहीं हैं अलका। मैं अपने स्वाभिमान को ओर नहीं छल सकती।" मैं नन्द को नहीं-तल पर जाने से रोक भी सकती थी, यह मेरी दुर्बलता ही सिद्ध होती। सुन्दरी झूले पर बैठ जाती है और अलका उसके मस्तक पर सुगन्धित जल लगाने लगती है और उससे अनुरोध करती है कि वह इसी झूले पर लेट जाए जाकि नींद आने से मन स्वस्थ हो सके। अलका यह भी कहती है कि किसी व्यक्ति को भेजकर नन्द का पता लगवाऊँ, लेकिन सुन्दरी मना कर देती है। सुन्दरी के निद्रामग्न होने के पश्चात् अलका कक्ष से बाहर आ जाती है और नीहारिका से धीमे स्वर में कहती है यदि श्वेताँग लौट आया हो तो उसे भेज देना। कुछ समय पश्चात् श्वेताँग कक्ष में प्रवेश करता है तो अलका मन्द स्वर में उससे पूछती है कि वह नन्द से मिला? नन्द नदी-तल से चले गए थे, किधर गए इसका ठीक से पता नहीं चल सका। हाँ, इतना पता अवश्य लगा है कि बहुत देर तक तो वे तथागत के पास थे। जिस समय नन्द वहाँ पहुँचा था, उस समय तथागत बहुत से लोगों से घिरे हुए थे, अत: काफी देर तक नन्द उनके समक्ष नहीं पहुँच सके। अन्त में मिलने का अवसर मिला तो उन्होंने तथागत को प्रणाम करके अपने यहाँ आतिथ्य स्वीकार करने को कहा। तथागत ने उत्तर न देकर अपना भिक्षा पात्र कुमार के हाथों में दे दिया और अव्यवस्थित नन्द भिक्षा पात्र हाथ में लिए हुए ही वहाँ से लौटकर यहाँ आने लगे कि तभी बुद्ध उन्हें रोककर विहार में ले गए। सुना हैं वहाँ जाकर तथागत ने नन्द को उपदेश दिया और भिक्षुआनंद से उसे दीक्षा लेने को कहा। कुमार के विरोध करने पर भी उनके केश काट दिए गए। जब वे वहाँ से उठकर चले तो इतने विक्षुब्ध थे कि जैसे किसी से जूझना चाहते हों, लेकिन जूझ न पाएं हो लोगों का कहना है कि उसके बाद वे धने जंगल की तरफ चले गए। श्वेताँग कहने लगा कि एक बार सोचा कि आर्य मैत्रेय को साथ लेकर उन्हें ढूँढने जाऊँ, परन्तु उन्होंने भी आप दीक्षा ग्रहण कर ली हैं। श्वेताँग नन्द को खोज करने के लिए सुन्दरी से आज्ञा लेना चाहता है। ज्यों ही अलका सुन्दरी से इस विषय में बात करने जाती तो तभी नन्द की ध्वनि उसे रोक देती है। नन्द कहता है कि उसे सोने दे, जगाओ मत। अलका नन्द का वेश देखकर चिन्तित हो उठती है, क्योंकि नन्द के सिर पर केश नहीं हैं और उनका सम्पूर्ण शरीर भी सिंह से जूझ के कारण क्षत-विक्षत हो चुका है। नन्द अपने साथ आए हुए आनन्द को अपना घर, पत्नी व उसका कक्ष दिखाता है, लेकिन भिक्षु आनन्द इस पर कोई आश्चर्य प्रकट नहीं करता भिक्षु आनन्द नन्द से तर्क-वितर्क करते हुए उस पर व्यंग्य से प्रहार भी करता है। दीक्षा लेकर भी नन्द का मन दीक्षित नहीं हो पाता। भिक्षु आनन्द का अनवरत साथ लगे रहना भी उसे प्रभावित नहीं कर पाता। नन्द स्पष्ट कहता है—"स्वर्ग और नरक, बैराग ओर विवेक, शील और संयम, आर्य सत्य और अर्मत—मैं जानता हूँ, वाणी के छल से तुम मुझे किस ओर ले जाना चाहते हो। मैं तथागत के सामने कह चुका हूँ कि वह दिशा मेरी नहीं हैं, कदापि नहीं है।"

भिक्षु आनन्द के चले जाने के बाद भी नन्द का मन शान्त एवं स्थिर नहीं हो पाता। वह सो रही सुन्दरी को देखकर कहता है—"अच्छा है तुम सो रही हो। जाग रही होती, तो तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर शायद मैं न दे पाता।..... मैंने कहा था तुम्हारा विशेषक सूखने से पहले मैं लौट आउँगा, परन्तु नहीं आ सका" नन्द व्याघ्र से भिड़ने की घटना बताता है। वह गौतम बुद्ध पर आक्षेप करते हुए कहता है—"उन्होंने केश कटवा दिए, तो क्या व्यक्ति रूप में मैं अधिक सत्य हो गया? जिह्वा कटवा देते, हाथ-पैर कटवा देते तो और अधिक सत्य हो जाता। कौन कह सकता है कि भांति वस्तुत: किसे हैं, उन्हें या मुझे?" भिक्षु आनन्द उसे जाते-जाते एक बात कह जाता है कि जो व्यक्ति तुम्हारे किसी भी प्रश्न का उत्तर दे सकता हैं, वह मैं नहीं हूँ, बल्कि वह तुम्हारा अन्तर्मन है। नन्द सुन्दरी के पास आकर देखता है कि उसका विशेषक सूख चुका है, अत: शृंगार कोष के पास जाकर वहाँ से चन्दन लेप की कटोरी उठा लाता है और उंगली पर थोड़ा सा लेप लेकर उससे सुन्दरी के माथे पर हल्का-सा बिन्दु लगाने लगता है। उसी क्षण सुन्दरी जाग जाती है। अपने मुख पर झुकी हुई मुंडित आकृति को देखकर उसके मुँह से चीख निकल पड़ती है। और वह डरकर आँखों पर हाथ रख लेती है। चीख सुनकर अलका, नीहारिका और श्वेताँग धबराए हुए आते हैं। नन्द अव्यवस्थित सा होकर दाई ओर के द्वार से चला जाता है। तभी अलका श्वेताँग से कुमार के कक्ष में नहाने की व्यवस्था करने के लिए कहती है। यह सुनकर सुन्दरी को शंका हो जाती है कि जिस आकृति से मैं इतनी डर गयी थी वह नन्द ही था।

सुन्दरी बिना विलम्ब किए नन्द के कक्ष में प्रवेश करती है, लेकिन तभी नैपठय से नहीं...नहीं, यह संभव नहीं... का स्वर सुनाई देता है। सुन्दरी अलका से कहती है कि तुमने मुझे बताया क्यों नहीं कि जो मैंने देखा था वह स्वप्न नहीं सत्य था। " क्या अब तू मुझे यह विश्वास दिलाना चाहेगी कि मैं जागती आँखों से भी सपना देखकर आई हूँ। नन्द और सुन्दरी के मध्य वार्तालाप होता है। नन्द कहता है ... "अब लगता है कि केश काटकर उन्होंने मुझे बहुत अकेला कर दिया है। घर से ... और अपने आप से भी अकेला। जिस सामर्थ्य और विश्वास के बल पर जी रहा था, उसी के सामने असमर्थ और असहाय बनाकर फेंक दिया गया है।" इसके बाद वह यह कहते हुए बाहर चला जाता है कि वह अपने केशों को वापिस लेने पुन: गौतम बुद्ध के पास जा रहा है। जब सुन्दरी नन्द के विषय में पूछती है तो श्वेताँग केश वाली बात को बताते हुए कहता है कि कुमार यह कहकर चले गए कि—"वे अपने केशों की खोज में जा रहे हैं।" जाकर तथागत से पूछना हते हैं कि उन्होंने उनके केशों का कया किया? यदि कुछ नहीं किया, तो कया उनके केश उन्हें लौटाये जा सकते हैं। उनकी पत्नी को उन केशों की आवश्यकता है.....। यह सुनकर इतनी जड़-सी हो जाती है कि उसके मुँह से एक ही वाक्य निकल पाता है—"इतना ही तो समझ पाते हैं ये लोग। बस इतनी ही तो इनकी समझ में आ पाता है।" सुन्दरी हाथों में सिर छुपाए हुए वहीं आसन पर बैठ जाती है। नेपठय से श्यामाँग को प्रलापमयी ध्वनि पुन: सुनाई देती है। क्षण-भर में ही नेपथ्य का स्वर और मंच की आकृति दोनों साथ-साथ विलीन हो जाते हैं।

अत: कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि **'लहरों का राजहंस'** नाटक की कथ्य-योजना ऐतिहासिक होते हुए भी आधुनिक संदर्भों को बड़ी गहराई के साथ अपने अन्तराल में संजोए हुए हैं।

10.3 लहरों के राजहंस –प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दर्शन

प्रस्तुत नाटक में मूलत: व्यक्ति की द्वन्द्वात्मक चेतना की स्थिति को व्यंजित किया गया है। यहाँ दर्शन का प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है, क्योंकि नन्द का मन दो प्रकार के दर्शनों के बची आकर्षण एवं विकर्षण में फंसा हुआ है। एक ओर सुन्दरी के रूप में प्रवृत्ति मूलक दर्शन है तो दूसरी ओर गौतम बुद्ध का निवृत्ति मूलक दर्शन है। यह उसका आसक्ति अनासक्ति का द्वन्द्व है। क्योंकि जब गौतम बुद्ध ज्ञान प्राप्त करने के बाद अपने नव्य मत, दर्शन, सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार करते हुए अपनी ही जन्मभूमि कपिलवस्तु

में पहुँचे और उपदेश देने लगे तो उनसे प्रभावित होकर उन्हीं की जाति के अनेक भाई दीक्षा ग्रहण क
लगे। किन्तु गौतम बुद्ध का अपना ही भाई नन्द अपनी पत्नी सुन्दरी के अनुपम सौन्दर्य के रूप–जाल
फंसा हुआ था। वह उनसे मुक्त न हो रहा था। वह गौतम बुद्ध के हत्याग से लेकर बुद्ध बनने तक कि प्रकि
से परिचित था और उनके बढ़ते प्रभाव से भी भाति-भाँति परिचित था। इतना ही नहीं, वह स्वयं भी बुद्ध
नव्य दर्शन से प्रभावित और आकर्षित था। इस सम्बन्ध में **डॉ. सुरेश अवस्थी** का कहना है—"लेकिन न
का मन स्थिर भाव से सुन्दरी का रूप भोग नहीं कर पाता, क्योंकि कहीं भीतर उसके मन में अस्थूल अ
असंसारी तत्वों के प्रति भी आकर्षण है। उसके मन का यही संस्कार और उसका शोषित करने वाली बा
परिस्थितियाँ नाटक के द्वन्द्व का आधार है। वास्तव में यह द्वन्द्व प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्गों का ही द्वन्द्व है। प्रवृ
मार्ग नन्द को अपनी पत्नी सुन्दरी की ओर आकर्षित करता है तो निवृत्ति मार्ग गौतम बुद्ध के जीवन दर्शन
ओर आकर्षित करता है। यह द्वन्द्व उस समय और अधिक प्रबल हो उठता है, जब बुद्ध भिक्षा के लिए नन्द
द्वार पर आकर उपेक्षित खाली हाथ लौट जाते हैं, जब अलका द्वारा उनके लौट जाने का समाचार सुनकर न
क्षमा-याचना के लिए जाने को अत्यधिक व्यग्र एवं बेचैन हो उठता है। '**बुद्ध शरणां गच्छामि**' का स्वर ह
सुनकर नन्द के हाथों में थामे हुए दर्पण को गिरकर टूटना उसी विवशता का धोतक है। अत: दर्पण का टूट
प्रवृति-दर्शन का टूटना है। इसी प्रकार कमल ताल में (बुद्ध) की छाया दिखना प्रवृत्ति मार्ग पर निवृत्ति मार्ग
क्रमश: हावी होना निवत्ति प्रवृत्ति दोनों पक्षों के समानान्तर रूप से प्रदर्शित होने के प्रतीक दार्शनिक पहलू ही
इन दोनों दर्शनों का संघर्ष नाटक में अनेक स्थलों पर देखा जा सकता है। अपनी ही थकान क्लान्ति से मृग
मर जाने की नन्द द्वारा बार-बार चर्चा करना और नन्द के दीक्षित हो जाने एवं केश कर्तन के बाद जंगल
जाकर व्याघ्र से भिड़ जाने की घटना आदि प्रसंगों में ही प्रवृत्ति एवं निवत्ति दर्शन का परस्पर संघर्ष का
रूपायन है। जब नन्द केश कर्तन के पश्चात् घर आता है और अपनी विवशता पर पश्चाताप करता है। तब
इन दोनों ही दर्शनों का द्वन्द्व स्पष्ट झलकता है। उदाहरणत:—

"उस समय मैं इतना सत्वहीन क्यों हो गया कि भिक्षु आनन्द के कर्तनी उठाने पर चिल्ला न
सका कि—"यह विश्वास मेरा नहीं है।" "मैं तुम्हारा या किसी और का विश्वास ओढ़कर नहीं
सकता, नहीं जीना चाहता।"... सुख सुख नहीं हैं, काई पर फिसलते हुए पांव का एक स्पन्दन म
रेत में डूबती हुई बूंद की एक अकुलाहट ... परन्तु वह स्पन्दन, वह अकुलाहट ही क्या जीवन
पूरा अर्थ, जी लेने का कुल पुरस्कार नहीं हैं। आकाश में कहीं लटके हुए नीले बिन्दु ... क
सिद्धान्तों के व अधिक स्थाई, अधिक सत्य कैसे हैं? उन्होंने केश कटवा दिए, तो क्या व्यक्ति रू
में मैं अधिक सत्य हो गया? जिह्वा कटवा देते, हाथ-पैर कटवा देते, तो और अधिक सत्य
आता। कौन कह सकता है कि भ्रांति वस्तुत: किसे है; उन्हें या मुझे।"

इस प्रकार नन्द प्रवृत्ति मूलक दर्शनों के बीच द्वन्द्वात्मक स्थिति में रहता हैं। वह गौतम बुद्ध के पा
क्षमा-याचना के लिए गया परन्तु उन्होंने उसके केश कटवाकर उसे बौद्धतम में दीक्षित कर दिया। लेकिन उस
द्वन्द्व का निवारण न हो सका। तभी वे वह विक्षुब्ध ही कह उठता हैं—"जिस सामर्थ्य और विश्वास के ब
पर जी रहा था, उसी के सामने मुझे असमर्थ और असहाय बनाकर फेंक दिया गया है।" भले ही नन्द ने निवृ
मार्ग का विवशतावश अपनाया हो, किन्तु इतिहास इस बात का प्रमाण हैं कि उसने निवृत्ति मार्ग का अपन
और यह भी सत्य है कि उसने प्रवृत्ति मार्ग को छोड़कर हीं निवृत्ति मार्ग का अपनाया था। हाँ, यह दूसरी बात
कि लेखक ने प्रवृत्ति मार्ग को सहारा दिया हैं।

दूसरी ओर सुन्दरी प्रारम्भ में पूर्णत: प्रवृत्ति मार्ग में दिखाई देती है। वह जीवन के सुधा को भोगना चाहती है और उसे ही श्रेयस्कर मानती है उस पर भोगवाद हावी है। इसी कारण वह गौतम बुद्ध और यशोधरा पर अनेक अशिस्ट आरोप लगाती है। भोगवादी प्रवृत्ति के ही कारण वह उसी दिनं कामोत्सव का आयोजन करती है, जिस दिन यशोधरा बौद्धमत में दीक्षित होने वाली थी। लेकिन उसे समाचार मिलता है कि कामोत्सव में नियन्त्रित एक भी अतिथि नहीं आया।

सुन्दरी संध्या-वेला में कमल ताल में हंसों का कलरव सुनती हुई और वह अपनी भोगवादी प्रवृत्ति का परिचय देती हुई गौतम बुद्ध पर व्यंग्य करती हैं—"कोई गौतम बुद्ध से कहे कि कभी कमलताल के पास आकर इनसे भी निर्वाण और अमरत्व की बात कहे।" यहाँ सुन्दरी अपने भोगवादी दर्शन द्वारा निवृत्ति मार्ग पर प्रहार करती हुई प्रतीत होती है। वह नन्द की तरह द्वन्द्वात्मक स्थिति में नही हैं। वह स्पष्टत: और पूर्णत: प्रवृत्ति मार्गी है। किन्तु उसे हम "**खाओ-पिओ करो आनन्द, भाड़ में जाये परमानन्द**" अथवा "**यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घ तं पिवेत्**" वाला चार्वार दर्शन तो नहीं कह सकते, पर उसे आधुनिक भौतिकवादी मार्क्स दर्शन की प्रतिनिधि और साथ ही भोगवाद की अनुसरणी भी कह सकते हैं। उनके जीवन में इस दर्शन की चरम परिणति तब देखी जा सकती है जब दीक्षित होने पर नन्द घर लौटता है और सुन्दरी के माथे पर लगे सूखे बिन्दु को गीला करने के लिए झुकता है तो वह चौंककर जाग उठती हैं। वह नन्द को केश कर्तित देख वितृष्णा से भर जाती है और अलका से कह उठती हैं—

"वे लौट आए हैं!... फिर ऐसा... भयानक सपना मैंने क्यों देशा?... देखा कि मैं झूले में पड़ी हूँ... सहसा एक ठण्डे स्पर्श से आँखे खुल जाती हैं। आँख खुलते ही (सिहरकर)... देखती हूँ कि एक रूण्ड-मुण्ड आकृत्ति मेरे ऊपर झुकी हुई है, उसका हाथ मेरे हाथ पर है...तभी मेरे मुख से चीख निकल जाती है, और मैं...मैं सचमुच जाग उठती हूँ।" और जब उसे ज्ञात होता है कि उसके स्वप्न ने यर्थाथ रूप में उसके घर में प्रवेश किया है, अर्थात् नन्द वास्तव में बौद्धमत में दीक्षित होकर घर लौटा है तो वह अलका से कहती है —"वह आकृति एक दु:स्वप्न नहीं...यर्थाथ हैं...मेरा अपना यर्थाथ...क्या मैं उसका सामना कर सकती हूँ?" वह फिर भी अपने प्रवृति मार्ग से विचलित नहीं होती और नन्द को पहले वाले नन्द से भिन्न मानती हुइ कहती हैं—"वे नहीं आये, अलका! जो लौटकर आया है, वह व्यक्ति कोई दूसरा ही हैं...कोई दूसरा ही...।"

नन्द आड़ में खड़ा होकर यह सुन तो लेता है लेकिन सन्न रह जाता है उसे भ्रम है कि वह सचमुच नन्द नहीं हैं, क्या वह सचमुच में अपने पूर्व रूप को कहीं खो आया है—"कोई दूसरा ही...तो क्या सचमुच मैं कोई दूसरा ही हूँ? भिक्षु ने यही कहा था...तुम भी अब यही कह रही हो! परन्तु मैं जानना चाहता हूँ कि मैं कोई दूसरा कैसे हूँ! मात्र इसलिए कि किसी ने हठ से मेरे केश काट दिए हैं? यहाँ एक ही कोण पर दो दर्शन टकराते हैं। दोनों से एक ही ध्वनि मुखरित हो रही हैं। .... तुम वह नहीं हो.... तुम वह नहीं हो।" इस एक ही ध्वनि से दो मार्ग अलग-अलग हो रहे हैं। एक ओर आधुनिक भौतिक दर्शन हैं तो दूसरे ओर बुद्ध दर्शन का निवृति मार्ग। प्रश्न उठता हैं इनमें सत्य कौन-सा है। इसका उत्तर नाटककार ने नहीं दिया। तभी तो अव्यवस्थित नन्द को कहना पड़ता हैं—

"लगता है मैं चौराहे पर खड़ा नंगा व्यक्ति हूँ, जिसे सभी दिशाएं लील लेना चाहती हैं और अपने को ढ़कने के लिए उसके पास आवरण नहीं।" वास्तव में भौतिकता से ग्रस्त नम्न चेतना को ढ़कने के लिए कोई

आवरण नहीं हैं। केवल द्वन्द्व है, छटपटाहट है और यह द्वन्द्व नन्द का हैं। एक ओर नन्द रात्रि भर अपनी मानसिक उलझन में फंसा हैं तो दूसरी ओर उसकी उलझन को बढ़ानें एवं व्यक्त में श्यामांग का प्रलाप सहयोग करता हैं—

"कोई स्वर नही हैं...कोई किरण नहीं है...सब कुछ लेने दो...सुलझा लेने दो...नहीं तो अपने हाथों का मैं क्या करूँगा! कोई उपाया नहीं है...कोई मार्ग नहीं हैं...इन लहरों पर से...लहरों पर से...वह छाया हटा दो... मुझसे यह छाया नहीं ओढ़ी जाती...। स्वर नहीं हैं...कहीं कोई स्वर नहीं है...इस अंधकूप में में सब कुछ खो गया है .... मेरा स्वर .... पानी के लहरों का स्वर ..... सब कुछ एक आवर्त में घूम रहा है...एक चील...सब—कुछ झपटकर लिये जा रहीं है...इसे रोको...इसे रोको...।"

देखा जाए तो नन्द की अनवरत रूप से यही तड़प है—"परन्तु मैं इस असहायता की स्थिति में नहीं रह सकता।... तब प्रश्न उन्होंने पूछे थे... अब मुझे ताकर उनसे कई-कई प्रश्न पूछने होंगे।" परन्तु वह प्रश्न क्या हैं? शायद द्वन्द्वग्रस्त भौतिक चेतना को नहीं पता, क्योंकि उसका जीवन निर्लक्ष्य सा रहता है। तभी तो व्याघ्र से लड़कर भी नन्द के मन को शन्ति नहीं मिली...लगता है अभी और लड़ना है, बहुत लड़ना है...ऐसे किसी से जिसके पास लड़ने के लिए भुजाएं नहीं हैं। निसंन्देह उसका संकेत बुद्ध के निवृत्ति मार्ग की ओर ही है। जिसमें व्यर्थ के संघर्ष के लिए स्थान नहीं है। यह चेतना की द्वन्द्वात्मक स्थिति ही है— "अस्तित्व और अनिस्तित्व के बीच मेरी चेतना को एक प्रश्न चिन्ह...केवल एक प्रश्न चिन्ह बनाकर छोड़ दिया गया है।...क्यों...? इस क्यों का उत्तर भौतिक जगत के सूनेपन में हैं। क्योंकि सूने कमलताल के हंस (दार्शनिक शब्दावली में हंस आत्मा एवं निर्मल चेतना का प्रतीक है) उड़ चुके हैं अर्थात् नन्द भी उड़ चुका हैं इसी कारण सुन्दरी के लिए —"लगता है आज घर अपना नहीं रहा..." अत: भौतिक सत्य सही है कि —"आज घर अपना नहीं रहा...।" इस तथ्य को नन्द एवं सुन्दरी दोनों ही समझ जाते हैं।

वैसे इतना तो निश्चित हैं कि इस नाटक में कोई निश्चित दर्शन प्रतिपादित नहीं हुआ है। यहाँ तो आधुनिक भौतिक जीवन-दर्शन और बौद्ध-दर्शन का द्वन्द्वात्मक मानसिक संघर्ष ही चित्रित किया गया है। अगर दार्शनिक दृष्टि से देखें तो इसमें प्रवृत्ति दर्शनों का द्वन्द्व ही प्रतिपादित हुआ है। इन्हीं दर्शनों के अन्तर्द्वन्द्व को दो समानान्तर स्तरों पर व्यक्त किया हैं। यह परिणति ही नाटकीय संचरण में वेदना को तीव्रता एवं गहराई प्रदान करती है। नाटककार का उद्देश्य किसी विशेष दर्शन को व्यक्त करना नहीं है। उसका उद्देश्य तो दो दर्शनों में उलझी हुई चेतना को स्थापित करना है और रूपायन विविध भाव-भंगिमाओं के साथ हुआ है। स्वयं नाटककार भी यहीं स्वीकारता है—"नन्द और सुन्दरी की कथा एक आश्रय मात्र है, क्योंकि मुझे लगा कि इसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता हैं। इसी कारण नाटक का मूल अन्तर्द्वन्द्व आधुनिक मानव को दर्शनों में उलझी चेतनाओं का द्वन्द्व मात्र ही है। किसी दर्शन विशेष का प्रतिष्ठापन या आस्था की अन्तिम अभिव्यक्ति अथवा परिणति नहीं।"

सुन्दरी का व्यक्तित्व नाटक के आरम्भ से ही चार्वाक दर्शन या प्रवत्ति मार्ग से प्रभावित दिखाई देता है और अन्त तक वह इसी पर अडिग रहती है। वह आरम्भ में ही कामोत्सव की तैयारी में तत्परता से लगी दिखाई देती है। वह इस आयोजन की छाप लोगों पर छोड़ना चाहती हैं। आधुनिकता के परिवेश में एक भौतिकता के प्रभाव में आज की नारी भी यहीं चाहती है। सुन्दरी भी यही चाहती है इसकी कारण वह अलका से कहती हैं——

"रात बीतने दे, फिर अपने मन से पूछना। रातभर नगरवधू चन्द्रिका के अवरणों की गति से इस कथा की हवा कांपती रहेंगी और लटकती रहेगी, उसकी आखों से, उसके एक-एक अंग की गोराई से। कपिलवस्तु के राजपुरूष रातभर उस मदिरा में और अन्याय मणि-मन्दिराओं में डूबते-उतरतें रहेंगे। तू देखेगी और विश्वास नहीं कर सकेगी, जो नहीं देखेंगे, वे तो कल्पना भी नहीं कर पाएंगे।"

यहाँ प्रवत्ति मार्ग के प्रति आग्रह दिखाई देता है। परन्तु इस प्रवृत्ति मार्ग के साथ संश्य का भाव भी जुड़ा हुआ है। शायद यह संशय का भाव ही इसकी दुर्बलता हैं। यही भाव अलका व्यक्त करती है—"सूखा सरोवर, पत्रहीन वक्ष और घूल भरा आकाश।" फिर सुन्दरी भी कहती है—"यह भरा-पूरा यौवन और हृदय में धूल-भरा आकाश...कहीं यह न हो कि तू भी कल भिक्षुणी का वेश धारण करने की सोचने लगे।" वास्तव में प्रवत्ति मार्ग में संशयास्पद एवं आशंकाओं की स्थिति हमेश मनी रहती है। अत: एक साथ दो-दो धाराएं प्रवाहित होती हैं—श्यामांग के शब्दों में—"पिछले बसन्त में आम कैसे बौराये थे। पेड़ों की डालियाँ अपने आप पल्लों पर झुक जाती थीं।...परन्तु तब यहाँ कामोत्सव का आयोजन नहीं किया गया। आयोजन किया गया है इस बार...जब आम के वृक्षों ने भिक्षुओं का वेश धारण कर रखा है।...कल प्रात: देवी यशोधरा भिक्षुणी के रूप में दीक्षा ग्रहण करेंगी और यहाँ...रातभर नृत्य होगा, आपानर चलेगा...।"

श्यामाँग की चेतना की यह विरोधात्मक स्थिति दार्शनिक द्वन्द्व की ही स्थिति हैं। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि प्रवृत्ति मार्ग मानव चेतना को प्रतिक्रियावादी और ईष्यालु बना देता है। तभी तो सुन्दरी ठीक उसी दिन कामोत्सव करने की सोचती है जिस दिन यशोधरा बौद्धमत की दीक्षा लेना चाहती हैं। यहीं नहीं प्रवृत्ति मार्ग (सुन्दरी) से निवृत्ति मार्ग का उपहास भी उड़ाया गया है।

"अभिप्राय यही है कि देवी यशोधरा का आकर्षण यदि राजकुमार सिद्धार्थ को बांधकर अपने पास रख सकता, तो क्या वे आज राजकुमार सिद्धार्थ ही न होते। गौतम बुद्ध बनकर नहीं तट पर लोगों को उपदेश दे रहे होते?

एक और बात कि यह प्रवृत्ति मार्ग व्यक्ति को अहंकारी भी बनाता है। सुन्दरी वम्तव्य में यह अंहकार स्पष्ट झलकता हैं—"नारी का आकर्षण पुरूष को पुरूष बनाता है, तो उसका आकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।" इसी प्रकार वह एक स्थल पर कहती हैं—"पर मैं कहती हूँ कि कामनाओं को जीता जाए, यह भी क्या मन की एक कामना नहीं है। और ऐसी कामना किसी के मन में क्यों जागती है? इसका उत्तर स्वयं ही देती हुई सुन्दरी अलका से कहती भीं है—

"इसका अर्थ इतना ही हैं अलका, कि बहुत दिन एकसार जीवन बिताकर लोग अपने से ऊब जाते हैं। तब जहां कुछ भी नवीनता दिखाई दे, वे उसी ओर उमड़ पड़ते हैं।"

हमारे विचार में सभी दर्शनों का आधारभूत तत्व यह नत्यान्वेषिणी मानव प्रकृति ही है। **'लहरों के राजहंस'** में मोहन राकेश की जीवन-दर्शन सम्बन्धी चेतना है तो बस यही नत्यावेषिणी ही चेतना है। स्वभावत: ही मानव प्रकृति नत्यावेषिणी हैं। इसी कारण अनेकानेक दार्शनिक विचारधाराओं के होते हुए भी नित नए दर्शन सामने आते रहते हैं। कोई भी नया दर्शन सामने आता है तो मानव की स्थिति कमल ताल पर तैरते-डोलते राजहंस की-सी होती है। सुन्दरी के शब्दों में—"कोई गौतम बुद्ध कहें कि कभीं कमल ताल के पास आकर राजहंसों सें भी वे निर्वाण और अमरतत्व की बात कहें। ये एक बार दृष्टि से उनकी ओर देखेंगे, काँपती हुई लहरें जिधर ले जाएँगी, उधर को तैर जाएँगे।"

'लहरों के राजहंस' में निवृत्तिमूलक भावनाएँ आरम्भ से ही उजागर होने लगती हैं। पहले ही अंक में जब कुमार नन्द आखेट से लौटकर सुन्दरी के कक्ष में आता हैं, तो उसका स्वभाव चंचल रहा होता है, क्योंकि एक आहत मृग की छाया उसके मस्तिष्क पर छायी हुई हैं। नन्द स्वयं कहता है—

"हाथ से निकला भी तो नहीं।.... सच, किान उतनी शरीर की नहीं जितनी मन की हैं म र मेरे बाण न आहत नहीं हुआ, इससे मन को इनता खेद नहीं हुआ, जितना उससे .... कि जब थककर लौटने का निश्च किया तो वही म ग... थोड़ी दूर आगे ..... रास्ते में मरा हुआ दिखाई दे गया।"

यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने संस्कारगत गर्जी प्रवत्तियों को उभारते हुए दिखाया हैं यह उ समय और अधिक स्पष्ट हो गया है। जब नन्द कहता है—

"बाण से क्षत-विक्षत मृग को देखकर मन में कभी कोई अनुभूति नहीं होती, होती भी हैं, तो केवल प्राप्ति की हल्की-सी अनुभूति। परन्तु बिना घाव के अपनी ही क्लान्ति से मरे हुए मृग को देखकर मन में जाने कैस लगा लौटकर आते हुए अपने आप इतना थका और टूटा हुआ लगने लगा कि..."

अत: यह थकान वर्तमान जीवन की थकान हैं। उसकी संवेदनात्मक अनुभूति और दर्शन के अनुरूप है नन्द द्वारा उस मृग को उठाने से आखेटक को रोक देना, उसे मृत या जीवित स्थिति में पड़े रहने देने की आ बौद्ध दर्शन के अनुकूल है। मृत-मृत की कचोट भी नन्द को बौद्ध दर्शन की ओर खींचती है। नन्द कहता है—

"वहा पड़ा हुआ वह कल कैसा लग रहा था और न जाने क्यों इस समय
प्रभाव का फीका चाँद भी मुझे कुछ वैसा ही लगा...कोमल, अक्षत और निर्जीव।"

अत: मृत हिरण की याद, सुन्दरी के प्रसाधन की चेष्टा, बौद्ध नारों का सुनाई देता स्वर, दर्पण का हिल एवं टूटना आदि सब कुछ व्यक्ति की चेतनागत अस्थिरता को व्यक्त करता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति का अप अस्तित्व भी टूटा हुआ सा लगता है और वह कमलताल के राजहंसों की भांति उड़ जाता है। फिर वह दिश खोज करता है। इसी को नाटक में भिक्षु आनन्द प्रकट करता हैं—

"तुम अपने लिए दिखा खोज रहे हों, यह व्याकुलता ही वास्तविक आरम्भ हैं।
तुम यह जानते हो, इसलिए अपनी व्याकुलता से इतना नहीं लड़ रहे हो।

लेकिन व्यक्ति सहज ही हार नहीं मान लेता, वह लड़ता जरूर है। नन्द भी अपने से लड़ने की प्रक्रिया ही पहले व्याघ्र से लड़ता है और बाद में "मदिरा से लड़ना चाहता हैं, पर लड़ नहीं पाता, क्योंकि उसका जीव के प्रति दृष्टिकोण बदल रहा है जिसे पलायनवादी भी कह सकते हैं।

'लहरों के राजहंस' में मोहन राकेश प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दर्शन को एक साथ व्यक्त करता है। दोनों बीच व्यक्ति की द्वन्द्वात्मक चेतना को व्यक्त करता है। इसी कारण नाटककारों ने नन्द की चेतना को नाटक तक या नन्द की अंतिम परिणति तक उसे द्वन्द्व से मुक्त नहीं होने दिया। वह एक साथ बुद्ध एवं चार्वर के शब्द में बोलता हैं—

"इतना समझ में आता हैं कि नीचे जाने से जीवन धीर-धीरे चुक जाता है कि हर उन्मेष का परिणाम ए निमेष है और काल के विस्तार में निमेष और उन्मेष दोनों अस्थायी हैं सुख सुख नहीं हैं, काई पर फिसलते हु पांव का एक स्पन्दन मात्र हैं, मात्र रेत में डूबती हुई बूंद की एक अकुलाहट...परन्तु वह स्पन्दन, वह अकुलाह ही क्या जीवन का पूरा अर्थ, जी लेने का कुल पुरस्कार नहीं हैं?...आकाश में कहीं लटके हुए नीचे का बिन्दु-कोरे सिद्धान्तों के वे अधिक स्थायी, अधिक सत्य कैसे हैं?

वह फिर बुद्ध मत से सोचता हुआ कहता हैं—

उन्होंने कहा—"मैं, मैं नहीं हूँ, तुम तुम नहीं हों, वह वह नहीं हैं...किसी उंगली से आकाश में बनाए गए चित्र हैं जो बनते-बनते साथ ही मिट जाते हैं, जिनका होना न होने से भिन्ना।... गर मैं पूछता हूँ कि जब होने न होने में कोई अन्तर नहीं हैं, तो मेरे केश क्यों कटवा दिए?"

इतना तो स्पष्ट कहा जा सकता है कि नाटककार का आग्रह प्रवृत्ति दर्शन के प्रति अधिक हैं। तभी तो कुमार आनन्द कहता हैं—

"जिस सामर्थ्य और विश्वास के बल पर जी रहा था, उसी के सामने मुझे असमर्थ और असहाय बनाकर फैंक दिया गया है।...परन्तु मैं इस असहयता की स्थिति में नहीं रह सकता।... जीने की इच्छा को कितने-कितने प्रश्नों के साथ-साथ घेर लिया है।"

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि **'लहरों के राजहंस'** नाटक में राकेश जी ने भले ही किसी विशिष्ट दर्शन को प्रतिपादित न किया हो, लेकिन फिर भी उनका आग्रह निवृत्ति की बजाए प्रवृत्ति मार्ग का रहा है। इन सब बातों के बावजूद राकेश जी का मूल उद्देश्य तो ऐतिहासिक संदर्भ में प्रवृत्ति दर्शनों के बीच मानव-चेतना के शाश्वत द्वन्द्व को व्यक्त करना रहा है।

10.4 नाम की सार्थकता

कोई भी कृति निरूद्देश्य नहीं होती। किसी का भी नामकरण निरर्थक नहीं होता। प्रत्येक कृत्ति के नामकरण के पीछे लेखक का कोई-न-कोई उद्देश्य निहित होता है। अर्थात् नामकरण का कोई-न-कोई आधार होता ही हैं। लेखक या तो मुख्य पात्र के नाम पर या घटना या स्थान या उसमें निहित उद्देश्य के आधार पर नामकरण करता है। **'लहरों के राजहंस'** का ऐतिहासिक नाटक है। अत: ऐतिहासिक नाटकों के सन्दर्भ में ही चर्चा करना तर्कसंगत ठहरता है। हिन्दी में अधिकाशत: ऐतिहासिक नाटकों का नामकरण रचना के नायक या नायिका के नाम पर ही किया जाता है। किन्तु कुछ नाटकों का नामकरण इस परिपाटी से हटकर काल-विशेष या घटना या स्थान विशेष के आधार पर भी हुआ है। अत: कहा जा सकता है कि नामकरण के सन्दर्भ में रचनाकार स्वतन्त्र है, किन्तु फिर भी यह अनिवार्यता है कि नामकरण कथा के अनुकूल एवं सार्थक होने वाला हो।

'लहरों के राजहंस' मूलत: ऐतिहासिक नाटक हैं, लेकिन नाटककार मोहन राकेश ने इसका नामकरण ऐतिहासिक नाटय परम्परा से हटकर किया है। राकेश जी अगर परम्परा से जुड़कर इसका नामकरण करते तो इसका नाम सुन्दरी, नन्द या नन्द-सुन्दरी आदि कुछ भी रख सकते थे, किन्तु उन्होंने नायक-नायिका के नाम पर न रखकर के इसमें निहित उद्देश्य को उजागर करने की दृष्टि से इसका नामकरण किया है। मोहन राकेश ने इस नाटक की भूमिका में स्वयं लिखा है कि उन्होंने इसकी प्रेरणा कवि अश्वघोष के 'सौन्दरानन्द' से मिली और मैंने इसे आधुनिक युग-बोध के साँचे से ढालकर प्रतीकात्मक स्वरूप दे दिया है। 'सौन्दरानन्द' में कपिलवस्तु के विलासी एवं रूपागर्विता सुन्दरी के प्रेम-पाश में उलझे राजकुमार नन्द अस्थिर मन को उपमा लहरों पर तैरते राजहंस से की गयी है। क्योंकि नन्द का मन एक ओर तो सुन्दरी के रूपाकर्षण में उलझा रहता है और दूसरी ओर गौतम बुद्ध के निवृत्ति मार्ग से भी यह प्रभावित होकर वह उधार से अपने को मुक्त नहीं कर पाता। उसी में फंसा डोलता रहता है और वह फैसला नहीं कर पाता। किन्तु अन्त में नन्द जब बुद्ध के पास क्षमा

मांगने हेतू जाता है तो वहाँ बुद्ध के आदेश से मौन होकर नन्द केश कटवा लेता है। परन्तु जब बुद्ध उसे भि पात्र देते हैं तो उसकी अस्वीकृति उसे वर्जित कर देती है और वह विक्षिप्त से वनगमन कर जाता है। उससे वह सुन्दरी का शृंगार करता हुआ उसके साथ अठखेलियाँ करता है। उसी के साथ दूसरी ओर नेपथ्य से बौ के समवेत स्वर से आतंकित भी होता रहता है। बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों का समवेत स्वर—

'धम्मं शरणं गच्छामि,

संथं शरणं गच्छामि,

बौद्ध शरणं गच्छामि।,

यह स्वर उसकी चेतना को दो स्वरों में विभक्त कर देता है। उसकी चेतना के एक स्तर पर अनु लावण्यमयी सुन्दरी है और दूसरे स्तर पर बौद्ध दर्शन में मिलने वाली आध्यात्मिक शान्ति है। उसका मन प की लहरों की तरह बहने लगता है। ये तरंग उसके मन में उठती है। जिस पर उसका मन रूपी हंस तैरता किन्तु अन्तत: वह उड़कर कमलताल को छोड़ गौतम बुद्ध की शरण में चला जाता है। नन्द के इस द्वन्द्व अश्वघोष ने निम्न श्लोक के माध्यम से बड़ी ही मार्मिकता से उजागर किया है।

''तं गौरवं बुद्धं गंत भार्यानुराग: पुनराचकर्ष।

सोडनिश्चयन्नापि यपौ ने तस्यौं तरंस्तरंगेस्विष रौजहंस॥''

अर्थात् नन्द को एक ओर बुद्ध का गौरव खींच रहा था दूसरी ओर सुन्दरी को अनुराग अपनी ओर ख रहा था। अत: वह द्वन्द्वग्रस्त था कि वह किधर जाए, किसको अपनाए अत: उसकी स्थिति लहरों पर ते राजहंस की तरह थी।

मोहन राकेश ने '**सौन्दरनन्द**' के इस काव्य-चित्र को इस नाटक के नामकरण का आधार बन इसका नामकण '**लहरों के राजहंस**' किया है। यह काव्य-चित्र और नाटक का नामकरण इस नाटक के द्वन्द्व भाव को व्यंजित करता है। इस नामकरण के पीछे नाटककार से जो भी प्रेरणा स्त्रोत मिले थे, उसके स में स्वयं नाटककार कहता भी है—"अपने वर्तमान की संगति में ऐतिहासिक संदर्भ का किस रूप में उप किया जा सकता है, यह बात तब मन में स्पष्ट होने लगी थी विशेषकर इनके दो कथानकों को लेकर जो ब दिनों से '**आषाढ़स्य प्रथम दिवसें (कालिदास का मेघदूत)**' तथा '**तरंगरंगेस्विस राजहंस**' (सौन्दरान इस दो पंक्तियों के रूप में थे।"

अगर इसी दृष्टि से विचार करें तो इसका नामकरण पूर्णत: संगत, सार्थक, और सकारण है और इस वस्तु योजना में यह स्पष्ट भी हो जाता है। नाटक में लहरों को नन्द एवं सुन्दरी के जीवन की परिस्थितियाँ जा सकता है। और नन्द की आत्मा को उन परिस्थिति रूपी लहरों पर तैरता राजहंस माना जा सकता है। रा जी ने नन्द के साथ-साथ सुन्दरी को भी राजहंस ही माना है। किन्तु नाटक में यह प्रतीत पूर्णत: प्रवाहित नहीं दिखाई देता, क्योंकि सुन्दरी का मन विचलित होकर भी अपने प्रवृत्ति मार्ग से विचलित नहीं हो पाया। आरम्भ से अन्त तक भोगवाहिनी जरूर है हाँ, यह जरूर है कि वह अस्थिर मन नन्द को अपने प्रेमाकर्षण उलझाने रखना चाहती है पर, आहत नन्द उड़ ही जाता है। इस पर सुन्दरी कह उठती है।

> "क्या उनके पंखों में इतनी शक्ति रही होगी कि अपनी इच्छा से उड़कर
>
> कहीं चले जाते? और जिस ताल में इतने दिनों से थे, उसका अभ्यास,
>
> उसका आकर्षण....क्या इतनी आसानी से छूट सकता था।"

अत: सुन्दरी की स्थिति राजहंस के समान नहीं हैं, यह स्थिति केवल नन्द की ही है। केवल नन्द की चेतना ही दोनों ओर फंस कर आहट एवं किंकर्त्तव्यविमूढ़ सी हो जाती है। उस विमूठता की स्थिति में उसका मन भावों एवं विचारों की उच्चभूमि पर तैरता-डोलता और भी अधिक व्यग्र एवं आहत हो जाता है। इसी कारण सुन्दरी के उस उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देती हुई अलका कहती है—

"सम्भव है आहत होना ही कारण रहा हो उनके उड़कर चले जाने का...।" इस तर्क को स्वीकारती हुई कहती हैं—

"फिर यह भी विचार आता है कि राजहंस आहत थे....कम से कम एक उनके अवश्य आहत था।" और यह स्पष्ट है कि यह आहत हंस कोई और नहीं, बल्कि नन्द ही है जो आहत होने के कारण लहरों पर तैर नहीं पाता और मुक्त होने के लिए अलक्षित दिशा की ओर उड़ जाता है।

प्रस्तुत **'लहरों के राजहंस'** नाटक में कमलताल और उसके हंसो का प्रसंग कई बार आया है और उनका संबंध नाटक के मुख्य पात्रों और मूल द्वन्द्व के साथ जुड़ा हुआ है, जिससे नाटक के नामकरण की सार्थकता एवं तर्कसंगतता सिद्ध हो जाती है। नाटककार ने कमलताल के राजहंसों के कल-कूजन की योजना कथावस्तु के बीच में बड़ी ही सारगर्भित ढ़ग से की है। एक ओर सांध्यकाल में कामोत्सव के आयोजन की तैयारी हो रही है और अगले दिन देवी यशोधरा के भिक्षुणी बनने की चर्चा हो रही है। बीच में ही राजहंसों का कलख सुनाई देता है, सुन्दरी व्यंग्य से कहती है

"इस स्वर की कहीं भी तुलना हैं? कह नहीं सकती क्या आपसे सुन्दर है ओस से लदे कमलों के बीच राजहंसों के इस जोड़े की किलोल या इस झुटपुटे में दूर से सुनाई देता इनका कुंजन! कोई गौतम बुद्ध से कहे कि कभी कमलताल के पास आकर इनके भी वे निर्माण और अमरत्व की बात कहें। ये एक बार चकित दृष्टि से उनकी ओर देखेंगे, फिर काम्यती हुई लहरें जिधर ले जाएंगी, उधर को तैर जाएँगे।"

स्पष्टत: यहाँ प्रवत्ति और निवत्ति मार्ग का द्वन्द्व दिखाई देता है जिससे राजहंसों के लहरों पर तैरने की बात सार्थक लगती हैं। इसमें जो द्वन्द्व चल रहा है, वह क्रमश: धुलता भी जाता है। कालान्तर में नन्द क्षमा-याचना के लिए गौतम बुद्ध के पास जाता है और उसे चकित भाव से देखता है और फिर चकित भाव से ही उठकर उनके पीछे-पीछे चल देता है। और फिर—"फिर काम्पती हुई लहरें जिधर ले जाती हैं, उधर ही चुपचाप तैर जाता है।" अर्थात् स्वयं पर बुद्ध के प्रभाव को मान लेता है और उसी की ओर हो जाता है। राजहंसों पर फैंके सभी प्रकार के पत्थर भी उसकी (नन्दकी) चेतना को बदल नहीं पाते, क्योंकि वहाँ राजहंसों वाले कमलताल में जो छाया पड़ती है या दिखती है, वह इतनी प्रभावी है कि छाया के पत्थर उसे तोड़ नहीं पाते, हटा नहीं पाते। वह तो लहरो एवं राजहंस को अपने व्यक्तित्व में मिला लेती है। इस सम्बन्ध में श्यामाँग की आशंका देखी जा सकती है—

"वहाँ देखा ताल की लहरों पर वह छाया उतर रही है। लहरे उसमें गुम हुई जा रही हैं, कमलताल, कमल-पत्र सब उसमें खोए जा रहें है। मुझे लगा कि वह छाया धीरे-धीरे उन सबसे लील जाएगी, ताल में तैरते हुए राजहंसों के जोड़े को भी मुझे डर लगा, मैं छाया पर पत्थर फैंकने लगा।" और श्यामांग की यह आशंका निराधार नहीं है। अन्त में सच निकलती है हंस उड़ जाते हैं—"तभी हंसों के जोड़े ने पंख फड़फड़ा दिए और जैसे छाया से बचने के लिए वे पुकार उठे।" पुकारते भी हैं और प्रयत्न भी करते हैं पर सफल नहीं हो पाते, बल्कि लहरों के राजहंस उड़ ही जाते हैं।

इस नाटक में द्वन्द्व एवं दर्शन को उभारने के लिए लहरों का प्रतीकात्मक प्रयोग किया है, नाटक के दूसरे अंक में श्यामांग का नेपथ्य से ज्वरग्रस्त प्रलाप भी प्रतीकात्मकता के साथ उभरा है वह कहता भी हैं——

"इन लहरों पर से...लहरों पर से...वह छाया हटा दो...मुझ से...मुझ से यह छाया नहीं ओढ़ी जाती।" वास्तव में यह परिस्थितियाँ रूपी लहरों पर पड़े, अपर्तों में भ्रमित होते राजहंस रूपी नन्द के मन पर पड़ रही बुद्ध के प्रभाव रूपी छाया से बचने का चित्कार है। तभी तो कह उठता है—"पानी की लहरों का स्वर, सब कुछ एक-एक आवर्त में घूम रहा है...।" मूलत: यह घुमाव भी राजहंस रूपी नन्द की चेतना का ही है। पर उसमें अवरोध बनने का साहस नहीं है— "मुझमें साहस नहीं हैं....किसी में साहस नहीं है ..... "लहरों में पानी नहीं है। कहीं भी पानी नहीं है....।"और राजहंस के अन्दर यह द्वन्द्वग्रस्तता बढ़ती ही जाती है और अन्त में राजहंस के जाने पर ही उस सब का परिहार हो पाता है।

लहरों का राजहंस अर्थात् नन्द नाटक में शुरू से अन्त तक द्वन्द्वग्रस्त है। वह निर्णय नहीं कर पाता कि उसका निश्चित मार्ग कौन सा है। वह केश भी कटवा लेता है, लेकिन केश कटवा लेने के बाद भी वह परिस्थितियों के साथ समझौता नहीं कर पाता और वापिस राजभवन में आ जाता है। लेकिन यहाँ भी वह द्वन्द्व से मुक्त नहीं हो पाता और फिर यहाँ से भी लौट जाता है। अत: उसकी स्थिति लहरों पर तैरते-डोलते राजहंस जैसी है। एक ओर सुन्दरी का आकर्षण है, दूसरी ओर बुद्ध के व्यक्तित्व का प्रभाव। ये दो व्यक्ति नहीं बल्कि दो भिन्न-भिन्न मार्ग हैं, विचारधारा हैं और इन दोनों का प्रभाव अकाट्य सा लगता है और यह प्रभाव अन्त तक बना रहता है। उसके पैर बार-बार उठ-उठकर रूकते-बढ़ते हैं। इसी कारण वह कह उठता है—

- "लगता है मैं चौराहे पर खड़ा एक नंगा व्यक्ति हुँ जिसे सभी दिशाएं लील लेना चाहती है और अपने को ढ़कने के लिए उसके पास कोई अवरण नहीं है। परन्तु...मैं इस असहायता की स्थिति में नहीं रह सकता।... जीने की इच्छा को कितने-कितने प्रश्नों ने एक साथ घेर लिया है...।"

और अन्त में लहरों पर तैरता-डोलता राजहंस (नन्द) अपनी अस्थिर मन:स्थितियों के घेरों को तोड़कर प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए उड़ ही जाता है। उसकी उड़ान सार्थक है या निरर्थक है। यह प्रश्न यहाँ नहीं उठता और यह भी प्रश्न नहीं उठता कि उसे अपने प्रश्नों का उत्तर मिला कि नहीं लेकिन उसके द्वन्द्व को सुधार करने के लिए '**लहरो का राजहंस**' कहना सार्थक है और इसी कारण इस नाटक का नामकरण '**लहरो का राजहंस**' सम्पूर्णत: सार्थक है।

10.5 प्रतीकात्मकता

प्राचीनकाल से ही साहित्य में प्रतीकात्मक प्रयोग होते रहे हैं किन्तु छायावाद कवियों ने इस ओर विशेष रूख किया फिर प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता एवं साठोत्तरी काव्य में प्रतीकात्मक प्रयोग बढ़ते गए। केवल काव्य में ही नहीं कहानी, उपन्यास, नाटक में भी प्रतीकात्मकता का प्रयोग किया जाने लगा है। नाटक साहित्य में भारतेन्दु, प्रसाद, भारती आदि नाटककारों ने प्रतीक नाटकों का सर्जन किया है। नाटक के योग में मसीहा माने जाने वाले मोहन राकेश ने तो अपने नाटकों का नामकरण ही प्रतीकात्मक किया है। '**आषाढ़ का एक दिन**' तथा '**लहरों के राजहंस**' इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय हैं।

'**लहरों के राजहंस**' नाम ही प्रतीकात्मक है। इसमें ताल की लहरों पर तैरते, डोलते राजहंस को प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया है। नाटककारों ने संस्कृत के महाकवि अश्वघोष के '**सौन्दरानन्द**' को आधार मानकर इस नाटक की रचना की है। सौन्दरानन्द में व्यवहृत एक श्लोक नाटककार ने ज्यों-का-त्यों उद्घत कर दिया हैं——

"तँ गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुराग: पुनराचकर्ष

सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरंगेष्विव राजहंस।"

अर्थात् नन्द को एक ओर गौतम बुद्ध का गौरव खींच रहा था तो दूसरी ओर अपनी ही पत्नी सुन्दरी का रूप गौरव अपनी ओर खींच रहा था। उनसे न जाने को बनता और न ही रूकने को, अत: उनकी स्थिति लहरों पर तैरते-डोलते राजहंस की सी थी। जिस प्रकार अस्थिर राजहंस द्वन्द्वग्रस्त रहता है, उसी प्रकार नन्द भी द्वन्द्वग्रस्त था। इसी द्वन्द्वग्रस्ता को नाटककार राजहंस से प्रतीक रूप में दर्शाता है। अत: नाटक का मूल कथ्य ही प्रतीकात्मक है तो उसका क्रिया-कलाप तो प्रतीकात्मक होगा ही।

'लहरों का राजहंस' नाटक की प्रतीकात्मकता पर विचार करते है तो पहला तथ्य यही हैं कि इसकी प्रतीकात्मकता सहज, सरल नहीं है। इसके कथ्य की प्रतीकात्मकता में उनके ही पूर्ववर्ती नाटक **'आषाढ़ का एक दिन'** की तुलना में अधिक जटिलता है। वैसे तो सामान्यत: प्रतीकात्मकता अधिकतर नाटकों में मिल जाती हैं, क्योंकि सभी का संबंध रंगमंच से होता है। परन्तु यहाँ प्रतीकात्मकता का जटिल रूप देखने को मिलता है। नाटक का मूल द्वन्द्व प्रवत्ति (सुन्दरी) और निवत्ति (गौतम बुद्ध) से आकर्षित मानव (नन्द) के अन्तर्द्वन्द्व एवं द्विविधाग्रस्त चेतना को रूपायित करना है। इस संदर्भ में डॉ० जयदेव तनेजा का कहना है—"सुन्दरी जीवन के भोग-पक्ष तथा प्रवत्ति की प्रतीक है तो गौतम बुद्ध योग पक्ष या निवत्ति के प्रतीक हैं। नन्द प्रवत्ति और निवत्ति के इन दो विपरीत ध्रुवों के बीच निरन्तर पिसती हुई द्वन्द्वग्रस्त मानव चेतना का प्रतीक है।"

उपर्युक्त बात को स्वीकारते हुए नाटककार मोहन राकेश भी यही कहते हैं—"सुन्दरी पृथ्वी के प्रतीक में, पुरूष और उसकी चेतना को अपने तक बांधे रखना चाहती है—पुरूष बँधना चाहकर भी उससे ऊपर उठना, एक अपार्थिक जिज्ञासा में अपने लिए उपलब्धि ढूंढना चाहता है।" ऐतिहासिक संदर्भ में नन्द सुन्दरी के कथित विक्षोभ से घबराकर, उसके प्रश्नों के उत्तर देने में अपने को असमर्थ पाकर, अपने कुछ प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए गौतम बुद्ध के पास चला जाता है, लेकिन वह केश कटवाकर भी वापिस भवन में आता है अत: अन्तिम क्षण तक भी उसके द्वन्द्व का परिहार न हो सका। इस द्वन्द्वग्रस्त स्थिति को वह स्वयं उजागर भी करता हैं—"अस्तित्व और अनस्तित्व के बीच मेरी चेतना को एक प्रश्नचिन्ह, केवल एक प्रश्नचिन्ह बनाकर छोड़ दिया गया है।" यही नहीं वह एक और स्थान पर कहता है "इतना समझ में आता है कि जिये जाने से जीवन धीरे-धीरे चुक जाता है कि उन्मेष का परिणाम एक निमेष है और काल के विस्तार में उन्मेष और निमेष दोनों अस्थायी हैं। सुख-सुख नहीं है, काई पर फिसलते हुए पांव का एक स्पन्दन मात्र है, मात्र रेत में डूबती हुई एक बुन्द की अनुलाहट...परन्तु वह स्पन्दन, वह अकुलाहट ही क्या जीवन का पूरा अर्थ, जी लेने का कुल पुरस्कार नहीं है? आकाश में कहीं लटकते हुए नीले-काले बिन्दु-कोरे सिद्धान्तों के वे अधिक स्थाई, अधिक सत्य कैसे हैं?"का प्रश्न नन्द की द्वन्द्वग्रस्त चेतना का ही प्रश्न है, जो उसे निरपेक्ष नहीं होने देती। तभी तो वे कहते हैं—मैं, मैं नहीं हूँ, तुम तुम नहीं हो, वह नहीं है...सब किसी उंगली से आकाश में बनाये गए चित्र है जो बनते-बनते साथ-साथ ही मिट जाते हैं, जिनका होना न होने से भिन्न नहीं है...पर, पर मैं पूछता हूँ कि जब होने न होने में कोई अन्तर नहीं है, तो मेरे केश क्यों कटवा दिये"? अत: नन्द द्वन्द्वात्मक स्थिति में है और उसका यह द्वन्द्व प्रतीकात्मक है। लेकिन यहाँ प्रतीकात्मकता, दार्शनिक अवधारण जटिल है जो सामान्य दर्शक के लिए दुरूह है।

नाटक की नयी शिल्प-विद्या और रंग निर्देशों से प्रवत्ति मूलक एवं निवत्तिमूलक का द्वन्द्व यवनिका का उठते ही हो जाता है क्योंकि यवनिका का उठते ही निम्न स्वर सुनाई देता हैं—

'धम्मं शरणं गच्छामि।
संघं शरणं गच्छामि।
बुद्धं शरणं गच्छामि॥'

राकेश जी ने श्यामाँग के प्रसंग को लेकर सर्वाधिक प्रतीकात्मकता की सर्जना की है। इस विषय में डॉ० सुरेश अवस्थी का कहना है—"नाटक की वस्तु-योजना और उसके संबंध में श्यामाँग प्रसंग का महत्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि यह प्रसंग कई प्रकार से कई स्तरों पर नाटककार की मुख्य कथा और उसके मूल संघर्ष से जुड़ा है।" इसकी सार्थकता के विषय में अवस्थी जी कहते हैं—"जब श्यामाँग अंधकूप में डाल दिया जाता है और नाटकीय कथा के साथ सम्बन्ध नहीं रह जाता और वह किसी प्रयोजन की सिद्धि भी नहीं कर सकता, तो नाटककार जबरन उसके अस्तित्व और उसकी प्रयोजनशीलता को बनाए रखने के लिए उसे एक प्रतीक बना देता है। इस प्रकार श्यामाँग नाटक में एक प्रतीक तो बन जाता है, किन्तु वह पात्र नहीं रह पाता और नाटक चाहता है सशक्त, जीवन्त पात्र, अस्पष्ट, निर्जीव प्रतीक नहीं।" इस प्रसंग योजना के सम्बन्ध में नाटककार भी अन्त तक द्वन्द्व से छुटकारा नहीं पा सकता। इस तथ्य की पुष्टि नाटककार की 'नाटक का यह परिवर्तित रूप' शीर्षक में की गयी इस स्वीकारोक्ति से भी हो जाती है कि—"पहले अंक से उसे हटाना चाहा तो हटा नहीं सका, दूसरे अंक में उसके लिए स्थान बनाना चाहा तो वह भी नहीं बना सका।" कारणत: श्यामाँग केवल पहले अंक में ही मंच पर दिखाई देता है। बाद के अंकों में नेपथ्य से ज्वरोन्माद ग्रस्त-सा प्रलाप ही सुना देता है। लेकिन यह नेपथ्य का संभाषण भी प्रतीकात्मक है। इसके सम्बन्ध में डॉ० सुरेश अवस्थी का कहना है — "आरम्भ में लगता है कि श्यामाँग और अलका का अत्यन्त सहज, कोमल और मौन पारस्परिक आकर्षण सुन्दरी और नन्द के उद्दाम मुखर और काम शक्ति प्रेम का ही एक प्रतिरूप है। इस प्रकार यह प्रसंग एक निश्चित नाटकीय प्रयोजन की सिद्धि की चेष्टा करता है और फिर बाद में यही श्यामाँग नन्द के अस्थिर और द्वन्द जर्जर मन का एक प्रतिरूप बन जाता है, और अपने ज्वर प्रलाप में जैसे नन्द की ही अनिश्चितता, विभ्रम और अकुलाहट ध्वनित करता है।"

अत: यह ध्वनित होना भी एक सबल प्रतीक योजना है। इसी तरह श्यामाँग के कमल ताल में पड़ी छाया से नन्द का डरना, गौतम बुद्ध के प्रभाव से डरने का प्रतीक है। इसी प्रकार दूसरे अंक में श्यामाँग का ज्वर-प्रलाप उसकी व्याकुलता की बजाए नन्द की उद्विग्नता को प्रकट करता है। इसी कारण नन्द थकने पर भी रात-भर सोता नहीं। डॉ० अवस्थी के अनुसार "और तब ऐसा लगता है, जैसे कि नन्द ही रंगमंच पर अनिद्रा अशान्त बैठा है, और नन्द ही नेपथ्य में प्रलाप कर रहा है—कोई स्वर नहीं है...कोई किरण नहीं है...एक छाया है...अंधेरे कूप में भटकती हुई छाया।" अत: यह प्रतीक सबल और मानसिक उलझाव का ही प्रतीक बना रहा है। इसी कारण सुन्दरी इसे देखकर अव्यस्त सी हो जाती है और एक बार तो इसे तहखाने में डाल देने का आदेश देती है। श्यामाँग का प्रलाप सुनकर नन्द कहता है—"कितनी लम्बी है यह रात जैसे कि इसे बीतना न हो। बार-बार लगता है यह स्वर रात पर पहरा दे रहा है... यही इसे बीतने नहीं देता।" पुन: वह सुनता है—"स्वर नहीं हैं...कोई स्वर नहीं है...इस अंधकूप में सबकुछ खो गया है...मेरा स्वर...पानी की लहरों का स्वर...सब कुछ एक आवर्त में घूम रहा है...एक चील सब कुछ झपटकर लिये जा रही है...इसे रोको...इसे रोको...।"

अत: नाटककार ने चील, अंधकूप जैसे शब्दों के द्वारा नन्द के द्वन्द्व को ही व्यक्त किया है। इसी प्रकार श्यामाँग द्वारा कमल ताल के राजहंस पर पत्थर फेंकना नन्द के अवचेतन में बुद्ध के प्रभाव का ही प्रतीकात्म

संकेत रखता है। इससे स्पष्ट रूप से लगता है कि वह प्रवत्ति मार्ग से विमुख होकर निवत्ति मार्ग की और उन्मुख होना चाहता है।

नाटक के तीसरे अंक में भी यह प्रतीकात्मकता देखी जा सकती है। वहाँ राजहंसों के लड़ जाने से सुन्दरी को चिन्तित दिखाया है क्योंकि सुन्दरी को यह विश्वास नहीं हुआ कि वे स्वयं उड़कर चले गए हैं और न ही यह मान पाती है कि कोई उसे चुरा ले गया है। यह सच है कि हंसों का अदृश्य होना, उस विशिष्ट ताल में रहने का उनका अश्पास और उसका आकर्षण उनको रोक रखने में पर्याप्त थे, परन्तु उससे भी बड़ा सच यह है कि वे चले गए हैं। अत: वे नन्द के सुन्दरी को छोड़कर सदा के लिए बुद्ध के पास चले जाने की घटना का पूर्व संकेत दे रहे हैं। इस विषय में डॉ० जयदेव तनेजा का मत है—"पहली बात तो यह है कि हंसों को प्रत्यक्ष मूर्त-प्रतीक के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया, संवादों में उनकी चर्चा मात्र होती है, दूसरे, यदि दोनों हंस नन्द और सुन्दरी के ही प्रतीक हैं, तो अकेले नन्द के चले जाने पर दोनों हंसों के उड़ने का क्या अर्थ है? हंस सदैव के लिए चले गए हैं, किन्तु नन्द फिर लौटता है, आहत करने और आहत होने के लिए। इस विषय में **नेमिचन्द जैन** की यह धारणा ठीक प्रतीत होती है—"राजहंसों का प्रसंग नाटकीय एकाग्रता को तोड़ता है।" अगर इस संदर्भ को प्रतीकात्मक रूप से देखा जाए तो सुन्दरी अपने यौवन का गर्व नन्द की दुर्बलता का ही चित्रण करती है। इसलिए वह कहती है—"जिस ताल में इतने दिनों से उसका अश्पास, उसका आकर्षण...क्या क्या इतनी आसानी से छूट सकता था?" पर मानव की चेतना आहत होकर भी छुटकारा चाहती है। नन्द भी छुटकारा चाहता था। इस बात को अलका स्पष्ट करती हुई कहती है—"सम्भव है आहत होना ही कारण रहा हो उनके उड़कर चले जाने का...।" स्पष्टत: यह आहत होना नन्द की द्वन्द्वग्रस्त चेतना का ही आहत होना है।

हिरण प्रसंग भी प्रतीकात्मक है। वह अपने अस्तित्व के लिए अन्तिम सास तक संघर्ष करने वाले और अपनी ही क्लाप्ति से मर जाने वाले अपराजेय नन्द रूपी मृग का प्रतीक रूप उभरा है। इस संदर्भ डॉ० जयदेव तनेजा का कहना है—"नन्द रूपी मृग एक ओर सुन्दरी और दूसरी ओर गौतम, दो-दो शिकारियों से धिरा हुआ है। उसकी जिजीविषा उसे दोनों से बचा लेती है। परन्तु अन्तत: वह अपनी ही क्लान्ति से 'मत और जीवित- स्थिति को प्राप्त होता है। 'मृग' इस दृष्टि से भीतर-ही-भीतर निरन्तर थकते टूटते हुए, मरते हुए और बाहर से सतत् संघर्षरत एवं जीवित नन्द का चित्र प्रस्तुत करता है। नन्द के पास सबसे लड़ने की शक्ति है। बाघ से निहत्थे भिड़कर वह अपनी शारीरिक शक्ति का परिचय देता है तो समस्त देश को प्रभावित करने वाले गौतम बुद्ध के भरपूर प्रयास के बावजूद अप्रभावित लौटकर वह अपनी मानसिक आत्मिक शक्ति का प्रमाण दे देता है। शारीरिक और मानसिक रूप से प्रबल व्यक्तित्व वाला नन्द स्वयं अपने सामने निर्बल पड़ जाता है। वह स्वयं से हार जाता है। लेकिन दूसरे अंक के आरम्भ में नन्द को सो रही सुन्दरी को देखकर ऐसा लगता है कि —"उस समय तुम क्रोध में थी, तो कितनी उग्र कितनी कठोर, कितनी प्रखर लग रही थी, बिल्कुल उस मृग की तरह जिसे कल वन में पड़ा छोड़ आया था। जब तक वह चुनौती देता दौड रहा था, तब तक वह भी कितना प्रखर था। परन्तु उसके बाद।" इस बाहरी समानता के अतिरिक्त अन्त में अत्यन्त सूक्ष्म रूप में भी सुन्दरी की नियति इस मृग से पूर्णत: अभिन्न प्रतीत होती है। वास्तव में गौतम बुद्ध का प्रभाव नन्द को सुन्दरी से पूर्णत: अलग नहीं कर पाता, क्योंकि वह वापिस आकर स्वीकार करता है कि—मेरे हृदय में तुम्होरे लिए अब भी वही अनुराग है। आँखों में तुम्हारे रूप की वहीं छाया है" परन्तु सुन्दरी नन्द के देर से आने से अपने पराजय मान बैठती है। वह नन्द के जाने से टूट-सी जाती है, सिसकती है। अत: अपनी क्लान्ति से मरने वाला मृग सुन्दरी का प्रतीक बन जाता है।

दर्पण भी प्रतीकात्मक अर्थ रखता है। वह सुन्दरी के अहंकार और रूप गर्व का प्रतीक है। उसका टू
सुन्दरी के अहंकार को टूटना है। यहाँ पर नाटककार ने नन्द की चेतना को दो भागों में बाँट दिया है। पर वे
ही भाग समाकार नहीं हैं, बल्कि खण्डित होने के कारण आड़े-टेढ़े हैं। इससे प्रतीत होता है कि एक
सुन्दरी का रूप यौवन का गर्व टूट जाता है और भविष्य में उसका विश्वास भंग करके नन्द जो बौद्ध बनने
रहा है, उसका आभास भी मिल जाता है। इसी कारण खण्डित दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखकर वह कहत
—"उन्होंने केश कटवा दिये, तो व्यक्ति रूप में मैं अधिक सत्य हो गया? जिह्वा कटवा देते, हाथ कटवा
हाथ-पैर कटवा देते, तो और अधिक सत्य हो जाता।" अत: दर्पण भी प्रतीक है।

यहाँ नन्द के केश, अलका का स्वप्न, दीपाधार, मत्स्यकार आसन, झूला, घर आदि सब प्रतीकात
अर्थ रखते है। इनकी प्रतीकात्मकता के बारे डॉ० जयदेव तनेजा का कहना है—"(नन्द के) केश काम-भा
या प्रवत्ति के द्योतक है। अलका का स्वप्न भी उसकी अतृप्त मातृत्व जनित निराशा को प्रतीक रूप में प्र
करता है। पुरूष मूर्तिकला दीपाधर नन्द का और नारी-मूर्ति वाली सुन्दरी का प्रतीक है। मतस्यकार अ
उद्याम भोग-भावना को रेखांकित करता है तो भिक्षुओं का समवेत स्वर वैराग्य का संकेत देता हुआ गौतम
सर्वव्याप्त प्रभाव करे प्रतिध्वनित करता है। झूला अस्थिर मन अथवा द्वन्द्व का प्रतीक है। मंच सामग्री में
सर्वाधिक उपयोग (चौदह बार) झूले का ही हुआ है। इनके अतिरिक्त 'घर' और 'वास्तविक घर' के रू
दोहरा प्रतीकत्व प्रदान किया गया है। घर भोग या पार्थिकता का प्रतीक है तो वास्तविक घर आत्मिक शान्ति
स्थायी आश्रय देने वाले स्थान (संभवत: विहार) के लिए प्रयुक्त हुआ है। जंगल योग या अपार्थिक का प्र
है और 'अंधकूप' अवचेतन का" इसके अतिरिक्त उन्होंने हवा को गौतम बुद्ध के सर्वव्यापी प्रभाव का प्र
माना है और सुन्दरी की बिन्दी को जिसे नन्द के लौट आने तक गीला रखने की बात कहती है को
जन्नेन्द्रिय की प्रतीक माना है।

अत: कहा जा सकता है कि 'लहरों के राजहंस' नाटक में छोटे-बड़े, स्पष्ट-अस्पष्ट, प्रभावश
अप्रभावशाली, मूर्त-अमूर्त प्रतीकों की भरमार है जिनके भंवर में यह नाटक उलझा ही रह जाता हैं। क्योंकि
कुछ प्रतीक दुर्बोध्य हैं। जहाँ इन प्रतीकों को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन्हें सर्वथा मौलिक एवं नए प्रयोग कह
सकता है, वहीं यह कहना गलत न होगा कि ये प्रतीक सामान्य दर्शक/पाठक के लिए समझ से बाहर

10.6 काल्पनिकता एवं ऐतिहासिकता

'लहरों के राजहंस' नाटक का मूल आधार ऐतिहासिक है। लेकिन यहाँ नाटक राकेश जी
ऐतिहासिकता को संशोधित कर उसे युगीन परिप्रेक्ष्य में ढ़ाला भी है। राकेश जी ने स्वयं भी इसका अ
महाकवि अश्वघोष के 'सौन्दरानन्द' नामक काव्य को स्वीकारा है। इसके नामकरण की प्रेरणा से सम्बन्धि
'सौन्दरानन्द' काव्य का निम्न श्लोक दर्शनीय है—

"तं गौरवं बुद्धं गतं चकर्ष भार्यानुराग: पुनराचकर्ष।

सोऽनिश्चयन्नपि ययौ न तस्थौ तरंस्तरंगौध्वव राजहंस॥"

अर्थात्—बुद्ध का गौरव इसे अपनी ओर आकर्षित करता था तो उसकी सुन्दरी का अनुराग अपनी ओ
इस द्वन्द्वग्रस्तता में उससे न तो अपनी पत्नी सुन्दरी का ही त्याग हो रहा थ और न ही उसके पास रह पा रहा
बुद्ध का प्रभाव उसे खींच रहा था। उसकी स्थिति लहरों पर तैरते-डोलते राजहंस के समान थी। वास्त
समूची नाट्य प्रक्रिया का आधार यहीं है और इसी को युगीन संदर्भ में रूपायित करने की कोशिश राकेश न

की है। अत: नाटककार ने इस द्वन्द्वग्रस्ता को ऐतिहासिकता की बजाए आधुनिकता के प्ररिप्रेक्ष्य में उद्‌घाटित किया है। अत्यधिक प्रबलता के साथ यहाँ आधुनिक भाव बोध ही व्यक्त हुआ है। निश्चित तौर से इस समन्विति का कारण कथानक का स्तर भी बढ़ा है। उसकी साहित्यिक और व्यवहारिक उपयोगिता भी बढ़ी है। अत: ऐतिहासिकता को युगीन परिप्रेक्ष्य में दिखाने-सजाने-संवारने के लिए कल्पना का भी प्रयास किया है। अत: इस नाटक को कल्पना प्रधान ऐतिहासिक रोमांस का नाटक कहा जा सकता है। राकेश जी ने नाटक के कथ्य के मूल उत्स को भूमिका में व्यक्त करते हुए लिखा है—"कथा का आधार अवश्घोष का **'सौन्दरानन्द'** काव्य है, परन्तु समय के विस्तार में स्थिति का परिक्षेपण करने के कारण यह काल्पनिक भी है।" क्योंकि साहित्य केलव इतिहास नहीं हो सकता और न ही वह इतिहास के नीरस विषयों को ढ़ो सकता है। कोई इतिहास साहित्य तभी बन सकता है जब यह युगीन भाव-बोध में ढ़ल जाए। क्योंकि साहित्य समय के बंधनों में नहीं बंधता, जबकि इतिहास समय-बंध होता है। साहित्य जीवन के तत्वों को लेकर ही अपने कलेवर का सृजन करता है, उसे सजाता एवं संवारता भी है। साहित्य जनहित की साधना एवं भावना से इतिहास को व्यापकता एवं विशालता प्रदान करता है। इस संबंध में डॉ० सुरेश अवस्थी का कहना है—

- "वास्तव में ऐतिहासिक कथानकों के आधार पर श्रेष्ठ और सशक्त नाटकों की रचना तभी हो सकती है, जब नाटककार ऐतिहासिक पात्रों और कथा स्थितियों को **'अनैतिहासिक'** और **'युगीन'** बना दे तथा कथा के अन्तर्द्वन्द्व को आधुनिक अर्थ-व्यंजना प्रदान कर दे।"

स्पष्ट रूप से देखा जाए तो **'लहरों के राजहंस'** नाटक में ऐसा ही हुआ है तभी तो वह एक सफल ऐतिहासिक रोमांस बन गया है। साहित्य और इतिहास के संदर्भों को नाटककार ने नाटक की भूमिका में स्पष्ट करते हुए लिखा है— "साहित्य में इतिहास अपनी यथातथ्य घटनाओं में व्यक्त नहीं होता घटनाओं को जोड़ने वाली कल्पनाओं में व्यक्त होता है जो अपने एक नए और अलग रूप में इतिहास का निर्माण करती है।" इतिहास और साहित्य की ओर अधिक व्याख्या करते हुए राकेश जी आगे लिखते हैं—"इतिहास या ऐतिहासिक व्यक्तित्व का आश्रय साहित्य को इतिहास नहीं देता। इतिहास तथ्यों का संकलन करता हैं, उन्हें एक समय तालिका में प्रस्तुत करता है। साहित्य का ऐसा उद्देश्य कभी नहीं रहा। इतिहास के रिक्त कोष्ठों की पूर्ति करना भी साहित्य का उपलब्धि क्षेत्र नहीं है।" उपलब्धि क्षेत्र की विभिन्नता के अतिरिक्त भी समय एवं आश्रम में भी विभिन्नता रहती है। वास्तव में इतिहास तो युगों-युगों से मानव-जीवन विस्तार तालिका भर है। लेकिन यह तालिका कड़ी रूप में है और इसी कड़ी ने मानवता को राष्ट्र या देश आदि की सीमाओं में सुसंबद्ध कर रखा है। अत: इतिहास एक धारा है और साहित्य ही करता है। इसके स्वीकारते हुए राकेश जी कहते हैं—

- "साहित्य इतिहास के समय में बंधता नहीं, समय में इतिहास का विस्तार करता है। युग से युग को अलग नहीं, कई-कई युगों को साथ जोड़ देता है। इस तरह इतिहास **'आज'** और **'कल'** नहीं रह जाते, समय की असीमतता में कुछ ऐसे जुड़ जाते हैं जो जीवन को दिशा-संकेत देने में अविभाज्य है।"

अत: राकेश जी की दृष्टि साहित्य में इतिहास के बिखरे तत्वों, तथ्यों को जोड़ने वाला साधन मानती है। उनका यह भी मानना है कि साहित्यकार इतिहास में से प्रत्येक युग, परिस्थिति से मेल खाने वाले जीवनोपयोगी तथ्यों एवं सत्यों को संकलित कर उन्हें साहित्य में इतिहास अपनी यथा तथ्य घटनाओं में व्यक्त नहीं होता, घटनाओं को जोड़ने वाली ऐसी कल्पनाओं में व्यक्त होता है जो अपने ही एक नए अलग रूप में इतिहास का निर्माण करती है। यह निर्माण रूढ़िगत अर्थ में इतिहास नहीं है। उस इतिहास की खोज के लिए इतिहास की शोध पुस्तकों की ओर जाना चाहिए।" स्पष्टत: कहा जा सकता है कि साहित्य की कोई भी सर्जनात्मक प्रक्रिया

इतिहास नहीं है और उसमें केवल ऐतिहासिक तत्व नहीं खोजना चाहिए बल्कि उसमें जीवन के शाश्वत र एवं तथ्य खोजने चाहिए।

अत: इन संदर्भों के आधार पर हम **'लहरों के राजहंस'** नाटक की ऐतिहासिकता पर विचार कर स हैं। राकेश जी के वक्तव्य से यह माना जा सकता है कि यह नाटक ऐतिहासिक संदर्भों, तथ्यों का मात्र ब्य नहीं हैं, बल्कि इतिहास के वक्त पर सहज द्वन्द्वग्रस्त मानव चेतना की सर्जनात्मक प्रक्रिया है। इसी विषय स्वयं राकेश कहता है—

"प्रस्तुत नाटक का आधार भी ऐतिहासिक है परन्तु उतने ही अर्थ में जितना इस व्याख्या में आता है। द का आधार अश्वघोष का **'सौन्दरानन्द'** काव्य है, परन्तु समय के विस्तार में स्थितियों का परिक्षेपण करने कारण यह काल्पनिक भी है। काल्पनिक अश्वघोष का सौन्दरानन्द भी है, क्योंकि संस्कृत तथा पालि साहित्य जो कथा उपलब्ध थी, उसका अश्वघोष ने अपनी दृष्टि से परिक्षेपण किया है, यह काल्पनिक अन्विति से विस्तार किया है।"

इसको विस्तार किस तरह से दिया गया है, इस बात को स्वयं नाटककार स्पष्ट करता है——

"धम्मपद' की टीका में नन्द और सुन्दरी की जो टीका है, 'सौन्दरानन्द' की कथा और विस्तार में उ कहीं आगे जाती है। 'सौन्दरानन्द' में नन्द और सुन्दरी के जीवन के जो तथ्य आते हैं, उनके जीवन के सी ऐतिहासिक तथ्यों से कहीं भिन्न हैं, शोधग्रंथों में प्रमाणिक तथ्य तो उनके सम्बन्ध में उपलब्ध ही नहीं हैं।"

वास्तव में 'सौन्दरानन्द' के रचयिता अश्वघोष स्वयं बौद्ध मत को मानने वाला था। उसकी 'सौन्दरान काव्य सज्रना के पीदे उद्देश्य बौद्ध-मत की व्यापकता और प्रभाव को अंकित करना अधिक था। वह उज करना चाहता था कि नन्द जैसा विलासी व्यक्ति पत्नी सुन्दरी के सौन्दर्य के जाल को तोड़कर भी बुद्ध के प्र से बौद्ध बन गया। हाँ, यहाँ एक बात विशेष रूप से ध्यान रखने योग्य है कि नाटककार का उद्देश्य अंत में न मत में दीक्षित होते दिखाना नहीं है, बल्कि द्वन्द्वग्रस्त मानव चेतना उजागर करना है। इस दृष्टि से इस नाटक मात्र ऐतिहासिक तथ्य खोजना तर्कसंगत नहीं, इतिहास को बस इतना है कि गौतम बुद्ध थे, उनके सौतेले नन्द थे और उनकी एक अनुपम सौन्दर्य युक्त सुन्दरी पत्नी थी। शेष सभी नाटककार की कल्पना की सृष्टि स्वयं नाटककार इस बात को स्वीकार करता है—"यहाँ नन्द और सुन्दरी की कथा एक आश्रय मात्र है, क्यं मुझे लगता कि इसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता है। नाटक का मूल अनतर्द्वन्द्व उस अर्थ में यहाँ आधुनिक है, जिस अर्थ में 'आषाढ़ का एक दिन' के अन्तर्गत है।"

अत: विवेचनात्मक दृष्टि के आधार पर कहा जा सकता है कि 'लहरों के राजहंस' नाटक को उ ऐतिहासिक नहीं है, जितनी कल्पना है। अत: इसका मूल्यांकन, विशेषण इतिहास की दृष्टि की ब ऐतिहासिकता की दृष्टि से हाना चाहिए। नाटककार ने आधुनिक भाव-बोध को व्यक्त करने के लिए ऐतिहासि कथा का सरारा भर लिया हैं इसमें ऐतिहासिक कथानक को दोहराने की बजाए उसे आधुनिक परिप्रेक्ष्य दिखाया है।

10.6.1. परिवेशगत ऐतिहासिकता

'लहरों के राजहंस' नाटक में ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि हुई है। इसमें तत्सम्बन्धित निर्दे रंग-संकेत इतिहास सम्मत है। नन्द सुन्दरी की कथा और सुन्दरी के रूप की चर्चा, मदिरा पात्रों, मदिराओं वर्णन, दीपाधार, महल कक्ष के गवाक्ष द्वार, उद्यान एवं उसके कमल-ताल आदि सब कुछ इतिहास सम्मत यही नहीं नन्द सुन्दरी तथा अन्य पात्रों को वेश-भूषा भी इतिहासबद्ध रखी गयी है। उदाहरणत: मदिरापात्र

चषक कमल ताल के पास के चबूतरे पर रखवा देना, और वहाँ भी आस-पास कुछ आसन बिछवा देना। जब सारी व्यवस्था हो जाए, तो आकर मुझे सूचित कर देना।'' आदि-आदि ऐतिहासिकता के संकेत ही हैं।''

10.6.2. भाषागत ऐतिहासिकता

प्रस्तुत नाटक की भाषिक एवं संवादीय संरचना में जिस प्रकार की भाषा एवं शब्दावली का प्रयोग किया गया है। वहाँ भी ऐतिहासिक आधार विद्यमान है। जैसे — विशेषक, दीपाधर आपातक, गवाक्ष, कक्ष, उद्यान, कमल ताल, मत्स्याकार आसान, श्रृंगार कोष्ठ, मदिराकोष्ठ आदि शब्द ऐतिहासिक परिवेश का निर्माण करने वाले ही हैं। ऐतिहासिक पात्रों के साथ-साथ कतिपय पात्रों के नामों में भी पूर्णतया ऐतिहासिकता हैं। जैसे — श्वेतांग, श्यामांग, आर्य मैत्रेय, अलका, नीहारिका आदि। भाषा एवं संवादों में ऐतिहासिकता स्पष्ट झलकती है। उदाहरणत: —

''आत्म-विनाश और आत्म-रक्षा, दोनों प्रवत्तियों के बीच एक साथ मैं कैसे जिया और क्यों? और उस तरह जीकर क्या सुख मिला और क्या सुख की ही खोज थी जिसने उस तरह जीने के लिए विवश किया? या यह केवल मन का विद्रोह था...बिना विश्वास एक विश्वास के अपने ऊपर लादे जाने के जिए? या इसलिए कि उस समय मैं इतना सत्वहीन क्यों हो गया कि भिक्षु आनन्द के कर्तनी उठाने पर चिल्ला नहीं सका कि, ''यह विश्वास मेरा नहीं है। मैं तुम्हारा या किसी और का विश्वास ओढ़कर नहीं जी सकता, नहीं जीना चाहता।''

यहाँ एक बात ध्यात्व है कि यह सब होते हुए भी इसकी आत्मा आधुनिक है उदाहरणत: ''आत्म-वंचना की भी एक सीमा होती है। आज के दिन वे आशीर्वाद देंगी मुझे। मन में क्या सोच रहीं होंगी, मैं अच्छी तरह जानती हूँ।''

10.6.3. आधारभूत सामग्री की ऐतिहासिकता

नाटककार राकेश जी ने '**लहरों के राजहंस**' की नाटकीय वस्तु-योजना में जिस आधारभूत सामग्री का उपयोग किया है, उसकी प्रमाणिकता स्वयं नाटककार भी संदिग्ध मानता है। इस नाटक के कथ्य का विकास महाकवि अश्वघोष की दो सर्जनाओं पर आधारित है—'बुद्ध चरित्र और 'सौन्दरानन्द'। इनमें से अधिकांश विद्वान '**सौन्दरानन्द**' को प्रमाणिक सर्जना नहीं मानते। सौन्दरानन्द की अप्रमाणिकता का प्रमुख तर्क यह दिया जाता है कि इस जैसी प्रणय-कथा के अवशेष अन्य उपलब्ध रचनाओं में उपलब्ध नहीं हैं। इसी तरह नन्द के दीक्षित होने की बात 'बुद्ध चरित्र' में मिलती है और इसका आधार 'पलि-साहित्य' में प्राप्त होता है। '**उदान**', '**जातक**' और '**धम्मपद**' श्लोक-संख्या 13-14 '**वर्णित कथा**' में नन्दी की कथा का भी उल्लेख किया गया है। किन्तु इन ग्रंथों और 'सौन्दरानन्द' की कथा में अन्तर है। अत: निष्कर्ष निकलता है कि सौन्दरानन्द भी कल्पित है। अत: सौन्दरानन्द के मूलाधार पर रचे गए '**लहरों के राजहंस**' नाटक की आधारभूत सामग्री को पूर्णत: ऐतिहासिक ही कहा जा सकता है। इस बात को स्वयं नाटककार भी स्वीकारता है कि साहित्यकार का दायित्व उतना इतिहास के प्रति नहीं होता, जितना की जीवन के चिरन्तन सत्यों एवं शाश्वत मूल्यों के प्रति होता है।

10.6.4. पात्रो का ऐतिहासिक सन्दर्भ

इस नाटक में पूर्णत: ऐतिहासिक पात्रों में प्रथमत: राजकुमार नन्द, जो रंगमंच पर प्रस्तुत होकर समूचे वस्तु व्यापार के केन्द्र में रहकर उसकी अभिव्यक्ति करता है। नाटककार का अपनी चेतना का द्वन्द्व भी नन्द के माध्यम से ही अभिव्यक्त हो पाया है और इसे भी नाटक का अन्तिम फल प्राप्त होता है। दूसरा ऐतिहासिक पात्र है—गौतम बुद्ध, परन्तु नाटककार ने उसे रंगमंच पर कहीं भी प्रस्तुत नहीं किया है। उसके चरित्र का उद्घाटन नाटककार सांकेतिक संवादों एवं शब्दावली में ही कर देता है और इन संवादों को ही

नाटककार इतनी प्रबलता से प्रकट करता है कि जिससे समूचे युग-परिवेश की चेतना को प्रभावित करने वाले गौतम बुद्ध का प्रभाव अकाट्य लगता है। तीसरा पूर्णतः ऐतिहासिक पात्र है—नन्द की रूपगर्विता पत्नी सुन्दरी। हाँ, इतना सम्भव है कि '**सौन्दरानन्द**' में ही नन्द की पत्नी का नाम 'सुन्दरी' कतिपय किया गया हो, पर उसकी स्थिति और उसके अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि नन्द की विलासिता का आधार ही उसकी पत्नी थी। वहीं उसे मदिरा से उन्मत्त किया करती थी। इसी कारण नन्द को दीक्षित होने से पूर्व उनके प्रेम-पाश से मुक्त होने के लिए बहुत अधिक मानसिक यातना भोगनी पड़ी थी। इसका चौथा ऐतिहासिक भाग पात्र है — भिक्षु आनन्द। गौतम बुद्ध के मुख्य शिष्यों में उनका नाम-रूप चरित्र आदि सभी इतिहासबद्ध है। अगर गौतम बुद्ध का व्यक्तित्व ऐतिहासिक है तो भिक्षु आनन्द का व्यक्तित्व भी ऐतिहासिक ही ठहरता है।

शेष सभी पात्र काल्पनिक हैं जिनमें अलका, नीहारिका, श्वेतांग, श्यामांग, आर्य, मैत्रेय आदि हैं। किन्तु ये पात्र कल्पित नहीं लगते, क्योंकि ये नाटक के रूप विधान में इतने घुल-मिल गए हैं कि इन्हें अलग करके देखा ही नहीं जा सकता और ये नाटक के कथ्य-विस्तार और विकास में पूर्ण सहयोग भी करते हैं।

10.6.5. घटनाओं में ऐतिहासिकता

प्रस्तुत नाटक की घटनाओं में मात्र इतनी ऐतिहासिकता है कि कपित वस्तु का राजकुमार और गौतम बुद्ध का सौतेला भाई नन्द अपनी अनुपम सौन्दर्य युक्त पत्नी सुन्दरी के यौवन पर अत्यधिक आसक्त था। फिर भी उसने बौद्ध मत से प्रभावित होकर उसकी दीक्षा ग्रहण कर ली। काफी दिन तक तो नन्द बुद्ध के प्रभाव को बढ़ते हुए देखता रहा, उधर सुन्दरी के रूप-प्रेम का प्रभाव भी उस पर बढ़ता गया। अन्ततः वह रूप जाल से मुक्त हो बुद्ध दर्शन में दीक्षित हो गया। बस ऐतिहासिकता तो यहीं तक है। बाकी सब लेखक ने आधुनिक संदर्भ में अन्तर्द्वन्द्व चेतना को व्याख्यायित किया है।

उपर्युक्त इस घटना को छोड़कर बाकी सब कुल कल्पित है। श्यामांग का प्रसंग, कामोत्सम को आयोजन, कमल ताल के हंसों का उड़ जाना, रूपगर्विता सुन्दरी का शृंगार-प्रसाधन विशेषक बनाना और उसका सूखना, दर्पण का टूटना, हिरण के घायल होने की घटना, केश कटवाने के बाद नन्द का जंगल की ओर हिरण को देखने जाना और वहाँ बाघ से द्वन्द्व-युद्ध होना, दीक्षा के बाद भी नन्द का वापिस भवन में आना और सुन्दरी के सूखे विशेषक को गीला करने का प्रयत्न आदि सभी बातें पूर्णतः नाटककार की अपनी बौद्धिक कल्पनाएं हैं। लेकिन लेखक ने अपने बौद्धिक कौशल से इन्हें ऐतिहासिकता में फिट बैठा दिया है।

अतः कहा जा सकता है कि '**लहरों के राजहंस**' में उसी सीमा तक ऐतिहासिकता है जिस सीमा तक साहित्य इतिहास को पचा सकता है। आधुनिक संदर्भ में विशेष भूमिका निभा सकता है। इस नाटक में कल्पना और इतिहास को अलग-अलग कर पाना कठिन है। इसी संदर्भ में श्री विजयबापट का कथन है —"ऐतिहासिक कथानकों के आधार पर श्रेष्ठ और सशक्त नाटकों की रचना तभी सम्भव है जब नाटककार ऐतिहासिक पात्रों और कथा अभिप्रायों को ऐतिहासिकता के स्थान पर युगीन बना दे। साथ ही इतिहास के संघर्ष को आधुनिक अर्थ-व्यंजना प्रदान कर दें। इस अर्थ में मोहन राकेश का यह 'लहरों के राजहंस' नाटक सबसे सशक्त नाटक है।" समय मूल्याँकन की दृष्टि से सुरेश अवस्थी का मत भी उद्धृत है —"संभी देशों के नाटक साहित्य के इतिहास में विभिन्न युगों में जब भी श्रेष्ठ ऐतिहासिक नाटकों की रचना हुई है, तब नाटककारों ने प्राचीन कथानकों को नई दृष्टि से देखा है और उनको नई अर्थ व्यंजनाएँ दी हैं। चाहे ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व लिखी गई महान त्रासदियाँ हों, चाहे एलिजाबेथ-कालीन कमादियाँ और चाहे फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैंड और अमेरिका में

पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में लिखे गये नई शैली के ऐतिहासिक नाटक।'' इसी दृष्टि से **'लहरों के राजहंस'** नाटक की ऐतिहासिकता असंदिग्ध है और युगीन-भाव-बोध के अनुरूप इसमें कल्पना का समावेश हुआ है। अत: इसे कल्पना प्रधान ऐतिहासिक रोमांस अधिक तर्कसंगत ठहरता है।

10.7 लहरों के राजहंस : उद्देश्य अथवा प्रतिबोध

कोई भी रचनाकार किसी भी कृति की निरूद्देश्य सर्जन नहीं करता। प्रत्येक रचना में कोई-न-कोई उद्देश्य निहित होता हैं। यह उद्देश्य प्रत्यक्ष भी हो सकता है और अप्रत्यक्ष भी। लेखक रचना में स्वानुभूत सत्य की आत्माभिव्यक्ति करता है। लेकिन इसके साथ ही उसका कोई-न-कोई मुख्य उद्देश्य होता है। वह वातावरण, समाज और परिस्थितियों के आधार पर अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए कोई-न-कोई आधार ग्रहण करता है, जिस आधार पर वह कथावस्तु का ढाँचा तैयार करता हैं। **'लहरों के राजहंस'** नाटक के मसीहा मोहन राकेश की कृति है, इसमें भी उद्देश्य निहित है। इसके निहित उद्देश्य पर यहाँ हम विस्तार से चर्चा करेंगे।

'लहरों के राजहंस' में निहित उद्देश्य के बारे में डॉ० सुरेश अवस्थी का कहना है —**'लहरों के राजहंस'** में एक ऐसे कथानक का नाटकीय पुनराख्यान है जिसमें सांसारिक सुखों और आध्यात्मिक शन्ति के पारस्परिक विरोध तथा उनके बीच खड़े हुए व्यक्ति के द्वारा निर्णय लेने का अनिवार्य द्वन्द निहित है।'' इस द्वन्द्व के बारे में डॉ० अवस्थी जी आगे लिखते है—''इस द्वन्द्व का एक दूसरा पक्ष स्त्री और पुरूष के पारस्परिक सम्बन्धों का अन्त: विरोध है और यह अन्त: विरोध किसी युग-विशेष या व्यक्ति-विशेष का नहीं वरन् समस्त मानव जाति और युगों-युगों का है। यह अन्त: विरोध नन्द या सुन्दरी का ही नहीं, आज के स्त्री और पुरूष का भी है—उतना ही गहन और भयावहना। जीवन के प्रेम श्रेय के बीच एक कृत्रिम और आरोपित विरोध है जिसके कारण के लिए चुनाव कठिन हो जाता है और उसे चुनाव करने की स्वत्रन्ता भी नहीं रह जाती। चुनाव की यातना, ही इस नाटक की कथा-बीज और उसका केन्द्र बिन्दू है। धर्म-भावना से प्रेरित इस कथानक में उलझे हुए अनेक प्रश्नों का इस कृति में नये भाव-बोध के परिवेश में परिक्षण किया गया है। मोहन राकेश ने इसकी कथा का आधार ऐतिहासिक रखा है किन्तु उनका उद्देश्य आधुनिक मनुष्य के द्वन्द्व को चित्रत करना है। राकेश जी ने ऐतिहासिक परिवेश को आधार बनाकर प्रवृत्ति एवं निवृत्ति या पार्थिक एवं अपार्थिक मूल्य का जो संर्घष या द्वन्द्व चित्रित किया है, वह आधुनिक परिप्रेक्ष्य में आधुनिक मनुष्य के अन्त: द्वन्द का ही चित्रिण है। इसकी आधुनिकता पर विचार करते हुए **डॉ० जयदेव तनेजा** का कहना है—**'लहरों के राजहंस'** के राजहंस की आधुनिकता पर विचार करे तो हमें प्रतित होता है कि बौद्धकालिन ऐतिहासिक परिवेश (जो स्वयं भी आधुनिकता के तमाम अभिलक्ष्णों से भरा पड़ा है) में राकेश ने नन्द और सुन्दरी को जिस प्रकार से और जिस रूप में प्रस्तुत किया है वह मूलत: आधुनिक है इसकी आधुनिकता का मूल रहस्य **'ट्रीटमेन्ट'** और नाटककार के अपने वर्तमान से उसके गहरे **'कन्सर्न'** में छिपा है। नन्द का अन्त द्वन्द, तनवा, अकेलापन, संशय उसकी अस्थिरता, व्याकुलता, घुटन और जीवन के जगत में आसक्ति नन्द के चेहरे की एक-एक रेखा उसका उतार-चढ़ाव आधुनिक मनुष्य की स्थिति और उसकी नियति का प्रमाणित दस्तावेज है।''

अत: तनेजा जी की दृष्टि में भी राकेश जी ने आधुनिक मनुष्य के द्वन्द को व्यक्त किया है। जिस द्वन्द में से हर व्यक्ति को अपनी मुक्ति का मार्ग स्वयं तलाशना है। दूसरे के द्वारा खोजा हुआ मार्ग चाहे कितना भी श्रद्धापद हो, आकर्षक हो, परन्तु संवेदनशील व्यक्ति का समाधान नहीं कर सकता। इसी स्थिति का प्रकटीकरण लेखक गौतमबुद्ध और सुन्दरी के बीच नन्द की चेतना की द्वन्दआत्मक स्थिति की अभिव्यक्ति से करता है।

राकेश जी नाटकीय अन्तद्वन्द को आधुनिक परिवेश देने में सफल हुआ है। इस सम्बन्ध में डॉ० जयदेव तनेजा का कहना है—

"आधुनिक मनुष्य अन्दर ही अन्दर एक ही विदीर्ण जीवन जीने के लिए अभिशक्त है। अन्त विरोध, असंगति तनाव और कारण मानसिक यातना का यह अभिशाप लहरों से राजहंस का नन्द भी आज के व्यक्ति के तरह ह भोगता हैं और उसका विश्लेषण, प्रस्तुतीकरण राकेश आज के नाटककार के तरह ही करता है।"

अत: राकेश जी ने यहाँ ऐतिहासिक कथा के साथ ही ऐतिहासिक पात्रों, घटनाओं एवं स्थान के साथ आधुनिक द्वंद्व-ग्रस्त रूपाचित किया है जिससे नाटक ऐतिहासिक होने के साथ ही आधुनिक भी हो गया है जिसमें नाटकार ने एक युग-विशेष की कथा के माध्यम से युगों-युगों के द्वन्द्व को चित्रित कर दिया है।

वास्तव में प्रवत्ति एवं निवत्ति या पार्थिय एवं अपार्थिय में परस्पर विरोध इनमें से किसी एक के चुनाव क यातना, असमर्थता, द्वन्द युगों-युगों की समस्या है, किन्तु आधुनिक परिवेश में ये समस्याएँ कठिन एवं जटिल जिन्हें नाटककार ने युग-बोध के साथ अंकित किया है।

प्रस्तुत नाटक में कपिलवस्तु के राजकुमार नन्द के बौद्धमत से दीक्षित होने एवं उसकी पत्नी अनुप सुन्दरी के रूपाकर्षण में फंसे नन्द की कथा है। नाटक का कथानक द्वन्द के दो धरातलों पर सचरण करता है एक स्तर पर नन्द सुन्दरी के रूप जाल में फंसा है उससे मुक्ति चाहता है, दूसरी ओर बौद्धमत की पुकार क स्वीकार करता है, लेकिन वह न तो पूर्णतया पत्नी का ही त्याग कर पाया और न ही पूर्णरूप से बौद्धमत दीक्षित हो पाया। वह जबरन भिक्षुक बना दिया जाता है। जबरन उसके केश काट दिए जाते हैं, लेकिन वह फि भी सुन्दरी के पास लौटता है। वह सुन्दरी के अधूरे श्रृंगार को देखकर कहता है —"जिस सामर्थ्य औ विश्वास के बल पर जी रहा था, उसी के सामने मुझे असमर्थ और असहाय बनाकर फेंक दिया गया है।" यह अनुपम सुन्दरी की मान्यता एवं सोच टूट जाती है। उसकी सोच थी कि उसका पति नन्द कभी भी उसके सौन्द पाश से मुक्त होकर बौद्ध भिक्षु नहीं बन सकता। अत: यहाँ द्वन्द के दो धरातल हैं। यहाँ राकेश का उद्देश्य नन के द्वन्द को आधुनिक मनुष्य के द्वन्द से जोड़कर उसे उजागर करना रहा है और इस उद्देश्य में वह सफल भ हुआ है। यहाँ महत्व इस बात का नहीं है कि उसने बौद्ध मत को स्वीकार किया या नहीं; महत्व इस बात का कि उसकी चेतना द्वन्दग्रस्त रहती है जिसे रूपचित करना नाटककार का अभीष्ट रहा है। स्वयं राकेश जी कह भी हैं— "यहाँ नन्द एवं सुन्दरी की कथा एक असल मात्र हैं, क्योंकि मुझे लगा कि इसे समय में परिक्षेपि किया जा सकता है। नाटक का मूल अन्तर्द्वन्द उस अर्थ में यहाँ भी आधुनिक है जिस अर्थ में 'आषाढ़ का एक दिन' के अन्तर्गत है।"

'लहरों के राजहंस' के नन्द और सुन्दरी की कथा तो 'आधारमात्र' है। उसका वास्तविक उद्देश्य त सामयिक चेतनाओं अथवा आधुनिक मानव की द्वन्दग्रस्त चेतना का चित्रण करना है। नाटककार इतिहास क नहीं दोहराता वह तो इतिहास के माध्यम से आधुनिक परन्तु शाश्वत समस्याओं को चित्रित करता है। इस कारण नाटक में कथ्य को प्रतीकात्मक रूप दिया है ताकि उसके ऐतिहासिक पात्र, घटनाएँ, चरित्र आ आधुनिक संदर्भों को व्याख्यायित कर सकें।'

नाटक के द्वन्द्वग्रस्त मुख्य पात्रों में आधुनिक युग-बोध सहज ही मिल जाता है। नन्द सुन्दरी और श्यामाँ में जो तड़प, व्याकुलता एवं मुक्ति की ललक है, आधुनिक द्वन्दग्रस्त मानव में देखी जा सकती है। उदाहरणत श्यामाँग का संवाद —

- "बस कह दिया, तो हो गया! पत्तियाँ रचामाँ के लिए छोड़ दो! श्यामाँग से पत्तियाँ न सुलझी, तो कामोत्स नहीं होगा।... श्वेताँग कहता है कुछ सोचो नहीं।... पर सोचना न सोचना बस की बात है... पिछले बसंत में आम कैसे बैराये थे! पेड़ों की डालियाँ अपने-आप हाथों पर झुक आती थीं।... परन्तु तब यहाँ कामोत्सव का आयोजन नहीं किया गया। आयोजन किया गया है इस बार...आम के वृक्षों ने भिक्षुओं का वेश धारण कर रखा है! ... कल प्रात: देवी यशोधरा भिक्षुणी के रूप में दीक्षा ग्रहण करेगी और यहाँ ... यहाँ रात भर नृत्य होगा। आचानक चलेगा।"

मुक्ति की आकांक्षा से वह कहता है — "नहीं ... मैं सोच...सोच कुछ भी नहीं रहा। चेष्टा कर रहा हूँ कि किसी तरह ... किसी तरह से सुलझ जाएँ और ...।"

जब सुन्दरी श्रृंगार कर रही होती है और नन्द दर्पण को हाथों में लेकर सामने खड़ा होता है तब नेपठच से बौद्ध भिक्षुओं का यह समवेत स्वर सुनाई देता है —

'धम्मं शरणम् गच्छामि,
संघं शरणम् गच्छामि,
बुद्धं शरणम् गच्छामि...।'

इस बुद्धमत के इस स्वर से नन्द-प्रभावित होता है और उसके हाथों का दर्पण हिलकर टूट जाता है। तभी सुन्दरी पूछती है—"जानना चाहती हूँ कि क्या दर्पण का टूटना सचमुच अकारण ही था... या उस समय आप कोई बात सोच रहे थे?" उसके मन के संशय पर पर्दा हटा देता है। आधुनिक सभी पुरूषों के संबधों में भी यह संशयग्रस्तता देखी जा सकती है। एक तरह से यह आधुनिक नारी का विद्रोही-स्वर है।

नाटक के अन्त में नन्द एवं सुन्दरी का अन्तर्द्वन्द आधुनिक व्यक्ति का ही अन्तर्द्वन्द है। नन्द कहता है — "जानता था कि वह प्रवृत्ति आत्म-विनाश की है, परन्तु उस प्रवत्ति को मैं रोक क्यों नहीं सका? क्यों मैने जान-बूझकर आत्म-विनाश को निमंत्रित किया, और फिर स्वयं ही आत्मरक्षा के लिए उस तरह लड़ गया?"

क्षत-विक्षत हम दोनों हुए ... पलायन भी एक तरह से दोनों ने ही किया ...। क्यों? आत्म-विनाश और आत्मरक्षा, दोनों प्रवतियों के बीच एक साथ मैं कैसे किया और क्यों? और इस तहर जीकर क्या सुख मिला? और क्या यह सुख कहीं की खोज थी जिसने उस तरह जीने के लिए विवश किया?" इतना ही नहीं वह और स्पष्ट कहता है —

"या यह केवल मन का विद्रोह था ... बिना विश्वास के अपने ऊपर लादे जाने के लिए? या कि इसलिए कि इस समय मैं इतना सत्वहीन क्यों हो गया कि भिक्षु आनन्द के कर्तनी उठाने पर चिल्ला नहीं सका कि (यह विश्वास मेरा नहीं है) मैं तुम्हारा या किसी और का विश्वास ओढ़कर नहीं जी सकता, नहीं जीना चाहता।"

अत: बौद्धमत में उसका विश्वास नहीं झलकता, उसकी चेतना द्वन्द्वग्रस्त है। एक और बौद्धमत है और एक ओर सुन्दरी। नन्द फिर चाहता है —

"इतना समझ में आता है कि जिसे जाने से जीवन धीरे-धीरे चुक जाता है। कि हर उन्मेष का परिणाम एक निमेष है और काल के विस्तार में निमेष और उन्मेष दोनों अस्थाई हैं। सुख सुख नहीं हैं, कहीं पर फिसलते हुए पाँव का एक स्पन्दन मात्र है, मात्र रेत में डूबती हुई बूंद की एक अकुलाहट ... परन्तु वह स्पन्दन, वह अकुलाहट ही क्या जीवन का पूरा अर्थ, जी लेने का कुल पुरस्कार नहीं हैं?... आकाश में कहीं लटकने हुए नीले काले बिन्दु-कोरे सिद्धान्तों के वे अधिक स्थाई, अधिक सत्य कैसे हैं?"

नन्द फिर कहता है 'उन्होंने मेरे केश कटवा दिये तो क्या मैं व्यक्ति रूप में अधिक सत्य हो गया?' वह फिर प्रश्न उठाता है — 'जिह्वा कटवा देते, हाथ-पैर कटवा देते, तो और अधिक सत्य हो आता? ... कटवा ही दिए, तो उससे अन्तर क्या पड़ता है? कुछ ही दिनों में फिर नहीं उग आएँगे? अन्तर पड़ता यदि मेरा हृदय बदल जाता, आँखे बदल जाती।' वह फिर सुन्दरी से कहता है— 'मेरे हृदय में तुम्हारें लिए अब भी वही अनुराग है, आँखों में तुम्हारें रूप की अब भी वही छाया है।' अत: वह केश कटने के बाद भी सुन्दरी के रूपाकर्षण को नहीं छोड़ पाया है और बौद्धमत को स्वीकार भी नहीं कर पाया है। उसका द्वन्द आज के आधुनिक मानव का द्वन्द है, बल्कि युगों-युगों तक भी मानव चेतना का द्वन्द है। उसके प्रश्न आधुनिक मानव के प्रश्न है — "अब मुझे जाकर उनके कई-कई प्रश्न पूछने होंगे ... जीने की इच्छा को कितने-कितने प्रश्नों के एक साथ घेर लिया है। व्याघ्र से लड़कर भी मन को शान्ति नहीं मिली ... लगता है अभी और लड़ना है, बहुत लड़ना है ... ऐसे किसी से जिसके पास लड़ने के लिए भुजाएँ नहीं हैं। ... मन में मृत्यु का भय है ... किसी भी प्रकार की मृत्यु का ... परन्तु उस भय में साथ एक आकर्षण भर दिया गया है। अस्तित्व और अनस्तित्व के बीच मेरी चेतना को एक प्रश्न चिन्ह ... केवल एक प्रश्न चिन्ह बनाकर छोड़ दिया गया है। क्यों ... पहले इसी प्रश्न को उत्तर मुझे उनसे जानना है ... आज भी ... और अभी ...।"

नन्द शुरू से अन्त तक द्वन्द्वग्रस्त रहता है। उसकी द्वन्दग्रस्त चेतना को उजागर करना ही राकेश जी का उद्देश्य रहा है। यहाँ ऐतिहासिक कथानक के माध्यम से आधुनिक स्त्री-पुरूष के संबंधों की पड़ताल कर उन्हें अभिव्यक्त किया गया है। इसी सन्दर्भ में डॉ० जयदेव तनेजा का कहना हैं —

"नन्द और सुन्दरी के माध्यम से राकेश ने जिस तरह औरत और मर्द के आपसी रिश्ते का रेशा-रेशा उधेड़ा है, उनके संबंधों को जैसी निर्ममता और निष्ठुरता से विश्लेषित किया है, वह आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि का ही परिणाम या प्रमाण हैं।

राकेश जी ने स्त्री-पुरूष के खोखले सम्बन्धों की अभिव्यक्ति दी है। उन्होंने यह भी अभिव्यक्ति किया है कि एक के बिना दूसरे का जीवन अपूर्ण है। तभी दो सुन्दरी कहती है—"वहाँ वह सुना कमलताल ... यहाँ कक्ष का यह सूनापन... लगता है आज घर अपना घर नहीं रहा...।"

आज की जिन्दगी का यह सूनापन स्त्री-पुरूषों की जिन्दगी की नियति बना गया है। स्त्री कहाँ-कहाँ पुरूष कहाँ-कहाँ? कुछ पता नहीं। अगर साथ भी है तो खालीपन महसूस करते हैं। होने को भी न होना ही मान लेते हैं। यह एक नया 'कल्चर' आ रहा है जिस ओर नाटककार यहाँ इंगित कर रहा है। स्त्री और पुरूष दोनों ही बाह्य सुन्दरता को ही पसन्द करते हैं। तभी तो नाटक में केश कटवाने पर भी नन्द अपने केश वापिस लेना चाहता है, क्योंकि उनकी पत्नी को उन केशों की आवश्यकता है। नन्द का कहना है—

"उन्होंने कहा कि ... वे अपने केशों की खोज में जा रहे हैं। जाकर तथागत से पूछना चाहते हैं कि उन्होंने उनके केशों का क्या किया? और यदि कुछ नहीं किया, तो क्या उनके केश उन्हें लौटाये जा सकते है? उनकी पत्नी को उनके केशों की आवश्यकता हैं ...।"

नन्द यह सब इसलिए कहता है, क्योंकि सुन्दरी नन्द को केश कर्तित देखकर चीख पड़ती है और उसका मनस्ताप (मन का दुख:) फूट पड़ता है — "इतना ही तो समझ पाते हैं ये लोग... बस इतना ही तो इनकी समझ में आ पाता है।"

उपर्युक्त संवाद से आधुनिक मनुष्य का नारी के प्रति दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। वैसे गम्भीरता से सोचा जाए तो युगों-युगों से ही पुरूष प्रधान समाज का नारी के प्रति यही दृष्टिकोण रहा है जो नन्द का सुन्दरी के प्रति रहा है। नन्द सुन्दरी के रूप पर ही आकर्षित है और नारी के रूप पर आकर्षित होना मनुष्य की युगों से ही वृत्ति रही है। वह नारी की हार्दिक भावनाओं को नहीं समझता वरन् वह यही समझता है कि स्त्री भी रूप सौन्दर्य और यौवन की प्यासी है। इसलिए उससे प्रेम करती है जबकि सत्य यह नहीं है। अगर सत्य यहीं होता तो सुन्दरी केश कर्तित नन्द को देखकर यह नहीं कहती कि ये लोग बस इतना ही समझते हैं। पुरूष ही क्या स्त्री की भी तो यही मानसिकता है कि पुरूष का प्रेम पाने के लिए उसे रूपाकर्षण में ही बांधकर रखा जाए। इसलिए सुन्दरी देवी यशोधरा को लांछित करती है कि तुमने आकर्षण होता तो गौतम बुद्ध राजकुमार सिद्धार्थ ही रहते बौद्ध न बनते। वह कहती है — "परन्तु राजकुमार सिद्धार्थ आज गौतम बुद्ध बनकर आए, इसका श्रेय भी तो देवी यशोधरा को है।" अर्थात् वह अपने रूपाकर्षण में बांधती तो वह बंधकर ही रहते, गौतम बुद्ध न बनते। गौतम बुद्ध बनकर नदी तट पर लोगों को उपदेश दे रहें होते? बात बहुत साधारण-सी है अलका! नारी का आकर्षण पुरूष को पुरूष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।"

आधुनिक नारी पाश्चात्य प्रभाव से देह सुख, भौतिक सुख को ही सबसे बड़ा सुख मानती है। नायिका सुन्दरी भी भौतिक सुख को ही सबसे बड़ा सुख मानती है। नायिका सुन्दरी भी भौतिक सुख को ही सब कुछ मानती है, जो मिथ्या और भ्रांति है। इस सन्दर्भ में डॉ० सुरेश अवस्थी का कहना — "सुन्दरी के रूपपाश में बंधे हुए अनिश्चित, अस्थिर और संशयी मन वाले नन्द की यही स्थिति होती कि नाटक का अन्त होते-होते उसके हाथों में भिक्षा पात्र होता और धर्म-दीक्षा में उसके केश काट दिए जाते।"

एक और बात हैं कि आधुनिक नारी अपने पति को जबरन बाँधकर नहीं रखना चाहती। अगर उसका पति उससे खुश नहीं हैं तो वह उसे मुक्त करने में हिचकती नहीं। इस नाटक की सुन्दरी भी नन्द को मुक्त कर देती है। नाटक में जब अलका नन्द को सूचना देती है कि गौतम बुद्ध द्वार पर भिक्षा लेने आए थे, किन्तु किसी ने भिक्षा नहीं दी इसलिए वे लौट गए। यह सुनकर नन्द क्षुब्ध और अस्थिर हो गया। तभी सुन्छरी पूछती है कि क्या सोच रहे हो। नन्द कहता है कि बुद्ध से क्षमा याचना के लिए मैं जाना चाहता हूँ। सुन्दरी उसे आज्ञा दे देती है, मुक्त कर देती है। अत: यह आधुनिक स्त्री-पुरूष का युगबोधपरक अंकन है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि '**लहरों के राजहंस**' नाटक में राकेश जी का मूल उद्देश्य युगों-युगों से मानव की प्रवृति एवं निवृति के बीच द्वन्द्वग्रस्त चेतना को उजागर करना है और साथ ही पुरूष प्रधान मानसिकता का नारी के प्रति दृष्टिकोण भी व्यक्त करना है। यदि यहीं नहीं, "आधुनिक नारी की विद्रोहात्मक भावना को भी उजागर करना है। संदेहवादी और नास्तिक होने से भी नहीं हिचकिचाती। यहीं आकर आधुनिकता बुद्धिवाद से जुड़ जाती है और मनोविश्लेषण, अस्तित्ववाद, विकासवाद आदि सब इसमें अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। सम्भवत: इसलिए अवचेतन, ग्रंथियाँ, कुंठाएँ, अकेलापन, अजनबीपन, ऊब, विसंगति, संबंधों की जटिलता, उदासी और सम्प्रेसहीनता आदि को आधुनिकता के लक्षणों के रूप में माना जाने लगा है।" इस प्रकार आधुनिकता के लक्षण हैं— मानव के अवचेतन मन में ग्रंथियाँ, कुंठाएँ, अजनबीपन, अकेलापन, ऊब, विसंगति, संबंधों की जटिलता, उदासी और सम्प्रेषणहीनता आदि। आधुनिकता से ही संबद्ध यह भी एक मूलभूत तत्व है कि देश-काल के साथ सचेतन मन की गहरी और तीव्र अनुभूति और यह अनुभूति पूर्णतया से वर्तमान परिस्थितियों को स्वीकार करके समसामयिक मुहावरें में सहज कलात्मकता से अभिव्यक्त हो जाए। इस

आधुनिकता को निरूपत करने वाली दृष्टि के सामने जो समस्या आती है उसके बारे में विपिन अग्रवाल क कहना है— "आधुनिकता की मुख्य समस्या विषम वस्तु नहीं है... आधुनिकता की मुख्य समस्या अभिव्यक्ति की है।

अत: आधुनिकता का संबंध विषय से न होकर निरूपित करने वाली दृष्टि से है। आधुनिकता के संबंध मे स्वयं मोहन राकेश का मत है— "आधुनिकता मन का एक ऐसा व्यापार (प्रकिया) है जो इसकी शक्तियों को एक विशिष्ट दिशा प्रदान करता है और (वर्तमान) युग की घटनाओं तथा विशेषताओं के प्रकाश में वस्तुओं को देखने और उन्हें व्याख्यायित करने की दृष्टि देता है।" अत: जिस प्रकार चित्रकार हुसैन के रामायण पर आधारित राम, सीता, हनुमान आदि पौराणिक पात्रों के चित्र आधुनिक या प्राचीन ऐतिहासिक चित्र नहीं कहलाते, ठीक उसी प्रकार इतिहास-पुराण की कथावस्तु या पुरातन पाठों को लेकर आधुनिक दृष्टि से लिखा गया **'लहरों के राजहंस'** नाटक भी ऐतिहासिक-पौराणिक न होकर आधुनिक ही कहलाएगा। इस संदर्भ में डा० जयदेव तनेजा का कहना है—"इसी दृष्टि से यदि **'लहरों के राजहंस'** की आधुनिकता पर विचार करें तो हमें प्रतीत होता है कि बौद्धकालीन ऐतिहासिक परिवेश (जो स्वयं भी आधुनिकता के तमाम अभिलक्षणों से भरा पड़ा हैं) मैं राकेश ने नन्द और सुन्दरी को जिस प्रकार से और जिस रूप में प्रस्तुत किया हैं, वह पूर्णत: आधुनिक है। इसी आधुनिकता का मूल रहस्य नाटक के **'ट्रीटमेंट'** और नाटककार के अपने वर्तमान से उसके गहरे **'कन्सर्न'** में छिपा है। नन्द का अन्तर्द्वन्द्व, तनाव, अकेलापन, संशय उसकी अस्थिरता, व्याकुलता, घुटन और जीवन-जगत में उसकी आसक्ति-नन्द के चेहरे की एक-एक रेखा, उसका उतार-चढ़ाव आधुनिक मनुष्य की स्थिति और उसकी नियति का प्रमाणिक दस्तावेज है। नन्द और सुन्दरी के माध्यम से राकेश ने जिस तरह औरत-मर्द के आपसी रिश्ते का रेशा-रेशा उधेड़ा है, उनके संबंधों को जैसी निर्ममता और निष्ठुरता से विश्लेषित किया है—वह आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि का ही परिणाम या प्रमाण है।"

राकेश जी ने यहाँ अलका-श्यामाँग के रोमानी संबंधों के समकक्ष नन्द-सुन्दरी के आधुनिक बौद्धिक प्रेम-प्रसंग को पूरी नाटकीयता एवं काव्यात्मकता के साथ प्रस्तुत किया है। इसके प्रमुख चरित्र नन्द, सुन्दरी, गौतम बुद्ध ऐतिहासिक हैं, किन्तु इनका चरित्राकंन पूर्णत: आधुनिक हैं। ये जटल, संश्लिष्ट एवं व्यक्ति-वैचित्र्य सम्पन्न चरित्र हैं, जो इन्हें आधुनिक चरित्र बना देती है। इनके मानसिक उद्वेग, अर्द्वन्द, तनाव कुंठाएँ, व्याग्रता और संशय इन्हें आधुनिक धरातल पर लाकर खड़ा कर देते हैं। वास्तव में मनुष्य को मनुष्य की दृष्टि से देखना ही आधुनिक दृष्टिकोण है। इसी कारण राकेश ने प्रस्तुत नाटक के सभी पात्रों को मनुष्यता के धरातल पर प्रस्तुत किया है। यहाँ तक कि इतिहास में देवत्व के स्थान पर प्रतिष्ठित गौतम बुद्ध को भी नाटककार ने सामान्य मनुष्यता के स्तर पर लाकर खड़ा कर दिया है। अत: यह कथन सिद्ध होता है कि जो जितना अधिक मनुष्य है, वह उतना ही अधिक आधुनिक है। इस नाटक में यह उक्ति सार्थक भी हैं, क्योंकि नन्द को श्यामाँग और सुन्दरी को अलका से अभिन्न मैत्रीपूर्ण संबंध बनाने में ऊँचे-ऊँचे या छोटे-नीचे या छोटे-बड़े की दीवारें बीच में नहीं खड़ा होती, बल्कि वे मानवीय स्तर पर संबंधों को खड़ा करते हैं। पात्रों के चरित्र-चित्रण में राकेश ने आधुनिक दृष्टिकोण को अपनाया है। इस विषय पर डॉ० जयदेव तनेजा का कहना है—

"चरित्रांकन की दृष्टि से श्यामाँग के अस्पष्ट, उलझे और ऊल-जलूल संवादों में विसंगति को बोध भी लेखक के आधुनिकता बोध का ही परिणाम लगता है। आधुनिक नाटक में घटनाएँ बाहर कम, भीतर अधिक घटित होती है। घटनाओं की यह अन्तर्मुखता आधुनिक नाटक की एक मुख विशेषता है। इसी विशेषता को अपने ढ़ंग से रेखांकित करते हुए मोहन राकेश के **'लहरों के राजहंस'** की पहली भूमिका में कहा है कि

"नाटक का मूल अन्तर्द्वन्द उस अर्थ में यहाँ भी आधुनिक है जिस अर्थ में '**आषाढ़ का एक दिन**' के अन्तर्गत है। इसे आधार बनाकर डॉ० प्रेमपति ने व्यंग्य करते हुए प्रश्न उठाया है—अर्थात् वर्तमान की संगति अन्तर्द्वन्द में ही है और यही आधुनिकता है। क्या नाटकों के ऐतिहासिक संदर्भ में राष्ट्रवाद की जगह अन्तर्द्वन्द रख देने मात्र से नाटक रोमनी परम्परा से निकलकर आधुनिक नाटक बन जाते हैं?" तनेजा जी आगे लिखते हैं कि—

> "काम का विचार हैं कि आधुनिक मनुष्य अन्दर-ही-अन्दर एक सिधा-विकीर्ण जीवन जीने के लिए अभिशप्त है। अन्तर्विरोध, असंगति, तनाव और अकारण मानसिक यातना का यह अभिशाप '**लहरों के राजहंस**' का नन्द भी आज के व्यक्ति की तरह ही भोगता है और उसका विश्लेषण प्रस्तुतीकरण राकेश आज के नाटककार की तरह ही करता है।... स्ट्रिडबर्ग नाटक में आधुनिकता की मूलशर्त 'मानसिक प्रक्रिया का विश्लेषण' मानते हैं। राकेश ने इस मूल शर्त को अपने प्रत्येक नाटक की आधारशिला बनाया है।"

सदैव से ही संशय अथवा संदेह ने मानव-जीवन में एक विशेष भूमिका निभाई है। आधुनिक युग में तो इस भाव की केन्द्रीय भूमिका हो गयी हैं। इसी कारण आज अनेक विद्वान संशय को आधुनिकता का एक लक्षण ही नहीं, बल्कि एक मूल्य मानने लग गए हैं। यह कहना गलत न होगा कि पौराणिकता में जो स्थान श्रद्धा और विश्वास का था, वहीं स्थान अब आधुनिक जीवन में संदेह अथवा संशय का हो गया है। इस बात को डॉ० जयदेव तनेजा भी स्वीकार करते हैं— "इसलिए '**लहरों के राजहंस**' में सुन्दरी के प्रेम-प्रसंग में 'श्रंगाराभास' की स्थिति वास्तव में इसके आधुनिक होने का ही प्रमाण है। संशय ही वह धुरी हैं जिस पर नन्द और सुन्दरी घूम रहे हैं। नन्द का स्वयं को चौराहे पर खड़ा नंगा व्यक्ति समझना और लीलती दिशाओं को खुद-अपने-अपने ध्रुवों पर डगमगाते हुए अनुभव करना, उसे प्राचीन दार्शनिक की अपेक्षा आधुनिक वैज्ञानिक के अधिक निकट ले आता है जो यह मानता है कि प्रत्येक ज्ञान का आरम्भ बिन्दु श्रद्धा नहीं संशय हैं।"

संशय ही नहीं आधुनिक-युग में तो व्यंग्य ने भी विशेष स्थान बना लिया है। इस बात को स्वीकारते हुए डॉ० शेरजंग गर्ग अपनी '**स्वातन्त्र्योतर**' हिन्दी कविता में व्यंग्य नामक पुस्तक में लिखते हैं—"आज का जीवन निश्चय ही विभिन्न प्रकार की विसंगतियों और विषमताओं द्वारा विसंजित किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में इस जीवन के भोक्ता मनुष्य की अभिव्यक्ति में तिक्तता, कडुवाहट और कसैलेपन का आ जाना अस्वाभविक नहीं है। बहुत गहरे में चोट खाया हुआ मनुष्य जब बोलेगा तब व्यंग्य ही बोलेगा, जब कुछ करेगा तो प्रहार ही करेगा।" ये प्रहार, व्यंग्य '**लहरों के राजहंस**' के पहले अंक में सुन्दरी द्वारा यशोधरा और गौतम बुद्ध पर देखे जा सकते हैं और तीसरे अंक में गहरी चोट खाये नन्द और सुन्दरी के तीखे, कडुवे संवाद (व्यंग्य) आधुनिक युग परिवेश को दिखाने के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरण के रूप में सुन्दरी के निम्न संवाद—

> "अभिप्राय यही हैं कि देवी यशोधरा का आकर्षण यदि राजकुमार सिद्धार्थ को बांधकर अपने पास रख सकता, तो क्या वे आज राजकुमार सिद्धार्थ ही ना होते? गौतम बुद्ध बनकर नदी-तट पर लोगों को उपदेश दे रहे होते।" "क्यों यह सच नही? राजकुमार सिद्धार्थ क्यों चुपचाप एक रात घर से निकल पड़े थे? बात बहुत साधारण सी है। अलका! नारी को आकर्षण पुरूष का पुरूष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।"

सुन्दरी तो गौतम बुद्ध पर भी व्यंग्य प्रहार करती हुई कहती है—

"लोग कहते हैं कि गौतम बुद्ध ने बोध प्राप्त किया है, कामनाओं को जीता है, पर मैं कहती हूँ कि कामनाओ को जीता जाए, यह भी क्या मन की एक कामना नहीं है।"

एक और उदाहरण देखिए—

"कोई गौतम बुद्ध से कहे कि कभी कमलताल के पास आकर उनसे भी निर्वाण और अमरत्व की बात कहें। ये एक बार चकित दृष्टि से उनकी और देखेंगे, फिर कांपती हुई लहरें जिधर ले जाएँगी, उधर को जाएँगे शायद उस दिन एक बार गौतम बुद्ध का मन नदी तट पर जाकर उपदेश देने को नहीं होगा। मैं चाहूँगी उस दिन...।"

नाटक के अंत में नन्द के संवाद भी इसी कोटि के हैं—

"कौन कह सकता हैं कि भ्रांति वस्तुत: किसे है, उन्हें या मुझे। उन्होंने कहा, मैं, मैं नहीं हूँ, तुम तुम नहीं हो, वह वह नहीं है...सब किसी उँगली से आकाश में बनाए गए चित्र हैं जो बनते-बनते साथ ही मिटते जाते जिनका होना न होने से भिन्न नहीं हैं ...पर मैं पूछता हूँ कि होने-न-होने में कोई अन्तर नहीं, तो मेरे केश क कटवा दिए?"इन व्यंग्य प्रहारों से एक बात तो स्पष्ट है कि राकेश जी ने यहाँ व्यंग्य का प्रयोग केवल संवादों रूप में हीं नहीं बल्कि नाटकीय स्थितियों के भीतर से 'नाट्य विडम्बना' को सार्थक ढंग से उभारने के लिए किया है।

इस सन्दर्भ में आल्टेयर कामू 'द मिथ ऑफ सिसिफ्स' में कहते हैं—"विसंगति का सही बोध मे अन्तर तीन सत्यों को जन्म देता है। जीवन के प्रति नन्द की संसक्ति उसे बड़े भाई युग पुरूष गौतम बुद्ध क अवहेलना भी करा देती है और अपनी स्वाधीनता के लिए वह त्याग से ही नहीं अपनी पत्नी सुन्दरी से भी अलग हो जाता है। वह एक स्तर पर निवृत्ति एवं प्रवत्ति दोनों ही दर्शनों का विद्रोह भी करता दिखाई देता है। इसलि वह नाटकांत में अपने कटे हुए केश सुन्दरी के लिए लेने के लिए वापिस गौतमक बुद्ध के पास जाने के लिए कहता है—

- "तब प्रश्न उन्होंने पूछे थे,..अब मुझे जाकर उनसे कई-कई प्रश्न पूछने होंगे। ...जीने की इच्छा के कितने-कितने प्रश्नों ने एक साथ घेर लिया है। व्याघ्र से लड़कर भी मन को शान्ति नहीं मिली,..लगता है अभी और लड़ना है, बहुत लड़ना है... ऐसे किसी से जिसके पास लड़नें के लिए भुजाएँ नहीं है।...मन मे मृत्यु का भय है,.. किसी भी प्रकार की मृत्यु का... परन्तु उस भय में एक साथ आकर्षण भर दिया गय है। अस्तित्व और अनस्तित्व के बीच मेरी चेतना को एक प्रश्नचिह्न,..केवल एक प्रश्नचिन्ह बनाकर छोड़ दिया गया है। क्यों,..पहले इसी प्रश्न का उत्तर मुझे उनसे जानना है,.. आज ही और अभी,..।"

अत: नाटक के शुरू से अन्त तक नन्द की स्वतन्त्रता और प्रवति एवं निवृति मार्ग के वरण का संघर्ष निरन्तर चलता रहता है और राकेश जी उनकी इस संघर्ष एवं द्वन्द की चेतना को 'लहरों के राजहंस' नाटक में रूपायित कर देते हैं।

डॉ० जयदेव तनेजा का मानना हैं कि राकेश जी का नारी विषमक दृष्टिकोण आधुनिकता की दृष्टि केवल एक ही बात मोहन राकेश के विरूद्ध जाती है और वह है उनका नारी-विषयक दृष्टिकोण। सुन्दरी को भोग के प्रतीक रूप में चित्रित करके राकेश ने मध्यकालीन दृष्टि का परिचय दिया हैं। आधुनिकता-विरोधी इस दृष्टिकोण का प्रमाण हमें उनके अन्य नाटकों में भी मिल जाता हैं। घोर अहंकारी पुरूष के निरंकुश व्यापक-अधिकारों के प्रति राकेश सदैव पूर्वाग्रही रहे हैं। इस एक बिन्दु को छोड़कर राकेश का जीवन और साहित्य नि:सन्देह आधुनिकता के रक्त-मांस, मज्जा और प्राणत्व से निर्मित है।"

आधुनिकता की अवधारणा के मूल में यह बात है कि आधुकिता का अन्त नहीं होता, वह एक प्रक्रिया हैं जो निरन्तर प्रहवान है। इसी कारण नाटक में नन्द के द्वन्द का अन्त कहीं भी नहीं है। नन्द, सुन्दरी से कटकर चला जाता है, वह फिर लौट आता है। यहाँ भी अन्त नहीं है, वह फिर कुछ प्रश्नों के उत्तर पूछने के लिए बुद्ध के पास आता है। अत: उसका द्वन्द अन्तहीन है। इस विषय में डॉ० इन्द्रनाथ मदान का कहना है—"इस नाटक का अन्त अन्तहीन ही हो सकता है और इस अन्तबोध में आधुनिकता की चुनौती है जो अन्त को निश्चित नहीं होने देती, अन्त को नए बिन्दुओं की खोज में नाटक के बाहर फेंक देती है। इस तरह, आधुनिकता की प्रकिया बन्द होने से इन्कार करती है।"

रस की दृष्टि से आधुनिकता के सन्दर्भ में इस नाटक पर विचार करते हुए जयदेव तनेजा ने कहा—"दर्शक-पाठक पर पड़ने वाले अन्तिम प्रभाव की दृष्टि से कोई भी रचना तब आधुनिक होती है जब वह उसे बैचेन और परेशान करती है, गहराई से झकझोर कर उसकी समाधिस्थता भंग करके उसे सोचने पर विवश करती है। यहीं आकर आधुनिक नाटक के सन्दर्भ में तनाव, द्वन्द और संघर्ष का तत्व प्रासंगिक हो जाता है और **'रस'** तथा **'आनन्द'** निरर्थक और अप्रासंगिक इसलिए **'लहरों के राजहंस'** में **'रस'** का शोधार्थी जब **'रसाभास'** की उपलब्धि कर हताश और परेशान होता है तो वास्तव में वह प्रकारान्तर से इस नाटक के आधुनिक होने का ही प्रमाण प्रस्तुत करता है" **'नाट्य-शास्त्र'** के रचयिता भारतमुनि की दृष्टि से देखा जाए तो इस तीन अंकीय नाटक की वस्तु संरचना और अन्य रंग-धर्मिताएँ, दृश्य-योजना, क्रिया-कलाप, संधिया, पात्र-सृष्टि कथानक संगठन आदि आधुनिक यथार्थवादी ठहरते हैं, क्योंकि इसे नाटककार ने परम्परागत नाट्य-रूढ़ियों से मुक्त आधुनिक परिवेश में निर्मित किया हैं। स्वयं नाटककार का कहना है—"जातीय चेतना के नाम पर अपने संस्कारों को रूढ़ बनाना या अन्तर जातीय चेतना के नाम पर विजातीय संस्कार ख्वाह-मख्वाह आरोपित करना, दोनों ही गलत बाते हैं।" इसी कारण उनके नाटकों की आधुनिकता भारतीय और पाश्चात्य तत्वों के श्रेष्ठतम् जीवन्त अंशों के अदभुत समन्वय से उत्पन्न होती है। भारतीय नाटकों के बारे में राकेश की धारणा थी कि "हम प्रयोगशीलता के नाम पर अनुकरणात्मक प्रयोग करते हुए किन्हीं वास्तविक उपलिब्धयों तक नहीं पहुँच सकते, केवल उपलब्धियों के आभास से अपने को अपनी अग्रगामिता का झूठा विश्वास दिला सकते है। यह दृष्टि बाहर से रंगमंच को एक **'नया'** और **'आधुनिक'** रूप देने की हैं अपने निजी जीवन और परिवेश के अन्दर से रंगमंच की खोज की नहीं।" राकेश जी इस उक्ति पर खरे उतरते हैं। उन्होंने अपने सभी नाटकों में निजी जीवन एवं परिवेश के अन्दर से आधुनिक भारतीय रंगमंच की खोज की पूरी कोशिश की है।

अत: **'लहरों के राजहंस'** की मूल संवेदना युगों-युगों से प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्गों के बीच मानव की द्वन्दग्रस्त चेतना को पात्रों एवं उनके संघर्ष के द्वारा नाटककार राकेश ने संपूर्णत: आधुनिक बोध के साथ अभिव्यक्त किया है।

10.8 कथोपकथन अथवा संवाद-योजना

संवाद नाटक के प्राण होते हैं। संवादों के अभाव में नाटक, नाटक कहलाने का अधिकार ही नहीं रखता। पात्रों के संवादों से ही नाटक के कथानक का विकास होता है और नाटक का क्रिया-व्यापार या घटनाएँ एक-दूसरे से परस्पर संयोजित होती हैं। नाटक में नाटककार अपनी ओर से कुछ भी नहीं कह सकता। उसे जो कुछ कहना है, जो भी उद्देश्य प्रतिपादित करना है, वह पात्रों के संवादों से ही संप्रेषित होता है।

संवादों से ही नाटक के कथ्य को विकास एवं गति मिलती हैं। उनमें से पात्रों के चरित्रों का स्वरूप तैर होता है और उनको विकास मिलता है। पात्रों के संवाद ही नाटक के कथ्य एवं घटनाओं को व्यक्त करते प्रत्येक पात्र की प्रकृति और उनके व्यक्तित्व को भी उजागर करते हैं। नाटकीय संवादों की विशेषताओं के वि में डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का कहना है— "अरस्तु ने ड्रामा का एक तत्व '**भाषा**' बताया है। वे शब्द पात्रों के रूप में मंच पर अभिनेता बोलता है। यह वह माध्यम है, जिसके द्वारा पात्र अपने विचार और अन्त नाटक के विचार दर्शक तक सम्प्रेषित करते हैं" वास्तव में संवाद ही वह माध्यम है जिसके द्वारा नाटक विचार दर्शक तक सम्प्रेषित होते हैं। आगे डॉ० लाल का कहना है— "भाषा कथोपकथन के ही रूप में नाट में मूलत: व्यवहृत होती है। फलत: स्पष्टता, सीधेपन के अतिरिक्त इसे मनोरंजक होना आवश्यक है, वरन दर्शक के लिए उसे ग्रहण करना रूचिकर ही न हो सकेगा। भाषा को जीवन और चरित्र की आत्मा को पकड़कर चलना होता है। भाषा प्रयोग के लिए नाटककार को कवि की दृष्टि चाहिए। वहीं गति, वहीं पैठ।"

अत: नाटक के संवाद सरज, सहल स्वाभाविक और पात्रानुकूल होने चाहिए। उनमें उनकी स्थिति, प ओहदे, एवं मनोदशा के उपयुक्त ही शब्दों का प्रयोग किया गया हो।

हिन्दी नाट्य-जगत में राकेश जी नाटक के मसीहा हैं। उन्हें उद्‌भुत नाट्य-कौशल प्राप्त था। उन्हें अपनी कौशलता का परिचय अपने प्रथम नाटक '**आषाढ़ का एक दिन**' में ही दे दिया था। उन्होंने संवाद-योजना '**आषाढ़ का एक दिन**' में रची उससे नाट्य-जगत सर्वपरिचित है। '**लहरों के राजहंस**' नाट की संवादीय संरचना भी अत्यन्त सशक्त, मार्मिक एवं काव्य गुणों से भरपूर है। राकेश जी की संवादीय संरचना की प्रसाद जी की संवादीय संरचना से तुलना करते हुए डॉ० सुरेश अवस्थी का कहना है—"नाटक ('लहरों के राजहंस') के संवाद सुंगठित, प्रयोजनशील और काव्यश्री से समद्ध हैं। छोटे-छोटे, सुघड़ और काव्यपू नाटकीय संवाद लिखने में मोहन राकेश अत्यन्त कुशल हैं। '**आषाढ़ का एक दिन**' में उन्होंने मल्लिका के स्वागत कथन ही सुन्दर लिखे हैं। पाठकों ओर दर्शकों ने ही इन स्वागत-कथनों में रस लिया भले ही हिन्दी के नाट्य-समीक्षक ने स्वागत कथनों को नाटक से वर्जित कर रखा हो। इस नाटक ('लहरों के राजहंस') सुन्दरी का शृंगार-प्रसंग पढ़कर स्कन्दगुप्त और देवसेना का प्रणय-प्रसंग याद आ जाता है।"

'**लहरों के राजहंस**' नाटक की संवादीय संरचना की अब हम विस्तार से विवेचना करेंगे—

1. संक्षिप्त संवाद
2. पात्रानुकूल संवाद
3. नाटकीय संवाद
4. स्वाभविक संवाद
5. सरल एवं रोचक संवाद
6. व्यंग्यात्मक संवाद
7. संवादों में गतिशीलता
8. मार्मिक संवाद
9. चरित्र प्रकाशन के संवाद

अब हम उपर्युक्त उपशीर्षकों पर विस्तार एवं उदाहरणों से चर्चा करेंगे।

10.8.1. संक्षिप्त संवाद

दीर्घ एवं संक्षिप्त दो प्रकार के संवाद होते हैं। नाटक में दीर्घ संवादों की अपेक्षा संक्षिप्त संवादों को अधिक महत्ता मिली है, क्योंकि दीर्घ संवाद दर्शक एवं पाठक को ऊबाऊ बना सकते हैं, जबकि संक्षिप्त संवाद कथा की गति को शीघ्रता से आगे की ओर बढ़ाते हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो '**लहरों के राजहंस**' नाटक मे

दीर्घ एवं संक्षिप्त दोनों तरह के संवाद उपलब्ध होते हैं। लेकिन अधिक संवाद संक्षिप्त ही हैं, जहाँ दीर्घ संवाद हैं वहाँ भी सरसता बनी हुई है, क्योंकि इनमें जटिल वाक्य रचना या लम्बे-लम्बे समास नहीं हैं जिससे दर्शक एवं पाठक वर्ग में अब नहीं आती। संक्षिप्त संवाद का एक उदाहरण दृष्टव्य है—

नन्द — कहो।
सुन्दरी— आपको माननी होगी।
नन्द — तुम्हारी बात मैंने कब नहीं मानी?
सुन्दरी— आपको वचन देना होगा, कि कल रात जो कुछ हुआ, उसे आप बिल्कुल भूल जाएँगे
नन्द — मुझे तो नहीं लगता कि कल रात ऐसा कुछ हुआ भी हैं।
सुन्दरी— आप उस विषय में सोचेंगे भी नहीं
नन्द — यह तुम अपने से कहो जो अब भी उस विषय में सोच रही हो।
सुन्दरी— और कभी मुझे याद भी नहीं दिलाएंगे।

10.8.2. पात्रानुकूल संवाद

संवादीय संरचना का पात्रानुकूलता अत्यन्त आवश्यक गुण है। संवाद पात्रों की स्थिति, पद, ओहदे के अनुकूल होने चाहिए। अगर पात्र सभ्य, शिक्षित है तो आवश्यक है कि उसके द्वारा बोले संवादों में उसका शिक्षित होना झलके और वह राजपुरूष है तो राजपुरूषोचित गरिमामयी ही संवाद हों। इस दृष्टि से **'लहरों के राजहंस'** के संवाद पात्रानुकूल ही हैं। यहाँ सुन्दरी, नन्द, श्यामाँग, श्वेतांग आदि सभी पात्रों के संवादों में पात्रानुकूलता मिलती हैं।

सुन्दरी — (कटोरी लेकर रखती हुई) पता है लोग क्या कहते हैं?
नन्द — क्या कहते हैं?
सुन्दरी — कहते हैं कि आपका ब्याह एक यक्षिणी से हुआ है जो हर समय आपको अपने जादू से चलाती हैं।
नन्द — इसमें झूठ क्या हैं?
सुन्दरी — झूठ नहीं हैं?
नन्द — यक्षिणी हो या नहीं, यह तो मैं नहीं कह सकता पर मानवी-तुम नहीं हो। (स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखता हुआ) ऐसा रूप मानवी का नहीं होता
सुन्दरी — नहीं होता! मानवी का रूप बहुत देखा। (दर्पण उसकी ओर बढ़ा देती है) लीजिए। (नन्द दर्पण उसके हाथ से ले लेता है) वहाँ जाकर खड़े हो जाइए। (नन्द आगे दीपाधार के पास चला जाता है) इस तरह नहीं ...।

(पास जाकर दर्पण उसके साथ सटा देती है) इस तरह। (चन्दन की कटोरी हाथ में लेकर) अब मुझे विशेषक बनाने दीजिए...।

सुन्दरी देवी यशोधरा के प्रति ईर्ष्या-भाव रखती हैं और दूसरी ओर उसे अपने रूप-सौन्दर्य का अतिरिक्त अभिमान भी हैं। निम्नलिखित संवाद में उसके इस ईर्ष्या-भाव और रूप-गर्व की बड़ी स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है—

सुन्दरी — यही तो दुःख है कि आज वे राजकुमार सिद्धार्थ नहीं हैं परन्तु राजकुमार सिद्धार्थ आज गौतम बुद्ध बनकर आये, इसका श्रेय भी तो देवी यशोधरा को है। नहीं?
अलका — (अचकचाई-सी) इसका श्रेय देवी यशोधरा को हैं? आपका अभिप्राय है कि...।
सुन्दरी — अभिप्राय यही हैं कि देवी यशोधरा का आकर्षण यदि राजकुमार सिद्धार्थ को बांध कर अपने पास रख सकता हैं, तो क्या वे आज राजकुमार सिद्धार्थ ही न होते? गौतम बुद्ध बनकर नदी तट पर लोगों को उपदेश दे रहे होते?

10.8.3. नाटकीय संवाद

नाटक रंगमंच के लिए होता है। उसके संवाद रंगमंच पर बोले जाते हैं, इसलिए यह आवश्यक है नाटकीयता का गुण विद्यमान गुण हो। विशेषकर स्थगत कथन को नाटक का शेष माना जाता रहा है, कि उसमें यदि नाटकीयता का गुण विद्यमान है तो वह मार्मिक बन जाता है। इससे दर्शक ऊबते नहीं, अपितु लेते हैं। इस नाटक में स्वगत कथन नन्द, सुन्दरी और श्यामाँग के संवादों में हैं। नाटक के दूसरे अंक से उद्धरण दृष्टव्य है—

नेपथ्य—(कोई स्वर नही हैं... कोई किरण नहीं हैं... सब कुछ... सब कुछ इस अंधकूप डूब गया है।... मुझे सुलझा लेने दो... सुलझा लेने दो... नहीं तो अपने हाथों का मैं क्या करूंगी..... कोई उ नहीं है.....कोई मार्ग नहीं हैं..... इन लहरों पर से..... लहरों पर से..... यह छाया हटा दो..... मुझसे यह छ नहीं ओढ़ी जाती.....)। नन्द बोलता है, तो नेपथ्य का स्वर....)। नन्द बोलता हैं, तो नेपथ्य का स्वर अपेक्षत मंद पड़ जाता है। स्पष्टतया नन्द के स्वर में रहती हैं, परन्तु दोनों के स्वर एक-दूसरे को काटते चलते हैं।

नन्द—(बड़े दीपाधार के पास से झूले की ओर आती हुई छायाकृति-स्वर दबा-द स्वगत)—(कितनी लंबी है यह रात, जैसे कि इसे बीतना ही न हो। बार-बार लगता है यह स्वर रात पर पह दे रहा है..... यही इसे बीतने नहीं देता।)

नेपथ्य —(स्वर नहीं हैं..... कहीं कोई स्वर नहीं है..... इस अंधकूप में सब कुछ खो गया ....मेरा स्वर.....पानी की लहरों का स्वर..... सब कुछ एक आवर्त में घूम रहा है.....एक चील.....एक ची सब कुछ झपटकर लिए जा रही है ..... इसे रोको ..... इसे रोको.....)।

10.8.4. स्वाभाविक संवाद

नाटक **में संवाद** सरल स्वाभाविक होने चाहिए, क्योंकि अस्वाभाविक संवाद कश्च की गति अवरो पैदा करते हैं जिससे पात्रों और दर्शकों के बीच का तादात्म्य भी टूट जाता है। कारणत: दर्शक उबाऊपन महसू करते हैं और नाटक की रंगमचीयता पर प्रश्न चिह्न लग जाता है। इस दृष्टि से **'लहरों के राजहंस'** नाटक वा संवादीय संरचना में स्वाभाविकता का गुण विद्यमान हैं। यथा

सुन्दरी — आप व्यवस्था के संबंध में कुछ कह रहे थें?

नन्द आकर आगे के दीपाधार के पास खड़ा हो जाता है।

नन्द — हाँ, मैं कह रहा था कि संभव है उतने लोग न भी आएँ, जितने लोगों के आने की हम आशा क रहे हैं।

सुन्दरी —(थोड़ा तमककर)— क्यों? आज तक कभी हुआ हैं कि कपिलवस्तु के किसी राजपुरूष ने इस भवन से निमन्त्रण पाकर अपने को कृतार्थ न समझा हो? कोई एक भी व्यक्ति कभी समय पर आने से रह हो? अस्वस्थता के कारण या नगर से बाहर रहने के कारण कोई न कोई आ पाए, तो बात दूसरी है।

नन्द — मैं यहीं तो कह रहा था कि ..... संभव हैं..... कुछ लोगों के लिए ऐसे कुछ कारण हो जाएं। ..... सोमदत्त और विशाखदेव के यहाँ मैं अभी स्वयं होकर आया था.....।

सुन्दरी — (आवेश में उसके पास आकर)—आप स्वयं ..... उन लोगों के यहाँ होकर आए हैं? क्यों? आपका स्वयं लोगों के यहाँ जाना .... विशेष रूप से यह कहने के लिए ..... यह क्या अपमान का विषय नहीं हैं?

इसी प्रकार भिक्षु आनन्द के संवाद उनकी पात्र-स्थिति को उजागर करने वाले है। उनमें दार्शनिकता के साथ बौद्धमत का प्रभाव परिलक्षित होता है। उदाहरणत:

भिक्षु आनन्द — तुम इस समय बहुत उद्विग्न हो। बन में व्याघ्र के साथ हुए द्वंद्व में ....।

नन्द — जानता हूँ तुम सारा समय छाया की तरह मेरे साथ रहे हो।..... व्याघ्र के साथ हुए द्वंद्व में मैं विक्षत हुआ.....

10.8.5 सरल एवं रोचक संवाद

नाटक में सहज सरल और रोचक संवाद की आवश्यकता होती हैं क्योंकि नाटक रंगमंच के लिए होता है। अगर संवादों में दुरूहता है तो पाठक और दर्शक वर्ग पर लम्बे समय तक कोई भी पात्र छाप नहीं छोड़ सकता। इस दृष्टि से **'लहरों के राजहंस'** के संवादों में कहीं-कहीं प्रतीकात्मकता हैं, जिससे दुरूहता का एहसास होता हैं, किन्तु सरलता सर्वत्र विद्यमान है। इस नाटक के सभी पात्र अपने कथन को बड़ी ही सरलता से प्रस्तुत कर देता है। यहाँ विषय गम्भीर जरूर है उसको समझना कठिन जरूर है लेकिन भाषा में कहीं भी दुरूहता नहीं हैं। उदाहरणत:—

सुन्दरी—परन्तु इन सबसे कहने जाने की आवश्यकता आपको क्यों हुई? क्या आप पहले से जानते थे कि ये लोग नहीं आएँगे?

मैत्रेय — इसका उत्तर कुमार दे सकते हैं।

मदिराकोष्ठ के पास जाकर चषक में मदिरा डालने लगता है।

सुन्दरी — (आवेशपूर्ण स्वर में नन्द से) तो क्या इन सबने आपको संदेश भेजा था कि ये नहीं आएँगे?

सीधे नन्द की आँखों में देखती है। नन्द आँखें दूसरी ओर हटा लेता हैं।

नन्द — सबने तो नहीं..... पर इनमें से कई लोगों ने संदेश भेजा था।

सुन्दरी — और आपने इसकी चर्चा तक मुझसे करना आवश्यक नहीं समझा

नन्द — मैं तुम्हारे उत्साह में बाधा डालना नहीं चाहता था। सोचा था कि इनमें से अधिकांश लोग एक बार जाकर कहने से .....

सुन्दरी — कितना मान होता मेरा कि जाकर कहने से जो लागे आते, उनका मुझे इस घर में स्वागत करना पड़ता! आपने यह नहीं सोचा कि मैं ....कि मैं.....।

जहाँ लेखक चेतना के अन्तर्द्वन्द को मुखरित करता हैं, वहाँ कुछ दुरूहता जरूर आ गयी।

नाटकीय संवादों में रोचकता का गुण भी आवश्यक माना गया है क्योंकि रोचकता ही उसकी रसानुभूति में सहायक होती है। अगर संवाद शुष्क हैं तो नाटक नीरस दस्तावेज बनकर रह जाता है। **'लहरों के राजहंस'** में यह गुण भी सर्वत्र विद्यमान है। रोचक संवाद ही पाठक, दर्शक को भावविह्वल और आकर्षित करते हैं। **'लहरों के राजहंस'** नाटक के संवाद भी दर्शक एवं पाठक को आकर्षित प्रभावित तो करते ही हैं उसे अन्त तक बाँधे रहते हैं। अलका और श्वेतांग का यह संवाद दृष्टिव्य हैं—

अलका — फिर?

श्वेतांग — अन्त में किसी तरह अवसर मिला, तो उन्होंने प्रणाम करके तथागत से अपने यहाँ आ स्वीकार करने के लिए कहाँ?

अलका — आतिथ्य स्वीकार करने के लिए कहा। ..... और उन्होंने स्वीकार कर लिया।

श्वेतांग — नहीं! उन्होंने इसका उत्तर न देकर अपना भिक्षापात्र कुमार के हाथों में दे दिया

अलका — (स्तम्भित-सी) उन्होंने अपना भिक्षापात्र कुमार के हाथों में दे दिया।

श्वेतांग — बताने वालों ने मुझे यही बताया है, कुमार उस समय इतने अव्यवस्थित थे कि भिक्ष हाथ में लिए हुए ही लौटकर यहाँ आने लगे।

10.8.6. व्यंग्यात्मकता सम्वाद

नाटक सजीव पात्रों के द्वारा रंगमंच पर खेला जाता है। इसलिए उसमें व्यंग्यात्मकता की आवश्यक पड़ती हैं, क्योंकि व्यंग्यात्मकता से जहाँ एक ओर मनोरंजन होता हैं, वहीं दूसरी ओर लेखक के उद्देश्य की होती दिखाई देती है। **'लहरों के राजहंस'** में प्रतीकात्मकता विद्यमान है, इसलिए उसमें व्यंग्यात्मकता के दर्शन होते हैं। यहाँ सुन्दरी, नन्द, श्यामांग के संवादों में व्यंग्यात्मकता देखी जा सकती है। उदाहरण के रूप सुन्दरी का निम्न संवाद जिसमें वह गौतम बुद्ध एवं बौद्धमत पर व्यंग्य करती थी—

"अभिप्राय यही है कि देवी यशोधरा का आकर्षण यदि राजकुमार सिद्धार्थ को बांधकर अपने पर सकता, तो क्या वे आज राजकुमार सिद्धार्थ ही न होते? गौतम बुद्ध बनकर नदी तट पर लोगों को उपदेश दे होते?" वह फिर कहती है—

"नारी का आकर्षण पुरूष को पुरूष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।" इ प्रकार वह एक स्थल पर और कहती हैं—"पर मैं कहती हूँ कि कामनाओं को जीता जाए, यह भी क्या मन एक कामना नहीं हैं? और ऐसी कामना किसी के मन में क्यों जगती हैं?" इसका उत्तर स्वयं ही सुन्दरी दे है—"इसका अर्थ इतना ही है अलका, कि बहुत दिन एकातार जीवन बिताकर लोग अपने से ऊब जाते हैं न जहाँ कुछ भी नवीनता दिखाई दे, वे उसी ओर उमड़ पड़ते हैं।"

10.8.7. संवादों में गतिशीलता

नाटक के संवादों में गतिशीलता का गुण भी महत्वणूर्ण होता है। अगर संवादों में गतिशीलता नहीं हैं नाटकीय कथा अवरूद्ध हो जाती है। इस दृष्टि से **'लहरों के राजहंस'** के संवाद कथा को शीघ्रता से आ बढ़ाने वाले हैं। उदाहरण के रूप में निम्न संवाद है—

भिक्षु आनंद — देख रहा हूँ। घर सुन्दर हैं, कक्ष बहुत ही सुन्दर है।

नन्द — हाँ, सुन्दरी को तो तुमने देखा नहीं। भिक्षु हो इसलिए, देखोगे भी नहीं। सम्भवत: तुम्हारी दृ में उसका यहाँ होना यथार्थ नहीं, केवल एक भ्रांति है। परन्तु उस तरह में एक भ्रांति नहीं हूँ? तुम एक भ्रांति न हो? तुम्हारा कहा हुआ हर वाक्य एक भ्रांति नहीं है।

भिक्षु आनंद — दूसरों को इस सत्य तक पहुँचने में बहुत समय लगता है। मुझें प्रसन्ता है तुमने शी इसे ग्रहण कर लिया है।

नन्द — (आवेगपूर्वक) ग्रहण कर लिया है?.....यह कहकर तुम्हारे मन को सन्तोष मिलता हो, तो तुम्हें उससें वंचित करना नहीं चाहूँगा।

10.8.8. मार्मिक सम्वाद

नाटक के संवाद मार्मिक होने चाहिए। मार्मिकता का गुण ही उन्हें दर्शकों, एवं पाठकों के लिए हृदयग्राह्य बनाता है। मार्मिकता के कारण ही संवाद दर्शकों, पाठकों पर छा जाते हैं, उनके मन में रच-बस जाते हैं जिसे वे सहज ही नहीं भूलते। **'लहरों के राजहंस'** के संवादों में भी मार्मिकता क़ा यह गुण सर्वत्र विद्यमान है। यथा—है। पर यह दुरूहता विषय के अनुकूल है और भाव-सम्प्रेषण में बाधा नहीं आती। उदाहरणत: नन्द की द्वन्द्वग्रस्त चेतना को मुखरित करने वाला श्यामांग का प्रलाप देखा जा सकता है— "मुझमें साहस नहीं हैं..... किसी में साहस नहीं हैं.....यह चील मुझे लिए जा रही है..... जाने कहाँ.....नहीं चली नहीं हैं.....एक छाया है.....काले अंधेरे कूप में भटकती हुई छाया..... अकेली..... (कराहकर) मुझे इस कूप से निकालो..... इस कूप में पानी नहीं हैं..... इसका पानी कहाँ गया? इसका पानी कौन ले गया?..... मुझे पानी दो.....पानी.....।"

नन्द — इसमें झूठ क्या हैं?

सुन्दरी — झूठ नहीं हैं।

नन्द — यक्षिणी हो या नहीं यह तो मैं नहीं कह सकता पर मानवी तुम नहीं हो। (स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखता हुआ) ऐसा रूप मानवी का नहीं होता।

सुन्दरी— नहीं होता? मानवी का रूप बहुत देखा? दर्पण उसकी ओर बढ़ा देती है। लीजिए। नन्द दर्पण उसके हाथ से ले लेता है। वहाँ जाकर खड़े हो जाइए। नन्द आगे के दीपाधार के पास चला जाता है। इस तरह नही.....। पास जाकर दर्पण उसके साथ सटा देती है। इस तरह। (चंदन की कटोरी हाथ में लेकर)अब मुझे।

10.8.9. चरित्र प्रकाशन के सम्वाद

नाटक दृश्य विद्या हैं इसलिए इसके संवादों में पात्रों के चरित्र उनकी मनोदशा, अन्तर्द्वन्द, बाहरी सम्बन्ध आदि को उजागर करने की क्षमता होती चाहिए। इस दृष्टि से **'लहरों के राजहंस'** के संवाद खरे उतरते हैं। सुन्दरी के संवाद उसकी चारित्रिक विशेषताओं, रूप-गर्व, ईर्ष्या-भाव को पूर्णत: स्पष्ट करने वाले हैं। उदाहरणत:

सुन्दरी — ऐसी असंभव बात मैं सोच सकती थी? सोच रही थी कि शायद आखेट में बहुत दूर निकल गए हैं। डर रही थी कि सब लोग आ चुकेंगे, तो अन्त में आने वाले अतिथि आप ही न हों।

नन्द — (जैसे कुछ और बात सोचता हुआ)—अन्त में आनेवाला अतिथि.....! चबुतरे पर जाकर विश्राम की मुद्रा में बैठ जाता है। मैं जानता था तुम प्रतीक्षा में होगी। इसलिए..... (सहसा बात बदलकर) आखेट में बहुत देर तो नहीं लगी।..... तुम्हें लगा कि बहुत देर लगी हैं?

सुन्दरी — वे जानती थीं न! मुझे पता था वे अवश्य जानती हैं.....क्या कहा उन्होंने?

नन्द — कहा कि अपनी व्यवस्तता के कारण तुम न भी आ सको, तो मैं तुम्हें उनका आशीर्वाद .....!

सुन्दरी चबूतरे का सहारा छोड़कर खड़ी हो जाती हैं।

सुन्दरी — (कुछ तीव्र स्वर में) आत्म-वंचना की भी एक होती है। आज के दिन वे आशीर्वाद देंगी और मुझे! मन में क्या सोच रही होंगी, मैं अच्छी तरह जानती हूँ उन्हीं के कारण.....।

इस नाटक में नन्द मानव ही द्वन्दग्रस्त चेतना के प्रतीक रूप में उभरा है। उसकी इस चारित्रिक विशेषता को उजागर करने वाला सुन्दरी का निम्न संवाद दृष्टव्य हैं—

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मोहन राकेश कृत **'लहरों के राजहंस'** नाटक के संवाद पात्रानुकूल, स्वाभाविक, व्यंग्यात्मक, सरल, रोचक, गतिशील और चरित्र के प्रकाशन की क्षमता रखने वाले और ये संवाद नाटक को मंचीय बनाने में सफल, सबल हैं।

10.9 लहरों के राजहंस–भाषा-शैली

भाषा ही वह साधन हैं जिसके द्वारा हम अपने भावों एवं विचारों को दूसरों तक पहुँचा सकते हैं। नाटक दृश्य काव्य हैं। नाटक की पहली शर्त हैं उसका मंचित होना। नाटक के कथ्य को पाठकों, दर्शकों तक सम्प्रेषित करने में भाषा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। भाषा की किलस्टता नाटक की रंगमचीयता पर प्रश्नचिन्ह लगा देती है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि नाटक की भाषा ऐसी हो कि उसे सामान्य दर्शक भी आसानी से समझ सकें। यह बोधगम्यता नाटकीय भाषा की पहली और अनिवार्य शर्त है। राकेश प्रयोगधर्मी नाटककार रहे हैं। उनमें नाटक में शब्द की उचित एवं सार्थक जगह खोजने की छटपटाहट और बैचेनी देखी जा सकती है। उनका मानना है कि केवल शब्द ही महत्वपूर्ण नहीं हैं, उनका आसपास के शब्दों से संबंध और संदर्भ ही उन्हें अर्थपूर्ण बनाता है, इसलिए ध्वनि, मौन और बिम्ब के पारस्परिक संबंधों की जाँच-पड़ताल करना आवश्यक हैं। इस विषय में स्वय राकेश जी का मत है—"शब्दों का सृजनात्मक प्रयोग उन संदर्भों की लय में और नयी-नयी लय खोज सकना है इसलिए कोई भी शब्द योजना बिना अपनी एक आन्तरिक लय के प्राणवान नहीं होती, और यह लय या ध्वनि का ग्राफ ही उनकी वास्तविक अर्थक्ता है।" वे लय नियोजन पर इसलिए बल देते है कि—"यह लय नियोजन अपने से ही कई-कई बिम्बों तथा मिथकों के संसर्ग मन में जागकर शब्दों के व्याकरण विश्लेषित अर्थ से परे बहुत-से अनिर्वचनीय तथा विश्लेषणहीन अर्थों की अनुगूँज मन में पैदा कर सकता है।" भले ही वे अपनी पूरी नाट्य यात्रा के दौरान सही लय-नियोजन को पहचानने और पकड़ने में लगे रहे।" इस विषय में प्रसिद्ध नाट्य समीक्षक जयदेव तनेजा का कहना है कि—"यह आकस्मिक नहीं हैं कि **'लहरों के राजहंस'** के लगभग सभी चरित्र किसी बनावटी बाहरी भंगिमा का सहारा लिए बिना ही केवल अपनी-अपनी भाषा की अलग आन्तरिक सूक्ष्म लय के सहारे अपने विशिष्ट व्यक्ति को स्थापित करते है।''

नाट्य-जगत में मोहन राकेश केवल तीन नाटक-लिखकर नाटक के मसीहा कहलाते हैं। क्योंकि उनके तीनों ही नाटक सशक्त, सफल, मंचित नाटक हैं। उनके नाटक अपनी सहज, सरल, प्रभावी और मार्मिक भाषा के कारण दर्शकों पर जादू-सा कर देते हैं। लहरों के राजहंस भी अनेक बार मंचित हो, दर्शकों पर अपना प्रभाव छोड़ चुका है—इसकी भाषा के विषय में श्री जयदेव तनेजा का कहना है—"लहरों के राजहंस की भाषा राकेश के अपने व्यक्तित्व, नाटक की वस्तु चरित वातावरण तथा रंगमंचीय रूढ़ियों और आज के दर्शक पाठक की मानसिकता के भीतर से रूप ग्रहण करती है। प्रसाद और राकेश की भाषा का यही मूलभूत अन्तर है। स्वयं राकेश के ही पहले दो नाटकों और तीसरे नाटक की भाषा का अन्तर इसी सत्य को रेखांकित करता हैं कि राकेश ने भाषा के सन्दर्भ में अपने व्यक्तित्व के मुकाबले नाटक की आन्तरिक अपेक्षाओं को अधिक महत्व दिया।''

'लहरों के राजहंस' नाटक की भाषा का अध्ययन और विश्लेषण हम आगे विस्तार से करेंगे,

10.9.1. काव्यात्मकता

'आषाढ़ का एक दिन' की हो भाँति **'लहरों के राजहंस'** नाटक की भाषा भावात्मक एवं काव्यात्मक है। इस प्रकार की भाषा अधिकतर नन्द के स्वगत कथनों में मिलती है। यथा—

सुन्दरी — क्यों, यह सच नहीं? राजकुमार सिद्धार्थ क्यों चुपचाप एक रात घर से निकल पड़े थे? बात बहुत साधारण सी अलका! नारी का आकर्षण पुरूष को पुरूष बनाता हैं, तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।

अलका — (पल-भर चुप रहकर)—तो आप यह कहना वाहती हैं कि .....।

सुन्दरी — कहना चाहने की बात नहीं, अलका! मैं एक छोटी सी सच्चाई तुझे बतला रहीं हूँ। लोग कहते हैं कि गौतम बुद्ध ने बोध प्राप्त किया है; कामनाओं को जीता हैं। पर मैं कहती हूँ कि कामनाओं को जीता जाए, यह भी क्या मन की एक कामना नहीं हैं? और ऐसी कामना किसी के मन में क्यों जागती हैं?

नन्द —हाथ! से निकला भी तो नहीं।..... सच, थकान उतनी शरीर की नहीं जितनी मन की है। मृग मेरे बाण से आहत नहीं हुआ, इससे मन को उतना खेद नहीं हुआ, जितना इससे.....कि जब थककर लौटने का निश्चय किया, तो वही मृग.....थोड़ी ही दूर आगे.....रास्ते में मरा हुआ दिखाई दे गया।

सुन्दरी — किसी और के बाण से आहत हुआ वह?

नन्द — नहीं! किसी के बाण से आहत नहीं हुआ, अपनी थकान से मर गया। बाण से क्षत-विक्षत मृग को देखकर मन में कभी कोई अनुभूति नहीं होती, होती भी हैं, तो केवल प्राप्ति की हल्की सी अनुभूति। परन्तु बिना घाव के अपनी ही क्लांति से मरे हुए मृग को देखकर मन में जाने कैसा लगा! और लौटकर आते हुए अपने आप इतना थका और टूटा लगने लगा कि.....।

10.9.2. प्रसंगानुकूलता

राकेश जी की यह एक गहरी विशेषता हैं कि उनकी भाषा प्रसंगानुकूलता होती है चाहे वह 'आषाढ़ का एक दिन' ही हो, **'आधे अधूरे'** की हो या फिर **'लहरों के राजहंस'** की हो। प्रस्तुत नाटक में नाटककार ने अन्तर्द्वन्द प्रधान प्रसंगों की भाषा गंभीर और तत्सम प्रधान रही है। वहीं हल्के-फुलके प्रसंगों की भाषा आम बोलचाल की रही है। राज सेवकों की भाषा उनके स्तर के अनुकूल हो जबकि नन्द एवं सुन्दरी के अन्तर्द्वन्द को स्पष्ट करने के लिए संस्कृतनिष्ठ शब्दावली का भी प्रयोग किया है। अत: जहाँ पर जैसा प्रसंग है वहाँ पर वैसी ही भाषा हैं। यथा—

एक उदाहरण और देखिए—

नन्द — या यह केवल मन का विद्रोह था..... बिना विश्वास एक विश्वास के अपने, ऊपर लादे जाने के लिए? या कि इसलिए कि उस समय मैं इतना सत्वहीन क्यों हो गया कि भिक्षु आनन्द के कर्तनी उठाने पर चिल्ला नहीं सका कि "यह विश्वास मेरा नहीं है। मैं तुम्हारा या किसी और का विश्वास ओढ़ कर नहीं जी सकता, नहीं जीना चाहता।" पर समझ में आता है कि जिये जाने से जीवन धीरे-धीरे चुक जाता है, कि हर उन्मेश का परिणाम एक निमेष है और काल के विस्तार में निमेष और उन्मेष दोनों अस्थायी हैं, सुख सुख नहीं हैं, काई पर फिसलते हुए पांव का एक स्पन्दन मात्र हैं, मात्र रेत में डूबती हुई बूंद की एक अकुलाहट.....परन्तु वह स्पन्दन, वह अकुलाहट

ही क्या जीवन का पूरा अर्थ, जी लेने का कुल पुरस्कार नहीं हैं? आकाश में कहीं लटके हुए नीले व बिन्दु.....कोरे सिद्धान्तों के.....वे अधिक स्थायी, अधिक सत्य कैसे हैं?

10.9.3. सरल एवं रोचकता

'**लहरों के राजहंस**' नाटक की भाषा सहज, स्वाभाविक और रोचक है। इसका ऐतिहासिक कथानक ह हुए भी भाषा में बोधगम्यता और प्रवाहपूर्णता है। राकेश जी ने इसे सफल मंचीय नाटक बनाने के लिए इस सामान्य बोलचाल के शब्दों का भी प्रयोग किया है।—

एक उदाहरण और दृष्टव्य है—

नन्द — तुम बुरा तो नहीं मान गई हैं?

सुन्दरी — किस बात का?

नन्द — मेरे अकारण बाहर रूके रहने का ..... देर से लौटकर आने का?

सुन्दरी — नहीं तो। आप समय से पहले तो आ जी गए हैं।

नन्द — फिर ऐसी क्यों हो रही हो?

सुन्दरी — कैसी हो रही हूँ?

नन्द — यह तो मैं ही देख सकता हूँ....जो तुम्हारे चेहरे का दर्पण हूँ।

सुन्दरी — रहने दीजिए, मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता।

नन्द — अच्छा नहीं लगता! मगर यह बात मेरी नहीं, तुम्हारी कही हुई है। तुम्हें याद नहीं?

सुन्दरी — आज मुझे कुछ भी याद नहीं।

श्यामांग — बस कह दिया, तो हो गया! पत्तियाँ श्यामांग के लिए छोड़ दो! श्यामांग से पत्तियाँ न सुलझी, तो कामोत्सव नहीं होगा।....श्वेतांग कहता है कुछ सोचो नहीं।.....पर सोचना न सोचना न सोचना अपने बस की बात है?.....पिछले बसन्त में आम कैसे बौराये थे? पेड़ों की डालियां अपने आप हाथों पर झुक आर्त थी।.....परन्तु तब यहाँ कामोत्सव का आयोजन नहीं किया गया। आयोजन किया गया है इस बार जब आम के वृक्षों ने भिक्षुओं का वेश धारण कर रखा है।.....कल प्रात: देवी यशोधरा भिक्षुओं के रूप में दीक्षा ग्रहण करेंगी और यहाँ.....यहाँ रात भर नृत्य होगा, आपानक चलेगा.....।

10.9.4. मार्मिकता

प्रस्तुत नाटक की भाषा सहज, स्वाभाविक के साथ-साथ बड़ी ही मार्मिक है, हृदयस्पर्शी है। निश्चित समय पर जब नन्द नहीं लौटता तो सुन्दरी के मन को अदम्य आघात लगता है, जिसे नाटककार ने बड़ी ही मार्मिकता के साथ व्यक्त किया। उदाहरणत:

अलका — धृष्टता के लिए क्षमा चाहती हूँ, देवी! परन्तु.....।

सुन्दरी —क्षमा चाहने की आवश्यकता नहीं। बात कहने में धृष्टता नहीं होती। मैं तेरी बात सुनना चाहती हूँ।

अलका — देवी यशोधरा की बात आप जानें। परन्तु प्रजा के बच्चों बूढ़ों तक में क्यों इतना उत्साह है? वे संध्या होते ही क्यों नदी-तट की ओर उमड़ पड़ते हैं.....? क्या इसका अर्थ यहीं नहीं हैं कि....?

सुन्दरी — (सहसा अलका की ओर मुड़कर)

तू समझती हैं कि मैं उनके लौटने की प्रतीक्षा कर रही हूँ? (आँखें उस ओर से हटाकर अन्तर्मुख भाव से) प्रतीक्षा कर रही होती, तो अपने माथे का विशेषक, यह बिन्दु, सुख जाने न देती। परन्तु जितना समय इसे गीला रखना चाहिए था, उससे कहीं अधिक समय मैंने इसे गीला रखा। एक पहर, दो पहर, तीन पहर। हर बीतता हुआ क्षण मेरे प्रयत्न का उपहास उड़ाता था, फिर भी मैं अपने अन्दर के विरोध से लड़ती रही, मन के विद्रोह को किसी तरह समझाती रही। परन्तु एक क्षण आया जब वह प्रयत्न मन से हार गया। मेरा गीला हाथ माथे तक जाकर लौट आया और मैंने उसे फिर गीला नहीं किया।

इसी प्रकार एक उदाहरण और देखिए—

सुन्दरी — आप मेरा सारा प्रसाधन करेंगे?

नन्द — क्यों नहीं करूँगा?

10.9.5. प्रात्रानुकूलता

'लहरों के राजहंस' नाटक की भाषा पात्रों के चरित्र चित्रण और उनकी मन: स्थिति के अनुकूल है जहाँ सामान्य पात्र खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग करते हैं तो राजपुरूष अपने पद एवं ओहदे की गरिमागयी भाषा का प्रयोग करते हैं। इसी कारण तो श्यामांग श्वेताँग की अपेक्षा अधिक परिष्कृत हिन्दी बोलता है। उदाहरणत:

श्वेताँग — आदमी काम करना चाहे तो उपाय यही है, राजकर्मचारी के लिए विशेष रूप से।

श्यामांग — तुम कहना चाहते हो कि.....मुझे.....मुझे भी.....सोचना नहीं चाहिए यही न?.....पर मैं..... मैं कम सोचना चाहता हूँ? बिना चाहे मस्तिष्क सोचता रहे, सोचते रहे, तो आदमी क्या कर सकता है?

इसी प्रकार सुन्दरी की भाषा में उनके पद एवं ओहदे की गरिमा झलकती है, जैसे—

सुन्दरी —(मदिराकोष्ठ की ओर जाती हुई) कामोत्सव कामना का उत्सव है, आर्य मैत्रेय! मैं अपनी आज की कामना कल के लिए टाल रखू.....क्यों मेरी कामना मेरे अन्तर की है। मेरे अन्तर में ही उसकी पूर्ति भी हो सकती है। बाहर का आयोजन उसके लिए उतना महत्व नहीं रखता जितना कुछ लोग समझ रहे हैं।

10.9.6. व्यंग्य की भाषा

राकेश जी अपने पात्रों के माध्यम से जहाँ आवश्यकता होती है वहाँ व्यंग्य करने से नहीं चूकते। **'आषाढ़ का एक दिन'** तथा **'आधे-अधूरे'** की भाँति ही **'लहरों के राजहंस'** की भाषा में भी व्यंग्यात्मकता विद्यामान हैं। व्यंग्यात्मकता से भाषा में जहाँ वैचित्रय आता है, वहाँ चमत्कार भी उत्पन्न उत्पन्न हो जाता है। नन्द, सुन्दरी, भिक्षु आनन्द, श्यामांग तथा श्वेताँग आदि पात्रों के संवादों में व्यंग्य की भाषा के दर्शन होते हैं। यथा—

भिक्षु आनन्द — दूसरों को इस सत्य तक पहुँचने में बहुत समय लगता है। मुझे प्रसन्नता है तुमने शीघ्र इसे ग्रहण कर लिया है।

नन्द — ग्रहण कर लिया है!.....यह कह कर तुम्हारे मन को संतोष मिलता हो, तो मैं तुम्हें उससे वंचित करना नहीं चाँहूगा

इसी प्रकार सुन्दरी और नन्द का संवाद जो वाद-विवादपूर्ण है—

सुन्दरी — आप व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ कह रहे थे

नन्द आकर आगे के दीपाधार के पास खड़ा हो जाता है।

नन्द — हाँ, मैं कह रहा था कि संभव है—उतने लोग न भी आएं, जितने लोगों के आने की हम आशा कर रहे हैं।

सुन्दरी — **(थोड़ा तमककर)**—क्यों? आज तक कभी हुआ है कि कपिलवस्तु के किसी राजपुरूष ने इस भवन से निमंत्रण पाकर अपने को कृतार्थ न समझा हो? कोई एक भी व्यक्ति कभी समय पर आने से रह गया हो? अस्वस्थता के कारण या नगर से बाहर रहने के कारण कोई न आ पाए, तो बात दूसरी है।

नन्द — मैं यही तो कह रहा था कि.....संभव है.....कुछ लोगों के लिए ऐसी कुछ कारण हो जाएं।.....सोमदत्त और विशाखादेव के यहाँ मैं अभी स्वयं होकर आया था.....।

सुन्दरी — (आवेश में उसके पास आकर) आप स्वयं....उन लोगों के यहाँ होकर आए हैं? क्यों? आपका स्वयं लोगों के यहाँ जाना.....विशेष रूप से यह कहने के लिए.....यह क्या अपमान का विषय नहीं है?

10.9.7. शब्दिक भाषा

हम पहले भी कह चुके हैं कि राकेश जी प्रयोगधर्मी नाटककार रहे हैं। उन्होंने शब्दगत प्रयोग भी किए हैं। **'लहरों के राजहंस'** नाटक का कथानक ऐतिहासिक है। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि इसको तत्सम प्रधान शब्दावली हो और ऐसा है भी। परन्तु इसकी यह विशेषता ही है कि तत्मस, तद्भव शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ उर्दू शब्दों का भी प्रयोग किया है जिससे नाटक के कथानक को बल ही मिला है। इससे भाषा में सहजता और बोधगम्यता के गुण आ गए हैं।

तत्सम शब्द — नाटक में ऐतिहासिक वातावरण का निर्माण करने के लिए राकेश जी ने संस्कृतनिष्ठ शब्दों का प्रयोग किया है। यथा — आपानक, मदिराकोष्ठ, शृंगारकोष्ठ, विशेषक, गवाक्ष, लोहिताक्ष, मैत्रेय आदि कुछ दुरूह शब्द हैं, लेकिन ये सभी प्रसंगवश ही हैं अन्यथा जिन तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है, वे सुबोध ही हैं। यथा—कामना, कामोत्सव, अग्निकाष्ठ, अंतर, महत्व षड्यन्त्र, अव्यवस्थित तथा मस्तिष्क आदि।

तद्भव शब्द — भले ही यह ऐतिहासिक नाटक हो, लेकिन इसमें संस्कृतनिष्ठ शब्दों के साथ-साथ तद्भव शब्दों का भी प्रयोग किया गया हैं। लेकिन ये शब्द नाटक की ऐतिहासिकता बनाए रखने के लिए बहुत ही कम हैं। यथा सांस (श्वास), पत्तियाँ, हाथ, पहर, कांपना तथा नींद आदि।

बिम्बात्मकता — राकेश जी की यह भी एक विशेषता ही है कि ये नाटकीय भाषा में सशक्त बिम्ब खड़ा कर देते हैं। आज की जटिल संशिलस्ट संवेदना को प्रभावपूर्ण ढ़ंग से अभिव्यक्त करने के लिए अनेक दृष्टियों से बिम्ब का प्रयोग नाट्य भाषा के लिए आवश्यक हो गया हैं। इस विषय में गोविन्द चातक का कहना है—"वस्तुत: कथा-वस्तु के संयोजन, कथ्य को गति, अर्थ का संकेत अथवा प्रतीकार्थ प्रदान करने तथा पात्र की मानसिक स्थिति के उद्घाटन में बिम्ब का प्रयोग नाटक में बड़ी सफलता से किया जा सकता है जैसा कि लेविस ने कहा है, "नाटक मेटाझर तथा बिम्बविधान के लिए काव्य की अपेक्षा अधिक अवसर प्रदान करता है।" **'लहरों के राजहंस'** नाटक के बिम्ब विधान में डॉ० जयदेव तनेजा का मत है—"पुरूष-मूर्ति और नारी-मूर्ति के दो दीपाधारों के मूल बिम्ब की बात स्वयं राकेश ने कही हैं। यह बिम्ब सदैव उनके मन में रहा (यद्यपि **'रात बीतने तक'** में यह कहीं नहीं है, सम्भव है इस मंचीय नाटक को रेडियो नाटक बनाते समय यह छोड़ देना पड़ा हो) और नाटक के दोनों संस्करणों में स्थूल रूप से मंच-सज्जा का अनिवार्य अंग बनकर

उपस्थित हुआ। भोग-अभोग, पार्थिव-अपार्थिव अथवा भौतिक-आध्यात्मिक के बीच 'अनिश्चय में उठ सके एक पैर' के व्यापक नाट्य-बिम्ब को प्रभावपूर्ण ढ़ग से प्रस्तुत करना। इस नाटक का मुख्य उद्देश्य है—जिसे राकेश ने नर-नारी संबंधों के माध्यम से प्रस्तुत किया है।'' यहाँ अधिकतर बिम्ब पार्थिव और अपार्थिव के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इस विषय में जयदेव तनेजा का कहना है—''एक ओर यदि मत्स्यकार आसन, मदिराकोष्ठ, अग्निकोष्ठ, ओस लदे कमल, उद्यान, बसंत, शयन कक्ष, घर, कामोत्सव, बौराये आम, फूल, केश, चन्द्रिका, दक्षिणी इत्यादि हैं तो दूसरी और पत्रहीन, वृक्ष, धूल भरा आकाश सूखा सरोवर, नदी तट, विहार, रेत, कर्तनी, जंगल इत्यादि।'' बिम्बात्मकता का प्रभावी प्रयोग श्यामाँग के शब्दों में देखा जा सकता है।

''कमलताल के पास जो अंधेरा कोना हैं, कुछ देर के लिए वहाँ चला गया था। वहाँ देखा, ताल की लहरों पर वह छाया उतर रही हैं। लहरें उसमें गुम हुई जा रही हैं, कमलताल, कमलपत्र सब उसे खोये जा रहे हैं। मुझे लगा कि वह छाया धीरे-धीरे उन सबको लील जाएगी, ताल में तैरते हुए राजहंसों के जोड़े को भी। मुझे डर लगा। मैं छाया पर पत्थर फैंकने लगा।''

10.9.8. शैली

'लहरों के राजहंस' नाटक में नाटकीय एवं मनोविश्लेषणात्मक शैलियों का प्रयोग हुआ है। नाटकीय शैली का उदाहरण दृष्टव्य है

मैत्रेय — *(गम्भीर भाव से आगे आता हुआ)* हाँ, पहला.....और शायद एकमात्र अतिथि!

नन्द — एकमात्र अतिथि! तो क्या और लोगों में से .....?

मैत्रेय — जिन-जिन से मैं मिला हूँ, उनमें से हरेक ने किसी-न-किसी कारण अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए क्षमा-याचना की है—रविदत्त, अग्निवर्मा, नीलवर्मा, ईषाण, शैवाल-सभी ने।

नन्द — (अव्यवस्थित-सा) और पदमकांत, रूद्रदेव, लोहिताक्ष, शालिमित्र.....?

इस नाटक में विशलेषणात्मक शैली स्वगत-कथनों में प्रयुक्त की गयी है। यह शैली पात्रों की मन-स्थिति और उनके अन्तर्द्वन्द को उजागर करती है। उदाहरण के रूप में नन्द का एक संवाद—''(लौटकर झूले के पास चला जाता है और पल-भर स्निग्ध दृष्टि से देखता रहता है।) अच्छा है, तुम सो रही हो। जाग रही होती, तो तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर शायद मैं न दे पाता। (उसके पास से हटकर टहलता हुआ पीछे के दीपाधार की ओर जाता है।) मैंने कहा था तुम्हारा विशेषक सूखने से पहले ही मैं लौट आऊंगा, परन्तु नहीं आ सका। तुम पूछती, क्यों तो मैं क्या उत्तर देता? क्या कहता कि तथागत के पास से उठ आने के बाद क्यों मन में कल के मरे हुए मृग को देखने की कामना इतनी प्रबल हो आई थी कि किसी भी तरह अपने को वहाँ जाने से रोक नहीं सका? कैसे बताता कि मृग के स्थान पर एक नोंच खायी ठठरी को देखकर मुझे कैसा लगा? और फिर क्यों मैं अचानक उस गुरगुराकर सामने से आते व्याघ्र से उलझ गया? जानता था कि यह प्रवृति आत्म-विनाश की है, परन्तु उस प्रवृत्ति को मैं रोक नहीं सका? क्यों मैंने जानबूझकर आत्म-विनाश को निमंत्रित किया और फिर स्वयं ही आत्म-रक्षा के लिए उस तरह लड़ गया। क्षत-विक्षत हम दोनों हुए-पलायन भी एक तरह से दोनों ने ही किया-क्यों? आत्म-विनाश और आत्मरक्षा, दोनों प्रवृत्तियों के बीच एक साथ मैं कैसे जिया और क्यों? और उस तरह जीकर क्या सुख मिला? और क्या यह सुख की ही खोज थी जिसने उस तरह जीने के लिए विवश किया?''

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मोहन राकेश कृत **'लहरों के राजहंस'** नाटक की भाषा एवं शैल उसके ऐतिहासिक कथ्य के अनुकूल है और वह नाटककार के उद्देश्य आधुनिक संदर्भ में मानव की अन्तर्द्वन्द्व चेतना को उजागर करने में सक्षम हैं। उसमें भावात्मकता, सरसता, रोचकता, पात्रानुकूलता, मार्मिकता के गुण के साथ-साथ नाटक की आवश्यकता समझे जाने वाले व्यंग्य भी विद्यमान हैं।

10.10 लहरों के राजहंस और अभिनेयता

नाटक से सम्बन्धित अभिनेयता और रंगमंचीयता दो अलग-अलग तत्व हैं। रंगमंचीयता शब्द इस ओर संकेत देता है कि अमुक नाटक रंगमंच पर प्रदर्शित होने के उपर्युक्त है या नहीं, अर्थात् रंगमंच में नाटकीय संविधान आता हैं और अभिनय का सीधा संबंध अभिनेता से है। अर्थात् पात्रों के कार्य-व्यापार से है। भरतमुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में अभिनय के चार अंग बताए हैं—

1. आंगिक — शारीरिक अंगों से किया जाने वाला अभिनय।
2. वाचिक — वाणी के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति।
3. आहार्य — वेषभूषा, साज-सज्जा (मेकअप) से अपने को प्रकट करना।
4. सात्विक — एकाग्र मन से भय, आश्चर्य, उत्सुकता आदि का अभिनय।

'अभिनय' शब्द समय पारिभाषिक अर्थ में नाट्य प्रयोग की सकल सम्भावना व प्रकिया सूचित करता है और इस सकल सम्भावना और प्रक्रिया को चरितार्थ करने वाला अभिनेता ही होता है। अभिनेता नाट्य-अभिनय के द्वारा ही अपने आप को प्रकट, परिभाषित, विस्तारित और रूपांतरित करता है और वह देह, वाणी, बाह्य सामग्री और मन को आंगिक वाचिक, आहार्य और सात्विक अभिनय से ही निस्पन्न करता है।

अत: **'लहरों के राजहंस'** नाटक की अभिनय तत्वों के आधार पर समीक्षा करना तर्क संगत ठहरता है।

10.10.1. आंगिक अभिनय

शारिरिक अंगों के द्वारा किया गया अभिनेय आंगिक अभिनय कहलाता है। इस अभिनय के संकेत यहाँ स्थान-स्थान पर पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं, उदाहरण के रूप में निम्न संवाद में रचामाँ और अलका का आंगिक अभिनय देखा जा सकता है। सुन्दरी— हाँ इसी चेष्ठा से तो ये सुलझेगी! जाओं, जाकर यह काम किसी और को सौंप दो और.....।

श्यामाँग जैसे बहुत प्रयत्न से आगे सुनने की प्रतीक्षा करता है। (कुछ शीर्घ्रता के साथ) और कहीं एकांत में बैठकर सोचो कि जब कोई काम हाथ में ना रहें, तो हाथों को क्या करना चाहिए।

श्यामाँग उलझी हुई पत्तियों को, फिर अपने हाथों को देखता है। फिर जैसे कुछ भी न सोच पाने को पत्तियों के ढ़ेर में उलझा हुआ झुककर अभिवादन करता है। बाई ओर के द्वार से जाते हुए वह एक बार अलका की ओर चुंधियाई-सी आँखों से देख लेता है। सुन्दरी पलभर शृंगार कोष्ठ के पास रूकती है, फिर मत्यसाकार आसन पर जा बैठती हैं।

तू अपने सपने की बात कह रही थी न अलका.....क्या सह रही थी.....क्या देखा था.....सूखा सरोवर पत्रहीन वृक्ष और धूल-भरा आकाश? अलका होंठ काटकर सिर हिलाती है और उसके पास चली जाती हैं।

10.10.2. वाचिक अभिनय

ऊपर भी संकेत किया जा चुका है कि पात्रों द्वारा वाणी के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति को वांचिक अभिनय कहते हैं। कोई भी अभिनेता नाट्य-अभिनय में वाणी से ही परिभाषित करता है। इस अभिनय के भी नाटक से यथानश्चक संकेत मिल जाते हैं, उदाहरण स्वरूप सुन्दरी का परिहास के स्वर में बोलना एवं अलका का अन्तमुख हो कहना— सुन्दरी (परिहास के स्वर में) सुना हैं सच होते हैं। इसलिए तो उपाय करना होगा नहीं यह न हो कि तू भी कल भिक्षुणी का वेश धारण करने की सोचने लगे।

अलका (कुछ अंतर्मुख)मैं और भिक्षुणी का वेश.....नहीं, मैं ऐसी बात नहीं सोच सकती। अभी नहीं.....मैं तो यह सोचकर ही सिहर जाती हूँ कि कल..... सच, कल भिक्षुणी के वेश में देवी यशोधरा कैसी लगेगी, देवी?

10.10.3. आहार्य अभिनय

वेशभूषा, मेकअप और मंच सामग्री से जुड़ा यह अभिनय एक ऐसा तत्व है, जिसमें निर्देशक की भूमिका विशेष महत्व रखती है। क्योंकि किस पात्र की वेशभूषा कैसी हो, अभिनय करते समय उसके हाथों में प्रसंगवश क्या हो या न हो यह सब निर्देशक पर निर्भर करता है, परन्तु नाटककार भी अपने नाट्क-शिल्प की कोशलता से कहीं-कहीं संकेत दे देता है। **'लहरों के राजहंस'** में भी राकेश जी ने आहार्य अभिनय के पर्याप्त संकेत दिए हैं। यथा—

"अलका अपने को व्यस्त के लिए शृंगार कोष्ठ की सामाग्री को सहेजती है। फिर चबूतरे के पास जाकर तकियों की सलवटें निकालने लगती है।"

यहाँ लेखक ने शृंगार कोष्ठ की सामग्री भी कर दिया है। अब सामग्री में क्या-क्या दिखाना है यह सब निर्भर निर्देशक पर ही करता है। इसी प्रकार मदिराकोष्ठ, चषक मदिरा आदि का भी प्रयोग किया गया है—

"नन्द मदिराकोष्ठ के पास आकर चषक में मदिरा डालता है। तभी सुन्दरी की दृष्टि उस पर पड़ती है।" (चौंककर) आप?.....आप कब आए? अभी-अभी तो मैं.....। अत: आहार्य अभिनय के पर्याप्त संकेत मिल जाते हैं।

10.10.4. सात्विक अभिनय

एकाग्र मन से किया जाने वाला भय, आश्चर्य और उत्सुकता आदि का अभिनय सात्विक अभिनय कहलाता है। तकनीक की दृष्टि से भरतमुनि ने विस्तार से विचार नहीं किया, इसका एक ही कारण लगता हैं, बाकी अभिनय तत्वों की तकनीक बताई जा सकती हैं, सात्विक की नहीं। अभिनेता सात्विक अभिनय में अपने को हर-बार एक नए सिरे से परिभाषित करता है। सात्विक अभिनय का प्रयोग हर बार नया हो जाता हैं, क्योंकि किसी भी नाटक को फिर से खेलते समय केवल आहार्य में ऊपरी फेरबदल या आंगिक या वांचिक की अदायगी में कुछ घटा या जोड़ देने से प्रयोग में आमूलभूत परिवर्तन नहीं हो जाता। वास्तव में सात्विक को ही हर बार नए सिरे से करना होता है, इसलिए एक ही नाटक, एक ही रंगमण्डली, एक ही अभिनेता द्वारा रंगमंच पर किया जाने पर हर-बार नया हो जाता है। **'लहरों के राजहंस'** नाटक में सात्विक अभिनय के पर्याप्त संकेत विद्यमान है।

श्वेताँग — (कुछ संकोच के साथ) मैं कहना चाहता था देवि, कि आज की रात....।

सुन्दरी — (अधीर होकर) मैंने जो आदेश दिया हैं, उसका पालन करो। जाओ

यहाँ पर संकोच के साथ संवाद बोलना या अधीर होकर बोलना सात्विक अभिनय ही हैं। तब तक भी पात्र वास्तविक पात्र की ही तरह अधीर नहीं होकर बोलता तब तक सात्विक अभिनय नहीं कहला सक इसी तरह मैत्रेय का निम्न संवाद देखिए—

(गंभीर भाव से आगे आता हुआ) हाँ..... और, शायद एकमात्र अतिथि!

इसी तरह सुन्दरी का निम्न संवाद देखिए

सुन्दरी — (आपे से बाहर होकर) अपने उद्वेग का वास्तविक कारण मैं स्वयं हूँ और किसी को अधिकार मैं नहीं देती कि वह में उद्वेग का कारण बन सके। आये मैत्रेय यदि जाना चाहते हैं, तो इन्हें भी न दीजिए। की दीजिए कह जिनके यहाँ ये होकर आए हैं, जाते हुए भी एक बार उनके यहाँ होते जाएँ। उन स कह दें कि मेरे यहाँ आने के लिए किसी कल की प्रतिक्षा में वे न रहें। वह कल अब उनके लिए कभी न आएगा, कभी नहीं.....।''

अत: प्रस्तुत नाट्यत कृति में अभिनेय के चारों तत्व-उमंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक मिल क हैं और इन्हीं में रहकर नाटक मंच पर अभिनीत होता है। नाटक में वार्णित कुछ चित्र दर्शक की जिज्ञासा बढ़ाने के लिए प्रयुक्त हुए हैं जो प्रतिकात्मक अर्थ रखते हैं। जैसे नाटक के मध्य में चित्रित प्रेम-प्रसंग, द का हिलना और गिरकर टूट जाना। इसी तरह श्यामाँग की दोहरी प्रतीकात्मक भूमिका और उसका प्रलाप दर्शक की जिज्ञासा को बढ़ाता है। किन्तु नाटक की भूमिका में डॉ० सुरेश अवस्थी ने इसे अनुचित एवं दुर्वि माना है। ''लेकिन श्यामाँग प्रसंग नाटकीय दृष्टि से महत्वपूर्ण होकर भी दर्शक की रूचि और नाटक के सह प्रभाव में बाधक बनता है। इसका कारण यह है कि श्यामाँग की चरित्रगत अवधारणा और उसके कार्यों अ कथनों में अनत्य स्पष्ट नहीं है और ऐसा लगता है कि उसके संबंध में नाटककार द्विधाग्रस्त है। आरम्भ लगता है कि श्यामाँग और अलका का अत्यन्त, सहज, कोमल और मौन पारस्परिक आकर्षण सुन्दरी और न के उद्याम, मुखर और कामासिक्त प्रेम का ही एक प्रतिरूप है। इस प्रकार यह प्रसंग एक निश्चित नाटकी सिद्धि की चेष्टा करता है और फिर बाद में वहीं श्यामाँग नन्द के अस्थिर और द्वन्द जंजीर मन का एक प्रतिरू बन जाता है।.... श्यामाँग प्रतिक बनकर नाटकीय कथा के सीधे, स्पष्ट द्वन्द को केवल अस्पष्ट, नहीं बनात बल्कि वह वस्तु विधान को भी कमजोर करता है। नेपठय से श्यामाँग के स्वर का जिस प्रकार संगीत-खण्डों समान प्रयोग किया जाता है, वह प्रदर्शन को भी कमजोर और कृत्रिम बना देता है।''

यहाँ स्वाभाविक प्रश्न उठता हैं कि डॉ० अवस्थी स्वयं उसे नन्द और सुन्दरी के उद्दाम प्रेम को प्रतीक मानते हैं, फिर भी यह विरोधाभास क्यों? श्यामाँग नन्द और सुन्दरी के अन्तर्द्वन्द को गहरा करने के निमित्त व प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुआ है। निष्कर्षत: लहरों के राजहंस एवं सफल अभिनेय नाटक है और इसे अनेक ब मंच पर प्रतिभाशाली, प्रयोगशील निर्देशकों के द्वारा अभिनीत भी किया जा चुका है।

10.11 लहरों के राजहंस की रंगमंचीयता

कुछ विद्वान रंगमंचीयता और अभिनेयता को एक ही मानते हैं जबकि यह भ्रामक धारणा है। वास्तव दोनों प्रथक प्रथक तत्व हैं। रंगमचीयता शब्द इस ओर संकेत देता हैं कि अमुक नाटक रंगमंच पर प्रदर्शित हो

के उपर्युक्त है नहीं, अर्थात् रंगमंच में नाटकीय दृश्य विधान आता है। रंगमंचीयता और अभिनेयता के अभाव में किसी भी नाट्यालेख को नाटक की संज्ञा देना समीचीन नहीं होगा। जब नाट्य-आलेख रंगमंच पर प्रस्तुतीकरण के माध्यम से अपने नाट्यानुभव को पूर्ण संप्रेषित कर देता है तब नाटककार की सृष्टि साकार रूप धारण कर लेती है और सृष्टि की पुर्नसृष्टि करता है। निर्देशक, रंगशिल्पी और अभिनेता के माध्यम से। नाट्य-रचना की अंतिम परिणति रंगमचीय अभिव्यक्ति के रूप में ही घटित होती है। अगर यह अभिव्यक्ति रंगमंचीय रूप में सफल नहीं हुई तो मानना चाहिए कि नाटक अपनी अभिव्यक्ति की प्रकिया में कहीं-न-कहीं अवरूद्ध हो गया है। नाटक की रंगमंचीयता के संदर्भ में धर्मवीर भारती का कहना है —

- "नाटक जब तक प्रदर्शित नहीं होता उसके गुण-दोष छिपे रह जाते हैं। रंगमंच ही उसकी सूक्ति एवं सीमा उजागर करता है। नाटक यदि मंचित हो न हो तो उसका विकास असंभव है।"

मोहन राकेश आधुनिक हिन्दी नाट्य-जगत के मसीहा माने जाते हैं। उनके दोनों ही नाटकों का अनेक बार मंचन हो चुका है। उनका पहला नाटक **'आषाढ़ का एक दिन'** प्रकाशित होते ही रंगमंच पर खेला गया। खेलते ही उसे अपार ख्याति मिली। यह नाटक दिल्ली, कानपुर, लखनऊ, इलाहाबाद, कलकत्ता, नागपुर एवं ग्वालियर आदि स्थानों के साथ-साथ अमेरिका, कनाडा आदि विदेशें में भी मंचित हो चुका है। **'लहरों के राजहंस'** में रंगमंचीयता के सभी गुण मौजूद होने के कारण ही यह अनेक बार मंचित हो चुका है। रंगमंच से गहन रूप से जुड़े सुप्रसिद्व निर्देशक श्यामानन्द जालान एवं ओमशिवपुरी के निर्देशन में यह नाटक दिल्ली, कलकत्ता एवं इलाहाबाद में कई बार मंचित हो चुका है। रंगमंच को लेकर यहाँ मोहन राकेश सतत् जागरूक दिखाई देते हैं। उन्होंने इस नाटक में आधुनिक यथार्थवादी नाट्य-शैली को अपनाया है। इस संदर्भ में डॉ० सुरेश अवस्थी का मत है — '"**लहरों के राजहंस**' आधुनिक उसी पद्धति के व्यवहारों और रूढ़ियों का पालन किया गया है, एक ही दृश्यबंध (sey) पर नाटकीय कथा घटित होती है और कथा का विभाजन किया गया। यथार्थवादी नाट्य-रचना पद्धति में एक दृश्यबंध और तीन अंकों वाले नाटकों का विकास आधुनिक रंगमंच के स्वरूप और प्रदर्शन की परिस्थितियों तथा साधनों के कारण हुआ है और उसके पीछे एक शिल्पगत अनिवार्यता है।"

अत: **'लहरों के राजहंस'** एक सफल रंगमंचीय नाटक है, फिर भी अपने विषय की विवेचना के लिए हम इसकी रंगमंचीयता पर विस्तार से चर्चा करेंगें।

10.11.1. कथानक की दृष्टि से

'लहरों के राजहंस' ऐतिहासिक धरातल पर रचा गया काल्पनिक रोमांस नाटक है। इसमें एक ऐतिहासिक और प्रख्यात प्रसंग को नाटकीय रूप में प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत आचार्यों ने नाटक की कथा वस्तु का प्रख्यात होना आवश्यक माना है। इस विषय में आचार्य विश्वनाथ ने **'साहित्य दर्पण'** में लिखा है "नाटक रत्यातवंस्यात् पंच संधि सर्मान्वतम" अर्थात् नाटकीय कथ्य प्रख्यात हो और पाँच संधियों में समन्वित हो। इस नाटक के ऐतिहासिक कथानक के बारे में स्वयं नाटककार कहता है — "प्रस्तुत नाटक का आधार ऐतिहासिक है.....कथा का आधार अवश्घोष का **'सोन्दरानन्द'** काव्य है परन्तु समय के विस्तार में स्थितियों का परिक्षेपण करने के कारण यह काल्पनिक भी है। काल्पनिक अश्वघोष का **'सोन्दरानन्द'** भी हैं, क्योंकि संस्कृत तथा मलि भाषा में जो कथा उपलब्ध थी, उसका अश्वघोष ने अपनी दृष्टि से परिक्षेपण किया है। एक काल्पनिक अन्विति से उसे विस्तार दिया है। **'धम्मपद'** की दीका में नन्द और सुन्दरी की जो कथा है, **'सोन्दरानन्द'** की कथा का प्रभाव और विस्तार में उसे कहीं आगे जाती है।.... यहाँ नन्द और सुन्दरी की कथा

एक आश्रय मात्र हैं, क्योंकि मुझे लगा कि उसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता है।" अत: ऐतिहासि कथानक अवश्य है पर उसमें कल्पना का समावेश भी है। यही कारण है कि नाटक अपनी रोचकता में प पुरातनता की याद दिलाता है, वहीं उसमें चित्रित अन्तर्द्वन्द विशुद्ध आधुनिक सन्दर्भ लिए हुए है। अत: बेश आधार ऐतिहासिक हो पर रूपाचित वर्णन आधुनिक है। इसके विषय में डॉ० सुरेश अवस्थी का कहना है —

'लहरों के राजहंस' में एक ऐसे कथानक का नाटकीय पुराख्यान है जिसमें सांसारिक सुखों अ आध्यात्मिक शक्ति के पारस्परिक विरोध तथा उनके बीच खड़े हुए व्यक्ति के द्वारा निर्णय लेने का अनिव द्वन्द निहित है। इस द्वन्द का एक दूसरा पक्ष स्त्री और पुरूष के पारस्परिक संबंधों का अन्तर्विरोध है। जीवन प्रेम और श्रेय के बीच एक कृत्रिम और आरोपित विरोध है, जिसके कारण व्यक्ति के लिए चुनाव कठिन जाता है और उसे चुनाव करने की भी स्वतन्त्रता भी नहीं रह जाती। चुनाव की यातना ही इस नाटक क कथा-बीज और उसका केन्द्र बिन्दु है। धर्म-भावना से प्रेरित इस कथानक में उलझे हुए ऐसे ही अनेक प्रश्न का इस कृति में नये भाव-बोध के परिवेश में परीक्षण किया गया है।" अत: इस नाटक का कथान ऐतिहासिक होते हुए भी आधुनिक है। नन्द एक ओर प्रवृत्ति मार्गी अनुपम सौन्दर्य युक्त अपनी पत्नी सुन्दरी रूपजल में फंसा है। उससे निकलने की छटपटाहट हैं, मुक्ति की आकांक्षा है तो दूसरी ओर गौतम बुद्ध निवृत्ति मार्ग से प्रभावित है जिसे अपनाने की तीव्र आकांक्षा है। एक ओर उससे सुन्दरी का त्याग नहीं कि जाता तो दूसरी और बौद्धमत को पूर्णत: स्वीकार भी नहीं किया जाता है। लेखक उसकी इस द्वन्दग्रस्त चेतना द ही आधुनिक संदर्भ में व्यक्त करता है। स्वयं राकेश जी का कहना है —"यहाँ नन्द और सुन्दरी की कथ आश्रय-मात्र है, क्योंकि मुझे लगा कि इसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता है। नाटक का मूल अन्तर्द्वन्द उ अर्थ में यहाँ भी आधुनिक है जिस अर्थ में '**आषाढ़ का एक दिन**' के अन्तर्गत है।"

10.11.2. दृश्य योजना

इस नाटक की दृश्य-योजना बड़ी ही आकर्षक एवं व्वास्थित ढ़ंग की है। यह नाटक तीन अंकों में विभाजित है। तीनों ही अंक एक ही दृश्यबंध (set) पर मंचित होते हैं। अंकों को दृश्यों में विभाजित नहीं किए गया है। घटनाओं का केन्द्र सुन्दरी का कक्ष है। जिसमें सभी घटनाएँ घटित होती है। दृश्यबंध के बारे में लेखक प्रारम्भ में ही अपनी निर्देशकीय वृद्धि से करता है—

दाई ओर गोलाकार चबूतरा। सुंदर विधावन, तकिए। पीछे एक ऊँचा दीपाधार; शिखर पर पुरूषभूमि बाहें फैली हुई तथा आँखे आकाश की ओर उठी हुई। बाई ओर एक झूला ओर उससे थोडा हटकर एक मत्स्याकार आसन। आसन के पास ही मदिराकोष्ठ। इसी ओर मंच के आगे के भाग में एक छोटा सा दीपाधार-शिखर पर नारीमूर्ति-बाहें संवलित तथा आँखे धरती की ओर झुकी हुई। दाई ओर आगे के कोने में शृंगारकोष्ठ। खुले भाग में डोरी से बंधी पत्तियों का ढ़ेर।

एक द्वार सामने, खुला होने पर पीछे के गवाक्ष दिखाई देते हैं। दूसरा दाई ओर, अन्दर के कक्षों में जाने के लिए। तीसरा बाई ओर; मत्सयकार आसन और दीपाधार के बीच बाहर उद्यान में जाने के लिए।

पर्दा उठने पर मंच पर दो व्यक्ति है, श्वेताँग और श्यामाँग। श्वेतांग अग्निकोष्ठ से बड़े दीपाधार के दीपक जला रहा है। श्यामाँग पत्तियों के ढ़ेर में उलझा हुआ उन्हें सुलझाने का प्रयत्न कर रहा है।

इसी दृश्य-बंध पर नाटक को तीनों अंक प्रदर्शित होते हैं। एक बात और आजकल नाटकों में मध्यान्तराल भी रखा जाता है। इसी दृष्टि से इस नाटक को खेलते समय अधिकतर निर्देशक दो अंकों के उपरान्त ही दस या

पन्द्रह मिनट का मध्यान्तराल भी रख देते हैं। इस नाटक का कथ्य यथार्थ और काल्पनिकता से ऐतिहासिकता का पुट देकर गढ़ा गया है। वो भी इतना गंभीर कि दर्शक वर्ग को मध्यान्तराल में भी सीधे तौर पर एक मजबूती के साथ पकड़े रहता है।

10.11.3. संकलन त्रय

संकलन-त्रय से अभिप्राय काल, स्थान और कार्य की नाट्य-आन्वतियों से हैं, अर्थात् समय की एकता, स्थान की एकता तथा कार्य की एकता।

(क) समय की एकता – संस्कृत नाट्याचार्य समय की एकता के संबंध में **'अंक में काल-नियम'** के अन्तर्गत विचार करते हैं। लेकिन आधुनिक नाट्य परिपेक्ष्य में इसका अर्थ परिवर्तन हो चुका है। आज के रंगमंच के परिपेक्ष्य में इसका अर्थ लिया जाता है कि नाटक एक ही समय में समाप्त होना चाहिए इस दृष्टि से देखा जाए तो प्रस्तुत नाटक लगभग दो घंटे में खेला जा सकता है।

(ख) स्थान की एकता –भारतीय नाटयशास्त्रकार स्थान की एकता को प्रतिपादित करते हुए इसका संबंध **'देश नियम'** से लेते हैं। इसका अर्थ भी परिवर्तित हो गया है। नाटक एक ही समय में **'एक ही स्थान'** पर होना चाहिए जिससे कि पात्रों और दर्शकों को स्थान-परिवर्तन न करना पड़े। स्थान-परिवर्तन दर्शक में उबाऊपन आ जाता है और नाट्यानुभूति के रसार-वादन में भी बाध्यता आती है।

इस दृष्टि से यह नाटक एक ही स्थान पर, एक ही रंगमंच पर, एक ही समय में बखूबी से खेला भी जा चुका है। और खेला भी जा सकता है, अत: कोई भी बाधा नहीं है।

(ग) कार्य की एकता – इसका अर्थ है कि नाटक में ऐसी कोई भी घटना समाहित न की जाए जो प्रमुख घटना से संबंध न रखती हो। इसका यह अर्थ नहीं है कि नाटक में गौण कथाओं का समावेश ही न किया जाए। आवश्यकतानुसार गौण कथाओं का समावेश इस ढ़ंग से हो कि यह मूल कथा के विकास में सहायक और इसमें संयोजित हो।

इस दृष्टि से प्रस्तुत नाटक में कार्य की एकता विद्यमान है। मूल रूप से इसमें एक ही घटना व्यापक हैं, नन्द की द्वन्दग्रस्त चेतना को उजागर करना। अत: **संकलन-**त्रय की दृष्टि से यह सफल रंगमंचीय नाटक है।

10.11.4. मंच सज्जा

मंच की प्रकिया में लेखक की स्थिति एक अजनबी जैसी होती है। यह सच है, किन्तु यह भी सच ही हैं कि रंगमंच के बारे में लेखक का ज्ञान सीमित होता है और यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि लेखक गम्भीर रूप से रंगमंच से जुड़े हुए नहीं होते, परन्तु आज स्थिति बदल गयी है। फिर मोहन राकेश के बारे में तो यह बिल्कुल भी नहीं कहा जा सकता कि इनका रंगमंच का ज्ञान सीमित हैं, क्योंकि इनके प्रत्येक नाटक का एक नहीं अनेक बार मंचन हो चुका है। **'लहरों के राजहंस'** नाटक में नाटक काटने यत्र-तत्र पर्याप्त रंग-संकेत दिए हैं जिनके आधार पर सहज ही में स्वाभाविक और सुन्दर मंच-सज्जा हो सकती है। हंसों की फड़फड़ाहट, उनका क्रन्दन, भिक्षुओं का समवेत स्वर तथा प्रात:कालीन शंख ध्वनि आदि रंग-संकेत नाटकीय कथा में विशेष प्रयोजन की सिद्धि हेतु रखे गये हैं और रंगमंच के अनुकूल भी हैं। मंच सामग्री के लिए लेखक संकेत देता है "सुन्दर बिछावन, तकिए, पीछे एक ऊँचा दीपाधारा शिखर पर पुरूष मूर्ति-बाहें फैली हुई तथा आँखे आकाश की ओर उठी हुई। बाई ओर एक झूला और उससे थोड़ा हटकर एक मत्यसाकार आसन। आसन के पास ही

मदिराकोष्ठ। इसी ओर मंच के आगे के भाग में एक छोटा दीपाधार; शिखर पर नारी मूर्ति-बाहें संवलित आँखे धरती की ओर झुकी हुई।'' अत: मंच सज्जा में उपयोग आने वाली सामग्री ऐसी है कि जिसे आसा जुटाया जा सकता है।

10.11.5. पात्र-योजना

किसी नाटक में अगर पात्रों की संख्या कम अथवा सीमित हैं तो निर्देशक को ही नहीं, दर्शकों के कथ्य की पकड़ में सुविधा रहती है। दर्शक वर्ग पात्रों को उनकी वेशभूषा और संवादों से ही पहचानते है। ह संख्या ज्यादा होगी तो दर्शक को पहचानने में परेशानी होगी, जो नाट्य सम्प्रेषणीयता में दोष माना जाता है।

इस दृष्टि से देखें भी तो प्रस्तुत नाटक में पात्र-संख्या सीमित है और दर्शक शीघ्र ही उनसे तादात्म्य लेते हैं। पात्रों के कम होने के कारण उनके वस्त्राभूषण की समस्या भी जटिल नहीं हो सकी है। सबसे बड़ी यह है कि पात्रों के वस्त्र-परिवर्तन की योजना भी नहीं रखी है। अत: इस दृष्टि से भी '**लहरों के राजह** सफल रंगमंचीय नाटक ठहरता है।

उपर्युक्त रंगमंचीय तत्वों से हटकर भी अगर हम नाटक की रंगमंचीयता पर कुछ विचार करें तो उस भाषिक एवं संवादीय संरचना भी उसके मंचन की सफलता और असफलता से जुड़ी हुई है। मंचन की दृष्टि संवाद संक्षिप्त, प्रवाहपूर्ण, सक्षम और मार्मिक होने चाहिए। उनमें रोचकता और कौतुहल होना चाहिए बरि दर्शक वर्ग का तादात्म्य बना रहे। इस दृष्टि विवेचना करने पर हम पाते हैं कि '**लहरों के राजहंस**' के संव रंगमंचीय है। इसके संवाद संक्षिप्त, कलात्मक, मार्मिक, यथार्थपरक और व्यंग्यपूर्ण है; जिन्हें सुनने में दश आनन्द का अनुभव करता है। रही भाषा की बात। नाटक को रंगमंचीय बनाने में उसके भाव-सम्प्रेषण के लि भाषा के योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। नाटक को रंगमंचीय बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी भाषा इतनी सहज, सरल, और रोचक होनी चाहिए। कि सामान्य दर्शक भी उसे आसानी से समझ सके '**लहरों के राजहंस**' की भाषा किलष्ट नहीं है। इसका कथानक यद्यपि ऐतिहासिक है फिर भी भाषा किलष्टता नहीं है। हाँ परिवेशगत यथार्थता के निर्वाह के लिए गवाक्ष, आपानर, विशेषक आदि कुछ विशिष ओर अप्रचलित शब्दों का प्रयोग अवश्य हुआ है किन्तु समग्र रूप से नाटकीय भाषा की बात हैं, वह सहज सरल एवं बोधगम्य ही है।

निष्कर्षत – '**लहरों के राजहंस**' एक सफल रंगमंचीय नाटक है, परन्तु ध्यान रखने की बात यह है कि रंगमंच पर यह नाटक बड़ी-ही-सूझ-बूझ से अभिनीत किया जाता है, क्योंकि नाटक का विषय नन्द व अन्तर्द्वन्द ग्रस्त चेतना हो उजागर करना अपने आप में जटिल है जिसें रंगमंच पर दिखाना सहज नहीं, कठि जरूर है, पर असंभव नही हैं।

10.12 पात्र का चरित्र-चित्रण

मोहन राकेश ने '**लहरों के राजहंस**' नाटक की सर्जना एक द्वन्द्वप्रधान नाटक के रूप में की है। इसकी वस्तु-योजना एवं पात्र-योजना में द्वन्द्व को प्रबल रूप से मुखरित किया है। असल में, यहाँ नाटककार ने नाटक के प्रमुख पात्रों के माध्यम से आधुनिक एवं युगों-युगों की द्वन्द्वग्रस्त चेतना को अभिव्यक्त किया है। यहाँ सभी प्रधान पात्रों का चरित्र द्वन्द्वग्रस्त है। नाटक में नन्द, सुन्दरी ही नहीं श्यामाँग का चरित्र भी द्वन्द्वग्रस्त है। वास्तव मे इन द्वन्द्वग्रस्त पात्रों के माध्यम से नाटककार ने प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दर्शनों के द्वन्द्वों से ग्रस्त मानव चेतना को

मुखरित किया है। यह आधुनिक भी हो सकता है और सार्वकालिक भी इस विषय में स्वयं मोहन राकेश जी नाटक की भूमिका में लिखते हैं —

"यहाँ नन्द और सुन्दरी की कथा एक आश्रय मात्र है, क्योंकि मुझे लगा कि इसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता है। नाटक का मूल अन्तर्द्वन्द्व उस अर्थ में यहाँ भी आधुनिक है, जिस अर्थ में "आषाढ़ का एक दिन" के अन्तर्गत है।"

अत: नाटककार के इस वक्तव्य को ध्यान में रखकर **'लहरों के राजहंस'** के मुख्य पात्र नन्द के चरित्र-वित्रण की विवेचना की करना अधिक सभीचीन होगा। नन्द इस नाटक का सशक्त एवं सर्वाधिक द्वन्द्वग्रस्त पात्र है। वह नाटक का प्रमुख पात्र है और नायक के रूप में उभरा है। वह नाटकीय कथा में आदि में अन्त तक उपस्थित रहता है। राकेशजी ने युगों-युगों से प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्ग के बीच मानव चेतना की द्वन्द्वग्रस्ता के प्रतीक रूप में नन्द को प्रस्तुत किया है। ऐतिहासिकता में नन्द कपिलवस्तु का राजकुमार है और भगवान गौतम बुद्ध का सौतेला भाई है। अनुपम सुन्दरी का पति है और नित्यप्रति भोग विलास का जीवन जीने का अभ्यस्त है।

10.12.1. नन्द-द्वन्द्वग्रस्त चेतना का प्रतीक

नाटककार ने नन्द को द्वन्द्वग्रस्त चेतना के प्रतीक रूप में उभारा है। वह प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्गों के बीच खड़ा है। खड़ा क्या डोल रहा है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार लहरों पर हंस तैरता या डोलता रहता है। वह इन दोनों में से एक के चुनाव की यातना का भोक्ता है। उसे नाटककार ने प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्गों के बीच युगों से द्वन्द्वग्रस्त मानव चेतना के प्रतीक रूप में प्रयुक्त किया है। इसलिए वह भौतिक विलासमय जीवन जीता है और पारलौलिक सुख की खोज में बौद्धमत को स्वीकारने की कोशिश करता है। वह न अपनी पत्नी (प्रवृत्ति मार्ग) को छोड़ पाता है न ही पूर्णतया से बौद्धमत को स्वीकारने की कोशिश करता है। उसका दोनों के प्रति आकर्षण है और यहीं अन्तविरोध उसे किसी एक का नहीं होने देता। वह सुन्दरी से प्यार करता है। उसकी सुन्दता पर वह मोहित है। उसका प्रसाधन भी अपने हाथों से करना चाहता है। जब सुन्दरी प्रसाधन कर रही होती है तो वह हाथों में दर्पण लेकर खड़ा हो जाता है। लेकिन जब उसे सूचना मिलती है कि द्वार पर गौतम बुद्ध भिक्षा लेने आए थे और किसी ने भी भिक्षा नहीं डाली तो वह विक्षुब्ध हो जाता है और वह अस्थिर हो जाता है जिससे दर्पण हिलकर गिरकर टूट जाता है। दर्पण का टूटना प्रतीकात्मक अर्थ रखता है। दर्पण का टूटना वास्तव में उसके हृदय का टूटना है जिससे सुन्दरी अपनी खण्डित रूपाकृति देखकर सिहर उठती है। वह बुद्ध के पास क्षमा याचना के लिए जाना चाहता है और चला भी जाता है, किन्तु बुद्ध जबरन उसके केश कटवा देता है जिससे वह ग्लानिवश घर नहीं लौटता, वन की और चला जाता है और वहाँ प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों से सीधे साक्षात्कार करता है। एक व्याघ्र से भी भिड़ता है फिर क्षत-विक्षत होकर घर की और लौटता है और अपने अन्तर्द्वन्द्व को उजागर करता हुआ भिक्षु आनन्द से कहता है —

- "और नहीं भिक्षु। यह बातों का खेल हमारे बीच और नहीं खेला जाएगा स्वर्ग और नरक, वैराग्य और विवेक, शील और संयम, आर्यसत्य और अमृत — मैं जानता हूँ, वाणी के छल से तुम मुझे किस ओर ले जाना चाहते हो। मैं तथागत के सामने कह चुका हूँ और अब फिर से कहे देता हूँ कि वह दिशा मेरी नहीं हैं कदापि नहीं है।"

उसके स्वगत कथनों में यह अन्तर्द्वन्द्व और भी अधिक मार्मिकता के साथ मुखरित हुआ है। यथा —

- "जानता था कि यह प्रवत्तिआत्म-विनाश की है, परन्तु उस प्रवृत्ति को मैं रोक क्यों नहीं सका? क्यं जानबूझकर आत्म विनाश को निमंत्रित किया, और फिर स्वयं ही आत्म-रक्षा के लिए उस तरह गया? क्षत-विक्षत हम दोनों हुए.....पलायन भी एक तरह से दोनों ने किया .....।"

"आत्म-विनाश और आत्म-रक्षा, दोनों प्रवृत्तियों के बीच एक साथ मैं कैसे जिया और क्यों और तरह जी कर क्या सुख मिला? और क्या यह सुख की ही खोज थी जिसने उस तरह जीने के लिए f किया? या यह केवल मन का विद्रोह था..... बिना विश्वास एक विश्वास के अपने ऊपर लादे जाने के f या इसलिए कि इस समय मैं इतना सत्वहीन क्यों हो गया कि भिक्षुआनन्द के कर्तनी उठाने पर चिल्ला नहीं कि — "यह विश्वास मेरा नहीं हैं। मैं तुम्हारा या किसी और का विश्वास ओढ़कर नहीं जी सकता, नहीं चाहता।".....उन्होंने केश कटवा दिए, तो क्या व्यक्तिरूप में मैं अधिक सत्य हो गया? जिह्वा कटवा हाथ-पैर कटवा देते, तो और अधिक सत्य हो जाता। कोन कह सकता है कि भ्रांति वस्तुत: किसे हैं; उन मुझे?"

"उन्होंने कहा, मैं मैं नहीं हूँ, तुम तुम नहीं हो, वह वह नहीं हैं.....सब किसी उंगली से आकाश में न गए चित्र हैं जो बनते-बनते साथ ही मिटते जाते हैं, जिनका होना न होने से भिन्न नहीं हैं।.....पर मैं पूछता ह जब होने न होने में कोई अन्तर नहीं हैं, तो मेरे केश क्यों कटवा दिए? कटवा ही दिए तो उससे अन्तर पड़ता है। कुछ ही दिनों में फिर नहीं उग आएंगे?..... अन्तर पड़ता यदि मेरा हृदय बदल जाता, आँखे व जाती। मेरे हृदय में तुम्हारे लिए अब भी वहीं अनुराग हैं, आँखों में तुम्हारें रूप की वही छाया है।"

इससे भी तीव्रतम स्थिति नन्द के निम्न संवाद में देखिए —"तब प्रश्न उन्होंने पूछे थे.....अब मुझे उ उनसे कई-कई प्रश्न पूछने होंगे.....जीने की इच्छा को कितने-कितने प्रश्नों ने एक साथ घेर लिया है। व्या लड़कर भी मन को शांति नहीं मिली।....लगता है अभी और लड़ना है, बहुत लड़ना है....ऐसे किसी से जि पास लड़ने के लिए भुजाएं नहीं हैं।.....मन में मृत्यु का भय है.....किसी भी प्रकार की मृत्यु का.....परन्तु भय में साथ एक आकर्षण भर दिया गया है। अस्तित्व और अस्तित्व के बीच मेरी चेतना को प्रश्नचिह्....केवल एक प्रश्नचिह् बनाकर छोड़ दिया गया है। क्यों ... पहले इसी प्रश्न का उत्तर मुझे उ जानना है..... आज ही और अभी।

उपर्युक्त उद्धारणों से स्पष्ट होता है कि नाटककार ने नंद को द्वन्द्वग्रस्त चेतना के प्रतीक रूप मे उभारा है

2. नंद :

विलासी राजकुमार :

नंद का विलासी व्यक्तित्व है वह अपनी अनुपम सौन्दर्य युक्त पत्नी सुन्दरी के रूप में ही उलझा रहत वह मदिरापान भी करता है। तभी तो नाटककार ने कहा— नंद मदिराकोष्ठ के पास आकर चषक में मं डालता है। तभी सुन्दरी की दृष्टि उस पर पड़ती है)

सुन्दरी : (चौंककर) आप?..... आप कब आए? अभी-अभी तो मैं....।

नंद : (चषक होठों के पास ले जाकर) मैं अभी आया हूँ।

(चषक खाली करके यथास्थान रख देता है)

एक ओर तो कपिलवस्तु के राजपुरूष, राजकर्मचारी और सामान्य लोग बौद्धमत में दीक्षा ग्रहण कर रहे थे, और दूसरी ओर नंद अपनी पत्नी सुन्दरी द्वारा कामोत्सव के आयोजन की तैयार) में सहयोग देते दिखाई देते हैं–

"हां... नहीं ... ऐसी कुछ विशेष बात नहीं थी। मैं यही कहना चाहता था कि.... व्यवस्था यदि उद्यान के स्थान पर कक्ष में की जाए, तो.....।"

नंद तो सुन्दरी के प्रसाधन में भी सहयोग करता है। वह दर्पण हाथ में लेकर खड़ा हो जाता है :–

"कि मैं किस अधिक मुग्ध हूँ..... तुम्हारी सुंदरता पर या तुम्हारी चातुरी पर ।"

व्रह दतना विलासमयी है कि बौद्धधर्म में दीक्षित होने पर भी वापिस सुन्दरी के पास आता है। उसे निहारता है और बौद्धमत में अपनी अस्वीकृति दिखाता है–

"यह केवल मन का विद्रोह था.... बिना विश्वास एक विश्वास के अपने ऊपर लादे जाने के लिए? या कि इसलिए कि उस समय में इतना सत्वहीन क्यों हो गया कि भिक्षु आनन्द के कर्तनी उठाने पर चिल्ला नहीं सका कि यह विश्वास मेरा नहीं है। मै तुम्हारा या किसी और का विश्वास ओढ़कर नहीं जी सकता, नहीं जीना चाहता।"

वह केश कटने के बाद अपने को सुन्दरी के बिना अकेला महसूस करता है। इसीलिए वह कहता है–

"तब नहीं लगा था, पर अब लगता है कि केश काटकर उन्होंने मुझे अकेला कर दिया है। घर से..... और अपने आपसे भी अकेला! जिस सामर्थ्य और विश्वास के बल पर जी रहा था, उसी के सामने मुझे असमर्थ और असहाय बनाकर फेंक दिया गया है।"

नंद विलासी होने के कारण ही किसी एक पथ को नहीं चुन पाया। नहीं तो वह दोनों में ही एक मार्ग का चयन कर लेता।

3. अस्थिर व्यक्तित्व :

नन्द का स्थिर व्यक्तित्व नहीं है और उसमें स्थिर लेने की भी क्षमता नहीं है। शक्ति हो भी तो साहस नहीं करता। यह केवल सुन्दरी के रूप पर मोहित है। वह पूर्णत: भोगवादी दिखाई देता है, लेकिन ज्योंकि उसे 'बुद्ध' शहणं गच्छामि? का समवेत स्वर प्रबलता से सुनाई देता है तो उसका सुन्दरी (प्रव तिमार्गी) के प्रति आकर्षित मन टूट जाता है और वह बौद्ध मत की शरण में भागता है। केश कर्तन करवा लेता है, किन्तु वह वहाँ भी नहीं ठहर पाता, वापिस लौटता है पर ग्लानिवश वन की ओर चला जाता है। वहाँ भी एक व्याघ्र से भिड़ता है, अथार्त-प्रवति मार्ग से साक्षात्कार करता है। फिर क्षत-विक्षत घर लौट ही आता है। किन्तु उसका अस्थिर मन यहाँ भी नहीं टिकता। वह फिर कुछ प्रश्नों के उत्तर पाने के लिए बुद्ध के पास जाता है। अत: उसका अस्थिर मन उसे कहीं भी नहीं टिकने देता, कोई भी स्थिर निर्णय नहीं लेने देता । वह अन्त तक कमलताल की लहरों पर तैरते-डोलते राजहंसो की तरह अस्थिर बना रहता है।

4. नंद: एक अहिसंक व्यक्ति:

नंद एक अहिंसक मानव है। वह बौद्ध दर्शन के अनुरूप ही अंहिसात्मकता का पालन करता है। उसकी यह भावनाहिरण के प्रसंग से स्पष्ट हो जती है। संध्याकाल में नंद जब आखेट से वापिस आता है तो सुन्दरी से अपनी अहिंसात्मक भावना को व्यक्त करता हुआ कहता है–

"सच, थकान उतनी शरीर की नहीं जितनी मन की है। मृग मेरे बाण से आहत नहीं हुआ इससे मन उतना खेद नहीं हुआ, जितना इससे..... कि जब थककर लौटने का निश्चय किया तो वही मृग..... थोड़ी दूर आगे.... रास्ते में मरा हुआ दिखाई दे गया।" मृत्यु का यह शरीरी आतंक वास्तव में बुद्ध दर्शन की चेतना ही आतंक है जिसने उसके मन में अहिंसा-भाव का जन्म दे दिया है। इसी विषय में वह आगे कहता है—

"मैंने कभी सोचा तक नहीं था कि मरा हुआ मृग भी इतना सजीव लग सकता है ऐसे लग रहा था उसे हाथ लगाते ही वह आशंका से कांप जाएगा और सहसा उठकर भाग खड़ा होगा। पर मैं उसे हाथ भी तो न लगा सका। आखेटकों ने उसे उठा लाना चाहा, तो मैंने मना कर दिया। कहा कि उसे वहीं रहने दो, उसी रूप मृत और.... जीवित।"

नंद दूसरे दिन तक भी मृग के प्रसंग को भूल नहीं पाया ओर अपने कक्ष के गवाक्ष से अनन्त क्षितिज की ओर देखता हुआ उसी के बारे सोचता रहता है। सुन्दरी के पूछने पर कहता है– "नहीं, उस मृग की बात सोच रहा था। सोच रहा था कि घने वृक्षों की ओट में पड़ा हुआ वह....। वहाँ पड़ा हुआ वह कैसा लग रहा था। और न जाने क्यों इस समय प्रभात का फीका चाँद भी मुझे कुछ वैसा ही लगा..... कोमल, अक्षत और निर्जीव।"

जब गौतम बुद्ध उसके केश कटवा देते हैं तो वह फिर भी मृग को देखने के लिए जाता है और उसकी ठठरी देखकर कांपने लगता है। वापिस घर आने पर वह सोयी हुयी सुन्दरी के पास जाकर कहता है—

.... तुम पूछतीं, क्यों, तो मैं क्या उत्तर देता? क्या कहता कि तथागत के पास से उठ आने के बाद बराबर मन में कल के मरे हुए मृग को देखने की कामना इतनी प्रबल हो आयी थी कि किसी भी तरह अपने को वहाँ जाने से रोक नहीं सका? कैसे बताता कि मृग के स्थान पर एक नोच खायी ठठरी को देखकर मुझे कैसा लगा।'

5. नंद : उद्दाम प्रेम का प्रतीक:

राकेश जी ने नंद को उद्दाम प्रेम का प्रतीक प्रस्तुत किया है। वह सुन्दरी से अत्यधिक प्रेम करता है। वह तो सुन्दरी के प्रेम से आतंकित भी दिखाई देता है। जो विलास-भावना उसके मन में जागती है, वह सुन्दरी के प्रेम के कारण ही जागती है। यथा—

नंद : एक बात का मैं कभी निश्चय नहीं कर पाता।

सुंदरी : किस बात का?

नंद : कि मै किस पर अधिक मुग्ध हूँ.... तुम्हारी सुन्दरता पा या तुम्हारी चातुरी पर।

सुन्दरी : आप मुझे चतुर कहते हैं?

नंद : नहीं हो तुम?

सुन्दरी : कहते हैं, आपका ब्याह एक यक्षिणी से हुआ है जो हर समय आपको अपने जादू से चलाती है।

नंद : इसमें झूठ क्या है?

सुन्दरी : झूठ नहीं है?

नन्द : यक्षिणी हो या नहीं, यह तो मै नहीं कह सकता पर मानवी तुम नहीं हो। ऐसा रूप मानवी का नहीं होता।

वह गौतम बुद्ध के निवत्ति मार्ग से प्रभावित है। बुद्ध के पास जाकर केश कर्तन भी करवा लेता है, बौद्ध धर्म की दीक्षा ले लेता हे, किन्तु फिर भी वह अपने उद्दाम का परित्याग नहीं कर पाया, बल्कि बुद्ध धर्म की दीक्षा ले लेता है, किन्तु फिर भी वह अपने उद्दाम प्रेम का परित्याग नहीं कर पाया, बल्कि बुद्ध मत में ही अविश्वास प्रकट करता हुआ कहता है।

''पर मै पूछता हूँ कि तब होने न होने में कोई अन्तर नहीं है, तो मेरे केश क्यों कटवा दिए? कटवा ही दिए, तो उससे अन्तर क्या पड़ता है। कुछ ही दिनों में फिर नहीं उग पाएंगे। (झूले के पास रूककर) अन्तर पड़ता यदि मेरा हृदय बदल जाता, आँखे बदल जाती। मेरे हृदय में तुम्हारे लिए अब भी वही अनुराग है, आँखों में तुम्हारे रूप की अब भी वही छाया है''। उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि नंद एक उद्दाम प्रेम का प्रतीक रूप है।

अत: यहाँ राकेश जी ने ऐतिहासिक नंद के चरित्र को विलासिता के युगों से प्रवत्ति एवं निवत्ति मार्ग के बीच मानव की द्वन्द्वग्रस्त चेतना के अस्थिर व्यक्तित्व के, मानव मन की अहिंसात्मक भावना के आधुनिक प्रतीक रूप में उभारा है। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राकेश जी ने उन्हे नायक बनाया है। वह नायक ठहरता भी है, क्योंकि वह नाटककार के उद्देश्यों की पूर्ति करता है।

मोहन राकेश ने 'लहरो के राजहंस' नाटक की सर्जना एक द्वन्द्वप्रधान नाटक के रूप में की है। इसकी वस्तु-योजना एवं पात्र योजना में द्वन्द्व को प्रबल रूप से मुखरित किया है। असल में, यहाँ नाटककार ने नाटक के प्रमुख पात्रों के माध्यम से आधुनिक एवं युगों-युगों की द्वन्द्वग्रस्त **चेतना को अभिव्यक्त किया है। यहाँ सभी प्रमुख पात्रों का चरित्र द्वन्द्वग्रस्त है।** नाटक में नंद, सुन्दरी ही नहीं श्यामाँग का चरित्र भी द्वन्द्वग्रस्त है। वास्तव में इन द्वन्द्वग्रस्त पात्रों के माध्यम से नाटकार ने प्रवत्ति एवं निवत्ति दर्शनों के द्वन्द्वों से ग्रस्त मानव चेतना को मुखरित किया है। यह आधुनिक भी हो सकता है और सार्वकालिक भी इस विषय में स्वंय मोहन राकेश का नाटक की भूमिका में कहना है—

यहाँ नंद और सुन्दरी की कथा एक आश्रय मात्र है, क्योंकि मुझे लगा कि इसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता है। नाटक का मूल अर्न्तद्वन्द्व उस अर्थ में यहाँ भी आधुनिक है, जिस अर्थ में 'आषाढ़ का एक दिन' के अन्तर्गत है।''

अत: नाटककार के इस वक्तव्य को ध्यान में रखकर 'लहरों के राजहंस' की मुख्य पात्र सुन्दरी के चरित्र-चित्रण की विवेचना करना अधिक समाचीन होगा।

सुन्दरी 'लहरों के राजहंस' नाटक की नायिका और नायक नंद की पत्नी है। वह प्रवत्ति मार्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली प्रतीकात्मक पात्रा है। वह गौतम बुद्ध के निवत्ति मार्ग में आस्था **नहीं रखती वरन् उसके विपरीत भौतिक देह-सुख भोग को ही अपना अभीष्ट मानती है** और देवी यशाधरा से स्वभावत: ईर्ष्या करती है। अत: उसके चरित्र पर विस्तार से चर्चा करना अपेक्षित है।

1. भोगवाद की प्रतीक सुन्दरी:

राकेश जी ने सुन्दरी के चरित्र को प्रवृत्ति मार्गी दर्शन के प्रतीकात्मक रूप में उभारा है। वह जीवन के भौतिक -सुख-भोग को ही जीवन का सबसे बड़ा सुख और अभीष्ट मानती है। वह अपनी कामेच्छाओं का

स्थगत स्वीकार नहीं कर सकती। उसे पता है कि देवी यशोधरा कल प्रात: गौतम बुद्ध के निवृत्ति मार्ग में दी ग्रहण करेगी, इसलिए वह उससे पूर्व की रात्रि में कामोत्सव का आयोजन करती है। वह अपनी भोगवत्ति उजागर स्वंय ही करती है–

"रात बीतने दे, फिर अपने मन से पूछना। रात-भर नगरवधू चन्द्रिका के चरणों की गति से इस कक्ष हवा कांपती रहेगी। हवा कांपती रहेगी, और डुलती रहेगी मदिरा उसकी आँखों से, उसके एक-एक अंग गोराई से। कपिलवस्तु के राजपुरूष रात-भर मदिरा में और अन्यान्यमणि-मदिराओं में डूबते-उतराते रहेंगे। देखेगी और विश्वास नहीं कर सकेगी। जो नहीं देखें, वे तो कल्पना भी नहीं कर पायेंगे।"

एक ओर तो कपिलवस्तु के राजपुरूष, राजकर्मचारी और जन-सामान्य सांसारिकता से विमुख होक गौतम बुद्ध के निर्वाण मार्ग में दीक्षा ग्रहण कर रहे हैं, दूसरी ओर भोग की प्रतीक प्रवृति मार्गी सुन्दरी कामोत्स का आयोजन करती है जिसमें रात्रि के अंतिम पहर तक भोजन, आपानक नृत्य चलेगा। इसका उजागर कर हुआ श्यामाँग कहता है–

"पिछले वसंत में आम कैसे बौराये थे! पेड़ो की डालियाँ अपने आप हाथों पर झुक आती थीं.... पर तब यहाँ कामोत्सव का आयोजन नहीं किया गया। आयोजन किया गया है इस बार..... जब आम के वृक्षों भिक्षुओं का वेश धारण कर रखा है।..... कल प्रात: देवी यशोधरा भिक्षुणी के रूप में दीक्षा ग्रहण करेंगी औ यहाँ.... रात-भर, नृत्य होगा, अपानक चलेगा।

सुन्दरी भोगवाद में विश्वास रखती है तभी तो वह शशांक नामक राजसेवक को पुराने रस और आसव मिलाकर कई प्रकार के नए सम्मिश्रण बनाने के लिए आदेश देती है। वह गौतम बुद्ध के निवत्ति मार्ग को, उसके दष्टिकोण को श्रेष्ठ मानती है। इसीलिए तो वह गौतम बुद्ध पर आरोप लगती है–

"कहना चाहने की बात नहीं, अलका! मै तुझे एक छोटी-सी सच्चाई बतला रही हूँ। लोग कहते हैं कि गौतम बुद्ध ने बोध प्राप्त किया है। कामनाओं को जीता है। पर मैं कहती हूँ और ऐसी कामना किसी के मन मे क्यों जागती है?"

सुन्दरी का यह उपर्युक्त तथ्य स्वीकार नहीं है क्योंकि अगर ऐसा होता तो कपिलवस्तु के समस्त राजपुरूष, सामान्य-जन बौद्धमत में क्यों दीक्षित हो रहा है? सभी के सभी बौद्धमत को स्वीकार करने में इतना उत्साह क्यों दिखा रहे हैं? सुन्दरी इसके प्रत्युत्तर में कहती है "इसका अर्थ इतना ही है अलका, कि बहुत दिन एक तार जीवन बताकर लोग अपने से ऊब जाते है। तब जहाँ कुछ भी नवीनता दिखाई दे, वे उसी ओर उमड़ पड़ते हैं। यह उत्साह दूध फेन का उबाल है। चार दिन रहेगा, फिर शान्त हो जाएगा।" यही नहीं वह गौतम बुद्ध के निवत्ति मार्ग पर व्यंग्य भी करती है। वह अलका से कहती है।

"कोई गौतम बुद्ध से कहे कि कभी कमलताल के पास आकर इनसे (राजहंसो) भी वे निर्वाण और अमरत्व की बात कहे। ये एक बार चकित दृष्टि से उनकी ओर देखेंगे, फिर कांपती लहरें जिधर ले जाएंगी, उधर को तैर जायेंगे। शायद उस दिन एक बार गौतम बुद्ध का मन नदी तट पर जाकर उपदेश दने को नहीं होगा। मैं चाहूँगी कि उस दिन..... ।"

सुन्दरी कामोत्सव का आयोजन करती है। लेकिन कामोत्सव में निमंत्रित व्यक्तियों में से कोई भी नहीं आता, केवल एक मैत्रेय आता है। वह भी सुन्दरी को परामर्श देता है कि कामोत्सव को एक दिन के लिए

स्थगित कर दिया जाए, यह सुनकर सुन्दरी तकदम मततमा उठती है, क्योंकि यह उसके प्रवत्ति मार्ग पर निवत्ति मार्ग की ओर से एक प्रहार था और सुन्दरी पराजित होना नहीं चाहती थी, तुरन्त कहती है–

"कामोत्सव कामना का उत्सव है, आर्य मैत्रेय! मै अपनी आज की कामना कल के लिए टाल रखूं। क्यों? मेरी कामना मेरे अन्तर की है। मेरे अन्तर में उसकी पूर्ति भी हो सकती है। बाहर का आयोजन उसके लिए उतना महत्व नहीं रखता जितना कुछ लोग समझ रहे हैं।"

2. आधुनिक अभिजात्य नारी की प्रतीक:

सुन्दरी आधुनिक अभिजात्य वर्ग की प्रतीक रूप में उभरी है। उसके व्यक्तित्व में राकेश जी ने आधुनिक नारी जीवन के अनेक तत्वों का समावेश हुआ है। इसी कारण वह अपने प्रत्येक सामान्य या विशेष सामयिक या असामायकि कार्य को चिरस्मरणीय बनाना चाहती है। इसीलिए वह कामोत्सव के बारे में अपने कर्मचारियों से कहती है–"हाँ, रात के अंतिम पहर तक! भोज आपानक और नृत्य; वर्षों तक याद बनी रहनी चाहिए लोगों के मन में"। उसके दर्शन को हम चार्वाक दर्शन से प्रभावित मान सकते है या आधुनिक पाश्चात्य Eat. drink and mary की धारणा पर आधारित मान सकते हैं। वह अलका से कहती है..." रात भर नगरवधू चन्द्रिका के चरणों की गति से इस कथा की हवा कांपती रहेगी। हवा कांपती रहेगी और ढुलती रहेगी मदिरा, उसकी आँखों से, उसके एक-एक अंग की गौराई से.....।

सुन्दरी के व्यक्तित्व में अभिजात्य वर्ग की नारी जैसा शासन भाव भी विद्यमान है। इसी कारण वह अपनी बातों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देती है....." क्यों आज तक कभी हुआ है कि कपिलवस्तु के किसी राजपुरूष ने इस भवन में निमन्त्रण पाकर अपने को कृतार्थ समझा हो? नंद कामोत्सव में भाग लेने के लिए अनेक लोगों के पास स्वयं जाता है, लेकिन कोई नहीं आता, इस बात का जब सुन्दरी को पता चलता है तो वह अत्यन्त विक्षुब्ध हो उठती है और कहती है– "मेरे उत्सव में लोग अनुरोध करने से आए, इससे उनका न आना ही अच्छा है।" वह अत्यन्त उद्विग्न अवस्था में आर्य मैत्रेय से कहती है। "आर्य मैत्रेय यदि जाना चाहते हैं, जाते हुए भी एक बार उनके यहाँ होते जाएं। उन सबसे कह दें कि मेरे यहाँ आने के लिए किसी कल की प्रतिक्षा में वे लोग न रहें। वह कल अब उनके लिए कभी नहीं आएगा, कभी नहीं.....।"

देखा जाए तो यह उतावलापन सुन्दरी के व्यक्तित्व के खोखलेपन का ही द्योतक है और यह खोखलापन आधुनिक दृष्टिकोण से परखते हुए डॉ. जयदेव तनेजा का कहना है–

"नन्द और सुन्दरी के माध्यम से राकेश ने जिस तरह औरत और मर्द के आपसी रिश्ते का रेशा-रेशा उधेड़ा है, उनके संबंधों को जैसी निर्ममता और निष्ठुरता से विश्लेषित किया है, वह आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि का ही परिणाम या प्रमाण है।"

3. अनुपम सौन्दर्यशालिनी

सुन्दरी अनुपम सौन्दर्यशालिनी नारी है। उसका व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक हैं वह अभिजात्यवर्गीय सौन्दर्य से युक्त हैं वह शारीरिक के साथ-साथ व्यवहारिक सौन्दर्य की स्वामिनी हैं नंद उसके सौन्दर्य पर मोहित एक नतमस्तक तो है, ही कुछ आतंकित भी है। उदाहरणत:

नंद—एक बात का मैं कभी निश्चय नहीं कर पाता।

सुन्दरी—किस बात का?

नंद—कि मैं किस पर अधिक मुग्ध हूँ.....तुम्हारी सुन्दरता पर या तुम्हारी चातुरी पर।

सुन्दरी—आप मुझे चतुर कहते हैं?

नंद—नहीं तो तुम?

सुन्दरी—(जैसे बहुत भोलेपन से) नहीं तो।

सुन्दरी—पता है लोग क्या कहते हैं?

सुन्दरी—कहते हैं, आपका ब्याह एक यक्षिणी से हुआ है जो हर समय आपको अपने जादू से चलाती है।

नंद—इसमें झूठ कया हैं?

सुन्दरी—झूठ नहीं है?

नंद—यक्षिणी हो या नहीं, यह तो मैं नहीं कह सकता, पर मानवी तुम नहीं हो। (स्थिर दृष्टि से उसकी-ओर देखता हुआ) ऐसा रूप मानवी का नहीं होता।

4. ईर्ष्यालु नारी

सुन्दरी स्वभावत: नारीगत ईर्ष्या-भाव की शिकार है यह देवी यशोधरा से ईर्ष्या करती है। इसी कारण वह उसी पूर्व रात्रि में कामोत्सव का आयोजन करती है जिस दिन देवी यशोधरा बौद्धमत में दीक्षा ग्रहण करती है। वह राजकुमार सिद्धार्थ के गौतम बनने के पीछे देवी यशोधरा को ही कारण मानती हुई व्यंग्यात्मक शब्दों में कहती है—"यही तो दु;ख है कि आज वे राजकुमार सिद्धार्थ नहीं है। परन्तु राजकुमार सिद्धार्थ आज गौतम बुद्ध बनकर आए, इसका श्रेय भी तो देवी यशोधरा को हैं नहीं?

एक स्थल पर श्यामाँग सुन्दरी के ईर्ष्या भाव को व्यक्त करता है। "कामोत्सव का आयोजन किया गया है, इस बार जब आम के वृक्षों ने भिक्षुओं का वेश धारण कर रखा है। ..... कल प्रात: देवी यशोधरा भिक्षुणी के रूप में दीक्षा ग्रहण करेंगी और यहाँ .... यहाँ रात भर नृत्य होगा, आपानक चलेगा...।"

सुन्दरी के इस ईर्ष्यालु भाव से नंद परिचित है, इसलिए जब यशोधरा कहती है कि वह भिक्षुणी बनने से पहले अपने संबंधियों में मिलना चाहती है और मिलने के लिए नंद के पास निमंत्रण भी भेजती है। नंद सुन्दरी को बिना बातये ही यशोधरा से मिलने चला जाता है। वापित आने पर जब वह सुन्दरी को बताता है कि वह देवी यशोधरा से मिलकर आ रहा है और तुम्हारे लिए उन्होंने आर्शीवाद भेजा, है तभी वह तमतमा उठती है और कहने लगती है—

"आत्म-वंचना की भी एक सीमा होती है। आज के दिन वे आशीर्वाद देंगी और मुझे। मन में क्या सोच रही होगी, मैं अच्छी तरह जानती हूँ उन्हीं के कारण .....।"

अत: सुन्दरी का ईष्यामत्व सपष्ट हो जाता है।

5. सुन्दरी का विद्रोह एवं द्वन्द्व

सुन्दरी का पूर्ण विश्वास था कि उसका पति नंद कभी भी उसके सौन्दर्य-पाश से मुक्त होकर बौद्ध-भिक्षु नहीं बन सकता। लेकिन जब वह प्रसाधन कर कर रही होती है। और नंद अपने आथों में दर्पण लिए हुए होता है तो वह हिलकर गिरकर टूट जाता है, तभी वह शंकाग्रस्त होकर कहती है—"जानना चाहती हूँ कि कया दर्पण

का टूटना सचमुच आकारण ही था...या उस समय आप कोई और बात सोच रहे थे?" इसी के साथ उसका विश्वास भी खण्डित हो जाता है, लेकिन उसे इस विश्वास के खण्डित होने का एहसास तब होता है जब वह एक ओर अपने अधूरे शृंगार को देखती है तो दूसरी ओर अपने सम्मुख केश कर्तित नंद को देखती है। उसकी इस स्थिति के विषय में डॉ० सुरेश अवस्थी का कहना है।

"एक ओर तो नन्द के मन का यह द्वन्द्व है, और दूसरी ओर रूपगर्विता सुन्दरी के इस खण्डित विश्वास की पीड़ा कि उसमें आसक्त उसका पति कैसे उसके रूपपाश से मुक्त होकर बौद्ध भिक्षु होकर उन्हीं हाथों में विक्षापात्र लेकर उसे पास लौटा है, जिन हाथों में उसे शृंगार के लिए उसने दर्पण उठाया था। ..... नाटक के अन्त में जब वह नन्द के द्वारा चन्दन लेप का बिन्दु बनाए जाने पर चौंककर जाग जाती है तो उसकी दृष्टि नंद के केश कटे हुए भिक्षु-वेशी मुख पर पड़ती है। उसका मुख वितृष्णा से भर जाता है।"

नंद केश कटवा कर घर आता है तो वह सुन्दरी को निहारकर सोचता है कि सुन्दरी को तुम्हारे केश चाहिए अर्थात, सुन्दरमा चाहिए जिसमें केशों का होना अनिवार्य है इसीलिए वह केश लेने के लिए वापिस गौतम बुद्ध के पास जाता है। लेकिन सुन्दरी की सोच इसके विपरीत आधुनिक नारी की सी है। वह पुरुषवादी इस सोच के प्रति विद्रोह-भावना रखती है। इसी कारण उसका अन्तर्द्वन्द्व और अधिक गहन हो उठता है और वह विद्रोहात्मक भावना को व्यक्त करती हुई कहती है—

"इतना ही तो समझ पाते हैं ये लोग ..... बस इतना ही तो इनकी समझ में आ पाता है।..... इससे कभी समझ भी नहीं पाएंगे ये ..... कभी नहीं समझ पाएंगे।"

6. अहंनिष्ठ नारी

सुन्दरी अंहनिष्ठ नारी है। वह कामोत्सव का आयोजन करती है लेकिन मैत्रेय को छोड़कर निमंत्रित व्यक्तियों में से कोई भी नहीं आता। मैत्रैय भी यह परामर्श देता है कि कामोत्सव को स्थगति कर दिया जाए, यह सुनते ही वह तमतमा उठती है, क्योंकि वह इसे निवृत्ति मार्ग की ओर से एक षड्यनत्र मानती है। और कहती है—"मैं अल्पवस्थित नहीं हूँ। किसी का कोई षड़यन्त्र मुझे अत्यवस्थित नहीं कर सकता।"

मैत्रैय यह सुनकर वापित जाना चाहता है लेकिन नंद उसे रोकने की कोशिश करता है। इसी समय सुन्दरी बड़ी उद्विग्नता से जा कहती है उसे उसकी अहं भावना ही झलकती है—

"(आप से बाहर होकर) अपने उद्वेग का वास्तविक कारण मैं स्वयं हूँ। और किसी को यह अधिकार मैं नहीं देती कि वह मेरे उद्वेग का कारण बन सके। आर्य मैत्रेय यदि जाना चाहते हैं, तो इन्हें भी जाने दीजिए। कह दीजिए कि जिनके यहाँ से होकर आए हैं, जाते हुए ाी एक बार उसके यहाँ होते जाएं उन सबसे कह दें कि मेरे यहाँ आने के लिए किस कल की प्रतिक्षा में वे न रहें। वह कल अब उसके लिए कभी नहीं आएगा। कभी नहीं ....।"

अत: कहा जा सकता है कि लेखक के मूल उद्देश्य युगों-युगों से मानव की प्रवृत्ति एंव निवृत्ति दर्शन के बीच द्वन्द्वग्रस्त चेतना को मुखरित करने में सुन्दरी एक ओर प्रवृत्ति मार्ग के दर्शक का प्रतिनिधित्व करती है तो दूसरी ओर पुरुष प्रधान समाज की नारी के प्रति सोच का आधुनिक नारी के रूप में विद्रोह भी प्रकट करती है। वह अनुपम सौन्दर्य शालिनी है इसीजिए उसे अपने रूप सौन्दर्य पर गर्व है और वह राजरानी है इसलिए वह अहंनिष्ठ भी है।

10.13 श्यामांग–अर्थवक्ता

मोहन राकेश ने लहरों के राजहंस नाटक में श्यामाँग नाटक में श्यामाँग प्रसंग को जिस प्रकार से प्रयुक्त किया है, उससे वह चर्चा का विषय बन गया है। सामान्यत: अधिकांश विद्वान श्यामाँग को कुमार नंद का द्वन्द्वग्रस्त चेतना का प्रतीक मानते हैं। परन्तु वे यह भूल जाते है कि ऐसा मानने से उसका व्यक्तित्व नंद के व्यक्तित्व में ही अन्तर्निहित होकर रह जाता है। अगर हम यह मान भी लें कि वह नंद की अन्तर्द्वन्द्व चेतना का प्रतीक है तो भी नाटक में उसका अलग से व्यक्तित्व अवश्य बना रहता है। उसकी महत्ता एवं आर्वता नाटक के प्रारम्भ से ही स्पष्ट होने लगती है। नाटकारम्भ्य में ही उसका स्वर नाटकीय कथा को उद्घाटित करता है और ध्यान आकर्षित करता है और नाटकांक तक उसका स्वर सुनाई देता रहता है। आरम्भ में ही वह पत्तियों को तोड़ने और सुर्लझाने में व्यस्तभाव से श्वेतांग से कहता है–

"मुझे तुमसे ईर्ष्या होती है।" यह ईर्ष्या क्यों है? क्योंकि श्वेतांग अपने कार्य में लगा रहता है जबकि श्यामाँग अपनी मानसिक उलझनों में ही उलझा रहता है। वह ईर्ष्या का कारण स्वंय बताता है– "देखो न एक के बाद एक दीपक जलता जाता है। न कुछ उलझता है, न कुछ बिखरता है।"

श्यामाँग की इस उलझन में नाटक की सारी कथा-प्रक्रिया उलझी ही दिखाई देती है। उसे प्रकाश की को भी किरण दिखाई नही देती। नन्द अपनी यातनामयी स्थिति को निर्णय के हाथों में सौंपकर चला जाता है किन्तु फिर भी श्यामाँग का स्वर सुनाई देता है– "केवल एक किरण ... केवल एक किरण...।"

श्यामाँग के इस प्रलाप से ऐसा लगता है कि विवशता से ही सही नंद से निर्णय की एक किरण मिल ही जाती है जबकि श्यामाँग को वह नहीं मिल पाती।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट हो जाता है कि श्यामाँग का व्यक्तित्व नन्द में अन्तर्हित होकर भी उससे अलग अस्तित्व रखता है। कारणत: कहा जा सकता है कि आधुनिक द्वन्द्वग्रस्त चेतना का अंकन जितना श्यामाँग के व्यक्तित्व से हुआ है, उतना नंद के व्यक्तित्व से नहीं हुआ। शायद श्यामाँग के इसी प्रसंग के कारण नाटककार की स्वंय की चेतना भी अन्तद्वन्द्वग्रस्त रही है। तभी तो उन्होंने नाटक का यह परिवर्तित रूप' शीर्षक की भूमिक में लिखा– "पहले अंक से हटाना चाहा तो हटा नहीं सका, दूसरे अंक में उसके लिए स्थान बनाना चाहा तो वह भी बना नहीं सका।" इसी कारण श्यामाँग पहले अंक के बाद रंगमंच पर दिखाई नहीं देता। पर इतना जरूर है कि दूसरे और तीसरे अंकों में नेपथ्य से उसका ज्वर-प्रताप संगीत खण्डों में अवश्य सुनाई देता रहता है। यह ज्वर-प्रलाप नंद की द्वन्द्वग्रस्त चेतना को गहराई भी देता है जिससे यह प्रलाप प्रतीकात्मक बन जाता है। यह प्रतीक केवल नन्द की द्वन्द्वग्रस्त चेतना को ही मुखर नहीं करता। बल्कि मनुष्य के युगों-युगों के द्वन्द्व से मुखर करता है। शायद इसी कारण नाटककार ने श्यामाँग के रूप में उसकी अत्यधिक आकर्षक एवं सशक्त सजीव पात्र की ऐतिहासिक परिवेश में सर्जना की है। कुछ आलोचक श्यामाँग और अलका के मौन आकर्षक और प्रेम को नन्द और सुन्दरी के उद्दाम प्रेम का प्रतीक मानते है। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि किसी एक का प्रेम दूसरे का प्रेम का प्रतीक कैसे हो सकता है? हमारे विचार में यह कल्पना निरर्थक है। क्योंकि ऐसा मानने से श्यामाँग और अलका के अस्तित्व को नकार देना है और नंद एवं सुन्दरी के अस्तित्व, व्यक्तित्व में जान-बूझकर अन्तर्हित करने का प्रयत्न करना है। अगर ऐसा होता तो न नाटककार अन्तर्द्वन्द्वग्रस्त रहता और न ही वह श्यामाँग को पहले अंक से हटाकर दूसरे अंक में लाने का असफल प्रयत्न करता। भले ही श्यामाँग कल्पित पात्र है, लेकिन वह नाटककार की सृजनात्मक प्रक्रिया में एक व्यक्तित्व बनकर उभरा है। हमारा तो यहाँ तक मानना

है कि श्यामाँग एक प्रतीक होते हुए भी उसका नंद से भी अधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व है। उसका इतना प्रभावशाली व्यक्तित्व है कि नाटककार के प्रतिबन्धित करने पर भी वह नन्द के व्यक्तित्व पर छा गया है और वह दर्शकों की सहानुभूति नंद से भी ज्यादा प्राप्त करता है। डा. सुरेश अवस्थी श्यामाँग को नंद द्वन्द्वग्रस्त चेतना का प्रतीक मानते हुए कहते हैं—

"आरम्भ में लगता है कि श्यामाँग और अलका का अत्यन्त सहज, कोमल और मौन पारस्परिक आकर्षण सुन्दरी और नंद के उद्दाम, मुखर और कामासक्त प्रेम का ही एक प्रतिरूप है। इस प्रकार यह प्रसंग एक निश्चित नाटकीय प्रयोजन की सिद्धि की चेष्ठा करता है और फिर बाद में यही श्यामाँग नन्द के अस्थिर और द्वन्द्वजर्जर मन का एक प्रतिरूप बन जाता है और अपने ज्वर-प्रलाप में जैसे नन्द की ही अनिश्चितता, विभ्रम और अकुलाहट को ध्वनित करता है।"

श्यामाँग और अलका के मौन प्रेम को सुन्दरी नंद के उद्दाम प्रेम का प्रतीक मानने के विषय में ऊपर चर्चा हो चुकी है। रहा नन्द के द्वन्द्वग्रस्त मन के प्रतीक का प्रश्न, तो उसे भी हम आंशिक ही स्वीकारते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि श्यामाँग के प्रलाप से नन्द के द्वन्द्व को बल मिला है, किन्तु उसका प्रलाप उसी के अवचेतन मन की ग्रंथि मुख्य रूप से जो अचेतावस्था में अधिक सशक्त रूप में मुखर हुई है। नाटक के प्रारम्भ से है श्यामाँग एक अन्तर्मुखी चिन्तनशील व्यक्ति के रूप में उभरा है। यही कारण है कि जब उसे अन्धकूप में डाल दिया जाता है। तो उसकी अन्तमुर्खता प्रलाप का रूप धारण लेती है। अलका सुन्दरी के वार्तालाप से उनका निजी व्यक्तित्व ही उभरता है। अलका सुन्दरी से कहती है—

"नहीं देवी! छाया की बात से मैं विश्वास नहीं करती। पर मैं कई दिन से देख रही हूँ कि ... धीरे-धीरे उसे कुछ होता जा रहा है..... अपनी मानसिक शक्तियों से उसका अधिकार उठता जा रहा हैं।... कि वह अपने में ही कहीं खोया जा रहा है... मन में कुछ ग्रंथियाँ उलझ गयी हैं और वह... उसे सहानुभूति उपचार की आवश्यकता है, देवि, मैं कितना चाहती थी कि मैं उसे ... कि उसके लिए कुछ किया जा सके...।"

अर्थात् श्यामाँग का द्वन्द्व अपना है। वह किसी से मेल नहीं बैठता। श्यामाँग के प्रलाप को नंद का अन्तर्मुखी भाव नहीं माना जा सकता। इतना जरूर है कि श्यामाँग का प्रलाप नंद के द्वन्द्व को प्रबल अवश्य करता है। नाटकारम्भ में श्यामाँग कामोत्सव के बारे में अपने विचार व्यक्त करता है तो वहाँ उसका अपना ही वैचारिक द्वन्द्व है। उदाहरणत:—

"श्वेताँग कहता कुछ सोचों नहीं... पर सोचना न सोचना अपने बस की बात है? पिछले वसन्त में आम कैसे बौराये थे। पेड़ों की डालियाँ अपने आप हाथों पर झुक आती थी। परन्तु तब यहाँ कामोत्सव का आयोजन नहीं किया गया। आयोजन किया गया है इस बार... जब आम के वृक्षों ने भिक्षुओं का वेश धारण कर रखा है।... कल प्रात: देवी यशोधरा भिक्षुणी के रूप में दीक्षा ग्रहण करेगी और यहाँ... यहाँ रात भर नत्य होगा, आपानक चलेगा...।"

एक अन्य स्थल पर सुन्दरी भी कुछ ऐसा ही कहती है— "उससे प्रेम तो नहीं करती? मैने नहीं सोचा कि तू... पर तू किसी से प्रेम करती है, तो उस तरह के सपने कैसे देखती?... और श्यामाँग... वह ऐसा व्यक्ति है क्या जिससे ... पर शायद यह बात पूछने की नही... मुझे इस विषय में सोचना होगा।"

यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि श्यामाँग का अपना व्यक्तित्व है और अलका उससे प्रेम करती है। इसी कारण उसका द्वन्द्व भी उसी का है। सुन्दरी का संवाद तो इस बात को और भी स्पष्ट कर देता है कि वह अलका से पूछती है—'' तुझे विश्वास है, तू सचमुच उससे प्रेम करती है?''

एक बात और कि सुन्दरी नंद के आने से पहले ही पहला आदेश वापिस लेकर श्यामाँग की अन्धकूप मुक्ति का दूसरा आदेश भी दे देती है। कुछ मिलाकर देखा जाए तो अलका, श्यामाँग का प्रेम प्रसंग उ अपना ही है न कि नंद और सुन्दरी का प्रतीक रूप।

लेकिन डॉ. सुरेश अवस्थी इस बात से सहमत नहीं है। वे तो श्यामाँग की महता इसी कारण मानते है वह नंद के मन के द्वन्द्व एवं संघर्ष को ध्वनित करता है। उनकी दृष्टि में श्यामाँग एक व्यक्ति के रूप में पहले अंक में मर जाता है और अपने प्रसंग और उन मूल्यों से पूरी तरह से कट जाता है जो नाटकीय दृष्टि महत्वपूर्ण है। प्रश्न उठता है कि क्या वास्तव में श्यामाँग पहले अंक के बाद नाटक से अपनी भूमिका को लेता है? इसका उत्तर डॉ. सुरेश अवस्थी के ही वक्तव्य में मिल जाता है– "दूसरे अंक के प्रारम्भ में एक श्यामाँग का नेपथ्य से उभरता है और उधर नंद अपने मन की उद्विग्नता के कारण रात गए तक जाग रहा है दोनों स्वर एक दूसरे से टकराते है और एक-दूसरे को काटते है और तब ऐसा लगता है कि नन्द ही रंगमंच अनिन्दा में अशांत बैठा है और नंद ही नेपथ्य से प्रलाप कर रहा है। कोई स्वर नहीं... कोई किरण नहीं है एक छाया है... अंधेरे कूप में भटकती हुई छाया।''

अवस्थी के इस कथन में विरोधाभास दिखाई देता है। प्रश्न उठता है कि जब श्यामाँग की चरित्र अवधारणा और उसके कार्यो और कथनों के मन्तव्य स्पष्ट नहीं है तो फिर नन्द की चरित्रगत अवधारणा उसके कार्यों और कथनों के मन्तव्य भी स्पष्ट हो सकता और यदि नंद के व्यक्तित्व में अस्पष्टता है तो नाट का सृजन ही अपना मूल्य खो बैठता है।

इस नाटक में श्यामाँग के प्रसंग को लेकर एक और प्रश्न उठता है। जब सुन्दरी के रूप जाल—प्रेम अ बुद्ध के निवत्ति मार्ग को लेकर नंद की चेतना द्वन्द्वग्रस्त हो जाती है तो श्यामाँग की चेतना अलका के प्रेम अ बुद्धमत को लेकर द्वन्द्वक्यों नहीं मचता? फिर चिन्तनशील और भावुक मन में तो और भी प्रबलता: से सकता है, क्योंकि उसके माध्यम से उस युग का बोध भी तो हो सकता है। उस समय बुद्ध का प्रभाव बढ़ था। कपिलवस्तु के लोक विशेषत: राज कर्मचारी बड़ी तीव्रता से उसकी ओर आकर्षित हो रहे थे, दीक्षा ग्रह कर रहे थे। मैत्रेय के संवादो से भी कोमोत्सव के प्रसंग में इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। सुन्दरी के बुलाने भी वे लोग कामोत्सव में नहीं आते। मैत्रेय कहता है–

"जिन-जिनसे मै मिला हूँ, उनमें से हर एक ने किसी-न-किसी कारण अपनी असमर्थता प्रकट क हुए, क्षमा-याचना की है— रविदत्त, अग्निवर्मा, नीलवर्मा, ईषाण, शैवाल, सभी ने।

नंद के माध्यम से जहाँ नाटककार ने एक ओर राजपरिवार के एक व्यक्ति के निर्णय के यातनामय द्व को आकार प्रदान किया है, वहाँ श्यामाँग के माध्यम से उस युग की समान्य और विशेषत: राजपुरुषों ए कर्मचारियों की स्थितियों का चित्रण किया है। उनके सामने भी एक ओर प्रवत्तिमार्ग का आर्कषण है तो दूस ओर बौद्ध मत की पुकार भी है। अत: कहाँ जाए? का प्रश्न, किसको अपनाए का द्वन्द्व चेतन का द्वन्द्व है, जबा श्यामाँग का द्वन्द्व युगों-युगों की अन्तर्मुखी सामान्य जनता का द्वन्द्व है। उसे नन्द की ही चेतना में अन्तर्हित न बताया जा सकता है, क्योंकि अंत में राजपरिवार का द्वन्द्व किनारा पा जाता है। जबकि प्रजा का द्वन्द्व बना

रहता है। वैसे तो श्यामाँग और नंद में से किसी को भी बौद्ध मत में दीक्षित होते नहीं दिखाया गया। सूक्ष्म दृष्टि से देखे तो नंद की आँखों में केश-कर्टन के बाद सुन्दरी का रूप ही समाया रहता है, पर ध्वनित हो जाता है कि नन्द ने दीक्षा ले ली। श्यामाँग का अंतिम प्रलाप से भी यही उजागर हाता है कि निवत्ति मार्ग में ही द्वन्द्व का परिहार है—'' बस एक किरण ... केवल एक वि.रण...।'' अत: यह किरण प्रवति नहीं , निवत्ति मार्ग के रूप में ही है जो नंद या श्यामाँग को मिल नहीं पाती, क्योंकि उस किरण को पाना अर्थात् निवत्ति मार्ग को अपनाते हुए दिखाना नाटककार का उद्देश्य भी नहीं था। उसका उद्देश्य तो युगों से मानव की द्वन्द्वग्रस्त चेतना को उजागर करना था।

इस प्रकार हम श्यामाँग प्रसंग को द्वन्द्वग्रस्त चेतना को रूपायित करने में उसकी भूमिका को हम नंद के समान मान सकते हैं, पर नंद के व्यक्तिव में ही अर्न्तहित नहीं मान सकते, क्योंकि श्यामाँग का प्रेम संबंध अपना है और नंद की अपेक्षा वह अधिक अन्तर्मुखी है। इसी प्रकार उसका द्वन्द्व भी अपना है। जो नन्द की अपेक्षा अधिक गहरा और व्यापक है। उसके द्वन्द्व की अभिव्यक्ति में अधिक गहराई निम्न पंक्तियों में देखी जा सकती है—

''जब आम के वृक्षों ने भी भिक्षुओं का वेश धारण कर रखा है... कल प्रात: देवी यशोधरा भिक्षुणी के रूप में दीक्षा ग्रहण करेंगी और यहाँ .... रात भर नृत्य होगा, आपानक चलेगा....।''

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि श्यामाँग प्रसंग के बारे में स्वंय नाटककार भी द्वन्द्वग्रस्त है। नाटककार की स्थिति को समझते हुए डॉ. सुरेश अवस्थी का कहना है—''लेकिन श्यामाँग प्रसंग नाटकीय दृष्टि में महत्वपूर्ण होकर भी दर्शक की रूचि और नाटक के सहज प्रभाव में बाधक बनता है। इसका कारण यह है कि श्यामांग चरित्रगत अवधारणा और उसके कार्यों और कथनों के मन्तव्य स्पष्ट नहीं है और ऐसा लगता है कि उनके सम्बन्ध में नाटककार दुविधाग्रस्त है।''

भले ही अवस्थी जी ने नाटककार को दुविधाग्रस्त बता दिया हो, लेकिन वास्तविकता कुछ और ही है जिसे आगे-चलकर अवस्थी जी स्वंय स्वीकारते हैं—''इस प्रकार नाटककार एक साथ ही जैसे श्यामाँग से दो काम लेना चाहता है (अपनी भी और नन्द की अभिव्यक्ति भी) और दो प्रयोजनों की सिद्धि चाहता है। श्यामाँग के चरित्र का यही विरोधाभास (तब तो यह विरोधाभास नन्द के चरित्र का ही होना चाहिए) इस अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रसंग (तो निश्चित रूप से यह एक स्वतन्त्र एंव महत्वपूर्ण प्रसंग है, नाटकीय शक्ति को क्षीण कर देता है। और इसी कारण अलका का अत्यन्त प्रयोजनशील और स्पष्ट चरित्रांक पूरी तरह विकसित नहीं हो पाता।'' अत: अवस्थी जी एक ओर श्यामाँग के व्यक्तित्व को स्वीकारते हुए नजर आते है तो दूसरी ओर उसे नकारते हुए भी— ''श्यामाँग प्रसंग नाटक के पूरे रूपबंध का ही अंग है, और वह नाटक की मुख्य कथा वत्ति और द्वन्द्वभाव को ही अधिक तीव्र बनाता है। अपना स्वामत अस्तित्व नहीं निर्मित करता।

हाँ, यह जरूर है कि श्यामाँग प्रसंग में अलका का चरित्र विकसित नहीं हो पाता। वह अधूरा ही रह जाता है। परन्तु क्या हम इसे आधार मानकर समूचे श्यामाँग प्रसंग को, उसके व्यक्तित्व को नकार दे? नहीं।

श्यामाँग के व्यक्तित्व की महता को सिद्ध करने के लिए हम यहाँ शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक 'जूलियस सीजर' का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। इस नाटक का नायक आरम्भ में ही मारा जाता है, किन्तु उसके व्यक्तित्व को प्रभाव अन्त तक बना रहा है। आलोचकों ने नायक सीजर की आत्मा को स्वीकार किया है, क्योंकि संपूर्ण कथा को परोक्ष रूप से वही नियंत्रित रखता है। इसी विषय में हम एक और उदाहरण ले सकते

है। बंगला उपन्यासकार प्रेमनाथ विशी के 'पूर्णावतार' उपन्यास में कृष्ण की मृत्यु आरम्भिक पृष्ठों में ह ज़ाती है। किन्तु वह सम्पूर्ण कथा में छाया रहता है। अत: श्यामाँग का प्रसंग भी कुछ इसी प्रकार का है नाटक के प्रथम अंक में तो रंगमंच पर उपस्थित होता है, फिर उसे अंधकूप में डाल दिया जाता है। बस ने से उसका ज्वर प्रलाप ही सुनाई देता है। लेकिन यह प्रलाप ही उसके व्यक्तित्व को आकृति प्रदान करता है दर्शको को आकर्षित, प्रभावित करता है। अत: पुरजोर तरीके से यही कहेंगे कि श्यामाँग प्रसंग से नाटकक युगों-युगों के मानव-चेतना के द्वन्द्व को उजागर किया है। अगर हम नाटक से श्यामाँग प्रसंग को हटा ल 'लहरों के राजहंस' की नाटकीयता एवं उसके उद्देश्य (द्वन्द्वग्रस्त चेतना को उजागर करना) पर प्रश्न चिह्न जाएगा।

अत: श्यामाँग का अपना व्यक्तित्व है। उसका नितान्त अपना प्रेम है और भी उसका अपना ही है। उ प्रसंग तो दर्शको/पाठकों में कौतुहल एवं उत्सुकता को श्रीवद्धि करता है। कुल मिलाकर कह सकते हैं श्यामाँग प्रसंग तो 'लहरों के राजहंस' नाटक की एक आवश्यक कड़ी है जो नाटक को यर्थाकता और गह प्रदान करती है। जिसकी नाटक के लिए विशेष महत्ता है।

संदर्भित पुस्तकें

मोहन राकेश: लहरों के राज़हंस	—	प्रकाशक राजकमल, दिल्ली
मोहन राकेश का नारी संसार	—	डॉ० मीना पिपलापुरे
मोहन राकेश: व्यक्तित्व एवं कृतित्व	—	डॉ० सुषमा अग्रवाल
मोहन राकेश और उनके नाटक	—	गिरीश रस्तोगी
लहरों के राजहंस: विविध आयाम	—	डॉ० सुरेशचन्द शुक्ल
नाटककार मोहन राकेश (संवाद शिल्प)	—	मदनलाल
नाटक रंगमंच और मोहन राकेश	—	डॉ० सुरेन्द्र यादव
मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक	—	डॉ० नेमिचन्द्र जैन
अपने नाटक के दायरे में मोहन राकेश	—	तिलकराज शर्मा
अज्ञेय और मोहन राकेश के उपन्यासों में यथार्थ की परिकल्पना	—	डॉ० रॉय जोसेफ
नाटककार मोहन राकेश	—	जीवन प्रकाश जोशी
नाटककार मोहन राकेश	—	सुन्दरलाल कथूलिया
नाटककार मोहन राकेश: कल्पना का यथार्थ	—	विष्णुकान्त शास्त्री
मोहन राकेश की रंगसृष्टि	—	डॉ० जगदीश शर्मा
मोहन राकेश के नाटक: एक मूल्यांकन	—	डॉ० प्रसून प्रसाद
मोहन राकेश के साहित्य का सामाजिक चित्रण	—	अर्जुनदेव तड़वी
मोहन राकेश के नारी संसार	—	डॉ० श्रीमती मीना पिपलापुरे
मोहन राकेश के नाटक: एक मूल्यांकन	—	डॉ० प्रसून प्रसाद
मोहन राकेश का नाटय साहित्य	—	डॉ० पुष्पा बंसल
नाटक रंगमंच और मोहन राकेश	—	डॉ० सुरेन्द्र यादव
मोहन राकेश के नाटकों की समीक्षा	—	प्रो० राजेश शर्मा
आधुनिक नाटकों में प्रयोगधर्मिता	—	डॉ० सत्यवती त्रिपाठी
अपने नाटकों के दायरे में मोहन राकेश	—	तिलकराज शर्मा

बोध प्रश्न

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न–

1. मोहन राकेश के नाटक 'लहरों के राजहंस' की तात्विक विवेचना कीजिए।
2. मोहन राकेश के नाटक 'लहरो के राजहंस' की प्रकृति एवं निवृत्ति दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. मोहन राकेश के नाटक 'लहरों के राजहंस' की वस्तु योजना किस प्रकार की है?
2. मोहन राकेश के नाटक 'लहरों के राजहंस' के नाम की सार्थकता स्पष्ट कीजिए।
3. मोहन राकेश के नाटक 'लहरों के राजहंस' के प्रतीकात्मक प्रयोगों को स्पष्ट कीजिए।
4. मोहन राकेश के नाटक 'लहरों के राजहंस' की संवाद योजना किस प्रकार की है?
5. देशकाल–वातावरण की दृष्टि से मोहन राकेश के नाटक 'लहरों के राजहंस' की समीक्षा कीजिए।

इकाई (Unit)

11

आधे-अधूरे : नाटक में अभिव्यक्त संवेदना एवं शिल्प

संरचना

11.1 प्रस्तावना
11.2 संवेदना की विविध परिभाषाएँ
11.3 संवेदना की अवधारणा
11.4 संवदेना के विविध रूप और 'आधे-अधूरे'
11.4.1 व्यक्ति और समाज संबंधी संवेदना
11.4.2 नई और पुरानी पीढ़ी : विचार वैभिन्नता
11.4.3 पारिवारिक संबंधों में विघटन
11.4.4 स्त्री-पुरुष संबंध
11.4.5 स्त्री की त्रासदी
11.4.6 आगे बढ़ने की लालसा
11.4.7 असंतोष की भावना
11.5 आधे-अधूरे की अभिनेयता
11.6 आधे-अधूरे की सम्वाद योजना
11.7 आधे-अधूरे : उद्देश्य अथवा प्रतिपाद्य
11.8 आधे-अधूरे : आधुनिकता
11.9 आधे-अधूरे : युगबोध
11.10 आधे-अधूरे : प्रयोगधर्मिता
11.11 आधे-अधूरे की भाषा शैली
1.11.1 सहजता, सरलता और रोचकता
11.11.2 भावानुकूलता एवं प्रवाहमयता
11.11.3 पात्रानुकूल भाषा
11.11.4 ध्वन्यात्मकता एवं व्यंग्यात्मकता
11.11.5 विविध भाषाओं के शब्दों एवं मुहावरों का सार्थक प्रयोग
11.11.6 सपाटबयानी एवं यथार्थवादी शैली
11.12 पात्रों का चरित्र-चित्रण
11.12.1 महेन्द्रनाथ
11.12.2 अशोक
11.12.3 बड़ी लड़की अथवा बिन्नी
11.12.4 सावित्री
11.13 आधे-अधूरे और आधुनिक जीवन के प्रश्न
11.14 आधे-अधूरे : चरित्र और समाज
11.15 आधे-अधूरे और नाटकीय रंगमंचीय संदर्भ

11.1 प्रस्तावना

हृदय को जो भाव स्पर्श करे अथवा छू ले उसे संवदेना कहते हैं। किसी भी भाव या स्थिति का हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है और उसकी जो प्रतिक्रिया होती है उसे संवेदना कहते हैं। इस बात को इस प्रकार भी समझा जा सकता है। यदि हम अपने आस-पास ही नजर डालें तो यह दुनिया कितनी बड़ी और भरी पूरी नजर आती है। इसके इतने सारे रंग और रूप है। इतने सारे पदार्थ और वस्तुएँ है प्रत्येक वस्तु या प्रत्येक घटना हम पर किसी न किसी रूप से असर करती है, जैसे पानी में पत्थर फेकने से तरंग उठती है वैसे ही हम जब कुछ देखते हैं। तो हम भी प्रतिक्रिया करते हैं। हमारा भी हृदय प्रतीत होता है कि संवेदना मात्र इन्द्रियों के उत्तेजना की ही चेतना अवस्था है।

11.2 संवेदना की विविध परिभाषाएँ

संवेदना 'संस्कृत' का शब्द है। जिसका अर्थ है सुख-दु:ख का अनुभव या ज्ञान की प्रतीति। 'संवेदन' शब्द पुलिंग है। इसमें 'आ' प्रत्यय लगने से उसका स्त्रीलिंग रूप 'संवेदना' बना है। विभिन्न विद्वानों ने 'संवेदना' का अर्थ स्पष्ट करने की कोशिश की है। संवेदना शब्द की व्युत्पति 'वेदना' शब्द के पूर्व 'सम्' उपसर्ग लगा देने से होती है। यह 'वेदना' शब्द 'विद्' धातु से बना है। संस्कृत भाषा में इस 'विद्' धातु का अर्थ पीड़ा या संताप के अतिरिक्त प्रमुख रूप से ज्ञान से होता है। विद् धातु में 'धृ' ल्युट और 'टाप्' प्रत्यय लगा देने से वेदना शब्द बनता है।

विद् + धृ + ल्युट् + टाप् = वेदना

इस 'वेदना' शब्द के पर्व 'सम्' उपसर्ग लगाने से 'सवेदना' शब्द बना है। 'सम्' का अर्थ होता है—सम्यक रूप से, समान रूप से अथवा प्रत्यक्ष रूप से। जिस रूप में है, उस रूप से। इस प्रकार संवेदना का व्युत्पत्ति परख अर्थ पीड़ा या ज्ञान की सम्यक रूप से बोध कराने से होता है। 'सवंदना' शब्द में 'सम्' उपसर्ग है। 'सम्' उपसर्ग जुड़ने पर संवेद 'संवेदन' और 'संवेदना' शब्द बनते हैं। जिसका सामान्य अर्थ क्रमश: है—अनुभव या वेदना, अनुभव या प्रतीत करना और सहानुभुति।

"साधारणत: संवदेना या संवेदना शब्द का अर्थ होता हैं अनुभव करना, सुख-दु:ख आदि की प्रतीत करना ज्ञान अथवा अनुभूति विदित होना। संवेदना शब्द के मूल में 'वेद' शब्द है। वेद से वेदना और संवेदना शब्द बने हैं। हिन्दी में यह शब्द प्राय: सहृदयता, सहानुभूति (सह + अनुभूति) के यथार्थ के रूप में ही प्रचलित है।"

अंग्रेजी में 'संवेदन' के करीब पड़ने वाला शब्द है—संसेशन (SENSATION), फिलिंग (FEELING), सेंसिटिव (SENSITIVE)। अंग्रेजी पर्याय के अनुसार 'संवेदना' शब्द के अतर्गत इन्द्रियानुभव भागनुभव सहानुभूति, अनुभव प्राप्ति की प्रक्रिया आदि का समाहार हो जाता है।

साहित्य में इस शब्द का प्रयोग इस सीमित अर्थ में नहीं किया गया है। विशेषत: जब हम मानवीय संवेदना की बात करते हैं तो उसका आशय मात्र ज्ञानेन्द्रियाँ को अनुभव न रहकर मानव मन की अतल गहराइयों में छिपी करूणा, दया एवं सहानुभूति की उदात्त वृत्तियों तक हो जाता है। इतने व्यापक अर्थ में संवेदना 'अनुभूति' का भी व्यंजक है।

समग्रत: संवदेना का अर्थ हुआ—वस्तुबोध की प्रक्रिया में मस्थिष्क की विशिष्ट उत्तेजना की भाँति विह्वल हृदय से नि:सृत विशिष्ट अर्थ-दृष्टि। किसी के प्रति उपजी करुणा या दु:ख को देखकर स्वयं भी वैसा ही अनुभव करना संवेदना है। आधुनिक साहित्य संज्ञा कोश (गुजराती) में उसे अन्त:क्षेप (EMPTHY)

'सम-संवेदना' कहा गया है। भाषा, भाव और प्रेरणा तीनों ही प्रत्येक काल में संवेदना को नई अर्थवत्ता प्र करते हैं। इसी तरह संवदेना का मूल अर्थ हुआ अनुभूति करना, सहृदयता, सहानुभूति, करुणा, सम—संवे रूप में अभिव्यक्त करना, इन्द्रियानुभव आदि संवेदना के अर्थ की पुष्टि करते हैं।

संवेदना का कोशगत अर्थ—'संवेदना' का शाब्दिक अर्थ को जानने के पश्चात् अब हमें संवेदना कोशगत अर्थ को जानना आवश्यक है।

1. हिन्दी-संस्कृतकोश के अनुसार—

"संवदेनम् अनुभवः सुख-दुःखादि प्रतीति।"

2. दिनमान हिंदी शब्द कोश के अनुसार—

"संवेदना का अर्थ अनुभव, अनुभूति है।"

3. संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर के अनुसार—

"संवेदना अर्थात् सम-वेदना का द्योतक है"

4. नालंदा विशाल शब्द सागर के अनुसार—

"मन में होने वाले शोध या अनुभव और किसी की प्रकट में देखकर होने वाला दु सहानुभूति।"

5. गुजराती के बहुचर्चित ग्रंथ भगवद्गोमंडल के अनुसार—

संवेदना जानना अनुभवजन्य, इंद्रियों के माध्यम से ज्ञान-जानकारी वहीं संवदेना-लगाव आंतर चेत उर्मि।"

6. शब्दार्थ विचारकोश के अनुसार—

गुण, प्रवृत्ति स्वभाव आदि की पारस्परिक समानता के अवसर पर हृदय में या मनुष्य के मन में वैसा वेदना अभुभूति होती है जैसी वेदना या अनुभूति अपने किसी आत्मीय व्यक्ति को होती है।"

7. मानविकी पारिभाषिक कोश के अनुसार—

आजतक सामान्यतः इस शब्द का प्रयोग सहानुभूति के अर्थ में होने लगा है। साहित्य में इसका प्रय 'स्नायायेक' संवदेनाओं की अपेक्षा मनोगत संवेदना के लिए ही अधिक होता है ... संवेदशील व्यक्ति दू किसी भी व्यक्ति के सुख-दुःख को समझकर उसमें अपना तादात्मय स्थापित कर लेता है।"

संवेदना की परिभाषा विद्वानों ने अपने-अपने मत के अनुसार दिया है।

डॉ. रामदरश मिश्र ने संवेदना को इस प्रकार विश्लेषित किया है—"मानवीय संवदेनाएँ सामान्यतः ए सी होती हुई भी वैशिष्ट्य धारण करती है। संवेदना के इस वैशिष्ट्य का अपने आप में व्याख्येम नहीं हो सकत वह अनुभव कराया जा सकता है विशिष्ट परिवेशों के माध्यम से।

डॉ. राजेन्द्रकुमार के अनुसार "संवदेना" विशुद्ध ऐंद्रिक संवेदना का तात्पर्य नहीं है। (हालांकि ऐंद्रि संवेदना के प्रत्यक्ष अथवा सहयोग का आत्यंतिक निषेध नहीं उसमें नहीं है) ऐंद्रिक संवदेना बाह्य यथार्थ अनुभव के ढल जाना और फिर किसी बृहतर, किन्तु सूक्ष्म अंतर्बोध या कि भाव दृष्टि से उसका संयोजन हो इस पूरी प्रक्रिया के परिणामस्वरूप जो चीज उभरती है, वस्तुतः उसी को संवेदना का नाम दिया जाना चाहिए।

निर्मल वर्मा के अनुसार "कला का सामना करते हुए हम एक ऐसी दूनिया का सामना करते हैं, जो हमारी रोजमर्रा की दुनिया से मिलती-जुलती हुई हू-ब-हू बिल्कुल वैसी नहीं होती यह सपने की तरह चेतन जिंदगी के अंग होते हैं, जीती-जागती दुनिया से अलग होती है।"

इनके विचारों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिमांशु जोशी की ये आत्मा स्वीकृतियाँ ढंग से इसकी ओर ले जाती हैं कि वे अपनी संवेदनाओं का संसार अपने आसपास अवलोकित दुनिया से खींचकर स्वप्न की तरह रचते हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार, "संवेदना का अर्थ दु:खात्मक अनुभूति ही है, उसमें भी दु:खानुभूति से इसका गहरा संबंध है। संवेदना शब्द अपने वास्तविक या अवास्तविक दु:ख पर कष्टानुभव के अर्थ में आया है। मतलब यह है कि अपनी किसी स्थिति को लेकर दु:ख का अनुभव करना ही संवेदना है।" शुक्लजी ने केवल दु;ख के संदर्भ में ही इसे अनुभूतिपरक माना है। अर्थात् दु:ख को ही संवेदना कहा गया है।

मुक्तिबोध ने संवेदना का इस प्रकार समझया है "संवेदना एक आंतरिक तत्व है जिसमें भाव, संवेग, मनोवृत्तियाँ, प्रछन्न विचारों और अवधारणाओं का संयमित आवेग रहता है।"

डॉ. देवीप्रसाद गुप्त के अनुसार "साहित्यकार की चेतनानुभूति की उस मनोदशा अवस्था को संवदेना कहते हैं जो उस सृजन की प्रेरणा, रचना-विधान की क्षमता एवं लोकजीवन के प्रति आस्था करती है।"

डॉ. ज्योति शर्मा के अनुसार "टूटते परिवार, घर से अलगाव, घर से छूटकारा पाने का प्रयत्न, स्त्री-पुरुष का अजीब से संबंध और असुरक्षा का भाव, अपनी अस्मिता की खोज, कुंठित व्यक्तित्व आदि हिमांशु के साहित्य में सूक्षम अभिव्यक्ति के रूप में चित्रित हुए हैं, यही संवेदना है।"

डॉ. रेखा शर्मा के अनुसार "एक निश्चित साँचे में ढले हुए निश्चित गुण-अवगुण लिए हुए इस वर्ग के सारे पात्र कोवटन नुमा होते हैं। निर्मल उन पात्रों से यथार्थों से खुद जूझत हैं। वे उन पात्रों से सृष्टा है और उन स्थितियों के दृष्टा मात्र न होकर उनके भोक्ता है। ये उन सारी स्थितियों में से खुद गुजरते हैं और इसलिए इनमें उनके कथा-साहित्य में घटनाएँ नहीं, बल्कि विविध संवदेनाएँ मिलती हैं।"

संवेदना के उपर्युक्त विवेंचन से अर्थगत गहराई का ज्ञान होता है, लेकिन ऐसा एक भी मत नहीं मिला है जिसे एक मात्र रूप में मानकर चलना संभव है। आज के साहित्य में जटिल परिवेश तथा परिवर्तनशाली संदर्भो के माध्यम से लेखक या कवि अपने विभिन्न विचारों, कोणों से मानवीय संवेदना का प्रस्तुत करने में व्यस्त है। तभी इस माध्यम से ही संवेदना के विभिन्न एवं वास्तविक स्वरूप को समझा जा सकता हैं सामान्यत: संवेदना से मेरा यह अभिप्राय है कि "संवेदना वह अनुभूति प्रवणता है, जो अति सूक्ष्म भावों को ग्रहण करके उन भावों को महसूस करके प्रतीति के रूप से जो भाव प्रकट होते हैं उनको ही संवेदना कह सकता है। फिर यह भाव सुखद या दुखद भी हो सकता है। कथा-साहित्य में तो यही भाव किसी-न-किसी रूप में उभरकर सामने आता है। ज्यादातर साहित्यकार अपने युग के यथार्थ और अपनी संवेदना को मिलाकर, मानवीय संवेदा में ढ़लकर नव्यरूप में प्रकट करता है।

इस प्रकार यह कह सकते हैं कि उपर्युक्त सभी विद्वानों में एकमत नहीं है। समग्र रूप से कथा-साहित्य के संबंध में कहा जा सकता है कि इसमें मानव मात्र की आशाओं-निराशाओं, सुख-दु:ख, अपेक्षाओं, मान-अपमानों, राग-द्वेष, प्रेम-घृणा, उत्साह कुंठा आदि के साथ-साथ सामाजिक विषमताओं, रूढ़ियों, परंपराओं में जकड़ा मजबूर मनुष्य और उसकी टूटती-बिखरती आशा, मध्यवर्गीय तनाव, घुटन तथा अजनबीपन आदि की सौद्देश्य अनुभूति करा देना एवं मनुष्य को मनुष्यत्व की पहचान करा देना वास्तविक अर्थ में संवदेना है।

11.3 संवेदना की अवधारणा

साहित्य का संबंध मूलत: मानव हृदय से हैं वह रचनाकार के हृदय से निकलकर आस्वादक के हृ तक पहुँचता है। हृदय से हृदय तक की इस यात्रा में मुख्य भूमिका संवदेना की है। संवेदना की अवधारण कई आयाम है। अनेक शब्दों के माध्यम से संवेदना की व्यापकता और विविधता प्रमाणित करने का प्र किया गया। नि:संदेह मानव एक हैं हम सब विकासशील जीव तत्व की बात करते हैं, तब परिवर्तन के सि को भी मान लेते हैं। चेतना स्वयं विकासशील है। संवेदना वह साधन है, जिसके सहारे जीव व्यष्टि से इतर से संबंध जोड़ती है—वह संबंध एक साथ ही एकता का भी है और भिन्नता का भी, क्योंकि उसके सहारे व्यष्टि अपने इतर जगत् को पहचानती है, वहाँ उसके अपने को अलग करती है।

प्रारम्भ काल से लेकर आज तक यह संपूर्ण समाज जिस आधार पर टिका हुआ है, वह संवेदना ह बिना इस अनिवार्य मूलाधार के समाज उस तरह सुंगठित नहीं हो सकता था जैसा कि है या मूल बिन्दु अ अपने स्वरूप के पश्चात् जिस स्वरूप में रूपांतरित या पर्यवसित हुआ। दूसरी ओर महत्त्वपूर्ण बात यह भ कि बिना इस अनिवार्य मूलाधार के यह समाज शायद मानवीय जैसे विशेषण भी ग्रहण न कर सकता। सा की यही सार्थकता है कि वह हमारे संवदेना का विस्तार करता है। एक क्षण भी हमारे अस्तित्व का ऐसा जब हमारी इन्द्रियाँ मन और बुद्धि किसी न किसी संवेदन की गिरफ्त में नहीं आती, संवेदना साहित्य सृजन मूलाधार है।

मानव इस सृष्टि का सबसे संवेदनशील प्राणी है। दूसरे जीवों से जड़ परिस्थिति से उसकी संवे प्रतिक्रिया करती है। इतना ही नहीं बल्कि उन प्रतिक्रियाओं का मूल्यांकन भी करती है। जीवन अपने परिस्थिति के अनुकूल बनाता है। मनुष्य परिस्थिति को अपने अनुकूल बनाने का चेतन और अवचेतन प्र करता है। व्यक्ति की संवेदना विस्तार करती है अर्थात् ज्यों-ज्यों जगत् से उसके संबंध नये-नये क्षेत्रों में प्र कर जाते हैं, त्यों-त्यों उसका विवेक विकसित होता जाता है और नारी संवेदना के साथ एक अनिवार्य नैति बोध भी जुड जाता है। संवेदना की इसी अनूभूति के कारण मानव सृष्टि का सबसे उत्कृष्ट और श्रेष्ट जीव है

संवेदनहीन साहित्य का कोई मूल्य नहीं होता चाहे उसमें दर्शन की नई-नई भंगिमा क्यों न हो। बुद्धि दर्शन, चिंतन, ज्ञान, विज्ञान सबको पहले जीवन में आत्मसात होना पड़ता है। आत्मसात होकर मानव—संवेद का अंग बनना पड़ता है, तभी साहित्य में सत्यम-शिवम् और सुन्दरम् की भावना प्रस्फुटित हो सकती संवदेनशील कलाकार जीवन की चुनी हुई घटनाओं को लेकर भाषिक संरचना द्वारा अभिनव कला-सृष्टि कर है क्योंकि "प्रेम के शब्द 'संवेदना' ही मानव के अंतरमन की सर्वाधिक पवित्र भावना है, सहानुभूति के दो श किसी के दु:ख कष्ट का निवारण भले ही न कर सके, उसके दिल को तस्सली तो दे ही सकता है। निश्चय संवेदना हमें आत्मीयता के प्रगाढ़ बंधन में बाँधती है। यह हमें कोमल अनुभूतियों के उस 'भाव लोक' में जाती है, जहाँ कृतज्ञता की मौन स्वीकृति है। दूसरों के सुख-दु:ख को कोमलता से महसूस करने वाला हृदय न रहा तो मनुष्य के पास मनुष्य के लिए बचेगा क्या।"

साहित्य की रचना अनवरत गति से विभिन्न रूपों में होती है। 'संवेदना' का सर्वाधिक प्रभावशाली रू अवतरित करुणा में होता है। साहित्य की उपयोगिता एवं उसकी सार्थकता ही हमारे संवेदना का विकास कर है। संवेदना एक क्षण भी ऐसा व्यक्ति को नहीं करता होगा, जिसमें उनकी बुद्धि किसी संवेदना की अनुभूति में हो।

साहित्य का संबंध मानव हृदय से हैं मानव से जुड़ी रचना किसी साहित्यिक आंदोलन का सहारा लि बिना ही सफल होती है और कलातीत होती है। वाल्मीकि का 'रामायण' किसी आंदोलन की फलश्रुति नहीं

वह तो क्रौंचवध की संवेदना से द्रवित और हृदय की संवेदना के रूप में निसृत हुई है। निषाद का आतिथ्य स्वीकारते राम किसी राजनीतिक आंदोलन के राम नहीं थे, और वन में परित्यक्त सीता किसी 'आँसूढार लेखनी' की ऊपज नहीं थी। 'वाल्मीकि रामायण' लेकर शायद उस युग में किसी चर्चा का आयोजन नहीं हुआ होगा, परन्तु आज भी वह कृति जीवित है, क्योंकि वह संपूर्ण रूप से मानवीय संवदेना की कथा है।

संवेदना के विषय में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी लिखते हैं—"यह ठीक है कि भाषा का मुख्य काम विचारों का संप्रेषण ही है। परन्तु भाषा द्वारा दो प्रकार के संप्रेषण है, एक तो सूचनात्मक संप्रेषण हैं जिसमें हम श्रोता के चित् में किसी बात की सूचना का संचार करते हैं और दूसरा रचनात्मक संप्रेषण है जो श्रोता के चित् में प्रगाढ़ अनुभूति द्वारा जगायी गयी संवेदनाओं को मूर्त और अनुभव योग बनाता है वस्तुत: इस दूसरी श्रेणी के संप्रेषण को ही सभी अर्थ में संप्रेषण कहा जाता है।"

साहित्य में संवदेना शब्द और अर्थ दोनों ही सहायता से उभरती है। संवेदना मानव मन की उपज हैं वह मानव मन के केन्द्र में विद्यमान होती है। साहित्य के प्रत्येक विधा में संवेदना का मुख्य आधार रूप है। आज के रचनाकार की संवेदना भी परिस्थिति, अवस्था, सामाजिक स्तर, मानव मन की गहराइयों, चेतना, विश्वास, धारणा आदि संवेदना की व्यापकता प्रमाणित करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि हम जिस सामाजिक अवस्था से गुजर रहे हैं, उसमें प्रमुख बात मानवीय आपसी संबंधों को नये परिवेश में समझने और संवेदना को जानने की है।

11.4 संवेदना के विविध रूप और 'आधे-अधूरे'

'आधे-अधूरे' नाटक में भी उपर्युक्त वर्णित संवेदना के विविध रूप देखने को मिलता हैं। मूलत: इस नाटक में मोहन राकेश ने मध्यवर्गीय समाज में पनप रही विधि संवेदनाओं को उजागर करने का प्रयास किया है, जिसे एक एक करके निम्नलिखित प्रस्तुत किया जा रहा है—

11.4.1 व्यक्ति और समाज संबंधी संवेदना—व्यक्ति समाज का एक अंग मात्र है। समाज के बाहर व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। उसे समाज के नियमों, मूल्यों एवं आदर्शों के अनूकूल ही चलना पड़ता है। व्यक्ति कभी-कभी अपनी आर्थिक स्थिति के कारण समाज के अनुकूल नहीं हो पाता हैं इस स्थिति को सुधारने के लिए वे बहुत प्रयास भी करता है। मध्यवर्गीय परिवार में आर्थिक स्थिति के कारण बहुत सारी विडम्बनायें देखने को मिलता है। इस विडंबनाओं की पूर्ति करने के लिए वे इधर-उधर भटकते रहते हैं। 'आधे-अधूरे' नाटक में व्यक्ति एवं समाज संबंधी संवेदना का खनन आर्थिक परिस्थिति के कारण दिखाई देता है। यह नाषक शहरों में बसने वाले मध्यवर्गीय परिवार की कथा हैं ये वर्ग हमेशा उच्चवर्ग की भाँति सुखी जीवन व्यतीत करना चाहता है लेकिन परिस्थितियाँ उनकी साथ नहीं देती है। इस नाटक में हर एक पात्र केवल अपनी खुशी को तलाशने की कोशिश करता है। अपनों से बड़े का सम्मान कैसे करे यह भी दिखाई नहीं देता। बड़ी लड़की और एक पुरूष के बीच हो रहे वार्तालाप से यह सिद्ध होता है कि बड़ी लड़की अपनी ही सुख की बात कर रही है। जैसे—

'बड़ी लड़की : (तुनककर) तो जवाब क्या तभी होता अगगर मैं कहती कि मैं खुश नहीं हूँ, बहुत दुखी हूँ।

पुरुष एक : आदमी जो जवाब दे, वह उसके चेहरे से भी झलकना चाहिए।

बड़ी लड़की : मेरे चेहरे से क्या झलकता है? कि मुझे तपेदिक हो गया ? मैं घुल-घुल कर मरी जा रही हूँ?

पुरुष एक : एक तपेदिक ही होता है बस आदमी को?

बड़ी लड़की : तो और क्या-क्या होता है ? आँख से दिखाई देना बंद हो जाता है ? नाक-कान तिरछे जाते हैं? मेरे चेहरे से क्या नजर आता है आपको।"

भूमंडलीकरण के इस दौर में मध्यवर्गीय समाज को सबसे अधिक प्रभावित किया है। आज के लोगों दिखावापन की भावना घर कर गयी है। वह हमेशा दिखावेपन के कारण ऊपर उठ नहीं पाते हैं। 'आधे–अधूरे' नाटक के पात्र दिल्ली जैसे महानगरों में रहते हैं। दिल्ली की परिवेश, रहन-सहन में अपने आप को ढाल चाहते हैं। किन्तु आर्थिक परिस्थिति उनका साथ नहीं देती हैं। इस नाटक के पात्र केवल अपनी स्थिति सुधारने अपनी पहचान बनाने, अपनी खुशी को तलाशने की कोशिश करता हैं और केवल अपनी-अपनी के चक्कर वह परिवार से भी कटता चला जाता है। घर परिवार में भी एकता नहीं है तो समाज की कल्पना करना बेकार है। इस नाटक की प्रमुख पात्र सावित्री भी केवल अपनी घर की स्थिति को सुधारने की कोशिश करती है किन्तु थक हारकर अंत में अपनी खुशी ही तलाशती है। वह भी चाहती है कि इन विसंगतियों से हटकर नया जीवन जीने की कोशिश करे। सावित्री पुरुष तीन के साथ आगे बढ़ना चाहती है। लेकिन वह उसे मना कर देती है। निम्नलिखित उद्धृत इन पंक्तियों में देखा जा सकता है कि यहाँ केवल सावित्री अपने ही सुख चाहती है। वह पुरुष तीन के साथ फिर से नई जिंदगी जीना चाहती है। वह कहती है—

"स्त्री : (उसके हाथ पर हाथ रखकर)

पुरुष तीन: (हाथ सहलाता) क्या बात है, कुकू?

स्त्री : मैं वहाँ पहुँच गई हूँ पहुँचने से डरती रही हूँ जिंदगी भर।

मुझे आज लगता है कि .....

पुरुष तीन : (हाथ पर हलकी थपकियाँ देता) परेशान नहीं होते इस तरह।

स्त्री : मैं सच कह रही हूँ। आज अगर तुम मुझसे कहो कि ..... ।"

वर्तमान समाज में बदलने परिवर्तन ने मनुष्य के रहन-सहन, तौर-तरीकें में बदलाव लाया है। मनुष्य में यह बदलाव आधुनिकीकरण के कारण हो रहा है। आज लोगों को भी यह लगता है कि आधुनिक होना ही उनकी पहचान है और आधुनिक होने के चक्कर में वे परिवार, समाज से कटते जा रहे हैं। इस भाग दौड़ की जिंदगी में अपनों के होने का महत्त्व नहीं समझते हैं। इनके लिए रिश्ते भी बोझ ही लगता है। इस नाटक में सावित्री अपने पति महेंद्र को किसी लायक नहीं समझती है, उसे लगता है कि बिना 'हाड़-मांस' का पुलता मात्र है। सावित्री पुरुष चार से अपने पति महेंद्र के बारे में कहती है कि—

"स्त्री : मत कहिए मुझे महेंद्र की पत्नी ..... बिना हाड़-माँस का पुतला है वो .....

पुरुष चार : (उठता हुआ) बिना हाड़-माँस का पुलता, या जो भी कह लो तुम उसे पर मेरी नजर में वह हर आदमी जैसा एक आदमी है—सिर्फ इतनी ही कमी है। उसमें।

स्त्री : यह आप मुझे बता रहे हैं? जिसने बाईस साल साथ जीकर जाना है उस आदमी को ?

पुरुष चार : जिया जरूर है तुमने उसके साथ ..... जाना भी है उसे कुछ हद तक लेकिन .....

स्त्री : (हताश से सिर हिलाती) ओफ्फोह! ओफ्फोह! ओफ्फोह!"

व्यक्ति से ही समाज का निर्माण होता है। पर इस नाटक में एक व्यक्ति के प्रति दूसरे व्यक्ति में कोई मेल या रिश्तों में अपनापन दिखाई नहीं देता हैं। हर एक पात्र अपने-आप को बेहतर दिखाने का प्रयास करता है। रिश्तों में वह एहसास, लगाव धीरे-धीरे खत्म होते नजर आ रहे हैं। परिवार में साथ रहते हुए भी आधे-अधूरे नाटक के सभी पात्र अकेला महसूस करता है। सावित्री और बड़ी लड़की के बीच हुए वार्तालाप को देखकर अनुमान लगा सकते हैं कि पति-पत्नी साथ हुए भी केवल अपनी स्वार्थ के बारे में सोंचते हैं—

"बड़ी लड़की : दो आदमी जितना ज्यादा साथ रहें, एक हवा में साँस ले, उतना ही ज्यादा अपने को एक-दूसरे से अजनबी महसूस करें?

स्त्री : तुम दोनों ऐसा महसूस करते हो ?

बड़ी लड़की : कम से कम अपने लिए तो मैं कह ही सकती हूँ।

स्त्री : (पल-भर उसे देखती रहती) तू बैठकर क्यों नहीं बात करती ?

बड़ी लड़की : मैं ठीक हूँ इसी तरह।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आधे-अधूरे नाटक में केवल स्वयं की अनुभूतियाँ, अस्तित्व की पहचान और आगे बढ़ने की लालसा दिखाई देती है। इस नाटक के सभी पात्र केवल स्वयं की पीड़ा को व्यक्त करते हैं। यद्यपि इस कड़ी में वे यह भूल जाते हैं कि वे सभी एक परिवार के हिस्से हैं और आपसी मनमुटाव के कारण वे सभी स्वयं अपनी ही क्षति कर रहे हैं। व्यक्ति का इस प्रकार आत्मकेंद्रित हो जाना उसे न केवल अपने परिवार से काट देता है, बल्कि उसे समाज से भी काट देता है। लेखक समाज के सभी पात्रों की संवेदना व्यक्त करने का भरसक प्रयास किये हैं।

11.4.2 नई और पुरानी पीढ़ी : विचार वैभिन्नता—मानव-मानव में विचार वैभिन्नता हमें पहले से ही दिखाई दे रही है। पीढ़ियों में यह वैभिन्नता विभिन्न परिस्थितियाँ जैसे सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि कारणों से दिखाई देती है। मोहन राकेश कृत 'आधे-अधूरे' नाटक में नई पीढ़ी एवं पुरानी पीढ़ी में विचार वैभिन्नता देखने को मिलता हैं यह नाटक आधुनिक समय के महानगरीय समाज में व्यवस्थित मध्यवर्गीय परिवार की कथा है। इस नाटक में नई पीढ़ी के रूप में उभरकर आने वाले पात्रों मे छोटी लड़की किन्नी, बड़ी लड़की बिन्नी एवं लड़का है। तथा पुरानी पीढ़ी के पुरुष एक, पुरुष तीन, पुरुष चार एवं सावित्री है। पात्रों में नई एवं पुरानी पीढ़ी के बीच द्वंद्व देखने को मिलता है। इस नाटक की प्रमुख पात्र सावित्री घर की बागडोर संभालती हैं वह चाहती है। कि हमेशा घर में सुख-शांति बनी रहे और इस सुख-शांति के लिए वह प्रयत्न करती हैं वह आवश्यकता से अधिक पैसे खर्च नहीं करना चाहती है क्योंकि उसे पता है कि घर केवल उसी के कमाई से चलती है। वहीं दूसरी ओर लड़का निठल्ले की तरह इधर-उधर घूमता रहता है। उसे घर की स्थिति कैसे सुधारी जाय? इससे कोई मतलब नहीं होता है। वह घर की चीजें भी इधर-उधर ले जा कर बर्बाद कर देता है। स्त्री एवं लड़के के बीच का संवाद उदाहरण के लिए निम्न उद्धृत है—

"स्त्री : दिलचस्पी तो सिर्फ तीन चीजों में है—दिन-भर ऊँघने में, तस्वीर काटने में और ..... घर की चीज वह चीज ले जाकर .....

लड़का : (कड़वी नजर से उसे देखता) इसे घर कहती हो तुम?

स्त्री : तो इसे क्या समझकर रखा है यहाँ?

लड़का : मैं इसे ..... ।"

नई पीढ़ी की सोच में परिवर्तन सामाजिक ढाँचे के कारण हो रहे हैं समाज में जो वर्ग है उसके सुख-सुविधा के लिए हर चीजें विद्यमान होती है। छोटी लड़की किन्नी की सहेलियों के पास सब कुछ लेकिन वे चीजें किन्नी के पास नहीं हैं किन्नी यह नहीं समझती कि उसकी माँ कैसे घर चला रही है? घर आर्थिक स्थिति किस तरह की है ? उसने एक बार ठान लिया है तो उसे चाहिए। छोटी लड़की और माँ के व पीढ़ियों में अंतर होने के कारण हो रहे द्वंद्व के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

"छोटी लड़की : रोज कहती हो, बाद में करना! आज भी मुझे रीलें लाकर न दी तो मैं स्कूल जाऊँगी कल से। मिस ने सारी क्लास के सामने मुझसे कहा कि .....

स्त्री : तु और तेरी मिस! रोग लगा रखा है जान को।

छोटी लड़की : तो उठा लो मुझे स्कूल से। जैसे शोकी मारा-मारा फिरता है सारा दिन, मैं भी फिरती करुँगी।"

इस तरह की घटना के माध्यम में पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी का द्वंद्व साफ दिखाई पड़ता है। यह आधुनिक युग की उपज हैं बच्चे यह नहीं देखते कि घर-परिवार वालों के पास पैसे हैं या नहीं। वे एक जिद अड जाते हैं। उन्हें हर एक सुख-सुविधा चाहिए जो अन्य लोगों को मिलती हैं वहीं पुरानी पीढ़ी हमे आगे-पीछे दोनों के बारे में सोचती है। किस तरह घर चलाना है और कैसे उसमें से भी पैसे बचाना है ता कोई तकलीफ हो तो किसी के सामने हाथ न फैलाना पड़े। मोहन राकेश इस नाटक के माध्यम में वर्तम समाज में चल रहे नई और पुरानी पीढ़ी के द्वंद्व को दिखाने का प्रयास किये हैं और वे सफल भी रहे।

11.4.3 पारिवारिक संबंधों में विघटन—आज मानवीय मूल्यों में तीव्र गति से परिवर्तन होता जा र है। अपनी सुविधा के लिए आज के मानव विरासत में मिले मूल्यों को व्यक्तिवादी बना दिया, जिससे न व्यक्ति का व्यक्ति से, व्यक्ति का समाज से, समुदाय से और राष्ट्र से संबंध रह गया है और न पारिवारिक मूल से ही। आज का मानव भौगोलिक इकाई पर भौतिकतावादी संदर्भ को ओढ़ता हुआ समृद्धि को प्राप्त कर ले चाहता है फिर चाहे उसके लिए उसे अपने परिवार, समाज या राष्ट्र का ही बलिदान क्यों न करना पड़े। बदल मूल्यों के चक्र में दाम्पत्य संबंध, सामाजिक संबंध और अनेक पारिवारिक संबंध टूट ही नही गये बलि भौतिकतावादी दौड़ ने उन्हें ध्वस्त कर दिया है। आधुनिकीकरण, औद्योगिकीकरण और नगरीकरण की प्रक्रि ने सामाजिक जीवन के प्रचलित मानदंड और यहाँ तक कि व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन में भी परिवर्तन ला दि है। औद्योगिकीकरण और आधुनिकीकरण के फलस्वरूप परिवारों का परम्परागत मूल्य तेजी से टूट रहा नवीन आवश्यकताओं में वृद्धि होने से जीवन में पुरानी व्यवस्था अपर्याप्त प्रतीत होने लगी है। आज धनोपाज और परिवार की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पति-पत्नी दोनों घर से बाहर काम करने जा रहे ह उनका जीवन इतना अधिक व्यस्त हो गया है कि बच्चों और परिवार के अन्य सदस्यो पर अपना ध्यान ही न दे पाते। जीवन की व्यस्तता पति-पत्नी के मधुर संबधों में एक तनाव उत्पन्न करती हैं वे अपना आर्थिक विका में रत रहते हैं और एक ही परिवार में रहते हुए भी एक दूसरे की परिस्थिति का बोध, सहानुभूति का बोध आत्मीयता का बोध आदि सब धीरे-धीरे समाप्त कर देते हैं। समाज के विभिन्न कारणों ने आज पारिवारि विघटन में मुख्य भूमिका निभाएँ हैं जिन्हें मशीनीकरण औद्योगिकीकरण तथा विदेशी संस्कृतिकरण का ना दिया जा सकता है। बहुत ज्यादा बदलाव पारिवारिक संबंधों में ही हुआ है। वर्तमान में संबंधों में विघटन मूल्यगत परिवेश का विशेष योग है।

मोहन राकेश के बहुचर्चित नाटक 'आधे-अधूरे' में वर्तमान युग के टूटते हुए संबंधों, मध्यवर्गीय परिवा के कलापूर्ण वातावरण, विघटन, संत्रास व्यक्ति के 'आधे-अधूरे' व्यक्तिव तथा अस्तित्व का यथा-तथ्यात्मक

सजीव चित्रण हुआ है। इस नाटक में परिवार के भीतर का संघर्ष बाह्य संबंधों के परिप्रेक्ष्य में विकसित हुआ है। स्त्री अपनी आर्थिक आत्मनिर्भरता का उपयोग अपने बाह्य संपर्कों के संबंध में पति की ओर से उठाई गई आपत्तियों की अवहेलना करने के लिए करती है। लेकिन वही बाह्य संपर्क उसे कितना हीन बना देता है यह बात सिंहानियाँ और जगमोहन ने साथ उसके संबंधों में स्पष्ट दिखाई देती हैं लड़के की नौकरी के लिए सिंहानियाँ को चोरी करनी पड़ती है फिर भी उससे कुछ सफलता हासिल नहीं हो पाता है। परिवार की स्थिति बहुत दयनीय होती है। किसी तरह सावित्रि इस पूरे परिवार को चलाती है। परिवार के सभी सदस्यों में हमेशा ताना-बाना सुनने के बाद वह घर छोड़ने का निश्चय कर लेती है। वह जगमोहन के पास सहारा लेने जाती है लेकिन वहाँ भी प्रयास व्यर्थ होकर रह जाती है! मोहन राकेश के आज के पुरुषों द्वारा वेबशी का लाभ लेने की स्थिति में परिवार को विखंडित होते हुए देखा है। जिससे निम्नलिखित पंक्तियों में देखा जा सकता है—

"पुरुष दो—याद है कुछ बात की थी तुमने एक बार अपनी कजिन के लिए कहा था नहीं, वह तो मिसेज मल्होत्रा ने कहा था तुमने किसके लिए कहा था।

स्त्री (लड़के की तरफ देखती) इसके लिए पुरुष दो—हूँ, हूँ क्या पास किया है इसने पुरुष दो ..... हाँ हाँ क्यों नही परे तुम तो, आओगी ही, तुम्ही को बता दूँगा। ..... तुम आओगी ही घर पर दफ्तर की भी कुछ बाते करनी है।"

इस कृति के हर कोने में तनाव और टकराव उभरकर सामने आता है, आंतरिक उथल-पुथल और बाह्य संघर्ष का क्रम आरंभ से अंत तक एक साथ बना रहा है। परस्पर टकराने वाले पात्र टकराव के विषय और उसके रंग एक के बाद एक बदलते गये हैं। लेकिन उन सब मे से होती हुई दाम्पत्य के इंद्र की अंतर्धारा निरंतर प्रवाहित होती रही है जिससे तनाव और टकराव की विविधता के हाथों संघर्ष की सूत्र बद्धता खंडित नहीं हो सकी है। इसके पारिवारिक जीवन की विफलता के संबंध में कुछ सामान्य निष्कर्ष भले ही निकाल लिया जाए, इसके आधार पर एक संस्था के रूप में परिवार को हेय नहीं ठहराया जा सकता। यह तनाव केवल संबंधों की कहानी नहीं विशेष व्यक्तियों और परिस्थितियों की कथा है। 'आधे-अधूरे' नाटक के संदर्भ में संबंधों में आने वाले तनाव और टूटन के कारणों का उल्लेख करते हुए कुछ इस प्रकार की बातें प्रसिद्ध रंगशिल्पी ओम् शिवपुरी ने लिखा है "महेंद्रनाथ सावित्री से बहुत प्रेम करता हैं सावित्री भी उसे चाहती रही होगी, लेकिन ब्याह के बाद महेंद्रनाथ को बहुत निकट जानने पर उसे वितृष्णा होने लगी क्योंकि जीवन से सावित्री की अपेक्षाएँ बहुमुखी और अनंत है। अब महेंद्रनाथ की बेकारी बहुत कटु हो गई है। एक ओर घर को चलाने का असह्य बोझ है, तो दूसरी ओर जिंदगी में कुछ भी हासिल न कर पाने की तीखी चोट ..... स्पष्ट है कि अर्थ और काम ने मिलकर ही आज के व्यक्ति को इतना विकल, इतना कटु और इस सीमा तक विद्रोही बना दिया है कि वह किसी अनजानी पूर्णता के पीछे अंधा-धुंध भाग पड़ने के लिए विवश हो गया है। वह दौड़ भी वह अकेला ही, सब को पीछे छोड़कर यह पछाड़ कर, लगाना चाहता है अत: तनाव और उसके बाद टूटन, पारस्परिक मीलों दूरी अनिवार्य है।

'आधे-अधूरे' नाटक में इन्हीं टूटते संबंधों की कहानी बड़े ही सजीव एवं यथार्थ रंगों-ढंगों में कही गई है। महेंद्र-सावित्री और परिवार एक प्रतीक है, माध्यम है उस सबका जो अनवरत टूटकर बिखर जाना चाहता है। अर्थ और काम-पूर्ति के साधनों के अभाव में आज के मध्य और निम्न मध्य वित्तीय स्थिति वाले घर-परिवारों में घर के पति-पत्नी में रात-दिन चख-चख या खींचा तानी होती रहती है, उसका सीधा प्रभाव घर के बच्चों के मन-मस्तिष्क पर भी पड़ता है। फलत: वे भी उसी प्रकार की कटाव, तनाव और बिखराव लाने वाले प्रवृत्तियों के शिकार और आदि हो जाते हैं।

घर की त्रासदायक 'हवा' से वे सब अपनी और एक दूसरे के लिए जहरीले हो रहे हैं। बड़ी लड़ मनोज रूपी हमदर्द द्वार को पाते ही बाहर निकल भागी है। 'लड़का पत्रिकाओं में अभिनेत्रियों की रंगीन तर काटता हुआ उस मौके के इंतजार में है, जब वह भी यहाँ से निकल सकेगा। वह बड़ी बहन के प्रेम में विश नहीं करता उसे घर से निकलने का एक जरिया मानता है। छोटी लड़की, पिता, माता, बहन-भाई किसी के महसूस नहीं करती। अपनी छोटी-छोटी आवश्यकताओं की आपूर्ति से बेहद कड़वी होकर वह कैंची की त जुबान चलाती है और यौन संबंधों में दिलचस्पी लेने लगती है कि जो उसकी आयु से कहीं आगे हैं। उ बदमिजाजी दिन पर दिन बढ़ती जाती हैं, क्योंकि पिता की बेकारी, माँ के पुरुष-मित्रों और बड़ी बहन के घर भाग जाने के कारण उसे बाहरी लोगों की ताना सुनना पडता है। संबंधों में आने वाले तनाव, कटाव, टूटन बिखराव के मूल में विद्यमान है।

इस नाटक में आर्थिक परिस्थितियाँ बहुत ज्यादा प्रखर हुए है। इस परिवार में अर्थ केवल-सावित्री कमाती है। उसी के पैसे से घर की बाकी लोगों की जीवन यापन होती है। सावित्री के पति यानि महेंद्र निठ्ठला घूमता रहता हैं हमेशा कर्ज की आड़ में इधर-उधर भटकता रहता है। पुरुष एक अपने दोस्त जुनेज पैसे लिया रहता है। और अपनी पत्नी से कहता है कि—

"पुरुष एक—फिलहाल उसे देने के लिए पैसे नहीं है, तो कम-से-कम मुँह तो उसे दिखाते र चाहिए।

स्त्री—हाँ हाँ दिखा आओ, मुँह जाकर।"

घर के हर सदस्य एक दूसरे से कटा-कटा रहते हैं। जैसे लगता है किसी को एक दूसरे से कोई मत नहीं है। हर एक पात्र एक दूसरे पर जली-खटी बातें सुनाते ही रहते हैं। जिस घर की कहानी इस नाटक में द गई है, उसमें ऊब, घुटन और मानसिक खिंचाव ही नहीं बर्बरता और निशंस्ता का पूर्ण दृश्य भी देखने में आ हैं। बड़ी लड़की पुरुष चार को सब बातें बता देती हैं नाटक का त्रासद प्रभाव इस वास्तविकता में निहित है उस परिवार में जीना कठिन है। उससे मुक्ति का कोई भी उपाय नहीं है। स्त्री-पुरुष के संबंध को ठीक करने भी कोई उपाय नहीं है। स्त्री पुरुष के पारस्परिक संबंध घर को बर्बाद कर देता हैं एक अपनी प्रकृति से वि होकर लौटता है तो दूसरा इसलिए कि परिस्थिति उसका साथ नहीं देती है। कारण जो भी हो, उसी नरक में उ के लिए विवश हैं बल्कि अभिशप्त है। जिसे घर कहा जाता है।

चार अलग-अलग पुरुषों से भरे पूरे इस परिवार के संवाद भीतर और बाहर के बहुरंगी संघर्ष के त बाने हैं, जिसमें आंतरिक उथल-पुथल, पति-पत्नी, माँ-पुत्र, बाप-बेटी, भाई-बहन और माँ पुत्रों के स्तर देखे जा सकते हैं। इन पात्रों के भीतर अनयादित कुछ घुमड़ता रहता है जिसमें परिवार की शालीनता अ मर्यादा समाप्त हो जाती है तथा समस्याओं का उद्‌भावन होता है।

आज मनुष्य भौतिक सुविधाओं को ही सब कुछ मान बैठा है और उन्ही के पीछे दौड़ता जा रहा है। उ दायरे में, अपनी इच्छाओं और आर्थिक दबावों के कारण जहाँ वह अपने-आप को फिट नहीं कर पाता, व वह भाग जाना चाहता है। भागकर वह अपनी ही किसी अन्य पड़ाव की ओर भागता है—फिर भागता है अ इस प्रकार वह संबंधों से कहीं दूर-दूर पहुँचकर अपने-आपको नितांत अकेला अनुभव करने लगता 'आधे-अधूरे' के परिप्रेक्ष्य में इन्हीं तथ्यों को किरनचंद शर्मा ने अपने लेख 'एक प्रश्न : दो रूप' में इस प्रक अभिव्यक्ति किया है—"समझौता न कर सकने की थकान कह सकते हैं, क्योंकि सुविधा का एक रूप प्रत्ये पात्र के पास, कम से कम उस समय तक के लिए है ही, जब तक वह सुविधा के उस रूप की प्राप्ति—अनुभ नहीं कर लेता। और इसलिए उस रूप को ही वह अपने परिवेश में भी 'मिसफिट' पा रहा है। यही कारण है

उस परिवेश में जिने भी नये ढाँचे उसे दिखाई देते हैं, वह उनमें से प्रत्येक में उसे फिट करके देखता हुआ चलता है और जब हर जगह 'मिसफिट' पाता है तब एक ऊब, एक उलझन का मात्र वितान तनकर रह जाता है। और फिर वह वितान-तनता इस सीमा तक या कस जाया करता हैं कि उसका अपने ही एक हिस्से से अलग हो जाना प्राय: अनिवार्य हो जाया करता है।'' इसको हम मानव-मूल्यों में परिवर्तनों के कारण, संबंधों का अलगाव, तनाव के बाद में टूटन और बिखराव कह सकते हैं। इस सब का निश्चय ही 'आधे-अधूरे' नाटक में बड़ा ही सशक्त रूपायन एवं सजीव चित्रण हुआ है। संबंधों के टूटने की इसी वैयक्तिक समस्या को एक परिवार के माध्यम से नाटककार ने समाजीकरण करके हमारे सामने प्रस्तुत किया है।

11.4.4 स्त्री-पुरुष संबंध—जीवन के नये परिवर्तनशील मूल्यों ने पुराने व्यक्ति-संबंधों या पारिवारिक मान्यताओं, व्यवस्थाओं को अस्त-व्यस्त तो किया ही है और इसके साथ अनेक प्रकार के अंतविरोधों से भी भर दिया है। आज का जीवन सामूहिकता की परम्परागत परिस्थितियों से पिछड़कर व्यक्ति और उसके अंह पर आकर केंद्रित होकर रह गया हैं व्यक्ति पर केंद्रित, व्यक्तिगत परिवर्तन-चक्र को परिचालित कर रही है। आज स्त्री और पुरुष परस्पर सहयोगी सहकारी न रहकर दो अलग केंद्र, दो अलग छोर-उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव के रूप में चित्रित किए गए हैं, जिनमें कहीं भी किसी प्रकार का (गुरुत्व) आकर्षण नहीं रह गया है। दोनों की ऋतुएँ अलग हैं और हवाएँ भी अलग-अलग बहने लगी हैं, फिर आंतरिक लगाव कैसे? फिर बाहरी लगाव (दिखावा मात्र) भी क्यों रह जाना चाहिए। तभी तो ध्रुव-पुरुष-महेंद्रनाथ जुनेजा का छोर चुन लेता है और दूसरा ध्रुव-स्त्री-सावित्री फिर जगमोहन के छोर की ओर बढ़ जाना चाहता है। जीवन, घर-परिवार और समाज के भी दो अटल ध्रुव हैं, पर वे एक-दूसरे से दूर-ही-दूर हटते जा रहे हैं। उनकी पारस्परिक चेतना, मूलत: संबंधों की चेतना इस सीमा तक संशयग्रस्त हो चुकी हैं कि उसके कारण चारो ओर विसंगतियाँ ही विसंगतियाँ उभर कर आ रही हैं। व विसंगतियाँ अपने संपर्क में आने वाले अशोक-बिन्नियाँ-किन्नियाँ से असवभाविक होकर कोई न कोई तात्कालिक सुविधा-जनक बहाना खोज कर, घुट-घुट कर पयायन कर जाना चाहती है। यही आज के संबंधों की नियति हैं यही आधुनिक युग का समग्र बोध और उसका सार-तत्व है।

इस नाटक में आधुनिक जीवन मूल्य स्त्री-पुरुष के संबंधों पर बुने गये हैं। यह नाटक आज के शहरी क्षेत्र के मध्यवर्गीय पारिवारिक जिंदगी की विसंगति को उभारता है। विभिन्न पात्रों के क्रिया-व्यापर के संबंध में निर्देश देते समय मोहन राकेश ने उसके चरित्र को ध्यान में रखा है। स्त्री अपने भीतर तनाव के बावजूद बाहर से काफी संयत और संधी हुई है। जबकि पुरुष एक बिल्कुल टूट चूका है। इसलिए पुरुष एक ही चेष्टा में अस्तव्यस्त दिखलायी देता है। जब वह फाइलों में व्यस्त होने का बहाना करता है तो फाइलें आलमारी से बाहर गिर जाती हैं जब वह सोफे पर बैठता अखबार पढ़ने का अभिनय करता है तो अखबार उल्टा पकडे हुए दिखलाई देता है, छोटी लड़की के लिए टोस्ट सेंककर लाता है, वे जले हुए होते हैं। पुरुष एक के समान उसका टूटना अस्तव्यस्तता के रूप में नहीं भावावेश के रूप में व्यक्त होता है इसलिए जहाँ ऊपर से सहज स्वभाव के भीतर से टूटन झलकती है। वहाँ उसके शब्द और क्रिया-व्यापार एक-दूसरे से गुथ जाते हैं। पुरुष दो, लड़का और स्त्री के बीच का यह संवाद निम्नलिखित है—

''लड़का—खान-पान और पहिनावे की विविधता अमेरिकन, जर्मज, रुसी ..... शीत युद्ध हड़ताल, वस्त्र उद्योग ..... डी.ए.।

पुरुष दो—बहुत अच्छी स्मरण शक्ति है लड़के की तो कहने का मतलब था .....

स्त्री—थोड़ा और लीजिए।

पुरुष दो—जरूर ..... किसके लिए क्या करना है!

स्त्री—(लड़के की तरफ देखकर) इसके लिए कुछ न कुछ!

पुरुष दो—हाँ-हाँ जरूर।''

इस प्रकार इस घर के जीवन में नैराश्य और अवसाद की छाया घिरी हुई है पुरुष दो की उक्तियों उसका लिजलिजा चरित्र अपनी पूरी हास्यास्पदता के साथ व्यक्त हुआ है। स्त्री जितनी चतुराई से विगत संबं की आड़ लेकर आत्मीयता के अभिनय का जाल उस पर डालना चाहती है वह भी उतनी ही बारीकी से उसक काट करता है। मोहन राकेश ने निराशा और अवसाद की छाया से ग्रसित इस परिवार को घिरा देखा है। सावि का अधूरापन कुछ उसके व्यक्तित्व और कुछ परिस्थितियों का परिणाम है। उसका व्यक्तित्व व्यक्ति आक्रामक नारी का है। दूसरी ओर महेंद्रनाथ दब्बू किस्म का आदमी हैं आक्रामक नारी जब प्रतिस्पर्धा करती तो पुरुष की श्रेष्ठता का स्वीकार नहीं कर पाती। और जब वह उसे प्रतिस्पर्धा से अयोग्य पाती है तो भावात्म सुरक्षा के लिए पूरे आदमी की तलाश उसके लिए आवश्यक हो जाती है। वस्तुत: सावित्री के मन का आक्रो इसलिए भी अधिक है क्योंकि उसमें एक दूसरे के गुथ जाने का सामञ्स्य भाव नहीं है। इसलिए यह पूरा का पू नाटक एक स्तर पर स्त्री-पुरुष के बीच का लगाव और तनाव का दस्तावेज है जो दूसरे स्तर पर या पारिवारिक विघटन की गाथा। इस कुटुब का हर सदस्य एक दूसरे से कटा हुआ है। घर की त्रासदायक हवा वे अपने और एक दूसरे के लिए जहरीले हो रहे हैं। यह नाटक व्यक्तियों की विभिन्नता के बावजूद निराशा औ पीड़ा के स्वर मुखर करता है। पुरुष एक और स्त्री का यह संवाद—

''स्त्री—(पाजामें को फाड़कर फिर से तहाती है) अब क्या दे दूँ। पहले खुद भी तो देख सकते थे (गुस्से में कबर्ड खोलकर) पाजामें को जैसे उसमें कैद कर देती है। पुरुष एक फालतू सा इधर-उधर देखता है फिर कुर्सी की पीठ पर हाथ रख लेता है।

स्त्री—(कवर्ड के साप आकर ट्रे उठती है) चाय किस-किस ने पी थी?

पुरुष एक—(अपराधी स्वर में) अकेले मैने।''

वस्तुत: यह परिवार मध्य वित्तीय मानसिकता का शिकार है जिसके चारों ओर से उस पर अवसाद क छाया मंडराई रहती है। सावित्री और पुरुष एक का अधूरापन उनके व्यक्तित्व और परिस्थितियों का परिणाम है इसीलिए सावित्री की तलाश मानव के संपूर्ण अस्तित्व की तलाश नहीं कही जा सकती है। क्योंकि उसमें तलाश के लिए न जिज्ञासा है और न बौद्धिक आत्मबल। वह केवल एक असंतुष्ट दृष्टि और अप्रयास संवेग को लेक वह महेंद्रनाथ तथा अपने संपर्क में आये अन्य पुरुषों के अधूरेपन का आरोप लगाती है। वह सिहानियाँ जगमोहन या जुनेजा नहीं है और इन सबकों वह इसलिए घृणा करती है कि शायद वे महेंद्रनाथ नहीं हैं। कोई भ व्यक्ति अपनी निजता को त्यागकर दूसरा व्यक्ति नहीं बना सकता। महेंद्रनाथ जैसा भी है अपने को महेंद्रनाथ बनाए रखता है। सावित्री का उसे अपनी निजता में न जीने देना उसे पंगु बना देता है और स्वयं उसके जीवन मे बाहरी लोग उतने प्रमुख हो जाते हैं कि उसके बिना वह अपने अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर पाती। इस प्रकार नाटक का मूल रूप व्यक्ति के बोने पन से ओत-प्रोत है। पुरुष एक और सावित्री के बीच संवाद को देखकर अनुमान लगा सकते हैं। कि दोनों के बीच के संबंध किस प्रकार के हैं—

''पुरुष एक—मैं बस थोड़ी देर के लिए निकला था बाहर।

स्त्री—(और चीजों को समेटने में व्यस्त) मुझे क्या पता किने देर के लिए निकले थे वह आज फिर आएगा, अभी थोड़ी देर में तब तो घर पर रहोगे तुम।

पुरुष एक—(हाथ रोककर) कौन आयेगा? सिहानियाँ?

स्त्री—उसे किसी के यहाँ खाने जाना है, इधर पाँच मिनट के लिए यहाँ आएगा।''

सिंहानियाँ का अधूरापन और महेंद्रनाथ की उसके प्रति सोच पारंपारिक व्यक्तित्व के बोनेपन की सोच है। सावित्री एक के बार एक पुरुषों को आजमाती है और सबको आधा-अधूरा करार देती है। यह नाटक स्त्री-पुरुष के संबंधों, अमानवीय स्थितियों और परिवारिक विघटन का दस्तावेज बन गया है। नाटक का प्रमुख पात्र महेंद्रनाथ पुरुष एक हैं वह अपनी स्थिति का अनुभव करते हुए भी उभर नहीं पाता, यहाँ तक कि वह स्वयं की दृष्टि में भी गिर चुका हैं दूसरी तरफ उसकी पत्नी सावित्री बेकार पति से ऊबी हुई स्त्री है जो टूटते बिखरते पारिवार से ऊब कर किसी अन्य पुरुष से जुडने की ललक मन में धारण किए हुए है। वह जुनेजा, जगमोहन, मनोज और सिंहानियाँ जैसे भ्रष्ट लोगों से जुड़कर एक पूर्ण पुरुष की तलाश कर रही है। लेकिन फिर भी उसे अलग-अलग मुखौटों पर बौने चेहरे ही नजर आते हैं।

सावित्री हर पुरुष से टकराकर अपने में टूटती है फिर भी तलाश के भटकावे में अपने बेटे-बेटी और यहाँ तक कि अपने पति से ऊब कर अपने पुराने प्रेमी जगमोहन में हमेशा के लिए जुड़ने का असफल प्रयास करती है। सावित्री अपनी असफलता के कारण ही चीखती-चिल्लाती है और सबसे अलग होना चाहती है, लेकिन पुनः उसकी वापसी बेकार पुरुष महेंद्रनाथ के घर ही होती है। महेंद्रनाथ, सावित्री, बिन्नी, अशोक और किन्नी आदि आधुनिक मध्यवर्गीय चरित्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। सभी एक दूसरे से मिलकर जुड़े रहने के लिए बाध्य है। यह उसने स्त्री-पुरुष संबंधों के अन्वेषण की एक कड़ी होते हुए भी यहाँ एक तरह की स्वीकृति पर पहुँच गए हैं। स्त्री और पुरुष के बीच परस्पर अनुकूलता नहीं है, और उनके संबंधों में एक बुनियादी संघर्ष सदा बना रहता है। मगर फिर भी इस संघर्ष को समझना और इसके साथ-साथ रहना भी पड़ता है, क्योंकि स्त्री और पुरुष पूरी तरह कभी अलग भी नहीं हो सकते। इस नाटक में स्त्री-पुरुष संबंध के बिखराव आर्थिक कारणों के प्रखर है।

11.4.5 स्त्री की त्रासदी—जीवन में सुख एवं दुःख दोनों ही अनिवार्य है। सुख के समय अधिक खुशी एवं दुःख के क्षण में अधिक दुःखी नहीं होना चाहिए। दुःख के समय हमें घबराना नहीं बल्कि उसका सामना करने की कोशिश करनी चाहिए। आधुनिक काल में स्त्री अपनी अस्तित्व की पहचान बनाने के लिए संघर्षरत हो रही है। वह जीवन के तमाम विसंगतियों को पार करते हुए आगे बढ रही है। घर परिवार की स्थिति उज्जवल बनाने के लिए दूसरों के पास चिरौरी भी करती है। जिस कारण से समाज एवं अन्य लोगों को लगता है कि स्त्री अपनी अस्तित्व को ही मिटा रही हैं वह कही भी अपने को संतुष्ट नहीं पाती हैं जीवन के हर क्षेत्र में कहीं न कहीं अपने-आप को पिछड़ा हुआ पाती है। 'आधे-अधूरे' नाटक में स्थिति त्रासदी के घेरे में घिरा हुआ हैं नाटक के केंद्र में दो ही बातें मुख्य हैं—पहली पुरुष एक की पीड़ा और दूसरी नारी मुक्ति की भावना। घर है लेकिन उसमें विखराव और दर्द ज्यादा है। इस नाटक के प्रमुख पात्र सावित्री की स्थिति इस तरह हो गई है कि भीतर सुलगते हुए भी वह परिस्थिति और सामने वाले व्यक्ति को ध्यान में रखकर बात करती हैं इसलिए पुरुष दो के आत्मप्रदर्शन और छिछला रसिकता के बीच निरंतर अपने काम की बात पर आने की चेष्टा करती हैं और ऐसा करते हुए अत्यंत शालीन बनी रहती है। पुरुष एक से बात करते समय वह जिस दर्दपूर्ण स्वर से बोलती है वह पुरुष दो के सामने बोलते समय सर्वथा लुप्त हो जाता है। पुरुष तीन से बात करते समय वह हपनी पारिवारिक कटुता जहाँ छोड़कर अपने शब्दों में शहद उड़ेलने लगती है। पुरुष तीन का सहारा पाने के लिए वह विगत प्रणय संबंधों के बल पर आत्मीयता के अधिकार का उपयोग पूरी शक्ति से करती है। इस अधिकार के प्रदर्शन के लिए वह पुरुष तीन को डाटती भी है और पुरुष चार के साथ बात करती हुए वह पुरुष एक की बुराई ही करती रहती है। जिसका जवाब पुरुष चार देता रहता है।

"पुरुष चार ..... इसीलिए कि वह अपने को बिल्कुल बेसहारा समझता है। उसके मन में विश्वास बि दिया है तुमने कि सब कुछ होने पर भी उसके लिए जिंदगी में तुम्हारे सिवाय कोई चारा कोई उपाय नहीं है।''

"स्त्री—क्यों-क्यों-क्यों आप और-और बात करके लाना चाहते हो। अभी आप जाइए और कोशि करके उसे हमेशा के लिए अपने पास रख लीजिए।"

पुरुष चार जब बड़ी लड़की के उसके पिता के बारे में कहता है कि तुम्हारे पिता दिल के बुरे नहीं हैं। व तो कुछ परिस्थितियों ने उन्हें बुरा बना दिया है तब बड़ी लड़की कहती है कि—

"इतने साधारण ढंग से उड़ा देने की बात नहीं है, अंकल! मै यही थी, मुझे कई बार लगता था कि मैं ए घर में नहीं बल्कि चिड़ियाँ घर में हूँ। कितने भयानक दृश्य देखे हैं इस घर में मैने। दिन-रात पिताजी व मार-पीट सहने के बावजूद माँ इस घर को संभाले हुए हैं।"

इस नाटक में तीनों स्त्री पात्रों की स्थिति दयनीय हैं बड़ी लड़की बिन्नी का विवाह अपने माँ के आशि के साथ हो जाता है। बड़ी लड़की बिन्नी इस सभी बातों से अनजान रहती हैं जिस व्यक्ति के साथ उसका विव हो जाता है, जिसके साथ जीवन यापन करती है वह व्यक्ति उसे ये सच्चाई छुपाया रहता हैं बिन्नी की माँ अपने बेटी के जीवन को नरक बनाने में तुली हुई है। छोटी लड़की किन्नी हमेशा छोटी-छोटी चीजों के लि अपने माँ एवं दीदी से लड़ाई करती है। मोहन राकेश ने इस नाटक के माध्यम से महानगर से व्यवस्थि मध्यवर्गीय परिवार में नारी की स्थिति देखने का प्रयास किया है। 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में भी मल्लि की त्रासदी दिखाई देती है। मल्लिका कालिदास से प्रेम करती है, लेकिन उसकी खुशी के लिए उससे दूर रह है। मल्लिका का चित्रण एक स्वतंत्र, आत्म-निर्भर, विचारशील, आधुनिक और निर्णायक नारी के रूप में हुअ हैं मल्लिका इस नाटक में स्वयं कहती है कि "मैंने भावना का वरण किया है मेरे लिए वह संबंध और स संबंधों से बड़ा है। मैं वास्तव में अपनी भावना से प्रेम करती हूँ जो पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है।" कालिदा से इतना चाहते हुए भी अपने आप को कालिदास और उनकी उपलब्धियों के बीच में नहीं आने दिया।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि नारी की त्रासदी 'आधे-अधूरे' नाटक में दिखायी देती है। इस नाटक के प्रत्येक नारी पात्र अपनी जीवन खुल ने नही जी पा रही है। सावित्री, किन्नी और बिन्नी तीनों की जीवन विसंगतिय से भरा हुआ हैं ये तीनों नारी पात्र तकलीफ में होते हुए भी जीवन-यापन के लिए तत्पर है। जीवन की तमा विसंगतियों को काटते हुए आगे बढ़ने की कोशिश करती है।

11.4.6 आगे बढ़ने की लालसा—आगे बढ़ने की लालसा हर मनुष्य में होती है। वह हमेशा आ बढ़ने की कोशिश में लगा रहता है। मध्यवर्गीय परिवार में यह भावना सबसे अधिक दिखाई देती है। मध्यवर्ग क आकांक्षायें कभी पूर्ण नहीं हो पाती है, वह निम्न वर्ग एवं उच्चवर्ग के बीच में पिसता हुआ नजर आता है।

मोहन राकेश कृत 'आधे-अधूरे' नाटक में भी सभी पात्र आगे बढ़ने के लिए तमाम प्रयास करते हैं, मोह राकेश के उनके इस भाव को दिखाने का प्रयास इस नाटक में किया है। इस नाटक में प्रमुख पाँच पात्र हैं। सभी पात्रों में हमेशा आगे बढ़ने की लालसा होती है और यही लालसा उन्हें परिवार के संबंधों में विघटन पैदा करत है। महेंद्रनाथ व्यवसाय के लिए अपने दोस्त से पैसा कर्ज लेता है, लेकिन अंत तक कर्ज नहीं चुका पाता है औ निराश होकर महेंद्रनाथ यानी पुरुष एक स्त्री से कहता है कि—

पुरुष एक—फिलहाल उसे देने के लिए पैसा नहीं है, तो कम-से-कम मुँह तो उसे दिखते रहना चाहिए।

पत्नी—हाँ, हाँ दिखा आओ मुँह जाकर।"

वह आगे बढ़ने के लिए कर्ज लेता है लेकिन कर्ज चुकता नहीं कर पाता। जिसके कारण उसे हमेशा ताना सुनना पड़ता है। इस नाटक की प्रमुख पात्र सावित्री आगे बढ़ने के लिए अपने बॉस को भी चिरौरी करती है। ताकि बॉस उसके बेटे को छोटी-मोटी नौकरी दे दे। जिसके कारण घर की स्थिति में थोड़ा सुधार हो। सावित्री बॉस से कहती है—

"स्त्री—याद है न आपको?

पुरुष दो—याद है। कुछ बात की थी तुमने एक बार। अपनी किसी कजिन ने लिए कहा था ..... नहीं, वह तो मिसेज मल्होत्रा ने कहा था। तुमने किसके लिए कहा था?

स्त्री—(लड़के की तरफ देखती) इसके लिए।"

सावित्री हमेशा जिसके भी संपर्क में आती है उसे अपने परिवार की स्थिति को बयान करती है। ताकि किसी तरह उसके बेटे को कोई नौकरी मिल सके। घर की आर्थिक स्थिति में सुधार हो। इसीलिए वह अपने कलिग को घर पर बुलाकर अच्छा व्यवहार करने की कोशिश करती है। लेकिन यह प्रयास भी उसका बेकार ही जाता है। लड़का अपनी माँ से कहता है—

"लड़का—उसकी किसी 'बड़ी' चीज की वजह से। एक कि वह इंटेलेक्चुअल बहुत बड़ा हैं दूसरे को कि उसकी तनख्यवाह पाँच हजार है। तीसरे की उसकी तख्ती चीफ कमिश्नर की हैं जब भी बुलाया है, आदमी को नहीं-उसकी तनख्वाह को, नाम को, रुतबे को बुलाया है।

स्त्री—तू कहना क्या चहता है इससे कि ऐसे लोगों के आने से इस घर के लोग छोटे हो जाते हैं?

लड़का—बहुत-बहुत छोटे हो जाते हैं।"

इस प्रकार यह देख सकते हैं कि इस नाटक में महानगर के मध्यवर्गीय परिवार आगे बढ़ने के लिए किस तरह से बैचेन हैं और उनकी इस लालसा ने पूरे परिवार में विघटन की स्थिति पैदा की हैं।

11.4.7 असंतोष की भावना—मानव हमेशा किसी न किसी कारणवश असंतोष की भावना से घिरा रहता हैं वर्तमान समाज में यह भावना का स्तर अधिक दिखाई देती है। असंतोष में घिरा हुआ व्यक्ति कभी संतुष्ट नहीं हो पाता है और संतुष्टि की तलाश में वह हमेशा इधर-उधर भटकता रहता है। सबसे अधिक असंतोष की भावना हमें मध्यवर्गीय परिवार में दिखाई देती हैं यही असंतोष की भावना के कारण पारिवारिक संबंधों में विघटन, तनाव आदि दिखाई देता है।

'आधे-अधूरे' नाटक महानगरीय मध्यवर्गीय परिवार की गाथा है। इस नाटक में सभी पात्रों में असंतोष की भावना हमें दिखाई देती हैं परिवार का हर सदस्य आर्थिक सामाजिक दृष्टि से संतोष नहीं है। इस परिवार में अर्थ की प्राप्ति से बाकी लोगों की आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं हो पाती है, वह निराश होकर बड़ी लड़की से कहती है—

"स्त्री—कैसी बात कर रही हूँ? यहाँ पर सब लोग समझते क्या है मुझे? एक मशीन, जोकि सबके लिए आटा पीसकर रात को दिन और दिन को रात करती है। मगर किसी में मन में जरा सा भी ख्याल नहीं है इस चीज के लिए कि कैसे मैं .....।"

इस नाटक में एक ओर सावित्री अपने घर परिवार को चलाने के लिए पैसे कमाती है ताकि आगे चलकर परिवार के लोग खुशी-शान्ति से जीवन यापन करें। वहीं बड़ी लड़की वैवाहिक जीवन में संतोष नहीं है। वह अपनी माँ सावित्री से कहते है—

"बड़ी लड़की—शादी से पहले लगता था कि मनोज को बहुत अच्छी तरह से जानती हूँ। पर अब लगने लगा है कि वह जानना बिल्कुल जानना नहीं था।

स्त्री—(बात की गहराई तक जाने की तरह) हूँ! ..... तो कया उसके चरित्र में कुछ ऐसा है जो ...

बड़ी लड़की—यही तो मैं भी नहीं समझ पाती। पता नहीं कहाँ पर क्या है जो गलत है।"

इस नाटक में पति-पत्नी के बीच भी असंतोष की भावना दिखाई देती है। ऐसा लगता है कि दो बंधन में जबरदस्ती बंधे हैं। पति-पत्नी के बीच में आपसी मेल-मिलाव दिखाई नहीं देता है। हमेशा दे बीच तकरार ही दिखाई देता है। यही तकरार रिश्तों में दरार पैदा करती है।

इस नाटक में महेंद्रनाथ यानी प्रथम पुरुष भी संतुष्ट नहीं है। प्रथम पुरुष से बाकी सभी पात्र व्यवहार नहीं करते। कोई भी कुछ भी सुना कर चला जाता है। उसकी इज्जत कोई भी नहीं करता है। प्रथम से उसके लड़का-लड़की भी तू-तू-मैं-मैं करते रहते हैं—

"प्रथम पुरुष—कितने साल हो चुके हैं मुझे जिंदगी का भार ढोते? उनमें से कितने साल बाटे परिवार की देख-रेख करते हैं? और उस सबसे बाद मैं आज पहुँचा कहाँ हूँ? यहाँ कि जिसे देखो वही उल्टे ढ़ग से बात करता है? जिसे देखो मुझसे बततामीजी से पेश आता है?

लड़का—(अपनी सफाई देने की कोशिश में) मैने तो सिर्फ इसलिए कहा था, डैडी, कि .....।

इस नाटक में प्रथम पुरुष की स्थिति बहुत दयनीय दिखायी गयी है। उसे हमेशा किसी न किसी कार बेइज्जती किया जाता है। वह अंदर ही अंदर अपने आप को कमजोर एवं असहाय समझता रहता है। पुरुष एवं स्त्री के बीच यह वार्तालाप देख हम समझ सकते हैं कि पुरष एक की स्थिति कैसी है?

पुरुष एक—अपनी जिंदगी चौपट करने का जिम्मेदार मैं हूँ। तुम्हारी जिंदगी चौपट करने का जिम्मेद हूँ। इन सबकी जिन्दगी चौपट करने का जिम्मेदार मैं हूँ। फिर भी मैं इस घर से चिपका हूँ क्योंकि अंदर आरामतलब हूँ, घरघुसरा हूँ, मेरी हड्डियों में जंग लगा है।

स्त्री—मैं नहीं जानती, तुम सचमुच ऐसा महसूस करते हो या .....।"

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि असंतोष की भावना सभी पात्रों में विद्यमान है। यह भावन पारिवारिक संबंधों, वैवाहिक जीवन आदि में दिखाई पड़ती है।

11.5 नाटक की अभिनेयता

आधुनिक नाट्य-साहित्य के शिखर पर पहुँचने वाले महान नाटककार मोहन राकेश की रंग अत्यन्त परिष्कृत और बहुमुखी थी। वास्तव में मोहन राकेश रंगमंच के गहरे पारखी थे इसलिए विद्वानों ने 'आधुनिक नाटकों का मसीहा' कहा हैं उनकी रंगचेतना का ज्ञान उनके समस्त नाट्य साहित्य से परिलक्षित है। प्रसाद जी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार है किन्तु उसे नाटकों का अभिनय कठिन है। इसलिए उनके न को इस दृष्टि से अधिक सफल माना नहीं जाता है। किन्तु मोहन राकेश इस दृष्टि से अपना विशिष्ट म रखते हैं। उनके 'आषाढ़ का एक दिन' तथा 'लहरों के राजहंस' न जाने कितनी नाट्य संस्थाओं द्वारा रंगमंच अभिन्य की वे तमाम सम्भावनाएँ उपलब्ध है जो उसके लिए उपेक्षित है।

'आधे-अधूरे' रंगमंचीय प्रयोगों का नाटक है। प्रसिद्ध अभिनेता-निर्देशक सत्यदेव दुबे का कहना है—"Till date Adhe Adure' is the most sucessfull amongest the plays Produced in Hindi anywhere in India."

वैसे इस नाटक का ओम शिवपूरी के निर्देशन में दिशान्तर, नई दिल्ली, सत्यदेव दुबे के निर्देशन में थिएटर यूनिट, बम्बई, श्यामानन्द जलान के निर्देशन में अनामिका, कलकत्ता, अमाल अल्लना के निर्देशन में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (रंगमण्डल) द्विल्ली के अतिरिक्त पटना, देहरादून, वाराणसी, जमशेदपुर, कानपुर, हैदराबाद, जम्मू और भारत वर्ष के लगभग प्रत्येक रंगनगर में सफतापूर्वक मंचन किया जा चुका है।

'आधे-अधूरे' नाटक की अभिनेयता निम्नलिखित गुणों एवं विशेषताओं के कारण अत्यन्त सफल मानी जाती है।

1. कथानक के अंगों के संगठन—'आधे-अधूरे' नाटक का कथानक अत्यन्त संगठित, संक्षिप्त, सरल एवं रोचक है।। नाटककार ने दिखाया है कि किस प्रकार से एक मध्यवर्गीय परिवार स्तरीकरण की दौड़ में दौड़ता हुआ विघटनशीलता के कगार पर पहुँच गया है। इस परिवार का प्रत्येक सदस्य अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के लिए सामाजिक, नैतिक एवं पारिवारिक मूल्यों की तिलांजलि दे देकर अपने आपको और पूरे परिवार को मानसिक यान्त्रणाओं के अन्धकूप में धकेल देता है। नाटककार ने कथानक के सभी अंगों में संगठन करते हुए संक्षिप्तता, कसावसहट एवं प्रभविष्णुता के ग्रन्थों को कथानक को समाहित किया है। छब्बीस घण्टे की अल्पावधि में लिपटी-सिमटी संक्षिप्त और रोचक कथावस्तु का सफलतापूर्वक दो-ढाई घण्टे में मंचन किया जा सकता है। उन्होंने कथावस्तु के अन्तराल विकलप को दो भागों में विभाजित किया है। केवल एक ही दृश्यबन्ध पर सारा नाटक सफलतापूर्वक खेला जा सकता हैं किंचित मात्रा में भी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। कथानक का विभाजन न अंकों और न दृश्यों में प्रस्तुत किया गया है कथानक को संक्षिप्त रूप देने के लिए उन्होंने अपनी जागृत दृश्य-सूक्ष्म विवेक का भी भरपूर सहारा लिया है।

इसके अतिरिक्त नाटककार की भाषा संवाद एवं रंगसंकेत कथावस्तु का विकास करने की पूरी क्षमता रखते हैं। नाटक में प्रस्तुत (प्रयुक्त) चरित्रों का चरित्रिक विकास कथावस्तु को इतनी गति देता है कि भविष्य में घटने वाली अलक्ष्य घटनाओं का संकेत भी मिल जाता है। इस ही दृश्यबन्ध में सम्पूर्ण कथावस्तु को प्रस्तुत करने के लिए नाटककार में यथास्थान पर्याप्त रंग संकेत दिए हैं। उससे दृश्य निर्माण में बड़ी सहायता मिलती है। यथा—

"पुरुष एक : (हाथ बढ़ाकर) लाओ, मुझे दे दो।

स्त्री : (पाजामें को झाड़कर फिर से तहाती हुई) अब क्या दे दूँ। पहले खुद भी तो देख सकते थे।

गुस्से में कवर्ड खोलकर पाजामें को जैसे उसमें कैद कर देती है। पुरुष एक फालतू-सा इधर-उधर देखता है, फिर एक कुर्सी की पीठ पर हाथ रख लेता है।

(कबर्ड के पास आकर ट्रे उठाती) चाय किस-किसने पी थी?"

जहाँ तक काल-अन्विति का प्रश्न है नाटक में केवल चौदह या पन्द्रह घण्टों की परिस्थितियों को कथावस्तु का जामा पहनाया गया। पहले दिन पाँच बजे शाम से लेकर दूसरे दिन सात बजे शाम तक की घटनाओं में नाटककार ने बड़ी कुशलता के साथ मंचरच करने का प्रयास किया है। इससे नाटक की अभिनेयता को पर्याप्त बल मिलता है। नाटक का कार्य-व्यापार मंच पर आए हुए पात्रों द्वारा बड़ी तीव्रगति से आगे बढ़ता

है। इसका एक कारण यही है कि इसकी कथावस्तु संक्षिप्त है। इसके पात्र घटनाक्रम को मोडने में पूर्णतः
हैं कथानक के अंगों में संगठन है। कथा-संयोजक दर्शकों का स्तब्ध एवं जिज्ञासु बनाए रखता है।

2. पात्रों की सीमित संख्या एवं यथार्थपरक चित्रण—प्रस्तुत नाटक की पात्रसंख्या भी अ
सीमित है—केवल दो पुरुष पात्र और तीन स्त्री पात्र ही समस्त कथा को व्यक्त कर देते हैं। एक ही व्यक्ति
एक, पुरुष दो, पुरुष चार की भूमिकाओं में प्रस्तुत होता है। पात्र-संख्या सीमित होने के कारण
चरित्र-चित्रण भी बड़े स्वाभाविक ढंग से हुआ हैं महेन्द्रनाथ, सावित्री अशोक, बिन्नी आदि सभी पा
चरित्रांकन वास्तविक मनोवैज्ञानिक धरातल पर हुआ। इसके जहाँ पात्रों के चरित्र चित्रण में सजीवता अ
वही रंगमंच पर नग्न यथार्थ से साक्षात्कार भी दर्शकों को हुआ है। दर्शक पात्रों की मनःस्थिति, स्वभाव
आचार-विचारों में शीघ्र ही परिचित हो जाते हैं डॉ० रीता कुमार ने राकेश की पात्र-योजना के बारे में
है—"राकेश ने अपने किसी भी नाटक में पात्रों की भीड़ एकत्रित नहीं की। विभिन्न सामाजिक विसंगतिय
मूर्त्त करने में आवश्यक पात्रों की ही योजना की है। हिन्दी नाटकों में पहली बार पात्रों के आन्तरिक द्वन्द्व
मनोभाव, विसंगतियों और संवदेनशील व्यक्ति के संघर्ष, को, एकरस जिन्दगी की ऊब और निरर्थक के
बेमानी होते पारस्परिक सम्बन्धों के बोझ को ढ़ोती व्यक्ति की विवशता को उनके नाटकों के पात्र बहुत
रूप में मूर्त्त करते हैं।" इसके अलावा पात्रों की वेशभूषा, भाषा, संवाद आदि में रंगमंच के अनुकूल हैं दर्श
यथार्थवादी धरातल के पात्रों से तादात्म्य शीघ्र करके नाटक की कथावस्तु का रस ग्रहण करने लगते हैं।
'आधे-अधूरे' ने त्रस्त और परस्त-चरित्र भले ही विकासहीन एवं व्यक्तिवादी 'अंह' से ग्रस्त हो, पर फिर
पात्र एक दर्पण को प्रस्तुत करते हैं जो हमें अपने-आप को अपने आस-पास के जीवन और परिवेश से पा
कराते हैं।

3. चुस्त-संवाद योजना—राकेश जी ने प्रस्तुत नाटक की संवाद योजना एकदम चुस्त, बहुअर्थ
रंगमचीय दृष्टि के अनुकूल की हैं नाटककार ने प्रत्येक पात्र को रंगमंच पर इस प्रकार अभिव्यक्ति प्रदान
कि नाटककार का कथ्य एवं पाठकों की संवेदना एकाकार हो गई है। पात्रों के अति लघु तीखे संवाद अन्य
एवं दर्शकों पर अस्त्र की भाँति वार करते हैं। इस नाटक की संवाद-योजना में संवाद की तीव्रता उसके
को और अधिक सघन बनाती है। पात्र के मानसिक आक्रोश की अभिव्यक्ति का संशक्त साधन बनी

मोहन राकेश चुस्त-चुटली, सरल-प्रवाहशील संवाद योजना की अवतरण में निष्णात है। वास्तव
संवादों का सारा सौन्दर्य इनकी रचना-बनावट में है जहाँ नाटककार की आत्मीयता और पात्रों की आत्म
एकाकार हो गई है। उन्होंने नायक-नायिका (महेन्द्रनाथ-सावित्री) की टकराइट को संवादों के माध्यम
अभिव्यक्त किया है—

"पुरुष एक—काफी अच्छा आदमी है जगमोहन और फिर से दिल्ली में उसका ट्रांसफर भी हो ग
कहा रहा था आएगा किसी दिन मिलने।

स्त्री—खूब तारीफ करो और जिस-जिसकी हो सके तुमसे।" पूरे नाटक में राकेश की संवाद य
कही भी सतही, उथली, अस्वाभाविक या भाषाजाल प्रतीत नहीं होती। इतने बड़े-बड़े नाटक में एक भी
शून्य जड़ अपाठ्य नहीं कही जा सकती। वास्तव में ये लघुकाय संवाद देखने में छोटे लगे पर घात कर ग
की उक्ति को चरितार्थ करते हैं अर्थात आकार में छोटे-छोटे, चुस्त-चुटीले पर सम्पूर्ण अर्थ को वहन कर
क्षमता निहित है।

डॉ. बन्सल ने 'आधे-आधूरे के संवादों की विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"आधे-अधूरे के अतिलघु, तीखे संवाद ने अस्त्रों के समान तेजी से उठकर गहरा वार करते है। वे बिजली के समान चमकते हैं और कौंध कर विलीन हो जाते हैं।

यथा—

स्त्री—फिर भी कोई खास बात।

बड़ी लड़की—खास बात कोई भी नहीं?

स्त्री—तो?

बड़ी लड़की—और सभी बातें खास हैं।

स्त्री—जैसे?

बड़ी लड़की—जैसे ..... सभी बातें?

स्त्री—तो मेरा मतलब है कि ..... ?"

अत: आधे-अधूरे की संवाद योजना अत्यन्त संक्षिप्त चुस्त-चुटील और अभिनेय गुण से युक्त है जिसके कारण यह नाटक रगमंच की कसौटी पर खरा उतरा है।

डॉ. गिरीश रस्तोगी का कहना है—"इस नाटक के संवाद की गति को ज्यादा महत्त्व दिया गया है, यह विकास का लक्ष्य है। केवल सिंघानियाँ एवं संवादों को एक ठहराव है अन्यथा नाटक के संवादों में मति ही गति है, क्योंकि वह उन सभी पात्रों के मानसिक आक्रोश को अभिव्यक्त करने के लिए जरूरी है और तीखेपन में तेजी और तल्खी सवाभाविक भी है इसके अतिरिक्त कही संवाद अधूरे-अस्फूट है कहीं पूरे-परे लम्बे और कहीं एकदम छोटे।" इस नाटक की संवाद-योजना में पात्रानुकुलता स्वाभाविकता, सरलता, संक्षिप्तता, व्यंग्यात्मकता, यर्थापरकता, रोचकता आदि के गुण नाटक के रंगमंच पर सफलतापूवक प्रोषित करते है:

सिघांनियाँ प्रकरण में स्त्री एवं लड़के के संवादों से सिंधानियाँ की कामुक एवं स्वार्थपरकता पर व्यग्य किया गया है यथा—

"स्त्री—तू एक मिनट जाएगा बाहर?

लड़का—क्यों?

स्त्री—बैटरी डाउन हो गई है। धक्का लगना पड़ेगा।

लड़का—अभी से? अभी तो नौकरी की बात तक नहीं की उसने .....

स्त्री—जल्दी चला जा। उन्हें पहले ही देर हो गई है

लड़का—अगर सचमुच दिला दी उसने नौकरी, बत तो पता नहीं।"

4. सहज-सरल भाषा-योजना—जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, रंगमंचीय नाटक के लिए उसका अत्यन्त महत्त्व है क्योंकि क्लिष्ट भाषा अक्सर उसके अभिनय में बाधक बन जाती है। प्रसाद के नाटकों को मंच पर सफलता न मिलने का एक मुख्य कारण उनकी भाषागत किलष्टता भी रहा है। उनकी काया-कठिन्य के कारण दर्शक की ग्रहण क्षमता कुण्ठित हो जाती है। राकेश जी को रंगमंच का पूरा अनुभव है और रंगमंच पर खेले जाने वाले नाटकों की भाषा कैसी होनी चाहिए इसका पूर्ण ज्ञान हैं उनके ऐतिहासिक नाटकों में भी रंगमंचानुकूल

भाषा का ही प्रयोग हुआ है—यह ओर बात है कि परिवेशगत यथार्थता को बनाए रखने के लिए उन्हें कुछ संस्कृतनिष्ठ शब्दों को भी प्रयुक्त करना पड़ा। आधे-अधूरे उनका सामाजिक समस्या-नाटक है इसलिए इसमें आधुनिक-परिवेश को यथार्थ रूप में प्रस्तुत कर सकने वाली उस भाषा को प्रयुक्त किया गया है जो बोलचाल की उर्दू-अंग्रेजी मिश्रित हिन्दी तो है ही साथ ही नाटकीय कथावस्तु के सर्वथा उपयुक्त है। 'आधे-अधूरे' की भाषा आम आदमी की भाषा होते हुए भी सर्जनात्मक शक्ति और रंगतत्त्वों से पूर्ण है। भाषा की सादगी सच्चाई और तनाव को व्यक्त करने की क्षमता स्थान-स्थान पर पाठक को करंट के समान छू जाती है। घर—घूसरा नाशुके आदमी, रबड़ का टुकड़ा—जैसे आज के समाज में प्रचलित इन नये शब्दों से राकेश जी ने इस नाटक की भाषा को रंगमंचीय सम्प्रेषण के अनुकूल और गहन अर्थवत्ता से युक्त बनाया है। अत: प्रस्तुत नाटक की भाषा सर्वत्र सहज, सरल, यथार्थपरक, रोचक प्रवाहमयी एवं व्यंग्यप्रधानता के गुणों से युक्त सही अर्थों में रंगमंचीय भाषा है।

5. सफल दृश्य योजना—मंज सज्जा एवं दृश्य योजना का चुनाव राकेश जी ने अत्यन्त सावधानी सुलभता के आधार पर किया है। यह पूरा नाटक एक ही दृश्यबन्ध में सफलतापूर्वक मंच पर अभिनीत हो सकता है। इसकी दृश्य-योजना में दृश्य परिवर्तन करने की आवश्यकता निर्देशक को नहीं पड़ती है। यह सफल दृश्य-योजना राकेश जी की अनुभवी रंगमंचीय दृष्टि का परिणाम है। महेन्द्रनाथ और सावित्री के घर का वह बड़ा कमरा जो बैठने-उठने के लिए प्रयुक्त होता है, में सारा नाटक घटित हो जाता है। इस कमरे को नाटककार ने बहुउद्देशीय प्रयोग किया है। नाटककार ने मंच पर दृश्य योजना के इतने पर्याप्त रंग संकेत दिए हैं कि पूरी दृश्य-योजना इसी कमरे में साकार हो जाती है। दृश्य योजना के लिए राकेश जी ने उन उपकरणों का चयन किया जो लगभग हर मध्यवर्गीय परिवार में सहज उपलब्ध हो जाते हैं। इस सहज-सुलभ उपकरणों को जुटाना ही राकेश की अनुभवी रंगदृष्टि का परिणाम है। **श्री ओम शिवपुरी** ने नाटक के दृश्य स्थल के बारे में लिखा है—'आधे-अधूरे' में कार्य स्थल मकान का बैठने का कमरा है, जिसमें सोफे, कुर्सियाँ, अलमारी, किताबें, पर सालों की आर्थिक कठिनाइयों के कारण अब इस पर धूल की तरह जम गई है क्रॉकरी पर चटखन है, दीवारे मटमैली हो गई है। इस परिवार का हर सदस्य एक-दूसरे से कटा हुआ है। घर की हवा तक में तल्खी की गन्ध है, जो पाँच व्यक्तियों के मन में भरी हुई है—अब, घुटन, आक्रोश, विद्रुप दम घोटने वाली मनहूसियत जो मरघट में होती है।''

अत: राकेश जी ने अपनी दृश्य-योजना में कुछ भी ऐसा नहीं रखा है जो रंगमंच पर उपस्थित करना कठिन हो। इतना ही नहीं उपलब्ध उपकरणों वस्तुओं के भी सरलतम प्रयोग से सफल दृश्य-योजना की है।

6. पर्याप्त रंग संकेत एवं रंग निर्देश—मोहन राकेश ने निर्देशक की सुविधा के लिए 'आधे-अधूरे' नाटक में पर्याप्त मात्रा में रंग-संकेत या रंग-निर्देश दिए हैं। नाटक के प्रारम्भ में ही यह रंग संकेत, रंग-निर्देश दृष्टव्य है—''पर्दा उठने पर सबसे पहले चाय पीने के बाद डाइनिंग टैबल पर छोडा गया अधटूटा और आलोकित होता है फिर फटी किताबों और टूटी कुर्सियों में से एक-एक कुछ सेकेंड बाद प्रकाश सोफे के उस भाग पर केन्द्रित हो जाता है जहाँ बैठा काले सूट वाला आदमी सिगार के कश खींच रहा है। उसके सामने रहते प्रकाश उसी तक सीमित रहता है, पर बीच-बीच में कभी यह कोना और कभी वह कोना साथ आलोकित हो जाता है।''

नाटककार ने इन रंग संकेतों या रंग निर्देशों के माध्यम से एक तरफ तो नाटक के रंगमंचीय स्वरूप में मजबूत किया है, दूसरे मध्यवर्गीय परिवार की दयनीय स्थिति, घुटन, कुण्ठा आदि रंगध्वनि में उजागर किया है। राकेश जी ने रंग-संकेतों के साथ प्रकाश एवं ध्वनि योजना द्वारा भी प्रस्तुत नाटक के मंचन को सफल बनाने की कोशिश की है। नाटक के मार्मिक क्षण में उभरने वाला शोकप्रद और खण्डहर की वीरानियत का संगीत एवं

पात्रों की घुँधली आकृतियों पर सिमटता हल्का प्रकाश नाटक को गहरी अर्थवत्ता प्रदान करता हैं। इसके साथ-साथ एक ही दृश्यबन्ध पर काल-परिवर्तन का संकेत भी उसके रंग संकेतों की व्यापकता एवं सार्थकता को प्रकट करता है।

अत: राकेश जी ने अपने रंग संकेतों, प्रकाश एवं ध्वनि व्यवस्था से नाटक की अभिनेयता को सफलता की सीढ़ी तक पहुँचाने का काम स्वंय ही कर दिया, न किसी नाट्य निर्देशक पर निर्भर रहे।

7. वेशभूषा एवं साज-सज्जा—नाटककार ने अपने पात्रों की वेशभूषा एवं साज-सज्जा के बारे में स्पष्ट रंग निर्देश दिए हैं। चारों पात्रों की वेशभूषा के बारे में रंगसंकेत नाटक के प्रारम्भ में ही मिलते हैं—पुरुष एक के रूप में वेशान्तर पतलून-कमीज, पुरुष दो के रूप में पतलून और बन्द गले का कोट। पुरुष तीन के रूप में पतलून, टीशर्ट तथा पुरुष चार के रूप में-पतलून के साथ में पुरानी काट का लम्बा कोट। इसी प्रकार सावित्री की वेशभूषा-ब्लाउज और साड़ी साधारण होते हुए भी सुरुचिपूर्ण दूसरी साड़ी विशेष अवसर की इस प्रकार बड़ी लड़की की सगी माँ से साधारण छोटी लड़की फ्रॉक चुस्त, पर एक मोजे में सुराख लड़के की वेशभूषा के बारे में पतलून के अन्दर दबी-भड़कीली बुशर्ट, धुल-धुलकर घिसी हुई इन पात्रों के लिए वेशभूषा अत्यन्त सरल व सहज ग्राह्य है।

इस प्रकार नाटककार ने अपने सभी पात्रों की वेशभूषा को उनके व्यक्तित्व, मन स्थिति और कार्य कलाप के अनुरूप रखा हैं किसी भी पात्र के लिए मेकअप भी अनिवार्य नहीं है जिससे पात्र अपनी सरल और साधारण वेशभूषा में जन-जीवन की समस्याओं को और गहराई से मूर्त करते हुए सीधे दर्शक द्वारा साधारणीकृत हो जाते हैं। **ओमशिवपुरी** ने इस नाटक की वेशभूषा एवं साज-सज्जा के बारे में लिखा है—"प्रस्तुति की अन्य उल्लेखनीय विशेषता थी—मेंकअप का न होना। नायिका केवल वही मेकअप किया हुए थी, जो उस जैसी स्त्री वास्तविक जीवन में करती हैं इसके अलावा किसी कलाकार ने पाउडर इत्यादि छुआ भी नहीं था। नाटक की साज-सज्जा भी अत्यन्त स्वाभाविक सादी होते हुए भी सार्थक है। इस प्रकार की सरल-सुलभ वेशभूषा कहीं भी सहजता से उपलब्ध हो सकती है।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रस्तुत नाटक के कथानक के अंगों में संगठन, पात्रों की सीमित संख्या और यथार्थवादी चित्रण, सरल और सार्थक रंगभाषा, सफल संवाद योजना, पर्याप्त रंग संकेत, पात्रनुकूल वेशभूषा और सरल-सहज प्राप्त मंच सज्जा की सामग्री के कारण रंगमंच की कसौटी पर एकदम खरा उतरता है। यह नाटक 'धर्मयुग' में अपने प्रकाशन और दिल्ली, मुम्बई, कलकत्ता तथा देशभर में अन्य कई स्थानों पर हुए मचन के कारण इतना प्रसिद्ध गया था कि इसी नाटक पर को राकेश जी के 'संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार' और नेहरू फैलोशिप मिली सुप्रसिद्ध नाट्य-निर्देशक **ब.व. कारंत** के अनुसार, "हिन्दी रंगमंच पर 'आधे-अधूरे' की शायद हिन्दी का एकमात्र मौलिक नाटक है जो सबसे ज्यादा खेला गया और पसन्द किया गया। पहली बार इसने साहित्यिक और रंगमंचीय नाटक में भ्रामक अन्तर को भी मिटाया।"

नैमिचन्द्र जैन का कथन भी इस नाटक की रंगमंचीय सफलता के विषय में उल्लेखनीय है—"वह (आधे-अधूरे) नि:सदेह रंगमच पर प्रस्तुत करने योग्य, सार्थक और समकालीन संवेदना के समीप का नाटक है 'आधे-अधूरे' आज के इंसानों की जिन्दगी को किसी प्रकार आज के ही मुहावरों में प्रस्तुत करता है।"

11.6 आधे अधूरे की सम्वाद योजना

संवाद नाटकों का मूल विधायक, तत्त्व माना जाता है। नाटक के दृश्य-कलेवर का निर्माण एक सृजन वास्तव में संवादों का योजना के रूप में ही हुआ करता है। इसी कारण संवाद नाटकों का परमावश्यक तत्त्व हैं

ध्यात्व्य है कि संवाद नाटक के बाह्य या दृश्य कलेवर का तो निर्माण करते ही है, उसकी आत्मा भी वास्त
संवादों में ही अतार्हत रहती है नाटक का कथ्य, कथानक, भाव, विचार, उद्देश्य, समास्याकन, पात्रों के
बाह्य चरित्र, सवेद्य, सवेदना और अनुभूतियाँ, यहाँ तक कि वातावरण का, परिस्थितियों का वास्त
अभिव्यक्ति भी नाटकों में संवादों के माध्यम से हो ही पाता है। कथानक का योजना उसका आदि, मध्य,
आदि विभिन्न स्थितियों में अन्त: वाह्य विकास भी संवादों द्वारा ही नाटकों में संभव हुआ करता हैं
अतिरिक्त सर्जक कलाकार या नाटककार अपनी और से जो कुछ कहना चाहता है, उसके लिए भी वह कि
किसी पात्र के संवादों का ही आश्रय लेता है। इस प्रकार नाटकों में संवाद एक प्रमुख एवं व्यापक तत्व हैं
बिना नाटक का ढाँचा ही खड़ा नही हो सकता। यह भी निर्विवाद और अंतिम तथ्य है कि नाटक
सफलता-असफलता उचित, सुघड़ एवं सुचिंतित व्यावहारिक संवादों, पर ही अवंलबित रहता हैं इनके सद
में कोई नाटक सफल होता है और अभाव में असफल।

सामान्य रूप एवं अर्थ में संवाद कुछ व्यक्तियों (कथात्मक साहित्य में पात्रों) द्वारा आपस में की
बातचीत या वार्तालाप को ही कहा जाता है। पर वार्तालाप, बातचीत और संवाद में वास्तवित एवं मौलिक
यह होता है कि बातचीत में कायिक या वाचिक अभिव्यक्ति (अभिनेयता) का कोई विशेषता नहीं समझी
जबकि संवादों के लिए यह सब एक प्रकार का अनिवार्यता है। संवादों में वक्ता के कथन के अनुरूप कायि
अगिक ओर वाचक भावाभिव्यक्ति भी आवश्यक हुआ करता है। अपने चहरे पर वाले उतार-चढ़ाव शरी
अंगों का संचालन या हिलना-डुलना भी ठीक संवाद-शब्दों की भावना के अनुरूप ही होना चाहिए। तभी
स्थिति में किया गया वार्तालाप या बातचीत संवाद की श्रेणी में अभिहित किये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि स
में शब्द जितना कहते हैं, उतने ही चेहरे के उतार-चढ़ाव एवं हाव-भाव भी कहा करते हैं। कभी-कभी ते
भी होता है कि किसी संवाद के शब्द भाव या विचार को उतना अभिव्यक्ति नहीं दे पाते जितने कि चेह
उतार-चढ़ाव, हाव-भाव या आगिक-वाचिक संचालन। कई बार नाटककार संवादों के शब्दों में
सांकेतिकता से काम लिया करता है वह व्याख्या-बिन्दुओं या डेशो का प्रयोग करके एक बात बीच में ही
दिया करता है। ऐसी स्थिति में व्यक्त हाव-भाव एव अंग-संचालन ही उन्हें पूर्ण अभिव्यक्ति दे पाते हैं।
परिभाषिक शब्दावली में हमे उचित अभिनेता में संयत वार्तालाप या बातचीत को ही संवाद नाम से अभि
कर सकते हैं।

संवाद कई पकार के होते हैं। नाटक की दृष्टि से दो रूपों को ही मुख्य मानकर चल सकते हैं—
सम्पूर्ण संवाद, अर्थात् जिनमें अभिनेयता का संयम तो रहता है, पर वक्ता पात्र अपनी बात कहने के लिए
शब्दों एवं वाक्यों का प्रयोग करता है। कही भी अधूरापन दिखाई नहीं देता। दूसरे सांकेतिक संवाद। इस
के संवाद प्राय: असंतुलन एवं अव्यक्त मन: स्थितियों के द्योतन के लिए या फिर भावावेश का स्थितियं
अभिव्यक्ति के लिए ही नाटकों में योजित किये जाते हें। इस प्रकार का सवाद-योजना में नाटककार सांकेति
के तत्व का समावेश करने के लिए व्याख्या-बिन्दुओं (....) या फिर डेशो (—) आदि का सहारा
करता है। इस प्रकार के संवाद प्राय: अत्यधिक संक्षिप्त और कभी-कभी तो एक-शब्द मात्र ही हुआ क
जैसे—

लड़का—(उसके पीछे जाने को होकर) मैं देखता हूँ इसे। कम से कम इस लड़का को तो मुझे ....।

स्त्री—सुन।

लड़का—(किसी तरह निकल जाने की कोशिश में) पहले मैं जाकर इसे .... ।

स्त्री—(काफी सख्त स्वर में) पहले तू आकर यहाँ ..... बात सुन मेरी।

इसी प्रकार पहले प्रकार के अर्थात् संपूर्ण संवाद को भी एक उदाहरण देखिये—

लड़का—तुम्हारा बॉस न होता तो उस दिन मैंने कान पकड़ कर घर से निकाल दिया होता। सोफे पर टाँग पसारे आप सोच कुछ रहे हैं, जाँघ खुजलाते देख किसी तरफ रहे हैं और बात मुझसे कर रहे हैं—(नकल उतारता) 'अच्छा यह बतलाइये कि आपके राजनीतिक विचार क्या हैं?' राजनीतिक विचार हैं मेरे—खुजली और उनका मरहम।

स्पष्टत: संवादों के इन दोनों रूपों का 'आधे-अधूरे' नाटक में पूर्ण सफलता के साथ प्रयोग हुआ है। इसमें बाह्य गौरव तो है ही, प्राण या आत्म-तत्व या अपने समग्र रूप में विद्यमान है। नाटकों में इनके अतिरिक्त संवादों का एक अन्य रूप भी हुआ करता हैं उस रूप को परम्परागत संस्कृत नाटकों में 'आकाश-भाषित' और आजकल 'आत्म-संभाषण' नाम-रूप दिया जाता हैं। इसका प्रयोग प्राय: अकेला पात्र किया करता हैं इनकी विशेषता यह होता है कि एक ही पात्र स्वयं ही प्रश्न करता हैं और उनके उत्तर भी स्वयं देकर विशेष स्थितियों या घटित हो की घटनाओं का सूचना दे दिया करता है। 'आधे-अधूरे' नाटक में एक प्रकार का विशुद्ध ंवाद-योजना का स्वरूप नहीं मिलता। फिर भी आरम्भ के प्रथम अंक में संवादों को हम इस श्रेणी में एक सीमा तक रख सकते हैं। हाँ, यदि हम उन्हें, 'आकाश-भाषित' या 'आत्म-सभाषण' न कहना चाहे, तो नाटक का नव्य-विधा के अनुरूप उन्हें हम नया नाम-रूप दे सकते हैं। हमारे विचार में वह नया नाम-रूप हो सकता है—परिचयात्मक-संवाद। वैसे संस्कृत नाटकों की भूमिका में सूत्रधार, नट, नटी आदि पात्र जो संवाद बोला करते थे, 'आधे-अधूरे' नाटक के आरम्भ के संवादों का यह 'परिचयात्मक-संवाद' विधा एक प्रकार से उनसे मिलती-जुलती है। 'आधे-अधूरे' में इस प्रकार का संवाद योजना का मूल प्रेरणा-स्रोत भी संस्कृत के नाटक ही हैं। अंतर इतना ही है कि संस्कृत नाटकों में सूत्रधर नर, नट-नटा आदि पात्र नाटक के लेखक, विषय आदि के बारे में परिचय देते हैं, जबकि यहाँ एक मुख्य पात्र (पुरुष एक) का अपना, अपने परिवेश और परिस्थितियों का और इस रूप में आज के जीवन का अनेक विड़बनाओं का परिचय दिया गया है फिर भी संवादों के इस रूप को मूल-चेचना निश्चय ही संस्कृत नाटकों के उपर्युक्त रूप जैसा ही हैं उदाहरण देखिए—

का.सू.वा. (कुछ अंतर्मुखी भाव से सिंगार को राख झाड़ता) फिर एक बार, फिर से फिर से वही शुरुआत ....। (जैसे कोशिश से अपने आप को एक दायित्व के लिए तैयार करके सोफे से उठना पडता है।) मै नही जानता आप क्या समझ रहे हैं, मै कौन हूँ, और क्या आशा कर रहे हैं मैं क्या कहने जा रहा हुँ। आप शायद सोचते हो कि मैं इस नाटक में कोई एक निश्चित इकाई हुँ—अभिनेता, प्रस्तुतकर्त्ता, व्यवस्थापक या कुछ और। परन्तु में अपने संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कर सकता। **क्योंकि यह नाटक भी 'अपने में मेरी ही तरह अनिश्चित है।'**

संस्कृत नाट्य-विधा से परिचित और संस्कृत और संस्कृत नाटकों के अध्येता समझ सकते हैं कि वहाँ के सूत्रधार के समान यह सब नाट्क-विषय, पात्र-विषय आदि का प्रतिपाद्य ही है। इसे मूल पात्र द्वारा ही योजित करने का काम मोहन राकेश ने हिन्दी में पहली बार यहाँ किया हैं, यह एक निश्चित सत्य हैं इस प्रकार संवाद-योजना के स्वरूप पर निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि 'आधे-अधूरे' में संवाद-योजना के ये तीन रूप ही मुख्यत: उपलब्ध होते हैं। इन तीनों में से पहले दो रूप तो मोहन राकेश के पूर्ववर्ता नाटकों समेत सभी प्रकार के समस्या-नाटकों में मिलते ही हैं, हाँ तीसरा रूप निश्चय ही 'आधे-अधूरे' नाटक को अपनी और हिन्दी-नाटकों में पहली बार-योजना—स्वीकारी जा सकता है।

उपयुक्त और अच्छे संवादों का कुछ अपनी विशेषताएँ एवं गुण स्वीकार किये जाते हैं सबसे पहला और मुख्य बात तो यह कि संवाद नाटकीय मूल वस्तु के विधान, विकास और चरम परिणीत में पूर्णतया समर्थ एवं

सहायक होने चाहिए। क्योंकि नाटकों में वस्तु-विधान का एक मात्र साधन या कारण-उपादान होता है अत: इस प्रकार की सामर्थ्य होना परम आवश्यक हैं दूसरे, संवाद वस्तु-विषय से संबंधित पात्रों के समंग्र विधान, उनके चरित्र-चित्रण और चरम विकास में पूर्ण सक्षम एवं सहायक होने चाहिये। चरित्र-चित्रण में वास्तविक तात्पर्य पात्रों के केवल बाह्य व्यक्तित्व के निरूपण से नही है। वास्तव में ऐसा संवाद करते भी नही हैं, यदि करते भी हैं तो बहुत कम संख्या और मात्रा में। चरित्र-चित्रण से वास्तविक तात्पर्य पात्रों के अन्त: व्यक्तित्व एवं चरित्र उसके द्वारा उच्चरितसंवाद के शब्दों से पाठक या नाट्य-दर्शक के सामने-सजीव-साकार हो उठना चाहिए। उसका तथ्यगत रूपायन, उसके आंतरिक दुरावपूर्ण रूपों का भी सहज उद्‌घाटन संवादों का सफलता का एक बहुत बड़ा मानदण्ड स्वीकारा जाता हैं यानि आँसू बहाने वाला पात्र मगरमच्छ के आँसू बहा रहा है या वास्तविक अन्त: अनुभूतियों से परिचालित होकर, अतिरिक्त विवशता के आँसू बहा रहा है। इसको अपने सही रूप में पाठकों या दर्शकों के सामने सम्प्रेषित कर देने में ही संवादों को वास्तविक एवं निर्विवाद सफलता है।

इन मुख्य बातों के अतिरिक्त व्यावहारिकता, पात्र-स्थिति-सापेक्षता, सरलता, सक्षिप्तता, चुस्ती, चुटीलापन, भाव-प्रवणता आदि अच्छे संवादों के अन्य गुण माने जाते हैं। भाषण की सीमा तक या भाषण जैसा संवादों की लम्बाई नाटकों में हमेशा ही उपेक्षणीय मानी गई हैं भाषण और सवाद का अन्तर स्पष्ट हैं संवादों का भाषा भी अभिव्यक्ति सक्षम, सरल, चुस्त, चुटीली और स्वाभाविक होनी चाहिए। कई बार संवाद-योजना करते समय पात्रों का आयु, शिक्षा, सामाजिक परिवेश, देश-काल आदि अन्य बातों का ध्यान रखना भी प्राय: अनिवार्य हो जाया करता हैं जटिलता, कठिनता और अबूझता तो किसी भी स्थिति में , विशेषत: रंगमंचीय नाटकों में, सही नहीं मानी जाती है। इसी प्रकार मनोरंजकता या रोचकता, यथार्थता, प्रभाविष्णुता आदि अच्छे एवं उपयुक्त संवादों के अन्य गुण तथा विशेषताएँ स्वीकार की जाती हैं।

इस प्रकार, मुख्य रूप से, कहा जा सकता है कि उपयुक्त और अच्छे नाटकों के संवादों का योजना करते समय नाटककार को मुख्यत: इन्ही गुणों एवं विशेषताओं का अनिवार्यत: ध्यान रखना होता है। इन्हीं गुणों एवं विशेषताओं की कसौटी पर ही 'आधे-अधूरे' नाटक की संवाद-योजना की परख यहाँ प्रस्तुत है।

मोहन-राकेश ने संवाद के सभी रूपों का प्रयोग एकदम स्वच्छ, मुक्त एवं स्वाभाविक रूप से किया हैं सबसे बड़ा और मुख्य बात तो यह है कि आज का नाट्य-शिल्प एवं रोग-शिल्प जिस प्रकार के सरल, सुगम, स्वाभाविक, अभिव्यक्तिसक्षम और जिस प्रकार के संवादों की माँग करता है, राकेश के प्रस्तुत नाटक के संवाद सभी दृष्टियों से उसी प्रकार के हैं अपने पूर्ववर्ती, 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' नाटकों में काव्यमयता आदि का विशेष आग्रह प्रदर्शित किया है। इसके कारण संवादों को भाषा में काव्यमयता का गुण तो अवश्य आ गया है, पर वहाँ भाषा सामान्य पाठक एवं दर्शक का दृष्टि से यदि कठिन नहीं तो गहन-गंभीर आवश्यक हो गई हैं इसके विपरीत 'आधे-अधूरे' में संवाद योजना करते समय किसी प्रकार की काव्यमयता का आग्रह नहीं रखा गया। इसी कारण यहाँ संवादों का एक अपना वैशिष्टय है और वह वैशिष्ट्य अभिनेयता और रंगमचीय दृष्टियों से ही अधिक हैं यहाँ इनका एक प्रमुख विशेषता है।

इतना सब होते हुए भी संवादों द्वारा व्यक्ति अनुभूति में किसी भी तरह की शिथिलता नहीं आने पाई। प्रत्येक संवाद वक्ता पात्र के अत: बाह्य के साथ कुछ इस प्रकार से समजित है कि उसके व्यक्तित्व के सभी रूप स्वत: हो संवादीय शब्दों के पर्यावरणों में स्पष्ट-साकार होने लगते हैं। उससे मूल कथ्य एवं कथानक को भी गति, विकास एवं स्पष्टता प्राप्त होता हैं तात्पर्य यह है कि संवादों के नाटककार ने नाटक का अन्त: बाह्य समग्र स्थितियों को अनुकूलता का पूर्णतया ध्यान रखा है। संवादों का नाट्य-स्थितियों का अनुकूलता से भाषा को भी स्वाभाविक और सहज रखा है, इस बारे में महेश आनद का कथन है—"नाटक के संवाद नाट्य-स्थितियों के अनुकूल हैं कोई भी संवाद रंग-स्थिति में बाधक नहीं बनता।" आगे अपनी बात को नाटक के संवाद-उदाहरणों

द्वारा सटीक मानते हुए वे लिखते हैं—"एक स्थान पर जब महेन्द्रनाथ जुनेजा से मिलने के लिए जाता है, क्योंकि उसके अनुसार 'हो सकता है कि कोई नया कारोबार चलाने का सोच रहा हो, जिससे मेरे लिए ..... 'इसका उत्तर देते हुए सावित्री कहती है—"पहले ही कुछ कम नही किया है", इसके साथ वह झाड़न से कुर्सियाँ आदि झाड़ना शुरू कर देती है। और कहा जाती है, 'इतना गर्द भरा रहता है हर वक्त इस घर में! पता नहीं कहाँ से चला आता है।' यहाँ केवल एक शब्द 'गर्द' के द्वारा घर के तनाव, बिखराव, घुटन और दोनों के विचारों का विषमता का और संकेत तो किया ही है, साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यह 'गर्द' जुनेजा की दी हुई है जिसे महेन्द्रनाथ उसके साथ व्यापार करके बटोर लाया हैं यह संवाद नाट्य-स्थिति के अनुकूल होने के साथ-साथ पात्र का क्रियाओं और आक्रोश के साथ जुड़ा हुआ हैं इसी विशेषता के कारण जो नाटकीय बिंब बनते हैं, दर्शक उनके साथ यात्रा करता चलता है।" तात्पर्य यह है कि राकेश ने स्थितिनुकूल (अन्त: बाह्य दोनों प्रकार की स्थितियाँ) संवाद-योजना करने में यहाँ विशेष दक्षता का परिचय दिया है। यह दक्षता उसके अन्य नाटकों में इतनी स्पष्टता एवं तीव्रता के साथ निश्चित ही दिखाई नहीं देता।

इस नाटक की संवाद-योजना के मध्य एक अन्य अत्यधिक विशिष्ट गुण भी दिखाई देता हैं उसे हम सवाद-योजना का मौन रूप कह सकते हैं। इनके स्थानों पर पात्र संवाद बोलते-बोलते रूक जाते हैं, एकाएक नि:शब्द से परस्पर देखने या इधर-उधर का कुछ व्यर्थ सा क्रिया-प्रक्रियाएँ करने लगते हैं। पर यह मौन और व्यर्थ की किया-प्रक्रियाएँ निश्चित ही संवाद के शब्दों से भी कही अधिक कह जाती है। सारा नाटक आदि से अन्त तक तनाव एवं आंतरिक घुटन का स्थितियों में ही घटित होता हैं। संवाद योजना का यह मौन या नि:शब्द रूप वास्तव में तनाव और घुटन से पूर्ण क्षणों को बोधात्मक किन्तु मूक स्वर प्रदान करता है। वे व्यर्थ सी क्रियाएँ जैसे नि:शब्द या मौन-संवादों के क्षणों में भी नाटक का दर्शक किसी ऊब, व्यक्ति-क्रम या असबद्धता का अनुभव नहीं करता, बल्कि कथन एवं कथानक के साथ पूर्णतया जुड़ा रहता हैं। कहा जा सकता है कि वह और भी अधिक जुड़ जाता है। इस प्रकार संवादों का शाब्दिक एवं साकेतिक योजना के बीच आने वाले मौन-संवादों या नि:शब्द संवादों के भरे एक प्रंसग को एक उदाहरण देखें—

स्त्री—(गहरा वितृष्णा के साथ) जितने नाशुक्रे आदमी तुम हो, उससे तो मन करता है कि आज ही मैं...।

(कहती हुई अहाते के दरवाजे की तरफ मुडती है। कि बाहर से बड़ी लड़की की आवाज सुनाई देती है)।

बड़ा लड़का—ममा!

(स्त्री रूककर उस तरफ देखती हैं चेहरा कुछ फीका पड़ जाता है।)

स्त्री—बौना आया हैं बाहर।

(पुरुष एक न चाहते मन से अखबार लपेट कर उठ खड़ा होता है।)

पुरुष एक—फिर उसी तरह आया होगा।

स्त्री—जाकर देख लोगे क्या चाहिए उसे?

(बड़ी लड़की की आवाज फिर सुनाई देती है।)

बड़ा लड़की—ममा, टूटे पंचास पैसे देना जरा।

(पुरुष एक किसी अनचाही स्थिति का सामना करने की तरह बार के दरवाजे की तरफ बढ़ता है।)

स्त्री—पचास पैसे हैं ना तुम्हारी जेब में? होंगे तो सही दूध के पैसों से बचे हुए।

इस प्रसंग के संवादों में जो गैप बार-बार आया है, उसमें जिस प्रकार की क्रियाएँ की गई है, स्त्री-पुरुष के संबंधों पारस्परिक तनावों एवं हीनता से भरी मन; स्थितियों को तो व्यक्त करती ही हैं, आर्थिक एवं अन्त: बाह्य स्थितियों को भी नि:शब्द कह देती है। संवाद-योजना का यह नव्य-भव्य एवं भौतिक रूप ह अन्य कहाँ कम ही दिखाई देता है।

संवादों में स्तरीय भिन्नता रहते हुए भी समग्र अनुभूति में कहीं किसी भी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती, य एक अन्य विशेषता है। इस प्रकार का भी एक प्रसंगीय उदाहरण प्रस्तुत कर देना उचित रहेगा। सिधानिया के घ पर आने की चर्चा चल रही हैं उस समय बड़ी लड़की (बिन्नी), लड़के (अशोक) और स्त्री (सावित्री) में च संवाद चलते हैं, वे इसे दुहरे स्तर के अच्छे उदाहरण है। देखिए—

लड़का—मुझे नही चाहिए नौकरी। कम-से-कम उस आदमी के जरिये हरगिज नहीं।

बड़ी लड़की—क्यों हरगिज नहीं।

लड़का—चुकंदर है? वह आदमी है? जिसे न बैठने की शऊर है न बात करने का।

स्त्री—पाँच हजार तनख्वाह है, उसकी। पूरा दफ्तर सँभालता है, पर इतना होश नहीं कि अपनी पतलू के बटन .....।

इतनी ही नहीं, इसी प्रसंग में अशोक सिंघानिया की तीहरकतों की नकल उतारते हुए उसे घर से बाह तक निकाल देने की बात कह देता है। तब सावित्री अपना माथा सहला कर बड़ी लड़की (बिन्नी) से कह है—"ये लोग हैं जिनके लिए मैं जानमारी करती हूँ रात-दिन।" यहाँ स्तरीय भिन्नता है, एक साथ दुहर स्तरा है ही, मन:स्थितियाँ भी विभिन्न एं दुहरी-सी दिखाई देता है, फिर भी सावित्री के अंतिम कथन में बात वहीं, उ नाटक के संपूर्ण बिंब-तनाव एवं घुटन पर ही आकर केंद्रित हो जाती है। मूल संवेदना का तारतम्य कही टूटने नहीं पाता। कथनांक की तीव्र गति, पात्रों के अन्त: बाह्य चारित्रिक उद्‌घाटन के संवाद ही है जिनके द्वा यह सब स्वाभाविक पर द्रुत गति से घटित होता हैं संवादों की सक्षिप्तता यहाँ विशेष दर्शनीय है। राकेश 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहस' आदि नाटकों में तनाव एवं मनोबेगों की अभिव्यक्ति के क्षणों संवाद भाषण की सीमा से भी लंबे हो गये हैं। वहाँ क्रमश: कालिदास और नंद जब भावावेश एवं तनाव क्षणों में बोलने लगते हैं, तो निरन्तर बोलते ही जाते हैं। उन नाटकों के तृतीय अंकों में आने वा संवाद-हालाँकि वे कथ्य एवं कथानक को चरम परिणतियों के द्योतक हैं, फिर भी अत्यधिक लम्बे हो गये हैं इसके विपरीत 'आधे-अधूरे' नाटक में किसी भी प्रकार की स्थिति से संवादों की संक्षिप्तता, सार-पूर्णता ए तात्त्विकता एक ही स्तर की बनी रही है। संवाद के रूप से याद एक शब्द भी कहा गया है, तो वह एक सम्पू बिंब का विधायक है। उदाहरण के लिए बड़ी लड़की बिन्नी का यह सक्षिप्त-सा संवाद देखिए—

"मैं इस घर से ही अपने अंदर कुछ ऐसी चीज लेकर गयी हूँ जो किसी भी स्थिति में मुझे स्वाभाविक न रहने देता।"

यह संवाद बिन्नी के मायके और ससुराल दोनों का अस्वाभाविक एवं असुन्तुलित स्थितियों का बिं सहसा उभार देता है। इसी प्रसंग में दो-एक और संक्षिप्त देखे। संवाद महेन्द्रनाथ और सावित्री के हैं——

स्त्री—वह एक वस्तु तुम से बात नहीं कर रहा।

पुरुष एक—पर बात तो मेरे ही घर की हो रही है।

स्त्री—तुम्हारा घर। हँह!

ध्यान दीजिए स्त्री के कथन पर—"तुम्हारा घर! हुँह!" क्या यह अत्यंत संक्षिप्त-सा संवाद पुरुष एक महेन्द्रनाथ की दयनीय एवं सर्वथा उपेक्षित स्थितियों, दूसरी और सावित्री के अंह और व्यंग्य-व्यवहार की समग्र चित्र हमारे सामने प्रस्तुत नहीं कर देता? घर का तनाव और घुटनपूर्ण वातावरण, टूटते संबंधों की प्रक्रिया भी तो इन दो-तीन शब्दों के संवादों की योजना जिस स्वाभाविक सजगता के साथ की गई है, उसमें जो तीखापन, व्यंग्य और कटुता है, वह इस समूचे नाटक का प्राण है इस प्रकार के सहज स्वाभाविक संवादों की योजना राकेश जी के अपने ही अन्य नाटकों में क्या, अन्य नाटककारों में भी कही नहीं मिलती।

11.7 आधे-अधूरे : उद्देश्य अथवा प्रतिपाद्य

'आधे-अधूरे' नाटक हमारे समाज-विशेष रूप से नागर समाज के जीवन की विसंगतियों, विडम्बनात्मक स्थितियों के संघन बिन्दुओं, पात्रों की मन:स्थितियों एवं संवेदनाओं की टकराहट के आन्तरिक विस्फोट को नाटकीय रूप से रेखांकित करता है। इस नाटक में राकेश जी ने आधुनिक युगीन सांस्कृतिक-पारिवारिक विघटन, अजीब कशमकश, घुटन, अलगाव, दिशाहीनता, ईर्ष्या और आवारगी आदि के संकट को रेखांकित किया है।

'आधे'-अधूरे' वर्तमान समाज के ऐसे सभी मनुष्यों की नाटकीय जिन्दगी का प्रामाणिक दस्तावेज है। जो अर्थलिप्सा, भौतिकता और काल्पनिक अहं की मृग-मरीचिका में फँस कर पारिवारिक एवं आध्यात्मिक शांति को पूरी तरह खो देते हैं। आत्मिक सम्बन्धों को भूलकर मनुष्य सांसारिक अर्थ के चक्कर में अपने जीवन के मूल अर्थ को स्वीकार आधी-अधूरी जिन्दगी वेतान के लिए विवश है। जीवन के हर क्षेत्र में अधूरेपन की भावना से ग्रस्त तथा पीड़ित हैं मोहन राकेश के शब्दों में इस नाटक में—"अधूरे का मतलब इनकंम्लीट और आधे का मतलब हाफ है। यह आज के सामान्य वर्ग से सम्बन्धित है जो अपने में आधा भी है। और 'अधूरा' भी। यह इस शहर के एक मध्यवर्गीय परिवार की कहानी है जिसे परिस्थितियाँ निचले वर्ग की ओर धकेलती जा रही है। उनके जोश, पराजय, इच्छाएँ, संघर्ष और इसके साथ-साथ स्थिति का हाथ से फिसलते जाना मैने सब कुछ इसमें दिखाने की कोशिश की है।"

विडम्बना यह है कि स्वयं आधे-अधूरे होने के बावजूद हम दूसरे के अधूरेपन के बर्दाश्त नहीं कर पाते हैं। और काल्पनिक पूरेपन की तलाश में भटककर अपनी और दूसरों की जिन्दगी नरक बना देते हैं। इस नाटक में मध्यवर्गीय शहरी परिवार का मुखिया महेन्द्रनाथ पराश्रित एंव निठल्ला हो गया है। फलत: उसकी पत्नी सावित्री नौकरी करके परिवार का पालन-पोषण कर रही हैं परन्तु वह धन, ऐश्वर्य और काल्पनिक पूरेपन की तलाश में मर्यादा की चौखटे लाँघकर आवारा (फ्लर्ट) हो गई हैं बड़े-बड़े नामधारियों, पदाधारियों के सम्पर्क में आती हैं। इन नामधारी और पदधारी पुरुषों से एक तरफ तो सेक्स को पूति चाहती है ओर दूसरी तरफ अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार। सावित्री की यह आवारगी एक अच्छे-खासे परिवार को विघटित कर देती है। निठल्लेपन, बेकारी के कारण परिवार का मुखिया अपने-आपकों पंगु अनुभव करता है, लड़का अशोक अपनी माँ के पुरुष-मित्रों एवं अपनी बेरोजगारी से क्षुब्ध है। बड़ी लड़की तो घर के दमघोटू वातावरण से बचने के लिए प्रेमी मनोज के संग फरार हो जाती हैं जीवन के हर क्षेत्र में हारा पुरुष महेन्द्रनाथ अपना प्रतिकार स्त्री से लेता है। बित्री मध्यवर्गीय परिवार की इस भयावह स्थिति को व्यक्त करते हुए कहती है—

"मै यहाँ थी, तो मुझे कई बार लगता था कि मैं एक घर में नहीं, चिड़िया-घर के एक पिंजरे में रहती हूँ ..... आप शायद सोच भी नहीं सकते कि क्या-क्या होता रहा है यहाँ डैडी का चीखते हुए ममा के कपडे तार-तार कर देना-खींचते हुए गुसलखाने में कमोड पर ले जाकर—मैं तो बयान भी नहीं कर सकती कि

कितने-कितने भयावह दृश्य इस घर में देखें हैं मैंने, कभी भी बाहर का आदमी उन सबको देखता—जानत यहीं कहता कि क्यों नहीं बहुत पहले ही ये लोग ....।''

आधुनिक युग के अधिकांश मध्यवर्गीय परिवारों को इस यंत्रणी में पिसना पड़ता है।

इन नाटक में स्त्री-पुरुष के संबंधों में आई उदासीनता का निरुपण यथार्थ के धरातल पर हुआ है सम्बन्धो में अब साथ-साथ रहने की और सामाजिक संबंधों को ढोने की कटुता ही शेष है। गृहपति की से वंचित महेन्द्रनाथ अपने व्यंग्यों से स्त्री को छेदता रहता हैं स्त्री के पुरुष मित्रों के घर आने से पहले बाहर निकल पड़ता है। अपनी इस नियति को स्वीकर करने के लिए महेन्द्रनाथ विवश है।

''मैं इस घर में एक रबड़-स्टैंप भी नहीं, सिर्फ एक रबड़ का टुकडा हूँ—बार-बार घिसा जाने रबड़ का टुकडा। इसके बाद क्या कोई मुझे वजह बता सकता है, एक भी ऐसी वजह, कि क्यों मुझे चाहिए इस घर में? नहीं बता सकता है? मेरे भरोसे तो सब कुछ बिगड़ता आया है और आगे बिगड़ ही सकता हैं (लड़के की तरफ इशारा करके) यह आज तक बेकार क्यों घूम रहा है? मेरी वजह से/(बड़ी ल की तरफ इशारा) यह बिना बताए एक रात घर से क्यों चली गई थी? मेरी वजह से। (स्त्री के बिल्कुल आकर) और तुम भी .... इतने सालों से क्यों चाहिती रही हो कि .... ? अपनी जिन्दगी चौपट कर जिम्मेदार मैं हूँ। तुम्हारी जिन्दगी चौपट करने का जिम्मेदार मैं हूँ। इन सबकी जिन्दगियाँ चौपट कर जिम्मेदार मैं हूँ। फिर भी मैं इस घर से चिपका हूँ क्योंकि अन्दर से मैं आरामतलब हूँ, मेरी हड्डियों में जंग है।''

महेन्द्रनाथ के इस कथन में जो लाचारी, विवशता, नैराश्य है वह आर्थिक, सामाजिक एवं पारिवारिक पर एक ऐसे टूटे हुए व्यक्ति का खण्डित प्रतिबिम्ब है जो वर्तमान युग की स्तरीकरण की दौड़ में भागने किसी भी मध्यवर्गीय मनुष्य के चेहरे पर देखी जा सकती है।

नाटककार ने इस नाटक में यह स्पष्ट किया है कि जब परिवार की आय पर्याप्त थी तो चार सौ वाले किराए के मकान में महेन्द्रनाथ का परिवार रहता था, टैक्सियों में आना-जाना होता था, बच्चों की क फीसें जाती थी, दावतें होती थी, शराब चलती थी, किन्तु इस ऐय्याशी ने उन्हें अपने सामाजिक स्तर से धकेल दिया है कि वह मध्यवर्गीय परिवार एकाएक निम्न मध्यवित्तीय परिवार की श्रेणी में आ गया।

सामाजिक स्तरीकरण की यह भूख महेन्द्रनाथ के पूरे परिवार की-सुख-शान्ति को लील गई।

नाटककार का उद्देश्य केवल नर-नारी सम्बन्धों का विश्लेषण भर नहीं हैं नाटककार ने आज की पीढ़ी (अशोक, बिन्नी) के दिशाहीन आक्रोश, निष्क्रिय जीवन आदि को भी गहरे स्तर में निरुपित किय अशोक अपनी कामुक प्रवृत्ति से परिचालित होकर अश्लील तस्वीरें काटता है, सिलाई सेंटर वाली वर्णा के जूतियाँ चटकता है तो बिन्नी अपनी माँ के प्रेमी मनोज के साथ घर से भाग जाती है। उनसे भी कहीं आगे ब किन्नी जैसी छोटी लड़की के भीतर जमी यौन-उत्सुकता के जरिए नाटककार ने जीवन की विसंगतियों की संकेत किया है। किन्नी घर से सभी सदस्यों को 'मिट्टी का लौंदा' कहती है।

नाटककार ने स्पष्ट करना चाहा है कि आधुनिक महानगरीय परिवेश में मानवीय असंतोष और कामन की पूर्ति न होने के कारण व्यक्तित्व एंव संबन्धों में अधूरापन पैदा होना स्वाभाविक है। इस नाटक मे महेन्द्रनाथ का परिवार अपनी स्तरीयता की होड़ के कारण विघटन के कगार पर पहुँच गया हैं नाटक नायिका सावित्री अपनी इच्छाओं, असंतोष एवं झूठे अहं के कारण न तो कभी अपने पति के प्रति समर्पि पाती है और नही बच्चों को पर्याप्त मातृत्व दे पाती है। वह सामाजिक पारिवारिक और नैतिक मूल्यों को

पर रखकर क्रमश: शिवजीत, जुनेजा, मनोज, सिंघानिया, जगमोहन आदि पुरुषों से अनैतिक सम्बन्ध बनाती है। सावित्री महेन्द्रनाथ से प्रेम विवाह करने के दो साल बाद ही उससे उकता जाती है एवं उसे अधूरा समझने लगती है। उसके बाद वह काल्पनिक पूरेपन की तलाश में चार पुरुषों में सम्बन्ध बना कर भी अकेली, अधूरी अशान्त ही बनी रहती है। पुरुष चार अर्थात जुनेजा सावित्री की अन्दर की इस आवारगी का प्रकटन करते हुए कहा है—

पुरुष चार—"असल बात इतनी ही कि महेन्द्र की जगह इनमें से कोई भी आदमी होता तुम्हारी जिन्दगी में, तो साल-दो-साल बाद तुम यही महूसस करती कि तुमने गलत आदमी से शादी कर ली है। उसकी जिंदगी में भी ऐसे ही कोई जुनेजा कोई, शिवजीत या कोई जगमोहन होता जिसकी वजह से तुम यही सब सोचती, यही सब महसूस करती। क्योंकि तुम्हारे लिए जीने का मतलब रहा है—कितना कुछ एक साथ होकर, कितना कुछ एक साथ पाकर और कितना कुछ एक साथ ओढ़कर जीना। वह उतना कुछ कभी तुम्हें किसी एक जगह न मिल पाता, इसलिए जिस किसी के साथ भी जिन्दगी शुरू करती तुम हमेशा इतनी ही खाली इतनी ही बेचैन बनी रहती।"

यहाँ पर पुरुष चार के शब्दों से स्पष्ट है कि इस नाटक में सावित्री और अन्य पात्र अपने अधूरेपन को भरने के लिए विकृत मूल्यों का दामन पकड़ते हैं। जिसके कारण उत्पन्न असामंजस्य और कटुता सारे परिवार को बिखेर ही नहीं देती बल्कि एक जहरीले वातावरण का निर्माण भी कर देती है जो पूरे परिवार की तबाही का कारण भी बन जाती है।

डॉ. नरनारायण राय—इस नाटक के व्यापक उद्देश्य को लक्षित करते हुए कहते है—"आधे-अधूरे की रचना के पीछे नाटककार का यह उद्देश्य रहा है कि वह व्यक्तित्व और संबंधों, दोनों के अधूरेपन को उजागर कर सके। इस बात को कहने के लिए नाटककार, ने जिस जीवन स्थिति का चुनाव और निर्माण किया है वह अपने आप में भी कुछ कह जाती है उसे पारिवारिक विघटन की दिशा का चित्रण, बदलते हुए आर्थिक मूल्यों के संदर्भ में सम्बन्धों के बदलते हुए मूल्यों का परीरक्षण परिस्थितिय के समक्ष आदमी की पराजय की नियति का दिग्दर्शन, मानवीय संतोष का अधूरापन और कामनाओं की अतृप्ति का अंकन आधुनिक मध्यवर्गीय परिवार की गाथा, महानगरीय मध्यवर्गीय परिवार की अभावग्रस्ता आदि को कथ्य से समाहित किया लेकिन मुख्य कथ्य नर-नारी सम्बन्ध और नियति का हस्तक्षेप तथा इन सबके बीच में उभरने वाले जीवन के अधूरेपन को व्यक्तित्व के अधूरेपन का अहसास करना वस्तुत नाटक का मूल कथ्य है।"

11.8 आधे-अधूरे : आधुनिकता

नाटककार मोहन राकेश के नाटकों पर प्रकृतिवाद, अस्तित्ववाद और यथार्थवाद का प्रभाव है। राकेश जी की अनुभूति में बौद्धिकता की प्रधानता है तथा वैयक्तित्व-स्वतन्त्रता, औद्योगीकरण, नगरीकरण, कुण्ठा, तनाव, विद्रोह, अजनबीपन, अमानवीयता, घोर नैराश्य, क्रूरता, विसंगति, अनिश्चय आदि आधुनिक भाव बोधों से युक्त हैं।

मोहन राकेश इन सभी आधुनिक संकटों से गुजरे हैं और आधुनिकता को सृजनात्मक अभिव्यक्ति दी है। 'आधे-अधूरे' नाटक का सम्पूर्ण परिवेश आधुनिक है। इस नाटक में मध्यवर्गीय पारिवारिक विघटन की गाथा और स्त्री-पुरुष संघर्ष, तनाव का चित्रण चरम सीमा तक हुआ है। इस नाटक के समकालीन परिवेश में आज के बुद्धि वर्ग के कनफ्यूजन और उनके भावात्मक जीवन की असहाय चीख है। पूरे नाटक में सम्बन्धों का विघटन और जुड़े रहने की छटपटाहट आर्थिक विवशता और दोहरेपन, विलगाव और खण्डित होने की प्रक्रिया और नए मूल्यों की खोज आधुनिकता के सन्दर्भ में व्यक्त हुई है।

नाटक में आधुनिकता का बोध उस स्तर पर भी होता है जब बड़ी लड़की अपनी इच्छानुसार घर भागकर अपने प्रेमी से शादी करती है। शादी के बाद उसे अपने नए घर में भी सब कुछ गलत लगता है। इस कारण 'हवा' बताया गया है जो बड़ी लड़की और मनोज के बीच से गुजर कर बेचैनी पैदा कर गई है। 'हवा' आधुनिक युग की अर्थलिप्सा, ऊँची महत्वाकांक्षाओं की 'हवा' है।

पुरुष दो और स्त्री के संवादों से भी आधुनिकता का बोध होता है पुरुष की बातों से उसकी भोगलिप्सा कामुकता आदि बुरी प्रवृत्तियों का प्रकटन जो कि आज के युग के अधिकारी वर्ग की संकीर्ण एवं लोलुप दृष्टि की परिचायक है। पुरुष दो अपनी कामुकता का प्रदर्शन करता हुआ कहता है—

"**पुरुष दो**—अच्छा-अच्छा .... हाँ। ठीक है ..... देखूँगा मैं। (घड़ी देखकर)

अब चलना चाहिए। बहुत समय हो गया (उठता हुआ)

तुम घर पर आओ किसी दिन। बहुत दिनों से नहीं आई।

स्त्री और बड़ी लड़की साथ ही उठ खड़ी होती है।

स्त्री— मैं भी सोच रही थी आने के लिए। बेबी से मिलने।

पुरुष दो— वह पूछती रहती है, आंटी इतने दिनों से क्यों नहीं आई? बहुत प्यार करती है अप आंटियों से। माँ के न होन से बेचारी.....।

परिवार को सुचारु रूप से चलाने के लिए नारी का योगदान होता है। नारी त्याग, ममता, स्नेह, वात्सल्य के रूप से अपने परिवार रूपी वृक्ष को सींचती है। पहले नारी का कार्यक्षेत्र केवल घर की चारदीवारी तक सीमित था। नारी ने शिक्षा पाकर अपने कार्यक्षेत्र के दायरे को व्यापक बना दिया। वह रूढ़िवादी एवं परंपरावा परिवेश से मुक्त होकर आधुनिक चेतना पाकर एक ऐसी विचारधारा की ओर उन्मुख हुई जो पूर्व स्थिति से भि है। आधुनिकता की इस नई चेतना ने ही उसके समक्ष कुछ असंगतियों को जन्म दिया जो बाद में समस्या ब गई। यह नाटक नारी की उन समस्याओं को उजागर करता है यह नवीन बच्चें की एक ऐसी माँ की कथा जिसको उसकी खोखली महत्त्वाकांक्षा के असन्तोष, आक्रोश, असबद्धता, अजनबीपन (अपने पति और बच्च के प्रति) और अकेलेपन की मनहूसियत ने चारों ओर से घेर रखा हैं जीवन के प्रति उसकी इन असंतुष्ि अतृप्ति का कारण है, उसके कुत्सित और भ्रमित जीवन मूल्य।

'आधे-अधूरे' की सावित्री समर्पणशीला, कर्त्तव्यवेदी पर मर मिटने वाली नारी नहीं है। वह व्यक्तिग सुख को महत्त्व देती है। वह दुखी है क्योंकि महेन्द्रनाथ से विवाह करके वह यह अपेक्षा रखती है कि पति उसके अधूरेपन को पूर्णत्य प्रदान करे इसके लिए जरूरी है कि पति पूर्ण हो। जुनेजा जब सावित्री को धिक्कार है कि महेन्द्रनाथ में हीन भाव आ गई है उसके लिए सावित्री जिम्मेदार है, महेन्द्रनाथ की बीमारी के लिए भी वा जिम्मेदार है, तब वह भड़क जाती है, कहती है 'यूँ तो कोई भी आदमी की तरह चलता-फिरता, बात करता वह आदमी ही होता है, पर असल में आदमी होने के लिए यह जरूरी नहीं कि उसमें अपना एक मादा, अपन एक शख्सियत हो।

सावित्री एक पूरे आदमी की तलाश में एक, दो, तीन और चार पुरुषों को आजमा चुकी हैं कुछ अै नामों को ..... संकेत दिया गया है जिनको वह आजमा चुकी है। इन सबको उसने आधा-अधूरा पाया है एक-सा पाया है। सावित्री के इन कथन में कि "सब-के-सब एक-से हैं, अलग-अलग मुखौटे पर चेहरा? ... सबका एक ही।" और पुरुष चार के इस जबाब में आधुनिकता बोध गहराने लगता है—

जुनेजा सारी स्थिति का जायजा लेने के बाद कहता है—"इसकी जगह आज अगर जुनेजा, जगमोहन, शिवजीत या ..... भी होता जब भी वह इतनी ही असन्तुष्ट इतनी ही अपूर्ण रहती जितनी अब है। क्योंकि उसे जीवन को किन्ही निश्चित अर्थों से जीने की दृष्टि नहीं पाई हैं वह कहता है कि उसके लिए जीने का मतलब है, कितना कुछ एक साथ होकर, कितना कुछ एक साथ पाकर, कितना कुछ एक साथ ओढ़कर जीना। इतना कुछ तुम्हे एकसाथ न मिल पाता और इसलिए जिस किसी के साथ भी जिन्दगी शुरू करती तुम इतनी ही खाली, इतनी ही बेचैन बनी रहती।"

नाटककार ने जुनेजा के इस कथन से स्पष्ट किया है कि आधुनिकता के नाम पर आज की नारी अपने परम्परागत विचारो को त्यागकर अपनी बढ़ती महत्त्वाकांक्षाओं के लिए अपने 'व्यक्तित्व' के ह्रास एवं पारिवारिक विघटन का करण बनती है।

आधुनिक युग से नारी घरेलू दाम्पत्य जीवन की जिम्मेदारी के साथ-साथ नौकरी करके अर्थापार्जन भी कर रही है इस प्रकार दायित्व के निर्वाह में वह अपने मशीनीकरण का विद्रोह भी करती है। सावित्री भी अपने परिवार का भरण-पोषण करने के लिए नौकरी करती है तथा घर आने पर सारे सामान को अव्यवस्थित देखकर क्षुब्ध हो जाती है। वह क्षोभ में लड़के से कहती है,"—यहाँ सब लोग समझते क्या हैं ? एक मशीन, जो कि सबके लिए आटा पीस-पीस कर रात को दिन और दिन को रात करती है? मगर किसी के मन में जरा भी ख्याल नहीं है इस चीज के लिए कि कैसे मैं ....।" जो स्त्री माँ बनकर, पत्नी, नौकर, गृहस्थी का 'घर' बनाए रखती है, उसे यदि सारे सदस्य मशीन समझें तो आधुनिक परिवेश की नारी विद्रोह करती है।

महेन्द्रनाथ का बिखरा हुआ व्यक्तित्व आज के मानव के व्यक्तित्व का बोध कराता है। व्यापार में घाटा खाया हुआ, बल्कि बेकार-फालतू पति बनकर रह गया है। अब उसे पत्नी की जली-कटी सुननी पड़ती है। जिससे उसके स्वाभिमान आहत होता है। उसमें अपनी निरर्थकता, अपनी अस्मिता का ज्ञान जागता है, क्योंकि इस घर में उसे कोई कुछ नहीं समझता। उसे दुत्कार अनादर और अपमान सहना पड़ता है। वह फालतू आदमी हैं वह इस घर में रबर स्टैम्प भी नहीं, रबड़ का एक प्रयोग मात्र है—बार-बार घिसा जानेवाला।' यह व्यक्ति के विघटन और अस्मिता और अस्मिता का प्रश्न आधुनिक स्थितियों में अस्तित्ववाद के कुछ पहलुओं को प्रकाशित करता है।

लड़के और लड़की बिन्नी की बातों से भी बहुत बार अस्वीकार और खीझ के माध्यम में आधुनिकता-बोध उजागर होने लगता है। लड़के की माँ को यह कहना है कि बुलाती ही क्यों हो ऐसे लोगों को जिनके आने से हम जितने छोटे हैं उससे और छोटे हो जाते हैं अपनी नजर में।' परोक्ष रूप से इस बात की पुष्टि करता हैं कि आधुनिक युग में व्यक्ति के व्यक्तित्व का अस्तित्व रहना जरूरी है अन्यथा उसमें व्यर्थता का एहसास जगता है और यही व्यर्थता का एहसास आधुनिकता की एक प्रवृत्ति है और नाटक के अन्तिम पन्नों पर बिन्नी के ये शब्द कि मिट्टी के लादे-सबके सब मिट्टी के लादे' एब्सर्ड नाट्य-परम्परा के आधुनिक भाव बोधों जैसे लगते हैं।

बड़ी लड़की का घर से भाग जाना, परन्तु वहाँ पर चैन न मिलना आधुनिक यान्त्रिक जीवन की व्यापक बेचैनी का सूचक है। इसने अपना पति अपने-आप चुना है, फिर भी वह वहाँ पर खुश नहीं। वह शादी से पहले समझती थी कि मनोज को उसने जान लिया है, परन्तु "अब वह जानना बिल्कुल जानना नहीं था।' उसका यह कथन कि दो आदमी जितना ज्यादा साथ रहे, एक हल में साँस ले उतना ही ज्यादा एक-दूसरे से अपने आपको अजनबी महसूस करे।' एलियेनेशन, कआव की स्थिति को उभारता है, जो आज के जीवन में घर कर गई है। आज हर व्यक्ति एक-दूसरे सत तो क्या खुद से भी अजनबीपन महसूस क्या है। यह अपने-आपको परिवेश, घर-परिवार-सबसे कटा हुआ महसूस करता है।

डॉ० इन्द्रनाथ मदान के अनुसार, "माँ के घर को बेटी के घर से दोहराया जा रहा है।" परन्तु टूटते-बिखरते परिवेश से आधुनकिता का बोध इतना मानव की नियति के स्तर पर नहीं है। जितना स्थिति के स्तर पर है और इतना जितना इसलिए कि एक स्तर को दूसरे स्तर से अलगाया नहीं जा सक यहाँ (लड़की के घर में) भी 'अलगाव-अजनबीपन' की स्थिति है।

नाटककार ने अपने रंग संकेतों एवं मंच सज्जा में भी आधुनिक भावबोधों की अभिव्यक्ति क पारिवारिक विघटन का एक जीवन दृश्य नाटककार ने दिखलाया है, मंच पर—"दो अलग-अलग प्रकाश में लड़का और बड़ी लड़की। लड़का सोफे पर औंधा लेट कर टाँगें हिलाता सामने 'पेशेंस' के पत्ते फैलाए। लड़की पढ़ने की मेज पर प्लेट रखे स्लाइसों पर मक्खन लगती। पास में टिन कटर और चीज, का एक कि पूरा प्रकाश होने पर कमरे में वह बिखराव नजर आता है जो एक दिन ठीक से देख-रेख न होने से आ है।

यहाँ वहाँ चाय की प्यालियाँ अस्त-व्यस्त चीजें। कमरे की यह अस्तव्यस्तता, बिखरापन, देख-रेख कमी घर को संचालित करने वाली इकाइयों के बिखराव की प्रतिलिपी है। सब एक-दूसरे से विमुख अपनी जिन्दगी जी रहे हैं। यहाँ इन सब से आधुनिक युग की विसंगतियों ही प्रकट होती है।

अत: निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि 'आधू-अधूरे' नाटक की स्थितियों द्वारा नाटककार ने की सही नब्ज पर अँगुली रखी है जो सामयिक परिवेश में आधुनिकबोध को परखने में सक्षम है। नाटक ब जीवन-मूल्यों की कथा कहता है।

'आधे-अधूरे' में आधुनिक महानगरीय मध्यवर्गीय जीवन का विराट अंकन है। आत्म-जि आत्म-सन्तुष्टि, व्यक्तिगत ईमानदारी, विश्लेषणात्मिक दृष्टि, जीवन ढोने का अवसाद एवं क्लान्ति, जीवन में अवकाश की कमी। ये सब आधुनिकता की विशिष्ट पहचाने हैं। 'आधे-अधूरे' का प्रत्येक पा विशेषताओं को लिए हुए है। आधुनिकता व्यक्तित्व के स्वतन्त्र अस्तित्व में विश्वास रखती है। प्रस्तुत नाट परिवार के सभी पात्र अपने-अपने मन में अपनी-अपनी एक प्रतिमा बनाए बैठे हैं, जिसको वे किसी दूस मानसिक प्रतिभा के लिए समर्पित नहीं कर सकते। प्रत्येक के लिए निजी इच्छा, निजी जीवन दृष्टि, धारणाएँ, निजी जीवन मूल्य सबसे बढ़कर है। "वैवाहिक जीवन की मध्यवर्गीय विडम्बनाओं के कारण प का प्रत्येक व्यक्ति आधा-अधूरा रहकर अपने-अपने ढंग का संत्रास भोगता है। प्रत्येक पात्र की नियति वृत्त है। सभी लोग पारस्परिक आकर्षण-विकर्षण से निकट दूर आते हुए बाहर जाकर भी वापस लौटने के से बाध्य है।"

11.9 आधे अधूरे : युग बोध

'आधे-अधूरे' नाटक का सृजन स्रोत भी उनका युग परिवेश एवं निजी जीवन ही है। चिरन्तन काल मानव परिस्थितियाँ से लड़ता आकर उन्हें नव्य परिवेश एवं आयाम प्रदान करता आ रहा है। परन्तु आ यान्त्रिक मानसिकता भीतर-बाहर के दबावों, आर्थिक वैषम्यों एवं यौनाचारों की स्वच्छन्दता की प्रवृ परिवर्तन ला सकने की क्षमता पर एक प्रश्न-चिन्ह सा लगा दिया है। तभी तो आज का मानव अप आधे-अधूरेपन से संत्रस्त, अपने में ही दब-घुटकर उन्हीं परिस्थितियों में बने रहने के लिए विवश हो ज कि जिन्हें उसकी मानसिकता 'अयाचित' स्वीकार करती हैं तभी तो यह वितृष्णा से भरकर भी, बार-बार अर्थ' के लिए जाकर भी जहाँ से शुरुआत करता है, वहीं लौट आने को विवश हो जाता है।

मोहन राकेश की नाट्य प्रतिभा अपने आस-पास बिखरे परिवेश में नई रचना (धर्मिता) की तलाश करती है। 'आधे-अधूरे' नाटक अपने समकालीनता के प्रतिबद्ध है। इसलिए वह अपने परिवेश के साथ व्यक्ति को आँक रहा हैं जिसमें उसकी निगाह इतिहास के परिवेश से हटकर, आज के यथार्थ को प्रस्तुत करने वाले सामाजिक परिवेश पर गई है। मध्य वित्तीय स्तर से ढ़हकर निम्न मध्य वित्तीय स्तर पर आया हुआ एक परिवार उसका केन्द्र-बिन्दु है।

युग बोध की दृष्टि से इस नाटक के स्पष्ट किया गया हैं कि आज मानव स्वयं को ऐसी परिस्थितियों में जकड़ा हुआ पाता है जो उसे आत्मकेन्द्रित तथा आत्मरत बना देती है। जिसके कारण उसका सम्बन्ध समाज तथा बाहरी जीवन से कट जाता है या शिथिल पड़ जाता है। अपने इस यथार्थ में उसकों अनेक स्वरूपों में प्रस्तुत होना अनिवार्य हो गया हैं वह कभी विद्रोही है, तो कभी मात्र निषेधात्मक चीत्कार या आक्रोश है, कभी अजनबीपन का भटकाव है तो कभी सचेत सक्रिय एवं ठोस यथार्थ की पहचान है, कभी वर्जनाओं से प्राप्त असहनीय नैराश्य में भटकाव की असीमता एवं निरर्थकता को ढोने वाला अभिशप्त है अत: यह पूरा नाटक अपने परिवेश की उपज है।

इस नाटक का नायक महेन्द्रनाथ एक नाकारा निकम्मे और लिजलिजे किस्म का आत्मविश्वासहीन पुरुष है, जो अपने नाकारेपन के एहसास से छटपटाता है, किन्तु आर्थिक रूप से अपनी स्त्री की कमाई पर आश्रित रहने के कारण दयनीय स्थिति में जी रहा है। एक स्त्री है, जो अपने इस निकम्मे पति के प्रति खीझ से भरी घर की टूटती-बिखरती जिन्दगी से ऊब कर एक पूरे आदमी की तलाश में इधर-उधर भागती है वह चाहती है कि "असल आदमी होने के लिए क्या यह जरूरी नहीं कि उसमें अपना एक मादा, अपनी शख्सियत हो?" इसी मादे और शख्सियतवाले आदमी की तलाश में वह अधूरे आदमियाँ से टकरा-टकरा कर लौटती है और अपनी खीझ से चीखती-चिल्लाती, तार-तार होती हुई उसी लिजलिजे आदमी के साथ जिन्दगी जीने के लिए मजबूर होती है। घर में रोज-रोज की यह चीख घर की बड़ी लड़की और लड़के तथा छोटी लड़की पर अपना प्रभाव डालती हैं बड़ी लड़की किसी के साथ भाग जाती है, जो बाद में पता चलता है कि उसकी माँ का ही एक प्रेमी था। लड़का आवारा और धरीहीन निकल जाता है और "एलिजाबेथ टेलर, आड्रे हेपबर्न शर्लेमैम्लेन जनाब जिन्दगी काट रहे हैं। तेरह वर्ष की अवस्था की छोटी लड़की उद्धत, अशिष्ट और विद्रोह की आग में लिपटी इसी परिवेश के अनुसरण चौपट हो रही है। देखने में यह कहानी जितनी सीधी लग रही है परन्तु इसमें रोजमर्रा के दिखाई देने वाले पात्रों के मध्यम से मध्य वित्तीय परिवार की टूटती हुई कड़ियाँ और ढहते हुए मूल्यों का खाका पेश किया हैं जिन्हें देखकर लगता है इस नाटक के पात्रों में हममें से कोई भी हो सकता है। इसे महज एक साधारण परिवार की त्रासदी कहकर टाला जा सकना सम्भव नहीं है। यह एक आइना है जो अपने-अपने आस-पास के जीवन से साक्षात्कार कराता है। नाटक के अन्दर भी स्वाकरोक्त हैं "विभाजित होकर भी मैं किसी-न-किसी अंश में आपमें से हर एक व्यक्ति हूँ।"

आजादी के बाद की बदली हुई परिस्थितियों में सबसे भारी बदलाव आया-स्त्रियों की हैसियत में। इस परिवर्तन से प्रभावित होने वाला वर्ग था देश का सबसे बड़ा वर्ग यानी मध्यवर्ग। जहां धर्म और नैतिकता के बन्धन सबसे ज्यादा थे। इसलिए प्रतिक्रियाएं और विस्फोट भी सबसे ज्यादा इसी दायरे में हुए। सावित्री जैसी एक स्त्री अगर नौकरी करके अपने परिवार को पुरुष की तरह चलाने लगती है तो उसके पारिवारिक परिवेश को हर कोने से सर्वाधिक प्रहार झेलने होते हैं। सावित्री चूँकि आधुनिक महत्तवांकाक्षिणी नारी है। इसलिए सभी भौतिक सुख-सुविधाओं का उपयोग करना चाहती है। चूँकि महेन्द्रनाथ उसकी इन इच्छाओं की पूर्ति करने में असमर्थ है इसलिए वह स्वयं घर से बाहर निकल पड़ती हैं वह जीविकोपार्जन के लिए नौकरी करती है और घर से बाहर के संसार से परिचित होने के उपरान्त विपक्षगामी हो जाती है। उसे लगता है कि उसका पति

आधा-अधूरा है इसलिए वह अपने अधूरेपन को पूर्ण करने के प्रयत्न में अन्य लोगों के सम्पर्क में आती अपनी भौतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए वह घर और वैभव के पीछे भागती है। आवारा होती चली जाती हैं बड़े-बड़े नामधारियों के सम्पर्क में आती है। क्योंकि उसे व्यक्ति नहीं उसे पद, वैभव के पीछे भागती है। आ होती चली जाती है वह बड़े-बड़े नामधारियों के सम्पर्क में आती है। क्योंकि उसे व्यक्ति नहीं, उसे पद, वै और सामाजिक प्रतिष्ठा से प्यार हैं। सावित्री की यह धन की पिपासा, एक अच्छे-खासे परिवार को दीमक तरह चाट जाती है। घर के अन्य सदस्य भी वर्तमान युग के प्रभाव से युक्त दिखाई देते हैं जिसमें मनुष्य, अ 'स्व' और आत्मकेन्द्रित सोच के कारण अजनबीपन, घुटन, कुण्ठा, संत्रास आदि से पीड़ित है। राकेश ज आधुनिक युग की युवा पीढ़ी की उच्छंखलता को भी निरूपित किया है।

बिन्नी-अशोक इस घर के फूहड़ वातावरण एवं माता-पिता के रिक्त, तिक्त, शून्य सम्बन्धों से अछूत रह पाते और बिन्नी अपनी प्रोढ़ामाँ के प्रेमी मनोज के साथ भाग जाती है। लेकिन माता-पिता के संस्कारें कारण ही उसका वैवाहिक जीवन भी सुखमय नहीं हैं अशोक सारा दिन पिता की भाँति बेकार-बेगार रह अभिनेत्रियों की अश्लील तस्वीरे काटता रहता है। वर्णा उद्योग वाली के पीछे जूतियाँ चटखता रहता है। नि अपनी उम्र से अधिक परिपक्व हो गई है और यौन-सम्बन्धों में रस लेने लगती है। किन्नी घर के सभी सद को 'मिट्टी का लौंदा' कहती है। इसके साथ-साथ आधुनिक युग की पूँजीवादी व्यवस्था ने पिसते निम्न म वित्तीय परिवार की अर्थाभाव की समस्या को भी नाटककार ने इस परिवार के माध्यम से चित्रित किया है।

महेन्द्रनाथ-सावित्री का यह परिवार पूर्ण में अत्यन्त सम्पन्न और समृद्ध परिवार था तथा व्यापार के के कारण और ऊल-जलूल खर्चों के कारण अब आर्थिक संकट की दलदल में फँसा हुआ है। लेकिन नारि सावित्री अपनी इच्छाओं पर तुषारापात होते देखकर परिवार की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए परिवार स्तर को विकसित करने के लिए अनेक अमीर पुरुषों से सम्पर्क बनाती है। एक ओर तो वह इसमें सैक्स पूर्ति करती है तथा दूसरी तरफ अर्थाजन।

इस नाटक में महानगरीय परिवेश की सफल अभिव्यक्ति को लक्षित करते हुए डॉ. प्रतिभा अग्रवाल कहना है—"महानगरीय विशेषकर दिल्ली का जीवन जीने वाले मध्यवर्गीय आधुनिक परिवार की परिस्थिति सम्बन्धों, आपसी मनमुटाव, घुटन, त्रासदी आदि का ऐसा सशक्त चित्रण सम्भवत: अन्य किसी भारतीय न में नहीं है।" स्त्री-पुरुष के एक-दूसरे को उघेड़ते नोचते-काटते स्नेह रहित संबन्ध, बालकों की बदजुब अशिष्टता-अखण्डता और माता-पिता के प्रति आदर-श्रद्धा का अभाव, पारिवारिक विघटन-टूटन-कु आदि को उजागर करता यह नाटक सामाजिक दशाओं का दस्तावेज बन गया है।

नाटककार मोहन राकेश 'आधे-अधूरे' में आधुनिक युग में प्रचलित प्रेम-विवाह की समस्या को उजागर करना चाहता है। महेन्द्र-सावित्री, बिन्नी-मनोज के माध्यम से नाटककार प्रेम-विवाह की असफलता ओर इशारा करना चाहता है। विवाह से पूर्व सावित्री के जुनेजा, जगमोहन और शिवजीत आदि से संबंध लेकिन बाद में महेन्द्रनाथ को प्रेम-व्यापार विवाह में परिणत हो गया लेकिन उनका यह प्रेम-विवाह सफलता सोपानों पर नहीं चढ़ सका।

अत: निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि इस नाटक के माध्यम से मोहन राकेश ने आज के युग को ही उजागर करना चाहा है। 'आधे-अधूरे' आज की इस उबाऊ-कुढ़नशील जिन्दगी का ही आलेख है। टूटता हुआ परिवार, एक मध्यवित्तीय से निम्न मध्यवित्तीय घर, किस प्रकार तनाव-खींझ, तनातनी, लाचारी विवशता में जीता है—यह सामायिक बोध से ही जुड़ा प्रश्न हैं पति-पत्नी का विवाहोपरान्त कुछ सालों में

ऊबकर एक-दूसरे से छुटकारा पाने की कोशिश, उनकी बात-बात में व्यंग्य और विक्षोभ, विवाह की अनावश्यक आवश्यकता और गलत चुनाव—ये सब युगीन विडम्बना को उभारते हैं।

आज रसहीन और अनिश्चित जिन्दगी की यथार्थपरक अभिव्यक्ति करने वाले नाटक में नाटककार ने अपने युग के जीवन की विसंगतियों को पूरी तल्खी के साथ व्यक्त किया है। स्वतन्त्रता के पश्चात् मध्यवर्ग में आर्थिक विषमताओं ने क्रमशः पारिवारिक बिखराव, मानसिक तनाव और नैतिक पतन को बढ़ावा दिया हैं। नाटककार राकेश ने इस नाटक में आज की समासपूर्ण परिस्थितियों की कटु सम्भावनाओं का संकेत दिया है।

डॉ० जयदेव तनेजा मोहन राकेश की परिवेश जन्य सजगता को लक्षित करते हुए लिखते हैं—

"मोहन राकेश ने यथार्थवादी नाटकों की रचना की हैं उनके नाटकों का परिवेश चाहे कोई भी हो, परन्तु उसमें संघर्षरत-छटपटाता हुआ 'आदमी' आज का ही है।"

11.10 आधे अधूरे : प्रयोगधर्मिता

'अंधायुग' की तरह यह नाटक भी आधुनिक हिन्दी नाटकों में नई प्रवृत्तियों का अग्रदूत माना जा सकता है। इसके द्वारा हिन्दी नाटक में महानगरों के परिवेश में मध्यवित्त परिवार के बिखराव और विसंगति के चित्रण की परंपरा प्रचलित हुई। इसमें राकेश जी ने 'अषाढ़ का एक दिन' भावुकता से उबरते हुए विसंगतियों को अधिकाधिक धारदार ढंग से चित्रित किया है। इसलिए यह नाटक समकालीन जीवन की विसंगतियों के संदर्भ में आधे-अधूरे व्यक्तित्व की पहचान और उसकी पूर्णता की खोज को और आगे तक ले जाता है। इस प्रयोगधर्मी विकास-यात्रा को **इन्द्रथान मदान** ने इस प्रकार रेखांकित किया है 'लहरों के राजहंस' में आधुनिक मानव की नियति की खोज है। नंद और सुन्दरी एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच चुके हैं कि इनका एक दूसरे से अलग होना लाजमी हो गया है। नाटककार के सामने सबसे बड़ी समस्या इनको अलगाने की है। इसलिए कहना पड़ता है कि नाटक का मूल उद्देश्य घर की खोज में व्यक्तित्व की खोज है और व्यक्तित्व की खोज में घर की खोज। घर का मतलब उसकी दीवारों और छतों से नहीं है। कालिदास मल्लिका को छोड़कर चले जाने के लिए विवश है और 'आधे-अधूरे' का नायक टूटे घर में लौटने पर लाचार है। 'आषाढ़ का एक दिन' में अलग होने का अंदाज रोमांटिक है 'लहरों के राजहंस' में यह रोमांटिक-बोध से छुटकारा पाने का है और 'आधे-अधूरे' में यह वास्तव का सामना करने में उजागर होता है।"

कथावस्तु की दृष्टि से अपने पहले ही नाट्य परंपरा की तुलना में इस नाटक में निम्नलिखित नई प्रवृत्तियाँ प्रयोगों के रूप में दिखाई देती हैं—

1. कस्बों या महानगरों के मध्यवर्गीय परिवारों में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की अत्याधुनिक परिणतियों को पैनी दृष्टि से उजागर करता है। शिक्षित एवं नौकरी पेशा औरतों में आधुनिक भाव-बोध के कारण आए बदलाव को हिन्दी नाटक में प्रथम बार इस रूप में चित्रित किया गया है इस दृष्टि से मोहन राकेश ने नये नाटककारों को प्रभावित किया है। यहाँ मल्लिका और सुंदरी का एक निष्ठ प्रेम न होकर सावित्री की ऊब, खीज अतृप्ति का निदर्शन है। डॉ० गिरीश कर्नाड के 'हयवदन' नाटक में भी स्त्री पात्र सावित्री की तरह पूरेपन की तलाश में भटकती है। नाटककार ने मनोवैज्ञानिक ढंग से आधुनिक स्त्री की उलझन को सामने रखा है कि स्वयं सावित्री भी अपने स्वयं के अन्तर्विरोधों को जुनेजा के मुख से सुनकर स्तब्ध रह जाती है—

"**पुरुष चार**—असल बात इतनी है कि महेन्द्र की जगह इनमें से कोई भी आदमी होता तुम्हारी जिन्दगी में तो साल-दो-साल बाद तुम यही महूसस करती कि तुमने गलत आदमी से शादी कर ली है। उसकी जिन्दगी में कोई महेन्द्र, कोई जुनेजा, कोई शिवजीत या कोई जगमोहन होता जिसकी वजह से तुम यही सब सोचतीं, यही

सब महसूस करती। क्योंकि तुम्हारे लिए जीने का मतलब रहा है—कितना कुछ एक साथ होकर, कितना कु एक साथ पाकर और कितना कुछ एक साथ जीना। वह उतना—कुछ कभी तुम्हें किसी एक जगह न मिल पाए इसलिए जिस किसी के साथ भी जिन्दगी शुरू करती, तुम हमेशा इतनी ही खाली इतनी ही बेचैनी बनी रहतीं।''

यह प्रयोग नाटककार का एकदम नया एवं आधुनिक जीवन की सच्चाइयों को सशक्त ढ़ग से व्यक्त कर वाला है।

2. पिछले नाटकों की तुलना में इस नाटक में पात्र अपनी असाधारणता को छोड़ते हुए बिल्कुल सामा हो गए हैं। फिर भी उनके द्वारा आधुनिक मनुष्य के ठहराव और संशय को नाटककार व्यक्त कर सका नाटक के प्रारंभ में ही पुरुष (महेन्द्रनाथ) दर्शकों को संबोधित करते हुए कहता है—''बात इतनी ही है विभाजित होकर मैं किसी-न-किसी एक में आपमें से हर एक व्यक्ति हूँ। और यही कारण है कि नाटक बाहर दो या अंदर, मेरी कोई भी निश्चित भूमिका नहीं है'' तथा नाटक के अन्त तक पहुँचते हुए स्त्री (सावित्री कहती है—''मैंने आपसे कहा है न बस! सब-के-सब एक से बिल्कुल एक से हैं आप लोग अलग-अल मुखौटे पर चेहरा? चेहरा सब का एक ही।''

शहरी जिन्दगी की यान्त्रिकता, संघर्ष एवं अर्थ लिप्सा ने इन पात्रों का एक सा बना दिया है। यह राकेश जी का संवेदनात्मक स्तर पर एक नवीन प्रयोग है।

3. यह नाटक अस्तित्ववादी और विसंगतिवादी नाटकों के बीच की कड़ी बन गया है। पाश्चात्य ना परम्परा के अनुकरण से विसंगति, अजनबीपन और अधरेपन का चित्रण है। मनुष्य की पहचान खोए जाने एहसास हमें पुरुष, स्त्री, बड़ी लड़की जैसे पात्रों से होता है। पुरुष एक का कथन है—''मुझे पता है कि मैं द कीडा हूँ। जिसने अन्दर-ही-अन्दर इस घर को खा लिया है।''

तो अपने आपसे अजनबी होते जाते मनुष्य का चित्र हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। वे लोग वर्षों त साथ-साथ रहकर भी एक-दूसरे को नहीं पहचान पाते। बड़ी लड़की कहती है—''शादी से पहले मुझे लग था कि मैं मनोज को बहुत अच्छी तरह से जानती हूँ पर अब आकर लगने लगा कि वह जानना बिल्कुल जान नहीं था।

4. प्रयोगधर्मिता का एक नया आयाम यह है कि राकेश जी का व्यक्तित्व उनकी रचनाओं में प्रत्यक्ष अप्रयक्ष रूप से मौजूद मिलता है। 'आधे-अधूरे' नाटक में काले सूट वाले की चार भूमिकाएँ राकेश जी भीतर वाले विभाजित युक्तियों का प्रतिनिधित्व करती है जो आरोपों-प्रत्यारोपों में जीता है। अत: युगीन संगति मिथक का संशोधन निजी आवश्यकताओं के लिए करना भी प्रयोगधर्मी नाटककार की प्रयोगशीलता अन्यतम उदाहरण है।

नाट्यशिल्प की दृष्टि से 'आधे-अधूरे' नाटक के शुरू होते ही काले सूट वाले व्यक्ति का दर्शकों वार्तालाप एक महत्त्पूर्ण प्रयोग है, जो ब्रेख्त के प्रभाव से आया है। भाषा और संवादों की अतिरिक्त सजगता भी इस नाटक की प्रयोगधर्मिता को एक अलग आयाम दिया है। हर पात्र के संवाद बीच में टूटते हुए, टूट फिर शुरू होते लगते हैं इन संवादों से एक्सर्ड नाटक का प्रभाव झलकता है। सावित्री और महेन्द्रनाथ ही न उनकी छोटी लड़की एकालाप करती है—ये सभी पात्र जगह-जगह बड़बड़ाते हुए अपने-आपसे बात करते भी दिखाई देते हैं। पुरुष दो से बात करता हुआ लड़का उसका कार्टून बनाता जाता है। बाद में उसे देखकर स को लगता है कि यह चेहरा उसके पति के जैसा ही है।

रंगशिल्प की दृष्टि से भी प्रयोगधर्मी नाटककार ने अभिनव एंव सार्थक प्रयोग किए हैं। नाटक का सारा दृश्यबन्ध सावित्री के घर से शुरू होकर उसी में समाप्त हो जाता है। काले सूट वाले का बार-बार नये व्यक्ति की भूमिका में आना और जगह-जगह दिए गए रंग संकेत नाटक को अभिनेयता की दृष्टि से सफल एवं प्रयोगधर्मी बनाते हैं। **डॉ० नरनारायण राय** का कथन है—"एक छोटा सा रंगोपकरण पूरे नाटक को नया अर्थ दे जाता है। 'आधे-अधूरे' में ऐसे कई प्रयोग हैं—कैंची और कतरन, कमरे में बन्द किन्नी और उसकी चीख, सिंघानियाँ की पतलून में सुरसुराता कीड़ा, कमरे में बन्द घड़ी जो महेन्द्र का सहारा हैं आदि ऐसे ही साभिप्राय और सार्थक दृश्य रंग प्रयोग है। नाटक के जिस दृश्यबंध की कल्पना नाटककार ने प्रस्तुत की है, पूरे घर की कहानी वह दृश्यबंध ही कह देता है।" इसके अलावा इस नाटक में राकेश के पूर्ववर्ती नाटकों की काव्यता के स्थान पर बौद्धिकता प्रधान है। आधुनिक मध्यवर्गीय परिवार की सभी समस्याओं को साधारण यथार्थपरक शैली में प्रस्तुत करने वाला अभिनय व मंचीय नाटक है।

नाट्य शिल्प की दृष्टि से इस नाटक में दो प्रयोग एकदम अलग ढंग के हैं—

(1) एक पात्र का कई भूमिकाओं में उतरना,

(2) नाटककार द्वारा पात्रों के लिए व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के स्थान पर जातिवाचक संज्ञाओं का प्रयोगा।

काले सूट वाला आदमी ही पुरुष एक, दो, तीन और चार की भूमिका में उतरता है। पात्रों के नामों का प्रयोग न करके नाटककार यह प्रदर्शित करना चाहता है कि आधुनिक समाज में मनुष्य की निजता और पहचान खोती जा रही है।

नाटककार का यह प्रयोग सावित्री के कथन—"मैने आपसे कहा है न, बस! सब-के-सब। एक-से! बिल्कुल एक-से हैं आप लोग! अलग-अलग मुखौटे पर चेहरा?—चेहरा एक ही!'—को चरितार्थ करना चाहा है। नाटककार अनुभूति देना चाहता है कि आधुनिक मध्यवर्गीय मध्यवर्गीय समाज में स्तरीकरण एवं असन्तोष से ग्रस्त हर पुरुष एक जैसा अभिशप्त जीवन जीने के लिए विवश है कि आधुनिक मध्यवर्गीय समाज में स्तरीकरण एवं असन्तोष से ग्रस्त हर पुरुष एक जैसा अभिशप्त जीवन जीने के लिए विवश है। इसके अलावा नाटककार की प्रयोगधर्मिता चाहे रंगमंच के संबंध में हो या फिर नाट्शिल्प से संबन्धित प्रतीकों बिम्बों के रूपों में सार्थक अभिव्यक्ति में सहायक है। **डॉ० रीता कुमार** का कथन है—"यह नाटक पूर्णत: यथार्थवादी शैली पर आद्धृत है, जिसमें अनेक सार्थक प्रतीकों का प्रयोग यथार्थ की कटुता को तीव्रता से व्यक्त करने के लिए किया गया है। कमरे के तीन दरवाजे सावित्री के जीवन में प्रवेश करने वाले तीन पुरुषों का प्रतीक है, इन तीन दरवाजों को परिवारिक विघटन के छिद्र भी माना जा सकता है। नाटक में सर्वाधिक प्रभावशाली प्रतीक अशोक द्वारा की गई कैंची की 'चक-चक' ध्वनि है। एक कोने में तस्वीरें कतरता हुआ यह पात्र दिशाभ्रान्त युवावर्ग के मूक विद्रोह का प्रतिनिधित्व करता है। अनेक मार्मिक स्थलों पर नीरवता में सुनाई देने वाली एक 'चक-चक' ध्वनि मानवीय सम्बन्धों के चुकने तथा जीवन-मूल्यों के प्रति अवज्ञा भाव की सूचक है। नाटक के मध्य में छोटी लड़की का सिसकते हुए खाली कमरे को पार करना वातावरण पर छाए संत्रास को तीव्रतम कर जाता है। 'एक खण्डहर की आत्मा को व्यक्त करता हल्का संगीत' क्षण-क्षण टूटती सावित्री के जीवन की करूण त्रासदी का सजीव दृश्य उपस्थित कर देता है। राकेश ने इस नाटक में प्रकाश और संगीत योजना में भी कई सशक्त नाटकीय बिम्बों का निर्माण किया है। नाटक के प्रारम्भ में 'अध-टूटा टी-सेट' आदि बिखरी वस्तुओं के दृश्यबन्ध पर भटकता आलोक तथा खण्डहर की आत्मा का संगीत वातावरण में छाए तनाव और घुटने से टूटते पात्रों का सजीव बिम्ब दे जाते हैं।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि राकेश जी एक नितान्त प्रयोगधर्मी नाटककार है। उन्होंने कथ्य
शिल्प दोनों दृष्टियों से इस नाटक में नवीन एवं सार्थक प्रयोग किए है। कथ्य के स्तर पर उन्होंने अपनी
दृष्टि स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की आधुनिक परिणति, एकनिष्ठ प्रेम का अभाव, आधुनिकता का दम भरने वाली
के अन्तर्विरोधों, शहरी जिन्दगी की यान्त्रिकता, संघर्ष, अर्थलिप्सा अजनबीपन, संत्रास कुण्ठा और निर
व्यक्तिकता को यथार्थ के कटु धरातल पर परखती है।

शिल्प के स्तर पर भाषा एवं संवादों की अतिरिक्त सजगता, पात्रों का यथार्थ और मनोवैज्ञानिक धरा
पर चरित्र-चित्रण, ब्रेख्त आदि के प्रभाव से आई ऊलजलूलियत जो की आधुनिक संवेदना को और गहराई
मूर्त करती है। अभिनव रंगमंचीय प्रयोग में रंग संकेतों की प्रतीकात्मकता कम समय और कम स्थान पर
सारी समस्याओं को प्रस्तुत करना आदि नाटककार की प्रयोगधर्मिता को प्राथक्य प्रभाव से मुक्त बनाता

11.11 आधे अधूरे की भाषा शैली

भाषा, भाव एवं विचार-बोध का सर्वोत्तम माध्यम है। यो नाटकों में योजित पात्र शब्द-प्रयोगों अतिरिक्त सकेतों-अर्थात् हाव-भाव प्रदर्शित करके, विशेष स्थितियों के लिए विशेष प्रकार का अभिनय क
भी भावों और विचारों को, विशेष प्रकार का अन्त: बाह्य स्थितियों का सम्यक बोध करा देते हैं। परंतु इस प्रक
का भाव-बोध सर्व-सामान्य के लिए सुलभ नहीं होता, उसके लिए मनोभावों, अभिनय-शिल्प या भाव-प्रद
आदि की विशिष्ट स्थितियों एवं विधाओं का ज्ञान एक सीमा तक आवश्यक होता है और वह सामान्य कोटि
दर्शकों के लिए संभव नहीं इस दृष्टि से नाटकों में भाषा एक विशिष्ट शिल्प का रूप धारण कर लेती है। अथ
भाषा का नाट्कीय परिवेश में काव्य या साहित्य का अन्य विधाओं की तुलना में अपना एक अलग व्यक्ति
स्वरूप आकार एवं महत्त्व होता है।

नाटकों में भाषा के महत्त्व को जान लेने के अन्तर और यह विचार कर लेना उचित एवं उपयुक्त रहेगा
नाटकों की भाषा में किस प्रकार के सामान्य, सर्व-स्वीकृत पर आवश्यक गुण होने चाहिए जागरूक
जन-कलाकार इस प्रकार के गुणों के प्रति निश्चय ही विशेष सजग हो जाता है। विषय एवं विचार के अनरू
रहने पर भी सरलता एवं स्पष्टता नाटकों की भाषा का दूसरा-प्रमुख गुण स्वीकार किया जाता है। तात्पर्य यह
कि भाषा ऐसी सरल और सुबोध एवं सप्रेषणाय होना चाहिए कि सभी को समझ में आ सके। तीसरे, भाषा पा
को सामाजिक एवं वर्गाय स्थितियों के अनुरूप होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह नहीं कि भाषायों प्रयोग क
समय कलाकार किसी विशेष प्रकार के आग्रह से जुड़ जाए। तात्पर्य यह कि वर्ण्य-विषय का, मूल प्रतिपाद्य प
सवेद्य का सीधा संबंध जिन लोगों से जुड़ा हो, भाषा उसकी भी प्रतिनिधित्व कर सके, अर्थात् व्यवहार-जगत
वे लोग जिस प्रकार की भाषा बोलते हैं, शब्दों का प्रयोग जिस रूप में करते हैं, इसका ध्यान रखा जाना चाहि
इन बातों के अतिरिक्त नाटकों का भाषा में यह भी आवश्यक है कि उनमें और जीवन में प्रयुक्त होने वाला भा
में कोई अधिक अन्तर दिखाई न दे। ऐसा तभी संभव हो सकता है जब कि नाटककार चमत्कार, कृत्रिमत
आडंबर आदि के चक्कर में न पड़ कर, सहज रहे। रोचकता, प्रसंगानुकूलता अप्रतिहत प्रवाह, व्यग्य-विनो
चुस्ता, चुटीलापन, चित्त एवं प्रचलित सीमा में कहावतों-मुहावरों एवं रोजमर्रा के प्रयोग-ये सभी बातें नाटक
को भाषा के लिए प्राय: आवश्यक एवं अनिवार्य माना जाता हैं चित्रमयता और काव्यमयता भाषा के दो अच्
गुण माने जाते हैं पर ये उस सीमा तक नहीं रहने चाहिए कि अस्वाभाविक या कृत्रिम प्रतीत होने लगे। भा
जटिल प्रयोग नाटकों में वर्जित होने चाहिए।

11.11.1 सहजता सरलता एवं रोचकता—इस नाटक की भाषा में सहजता, सरलता एवं रोचकता के गुण प्रयाप्त होते हैं। कहीं भी दुरूहता, क्लिष्टता एवं जटिल शब्दावली का प्रयोग नहीं हुआ है। इसके साथ-साथ उसमें प्रयुक्त भाषा में सर्वत्र स्वाभाविकता और सरलता से युक्त बोलचाल की भाषा प्रयुक्त हुई है—

"**लडका**—पूछ ले इससे। अभी बता देगी, तुझे सब .... जो सुलेखा को बता रही थी बाहर।

छोटी लड़की—(सुबकने के बीच) वह बता रही थी मुझे कि मैं उसे बता रही थी?

लड़का—तू बता रही थी।

छोटी लड़की—वह बता रही थी।

लड़का—तू बता रही थी। अचानक मुझ पर नजर पड़ी कि मैं पीछे खड़ी सुन रही हूँ तो

छोटी लड़की—सुरेखा भागी थी कि मैं भागी थी?

लड़का—तू भागी थी।

छोटी लड़की—सुरेखा भागी थी।"

11.11.2 भावानुकूलता एवं प्रवाहमयता—'आधे-अधूरे' नाटक की भाषा पूर्णता भावानुकूल एवं प्रवाहमयता के गुणों से ओत-प्रोत है। प्रसंगानुकूल गम्भीर भावों की अभिव्यक्ति में गम्भीर भाषा का प्रयोग हुआ है और हल्के-फुल्के प्रसंगों पर हल्की-फुल्की भाषा का प्रयोग हुआ है इसके साथ-साथ सभी प्रसंगों में चाहे हल्के हों या गहन भावों से युक्त, भाषा में सहज गति, प्रवहिमयता एवं अवच्छिन्नता बनी रहती है। तल्खी, बेचैनी एवं आक्रोश की भाषा में प्रवाहमयता का उदाहरण देखिए—

"**बड़ी लड़की**—मेरा अपना घर!... हाँ। और मैं आती हूँ कि एक बार फिर खोजने की कोशिश कर देखूँ कि क्या चीज है वह इस घर में जिसे लेकर बार-बार मुझे हीन किया जाता है। (लगभग टूटते स्वर में) तुम बता सकती हो ममी, कि क्या चीज है वह? और कहाँ से वह? इस घर के खिड़कियों-दरवाजों में? छत में? दीवारों में? तुमने? डैडी में? किन्नी में? अशोक में? कहाँ छिपी है वह मनहूस चीज जिसे जो वह कहता है कि मैं इस घर से अपने अंदर लेकर गई हूँ? (स्त्री की दोनों बाँहे हाथ में लेकर) बताओ मम्मी, क्या है वह चीज? कहाँ पर है वह इस घर में?

यहाँ पर प्रयुक्त भाषा वातावरण में घुटन-टूटन एवं पात्रों की छटपटाहट भरी मन: स्थिति को प्रकट करने के लिए सर्वथा उपयुक्त है। इसके अलावा हल्के-फुल्के प्रसंगों पर हल्की-फुल्की भाषा का प्रयोग है यथा—

"**स्त्री**—मैं नहीं लूँगी चाय!

बड़ी लड़की—सबके लिए बना रही हूँ एक-एक प्याली।

लड़का—मेरे लिए नहीं।

बड़ी लड़की—क्यों पानी रख रही हूँ सिर्फ पत्ती लानी है।

लड़का—अपने लिए बनानी है, बना ले।

बड़ी लड़की—मैं अकेली पिऊँगी? इतने चाव से चीज-सैंडविच बना रही।"

11.11.3 पात्रानुकूल भाषा—राकेश जी के सभी नाटकों में पात्रों की मन:-स्थिति प्रवृत्ति एवं व्यक्तित्व के अनुरूप भाषा प्रयुक्त है। 'आधे-अधूरे' नाटक के पात्र अपनी मन स्थिति में स्कन्दगुप्त अजातशत्रु

पहला राजा आदि नाटकों के पात्रों की तरह लम्बे-लम्बे एवं दार्शनिक वाक्यों का प्रयोग नहीं करते हैं। अपितु अपने समकक्षी व्यक्ति को श्रोता बनाकर बोलचाल की शब्दावली में अपने मन की भडास निकालते हैं महेन्द्रनाथ जैसे दब्बू एंव पराक्षित पुरुष के अन्तर्द्वन्द्व को रचनाकार ने उसकी मनोदशा के रूप में व्यक्त किया है यथा—

"सचमुच महसूस करता हूँ। मुझे पता है कि मैं एक कीड़ा जिसने अन्दर-ही-अन्दर इस घर को खा लिया है। (बाहर दरवाजे की तरफ चलता है) पर अब पेट भर गया है मेरा। हमेशा के लिए।"

अशोक भी अपने पिता की भाँति बेकार, अकर्मण्य आवारा एवं फैशनपरस्त नवयुवक है। अत: उसके संवादों में अक्खड़पन, विद्रोही प्रवृत्ति झलकती है—पुरुष दो की भोंडी हरकतों से क्षुब्ध होकर अशोक का कथन है—"तुम्हारा बॉस न होता तो उस दिन मैने कान से पकड़कर घर से निकाल दिया होता। सोफे पर टाँग पसारे आप सोच कुछ रहे हैं, जाँघ खुजलाते देख किसी तरफ रहे हैं और बात मुझसे कर रहे हैं .... (नकल उतारता) 'अच्छा, यह बताइए कि आपके राजनीतिक विचार क्या हैं? 'राजनीतिक विचार हैं मेरे खुजली औ उसकी मरहम!" नाटक की नायिक सावित्री के संवादों की भाषा से भी उसके ..... के अनुरूप आवारापन, ..

"**स्त्री**—(आवेश में उसकी तरफ मुड़ती) मत कहिए मुझे महेद्र की पत्नी। महेन्द्र भी एक आदर्श ..... है पत्नी है, यह बात महेन्द्र को अपना कहने वालो का शुरू से ही रास नहीं आई। महेन्द्र ने ब्याह क्य किया आप लोगों की नजर में आपका ही कुछ आपसे छीन लिया।"

इसी तरह नाटक के अन्य पात्रों की भाषा भी उनके चरित्र के अनुरूप ही है। कित्नी की भाषा में विद्रोहीपन अशष्टिता जिद्दीपन झलकता है तो पुरुष चार अर्थात् जुनेजा की भाषा में जीवन के अनुभव की गहराई।

11.11.4 ध्वन्यात्मकता एवं व्यंग्यात्मकता—इस नाटक में स्थान-स्थान पर पात्रों की कारूणिक मन: स्थिति, भयावह परिवेश की विसंगति एवं घुटन, टूटन, बिखराव आदि को व्यक्त करने के लिए नाटककार ने भाषागत ध्वन्यात्मकता एवं व्यंगयात्मकता का प्रयोग किया है। नाटक में कई स्थलों पर शब्द और उसके अभिधेय अर्थ को नकारने की कोशिश की गई है। सिधानियाँ के संवाद शब्दों के अभिधेय अर्थ का अतिक्रमण कर जाते हैं—

"**पुरुष दो**—हाँ हाँ ..... जरूर (बड़ी लड़की से) लो तुम भी। (स्त्री से) बैठ जाओ अब।

स्त्री—(मोढें पर बैठती) उस विषय में सोचा आपने कुछ?

पुरुष दो—(मुँह चलाता) किस विषय में?

स्त्री—वह जो बात मैंने की थी आपसे ... कि कोई ठीक-सी जगह हो आपकी नजर में. तो .....

पुरुष दो—बहुत स्वादिष्ट है।"

यहाँ पर स्त्री और पुरुष दो के संवादों में तार्किक संगति न होते हुए भी दोनों की मन:स्थिति व्यक्त होती नजर आ रही है। 'वह जो ... तो....' के उत्तर में 'बहुत ही स्वादिष्ट है' वाक्य समकालीन जीवन की विसगत स्थितियों को नाटकीय ढंग से सम्प्रेषित करता है। नाटककार की यह प्रवृत्ति एवसर्ड नाटकों की भाषा में अनुप्राणित है।

नाटक में यथार्थ को अभिव्यक्ति देने के लिए व्यंग्यात्मक भाषा-शैली को अपनाया गया है। नाटक के लगभग सभी पात्रों की भाषा में व्यंग्य की तीखी मार दिखाई देती है। इससे जहाँ भाषा में विचित्र का समावेश

हुआ है, वहीं चमत्कार भी उत्पन्न हो गया हैं विशेष रूप से महेन्द्रनाथ एवं अशोक के संवादों की भाषा तो पुर्णत: व्यंग्यपरक है। सावित्री एवं महेन्द्रनाथ की वार्तालाप पूर्णत: व्यंगयपरक है यथा—

"**पुरुष एक**—हाँ हाँ सिंघानिया तो लगवा ही देगा जरूर। इसलिए बेचारा आता है यहाँ चलकर।

स्त्री—शुक्र नहीं मानते कि एक इतना बड़ा आदमी, सिर्फ एक बार कहने भर से ....।

पुरुष एक—मैं नहीं शुक्र मनाता? जब-जब किसी नये आदमी का आना-जाना शुरू होता है यहाँ, मैं हमेशा शुक्र मानता हूँ। पहले जगमोहन आया करता था, फिर मनोज आने लगा था।

स्त्री—(स्थिर दृष्टि से उसे देखती) और क्या-क्या बात रह गई है कहने को बाकी? वह भी कह डालो जल्दी से।

पुरुष एक—क्यों जगमोहन का नाम मेरी जबान पर आया नहीं कि तुम्हारे हवास गुम होने शुरू हुए।

यहाँ पर महेन्द्रनाथ का व्यंग्यपरक संवाद सावित्री की चारित्रिक विशेषताओं को प्रकट करता है। इसी तरह अशोक एवं सावित्री के संवादों में अशोक व्यंग्यपरक शैली में सिंघानियां एवं सावित्री के चरित्र का उद्‌घाटन करता है—

"**लड़का**—मतलब वही जो मैंने कहा है। आज तक जिस किसी को बुलाया है तुमने, किस वजह से बुलाया है?

स्त्री—तू क्या समझता है, किस वजह से बुलाया है?

लड़का—उसकी किसी 'बड़ी' चीज के वजह से। एक को कि वह इंटेलेम्यूअल बहुत बड़ा है। दूसरे को किस उसको तनख्वाह पाँच हजार हैं तीसरे को कि उसकी तख्ती चीफ कमिश्नर की है जब भी बुलाया है, आदमी को नहीं होसकी तनख्यावह को नाम को रूतबे को बुलाया है।

स्त्री—और में उनहें इसलिए बुलाती हूँ कि .....

लड़का—पता नहीं किसलिए बुलाती हो, पर बुलावा सिर्फ ऐसे ही लोगों को हो। अच्छा, तुम्हीं बताओं, किसलिए बुलाती हो?"

इस तरह किन्नी, बिन्नी, जुनेजा आदि के संवादों में भी व्यंग्यपरक भाषा प्रयुक्त हुई है।

11.11.5 विभिन्न भाषाओं के शब्दों एवं मुहावरों का सार्थक प्रयोग—'आधे-अधूरे' नाटक में सामान्य बोलचाल की उर्दू-अंग्रेजी मिश्रित हिन्दी ही अधिकांश प्रयुक्त हुई। यों एकाध स्थलों पर संस्कृत शब्द भी तत्सम रूप में व्यवहृत हुए हैं। अधिकांश जनसामान्य में प्रचलित शब्द ही हैं। जिन भाषाओं के शब्द प्रसंगानुकूल किन्तु नाटक में प्रयुक्त हुए हैं उनका आकलन नीचे किया जा रहा है देखिए—

1. तत्सम शब्दों का प्रयोग—इस प्रकार के शब्दों को प्रयोग बहुत कम मात्रा में हुआ है और वह हुआ भी है तो विशेष, प्रयोजन से ही, तथा—

"आप क्या सोचते हैं आजकल युवा लोगों में इतनी अराजकता क्यों है?"

"अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क हैं न कम्पनी के, तो सभी देशों के लोग मिलने आते रहते हैं जापान से तो एक पूरा प्रतिनिधि मण्डल ही आया हुआ था पिछले दिनों—अभी उस दिन मैं जापान की पिछले वर्ष की औद्योगिक सांख्यिकी देख रहा था।" यहाँ पर 'युवा', 'अराजकता', 'प्रतिनिधिमण्डल' आदि शब्द तत्सम हैं।

2. तद्भव शब्दों का प्रयोग—नाटक में तत्सम शब्द तो केवल एक विशिष्ट अवसर पर ही प्रयुक्त हु हैं। अधिकांश हिन्दी के तद्भव शब्दों का ही प्रयोग 'आधे-अधूरे' में हुआ। इससे नाटक की भाषा स्वाभाविकता एवं विकास का गुण आ गया है। शब्दों की यह तद्भवता हिन्दी के कुछ शब्दों में द्रष्टव्य है——घ (गृह), सीख (शिक्षा), आँखे (अक्षि), बूढ़ा (वृद्ध), होंठ (ओठ), माँ (मातृ), साड़ी (सादृक), रात (रात्रि आदि-आदि।

3. देशज शब्दों का प्रयोग—तत्सम एंव तद्भव शब्दों के साथ ही भाव सम्प्रेषण की सुविधा के लि नाटककार ने 'आधे-अधूरे नाटक में, कुछ देशज शब्दों का भी प्रयोग किया है, यथा—चिढ, तिलमिल खीझना, चरख चरख, किट-किट, मुनिया, लोंदा आदि।

4. उर्दू शब्दों का प्रयोग—'आधे-अधूरे नाटक में उर्दू भाषा के शब्दों का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है नाटक में प्रत्येक पृष्ठ तो क्या प्रत्येक संवाद अथवा प्रत्येक पंक्ति में कोई-न-कोई उर्दू शब्द अवश्य व्यवह हुआ है। पर इतना अवश्य है कि उर्दू होते हुए भी शब्द आम बोलचाल के हैं। सरल भाव-संप्रेषण की सुविध के लिए ही नाटककार ने इन शब्दों का प्रयोग किया है। भारी-भरकम संस्कृतनिष्ठ शब्दों की भरमार की अपेक्ष इस प्रकार की चलती हिन्दी-उर्दू भाषा नाटक के कथन को बड़ी सरलता से सम्प्रेषित करने में सहायक हुई है यथा—कोशिश, मजाक, बरदाश्त, काफी, वजह, नौबत, राय, किराया, शऊर, जवाब, चेहरा, सवाल, सिर्फ अखबार, शिकायत, खास, शादी, ज्यादा आदि।

5. अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग—नाटक में यत्र-तत्र प्रचलित अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी खुलकर हुआ है अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग पात्रों के संवादों में भी है और स्वयं नाटककार ने अपने मंचीय संकेतों में भी इनक प्रयोग किया है यथा—सिगार, फुटपाथ, स्कूल बैग, मैगजीन, टी.ट्रे. कबर्ड, बॉस, फैक्टरी, प्रेस, फ्रिज, मीटिंग बोर्ड, पर्स, डैडी, काफी, ट्रांसफर, किट, क्लास, फाउण्डर्स डे पी.टी. आदि।

अत: राकेश जी ने विभिन्न भाषाओं के शब्दों को अपनी भाषा शैली में समाहित करके उसे गहन भावों स युक्त एवं लोक जीवन की भाषा बनाया है राकेश जी ने अपनी नाट्य भाषा में मुहावरों को कम किन्तु सार्थि प्रयोग किया है। जिन मुहावरों को नाटककार ने प्रयोग किया है वे नाट्य-कथ्य के सम्प्रेषण में अत्यधिक सहायक सिद्ध हुए हैं। इन मुहावरों से राकेश जी की नाट्य-भाषा की व्यंजनात्मकता गहराई प्राप्त करती है। जि मुहावरों का प्रयोग नाटक में हुआ है उनमें से कुछ इस प्रकार है 'शहदेना', 'जिन्दगी काटना', 'मन का गुबा- निकालना', 'मारा-मारा फिरना', 'जबान खोलना', 'अपने को हलाक करना', 'हड्डियों में जंग लगाना 'जानमारी करनी', 'नाक में नकेल डालना', 'उल्लू बनाना', 'मिट्टी के लोंदे', 'जिन्दगी का भार ढोना 'जिन्दगी की कमाई' 'रबड स्टैंप का तप्पा', 'जिन्दगी को चौपट करना', 'घुरधुसरा होना' आदि-आदि। वाक्य के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

(i) तुम्हारी शह में उसका घर में आना-जाना न होता, तो क्या यह नौबत आती कि लड़की उसके सा जाकर बाद में इस तरह .... ?

(ii) जापान ने इन सबकी नाक में नकेल कर रखी है आजकल

(iii) उल्लू बना रहा था उसे।

11.11.6 सपाटबयानी एवं याथार्थवादी शैली—यथार्थवादी नाटक होने की वजह से नाटक क भाषा शैली में सपाटबयानी एव याथार्थवादी शैली व्यवहृत है। इस याथार्थपरक भाषा-शैली से नाटककार आधुनिक जीवन की नग्न सच्चाइयों, विसंगतियों को बड़े प्रभावी ढंग से प्रकट किया हैं नाटक में चित्रित परिवा

की वास्तविकता, परिवेश में तनाव घुटन, घर के सदस्यों में आन्तरिक संघर्ष तथा समूचे परिवेश की कुरूपता एंव भयावयता को प्रकट करने के लिए नाटककार ने सपाटबयानी एवं यथार्थवादी भाषा-शैली का प्रयोग किया है। संवादों में शब्दों की कसावट और स्पष्टता महानगरीय परिवेश की विसंगतियों को प्रभावी ढंग से स्थापित करती है। मानव-जीवन की निर्ममता और मानव के नृशंसतापूर्वक व्यवहार का तीखा एवं वास्तविक रूप किन्नी की इन पंक्तियों से प्रकट होता है—

"मैं यहाँ थी, तो मुझे कइ बार लगता था कि मैं घर में नहीं, चिडियाघर के एक पिंजरे में रहती हूँ यहाँ ... आप शायद सोच भी नहीं सकते कि क्या-क्या होता रहा है यहाँ। डैडी का चीखते हुए ममा के कपड़े तार-तार कर देना .... उनके मुँह पर पट्टी बाँधकर उन्हें बन्द कमरे में पीटना ..... खींचते हुए गुसलखाने में कमोड पर ले जाकर ..... सिहरकर। मैं तो बयान भी नहीं कर सकती कि कितने-कितने भ्यानक दृश्य देखे हैं इस घर में मैंने।"

इन पंक्तियों में यथार्थवादी शैली में समकालीन जीवन की विषय स्थितियाँ निरूपित हुई हैं। अत: कहा जा सकता है कि मध्यवर्गीय जीवन की विसंगतियों को नाटकीय रूप में चित्रित करने के लिए जिस हरकत भरी भाषा की आवश्यकता थी उसी प्रकार की भाषा को नाटककार ने 'आधे-अधूरे' में प्रयुक्त किया हैं आज के जीवन के जंटिल अनुभवों, अनुभूत संवेदनाओं, उलझी हुई जीवन स्थितियों और अपने आप से या आपस में जूझते आधे-अधूरे चरित्रों की तनावपूर्ण विस्फोटक मन:स्थितियों को पूरी सच्चाई के साथ प्रस्तुत करने के लिए बोलचाल की इस सृजनात्मक भाषा की आवश्यकता थी। यही कारण है कि नाटककार ने अपनी भाषा-शैली में विभिन्न प्रयोग करते हुए उसे जन-जीवन की भाषा बनाकर प्रस्तुत किया है। **डॉ० गोविन्द चातक** इस नाटक की भाषा के बारे में लिखते हैं—

"इस नाटक की भाषा नाटक के क्षेत्र में वर्षों से व्याप्त जड़ता को भंग करने में सफल हुई हैं इसमें सहजता ताजगी, लाज और चालूपन हैं, वह नाट्य भाषा की संपूर्ण संवेदनाओं और आंतरिक शक्तियों का उपयोग करता दिखता है। अपने कथ्यांक के अनुरूप यह भाषा आरोपों-प्रत्यारोपों उलझनों-उपालंभी, तल्खियों-झल्लाहटों को बखूबी व्यक्त करती है।"

इतना ही नहीं 'आधे-अधूरे' की भाषा का अनगढ़पन एवं अतिसाधारण रूप भी लोक-प्रयोग के स्तर पर युगबोध की जटिल एवं सूक्ष्म संवेदना को व्यंजित करता है। अत: साधारण या बोल-चाल की भाषा को भी नाटककार ने अपने अनुभव की समग्रता देकर आधुनिक युग की विसंगतियों की अभिव्यक्ति की भाषा बनाया है इस नाटक के **निर्देशक ओम शिवपुरी** ने नाटक की भाषिक महत्ता प्रकट करते हुए कहा है—

"पहले वाचन के समय ही मुझे इसकी भाषा में बड़ी कशिश लगी थी। कहना न होगा कि इस नाटक की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता इसकी भाषा है। इसमें वह सामर्थ्य है जो समकालीन जीवन के तनाव को पकड़ सके। शब्दों का चयन, उनका क्रम उनका संयोजन-सब कुछ ऐसा है, जो बहुत सम्पूर्णता से अभिप्रेत को अभिव्यक्त करता हैं लिखित शब्द की यही शक्ति आप उच्चरित ध्वनि समूह का यहीं बल है, जिसके कारण यह नाट्य-रचना बंद और खुले, दोनों प्रकार के मंचों पर अपना सम्मान बनाए रख सकी।"

11.12 पात्रों का चरित्र-चित्रण

11.12.1 महेन्द्रनाथ—दोस्तों का चहेता और हँसमुख महेन्द्रनाथ सावित्री से शादी के बाद कारोबार में लगातार असफल होकर आज पत्नी की कमाई पर जिन्दा, लड़ने-कुढ़ने वाला और पत्नी के

परिचितों या प्रेमियों के आने पर चुपचार घर से चला जाने वाला एक पराजित कटु और कभी-कभी खूँखार जाने वाला अजीब-सा कुंठित व्यक्ति बन गया है।

महेन्द्रनाथ सम्पूर्ण नाटक में 'पुरुष एक' नाम से ही आता हैं उम्र पचास के आस-पास, चेहरे की विशि में एक व्यंग्य है। यों, अपनी स्त्री की कमाई की रोटियाँ तोड़ रहा है और गृह पति की मर्यादा से वंचित है। जं की लड़ाई में हार की छटपटाहट है, वह तीन बच्चों का बाप है पत्नी के परिचितों के आने पर घर से नि जाता है। "सावित्री को महेन्द्रनाथ सदा से दब्बू, व्यक्तित्वहीन, पर-निर्भर लम्य है और आधा-अधूरा आ भी। मन की कटुता ओर तिम्तता के व्यंग्यबाणों से पत्नी के अन्तरमन को भेदता रहता है। नाटक के प्रारम्भ पुरुष का परिचय स्वागत भाषण के माध्यम से होता है। वह स्वयं कहता है, "यह नाटक भी अपने में मेरी त अनिश्चित है।" महेन्द्रनाथ नाटक का नायक है, साथ ही बेकार, निराश और असफल पति हैं शादी के बाद उसकी पत्नी को वह एक पूरे आदमी का आधा चौथाई अर्थात् अधूरा, लिवलिवा और चिपचिपाता-सा आ लगने लगा।

डॉ० पुष्पा बंसल का कहना है—"गृहपति होते हुए भी वह घर का स्वामी नहीं रह गया है, सबसे होने पर भी (वयोवृद्धत्व के नाते) उसको सम्मान नहीं मिलता। मन में एकदम न चाहने पर भी घर काम-काज में उसका प्रयोग एक स्टैम्प के समान किया जाता है।" नाटक के महेन्द्रनाथ के चरित्र निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ उद्घाटित होती है।

1. कमजोर एवं पराश्रित व्यक्तित्व—महेन्द्रनाथ में न तो स्वतन्त्र चिन्तन की क्षमता है और स्वतन्त्र रूप से कोई निर्णय लेने का सामर्थ्य है। न उसकी अपनी कोई विचारधारा है और न उसका अपना व्यक्तित्व है वह हमेशा प्रत्येक बात के लिए दूसरों पर आश्रित रहता है। वह हर बात के लिए दूसरों के मुँह ओर ताकता रहता है। सावित्री स्पष्ट घोषणा करती है—'जब से मैंने उसे जाना है, मैंने हमेशा हर चीज के किसी-न-किसी को सहारा ढूँढते पाया है। यह कहना चाहिए या नहीं ..... जुनेजा से पूछ लूँ। यहाँ जाना च या नहीं जुनेजा से राय ले लूँ। कोई छोटी-सी-छोटी चीज खरीदनी है तो भी जुनेजा की पसन्द से। बड़े-से-बड़ा खतरा उठाना है—तो जुनेजा की सलाह से। यहाँ तक कि मुझे ब्याह करने का फैसला भी कि उसने जुनेजा की हामी भरने से।" स्वतन्त्र रूप से निर्णय लेने की क्षमता न होने के कारण तथा पर-आश्रित के कारण महेन्द्रनाथ की बौद्धिक क्षमताएँ कुंठित हो गई तथा व्यक्तित्व का पूर्णरूप से विकास नहीं हो प अत: स्पष्ट है कि महेन्द्रनाथ पर-आश्रित व्यक्ति है।

2. शंकालु प्रवृत्ति—महेन्द्रनाथ इस नाटक में शंकालु प्रवृत्ति का स्वामी नजर आता है। अपनी सावित्री के कार्यकलाप पर शंकालु दृष्टि रखता हैं सावित्री अपने बेटे अशोक की नौकरी लगवाने के लिये उ कामुक पुरुष-मित्र सिंघानिया को घर बुलाती है तो महेन्द्र सावित्री के चरित्र को शंका की दृष्टि से दे है—इसकी झलक निम्नलिखित उदाहरण में दृष्टव्य है—

"**पुरुष एक**—कौन आएगा? सिंघानियाँ

स्त्री—उसे किसी के यहाँ खाना खाने जाना है इधर। पाँच मिनट के लिए यहाँ भी आएगा। मुझे आदत अच्छी नहीं लगती तुम्हारी कितनी बार कह चुकी हूँ।

पुरुष एक—तुम्हीं ने कहा होगा उससे आने के लिए।

स्त्री—कहना फर्ज नहीं बनता मेरा, आखिर मेरा बॉस है।

पुरुष एक—बॉस का मतलब यह थोडे ही है कि ....?

स्त्री—लोगों को तो ईर्ष्या है मुझसे कि दो बार मेरे घर आ चुका है। आज तीसरी बार आएगा।

पुरुष एक—तो लोगों को भी पता है वह आता है?

महेन्द्रनाथ अपनी इस शंकालु भावना का प्रदर्शन तब भी करता है। जब उसकी बड़ी लड़की बिन्नी मनोज के घर से भाग कर चली आती है। वह अपनी शंका सावित्री पर प्रकट करता है और उससे कहता है कि वह बिन्नी से पूछे कि अपना घर छोड़कर क्यों चली आई है। वह बिन्नी के विषय में अपनी शंका इस प्रकार प्रकट करता है—

"**पुरुष एक**—मुझे तो यह उस तरह आयी लगती है।

स्त्री—चाय ले लो।

पुरुष एक—इस बार कुछ सामान भी नहीं है साथ में।

स्त्री—हो सकता है थोड़ी ही देर के लिए आई हो।

अत: स्पष्ट है कि महेन्द्रनाथ शंकालु स्वभाव का व्यक्ति है। इसका मुख्य कारण उसकी पत्नी का चरित्रहीन होना है।

3. ईर्ष्यालु एवं कुढ़नशील—महेन्द्रनाथ को सावित्री के चरित्र पर सन्देह तो हमेशा ही रहता है उसके साथ ही सावित्री के पुरुष मित्रों से उसे ईर्ष्या भी होती है। जब-जब कोई व्यक्ति उसके घर आता है वह जल उठता है और वह ऐसे लोगों की उपस्थिति में स्वयं घर से बाहर चला जाता है। बहाने बनाकर घर से चला जाना उसकी ईर्ष्या का ही परिचायक है सिंघानियाँ के आने से पहले का यह वार्तालाप उसकी ईर्ष्या प्रवृत्ति का परिचय देता है।

"**पुरुष एक**—उसमें क्या है? आदमी को काम नहीं हो सकता बाहर?

स्त्री—वह तुम्हें आज भी हो जाएगा तुम्हें।

पुरुष एक—जाना तो है आज भी मुझे .... पर तुम जरूरी समझो मेरा यहाँ रहना तो ....।

स्त्री—तुम्हें सचमुच कहीं जाना है क्या? कहाँ आने की बात कर रहे थे तुम?

पुरुष एक—सोच रहा था जुनेजा के यहाँ हो आता।"

श्री ओम शिवपुरी का कहना है—"यह सावित्री के पुरुष मित्रों को जानता है, और जब-तब उनका जिक्र करके अपने दिल की भड़ास निकालता रहता है। अपने कुचले आत्मसम्मान को बचाने की खातिर वह अक्सर शुक्र-शनीचर घर छोड़कर चला जाता है। लेकिन कुछ घण्टे बाद वापिस लौट आता है—थका, हारा, पराजित .... क्योंकि यहीं उसकी नियति है।"

वह फाइलों से जूझता है। सावित्री की बातें सुनना चाहता है। इसलिए फाइलों की उठा-पटक करता है क्योंकि उसे सिंघानियाँ से ईर्ष्या भी है। वह इस बात से भी जलता है कि सावित्री जिन लोगों के सम्पर्क में आती है वे महेन्द्रनाथ की अपेक्षा प्रतिष्ठित, सम्मानित और ऊँचे पदों वाले लोग होते हैं। अपनी इस जलन का प्रदर्शन भी वह स्वयं कर देता है, "अधिकार रूतबा, इज्जत—यह सब बाहर के लोगों से मिल सकता है इस घर को। इस घर का आज तक कुछ बना है, या आगे बन सकता है, तो सिर्फ बाहर के लोगों के भरोसे। मेरे भरोसे तो सब कुछ बिगड़ता आया है और आगे बिगड़ ही बिगड सकता है।

नाटक में महेन्द्रनाथ प्रत्येक क्षण एक कुढ़ा हुआ व्यक्ति दिखाई देते है। वह स्वयं को सबसे अपाहिज व्यक्ति अनुभव करता है इसीजिए प्रत्येक बात पर कुढ़ता रहता है। स्वयं उसके घर के सदस्य उसकी उपेक्षा करते हैं और बात-बात पर अपमानित करते रहते हैं। अपनी पत्नी की घोर अपेक्षा और प्रता के कारण ही वह ओछा बन जाता हैं और न कहने योग्य बात भी अपने बच्चों के सामने ही कह देता है। की उपेक्षा से वह तिलमिला जाता है किन्तु प्रतिरोध करने की शक्ति न होने के कारण केवल कुढ़ता ही रह है तथा—

पुरुष एक—यह सब कहता है वह? और क्या-क्या कहता है?

स्त्री—वह इस वक्त तुमसे बात नहीं कर रही।

पुरुष एक—पर बात तो मेरे ही घर की हो रही है।

स्त्री—तुम्हारा घर! हहँ!

पुरुष एक—तो मेरा घर नहीं है यह ? कह दो नहीं है।

स्त्री—सचमुच तुम अपना घर समझते इसे तो....।

पुरुष एक—कह दो, जो कहना चाहती हो।

स्त्री—दस साल पहले कहना चाहिए था मुझे..... जो कहना चाहती हूँ।

पुरुष एक—कह दो अब भी .... इससे पहले कि दस साल, ग्यारह साल।''

नाटक में और कई स्थल हैं जहाँ पर ईर्ष्याभाव एवं कुढ़नशीलता महेन्द्रनाथ की चारित्रिक बनकर उ है।

4. प्रभावहीन व्यक्तित्व एवं आरामतलब—महेन्द्रनाथ का व्यक्तित्व अपनी पराश्रिता, दब्बूप आरामतलब जिन्दगी के कारण प्रभावहीन हो गया है। वह गृहस्वामी होकर भी गृहपति की मर्यादा से वं उसे न घर से सम्मान प्राप्त है न बाहर। उसकी पत्नी मानने से इन्कार करती है—''मत कहिए मुझे महे की पत्नी।'' बड़ी लड़की घर से भाग जाती है। लड़का अशोक निकम्मा हो जाता है तथा छोटी लड़की उद्द जाती है। महेन्द्रनाथ अपने को 'रबड़ स्टैम्प' ओर रबड़ का टुकडा मानता हैं उसका जीवन अस्तित्वहीन अर्थहीन हो गया है, ऐसा उसे हरदम लगता है। वह अपना आत्म-विश्लेषण और आत्म-परीक्षण कर कहता है—''अपनी जिन्दगी चौपट करने का जिम्मेदार मैं हूँ, इन सबकी जिन्दगियाँ चौपट करने का जि मैं हूँ ..... क्योंकि अन्दर से मैं आरामतलब हूँ।'' अपना आत्मपरीक्षण करते हुए आगे कहता है, ''मुझे पत एक कीड़ा हूँ, जिसने अन्दर-ही-अन्दर इस घर को खा लिया है। महेन्द्रनाथ सारा दिन घर करके बेकार- रहकर चाय पीता रहता है, अखबार पढ़ता रहता है और घर के सारे सामान को अव्यस्थित सारा रख छो जिससे सावित्री आकर बड़बड़ाती है। बाल बच्चों के प्रति कर्त्तव्य को वह निभाता नहीं है बल्कि उन्हीं के सावित्री को पीटता है, उसके बाल नोचता है, जिससे बालक उसका सम्मान नहीं करते। महेन्द्रनाथ स्पष्ट है—''मेरी क्या यही हैसियत है इस घर में जो जब जिस वजह से जो भी कह दे, चुपचाप सुन लिया करूँ वक्त की घुतकार, हर वक्त की धोंच, बस यही कमाई है यहाँ मेरी इतने सालों से।''

अत: स्पष्ट है कि महेन्द्रनाथ अपने परिवार में उपेक्षित और तिरस्कारपूर्ण जीवनयापन कर रहा है उसको अपने घर में सम्मान-प्राप्त है और न बाहर। आरामतलबी एवं आलसी प्रवृत्ति ने उसके हृदय भावना उत्पन्न कर दी है। इसीजिए बेकारी की हालत के कारण बच्चे एवं पत्नी उससे दूर होते जा रहे हैं।

एवं पत्नी के प्रति कर्त्तव्य को भी वह भली-भाँति नहीं निभाता तथा अपनी ऐय्यासी के कारण पूरे परिवार को आर्थिक अभाव की दलदल में धकेल दिया हैं महेन्दनाथ की बेकारी-बेगारी एवं आरामतबली-अकर्मकता के कारण सावित्री की इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो पाती जिसके कारण वह पर-पुरुषों से सम्पर्क जोड़ती हैं जिससे उसका परिवार विघटन के कगार पर पहुँच जाता है।

अत: कहा जा सकता है कि महेन्द्रनाथ के रूप में मोहन राकेश जी ने एक ऐसे मध्यवर्गीय निम्न आय वाले परिवार के मुखिया का चित्रण किया है जो अपने पराश्रित, आलसीपन और दब्बूपन के कारण एक-दूसरा हुआ आधा-अधूरा व्यक्ति हैं वह नाटक का नायक हैं परन्तु सबसे दुर्बल और दयनीय पात्र भी हैं वह गृहस्वामी होकर गृहपति की मर्यादा से वंचित है। पूरे परिवार की भर्त्सना सहता है। अपमानित होकर घर छोड़ता है। परन्तु अपनी चारित्रिक दुर्बलताओं के कारण उसी घर से लौटकर अपमानित और जिन्दगी जीने के लिए मजबूर है।

11.12.2 अशोक—'आधे-अधूरे' नाटक में अशोक एक महत्त्वपूर्ण सहायक पात्र के रूप में उपस्थित हुआ है। अशोक इस नाटक में आधुनिक युवा पीढ़ी की पीड़ा, आक्रोश, अकर्मण्यता, अस्वीकार और पलायन को साक्षात रूप में मंच पर प्रस्तुत करता है।

आधुनिक विचारधारा से अनुप्राणित यह नवयुवक फ्रेंच कट दाढ़ी, रंग-बिरंगी बुशर्ट-पतलून तथा नई-नई पत्रिकाओं के अध्ययन आदि में रुचि रखता है। वह कर्तव्य पथ से च्यूत, बेकार-बेगार नवयुक है, जो सारा दिन घर पर रहकर पत्रिकाओं में अश्लील तस्वीरें काटता रहता है। उद्योग सैंटर वाली वर्णा के पीछे जूतियाँ चटखाता फिरता हैं नाटककार मोहन राकेश ने उसका परिचय इस प्रकार दिया—"उम्र इक्कीस के आसपास। पतलून के अन्दर दबी भड़कीली बुशर्ट घुल-धुलकर घिसी हुई। चेहरे से, यहाँ तक कि हँसी से भी झलकती खास तरह की कड़वाहट।" अशोक की महेन्द्रनाथ की भाँति बेकार-बेगार है और कोई भी कार्य निष्ठापूर्वक नहीं कर सकता। वह न तो मन लगाकर पढ़ाई कर सका और न एयरफ्रीज में नौकरी ठीक प्रकार से कर पाता है। उसके चरित्र में निम्नलिखित विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती है।

1. स्पष्टवादिता एवं वाकपटुता—अशोक पूरे नाटक में एक स्पष्टवादी वाकपटु पात्र के रूप में प्रकट होता है। वह अपने रुचि के प्रतिकूल बात को चाहे वह बात कड़वी हो, भद्दी हो या अच्छी हो। नई स्पष्ट एवं वाकचातुर्य से प्रकट कर देता हैं वह जानता है कि उसकी माँ अपने बॉस सिंघानिया का बहुत आदर करती है और उसके विषय में अपमानजनक बात नहीं सुन सकती, किन्तु स्वयं उसके मन में सिंघानियाँ की जो 'इमेज' बनी है उसे भी वह झुठला नहीं सकता। निम्नलिखित वार्तालाप में उसकी स्पष्टवादिता स्पष्ट रूप से मुखर हो रही है। देखिए—

"**स्त्री**—दोनों बार इसी के लिए बुलाया था मैंने उसे। आज भी इसी की खातिर।

लड़का—मेरी खातिर? मुझे लेना-देना है उससे?

बड़ी लड़की—ममा उसके जरिए तेरी नौकरी के लिए कोशिश कर रही होंगी न.....।

लड़का—मुझे नहीं चाहिए नौकरी। कम-से-कम उस आदमी के जरिए हरगिज नहीं।

बड़ी लडकी—क्यों, उस आमी को क्या है?

लड़का—चुकन्दर है वह आदमी है? जिसे न बैठने का शऊर है न बात करने का।

स्त्री—पाँच हजार तनख्वाह है उसकी। पूरा दफ्तर सँभालता है।

लड़का—पाँच हजार तनख्वाह है, पूरा दफ्तर सँभालता है, पर इतना होश नहीं कि अपनी पतलून के बटन।

स्त्री—अशोक।''

इतना ही नहीं है वह अपनी माँ सावित्री को भी उसके गलत कार्यों के लिए फटकारने में नहीं हिचकता वह जानता है कि सिंघानियाँ जैसे लोगों की मनोवृत्ति कैसी है इसलिए वह अपनी माँ से कहता है—

'नहीं बर्दाश्त है, तो बुलाती क्यों हो ऐसे लोगों को घर कि जिनके आगे ... ? जिनके आगे हम जितने छोटे हैं, उससे और छोटे हो जाते हैं अपनी नजर में।'' ... आज तक जिस किसी को बुलाया है तुमने, किसी वजह से बुलाया है उसकी किसी बडी चीज की वजह से। एक को कि वह इंटलेक्चुअल बहुत बड़ा है। दूसरे कि उसकी तनख्वाह पाँच हजार है। तीसरे को कि उसकी तरक्की चीफ कमिश्नर की हैं जब भी बुलाया है आदमी को नहीं—उसकी तनख्वाह को, नाम को रूतबे से बुलाया हैं बात को रहने दो, ममा! मैं नहीं चाहता मेरे मुँह से कुछ ऐसा निकल जाए तुम .....।''

इन संवादों से अशोक की स्पष्टवादिता ही नहीं अपितु वाकपटुता भी झलकती है।

2. आवारा एवं चरित्रहीन युवक—इस नाटक में अशोक के कार्यकलापों से पता चलता है कि वह एक आवारा एवं चरित्रहीन युवक है। वह घर को घर न समझकर तीन-तीन दिन तक घर से गायब रहता है लड़कियों के पीछे जूती चटकाता फिरता है। पढ़ाई की किताबों से नाता तोड़कर अश्लील किताबें पढ़ता है अभिनेत्रियों के अश्लील चित्र जमा करने का उसे विशेष शौक है। बिन्नी के शब्दों में, वह सेंटर वाली के पीछे भागता है और घर की अनेक वस्तुएँ उसे भेंट कर चुका है। अश्लील पुस्तकें पढ़ने के आरोप में पकड़े जाने पर भी वह अपनी हठता का परिचय देता है। यथा—

छोटी लड़की—झूठ बिल्कुल झूठ। मैंने देखी भी नहीं यह किताब।

लड़का—नहीं देखी?

छोटी लड़की—तू तकिए के नीचे रखकर सोए, तो भी कुछ नहीं, मैंने जरा निकालकर देख भर ली तो.....।

पुरुष एक—मैं देख सकता हूँ?

लड़का—नहीं .... आपके देखने की नहीं है। अब फिर पूछों मुझसे कि इसकी उम्र कितने साल की है।

बड़ी लडकी—क्यों अशोक ..... यह वही किताब है न कैसनीवा वाली?''

इसके साथ-साथ वह अपनी माँ की जरा सी भी इज्जत नहीं करता है एवं अपने आवारापन के कारण पढ़ाई एवं नौकरी दोनों में असफल है।

3. अशिष्ट एवं विद्रोही युवक—अशोक के माध्यम से मोहन राकेश ने आज के युवा वर्ग की अशिष्टता एवं विद्रोहीपन को चित्रित किया है। माँ सावित्री के चारित्रिक पतन एवं पिता की महत्तवहीन स्थिति ने अशोक की मानसिकता को विद्रोही एवं अशिष्ट बना दिया है अपने पारिवारिक तनावपूर्ण सम्बन्धों से उसके अन्दर खीज एवं विद्रोह की प्रवृत्ति पनपती है। वह अपने घर के परिवेश में विद्रोही हो जाता है। इसी विद्रोहीपन के कारण उसके व्यवहार में भी अशिष्टता आ गई है। अशोक के विद्रोह एवं अशिष्टता का एक उदाहरण देखिए।

''**लड़का**—मतलब वहीं जो मैंने कहा है। आज तक जिस किसी को बुलाया है तुमने किस वजह से बुलाया है?

स्त्री—तू क्या समझता है, किस वजह से बुलाया है?

लड़का—उसकी किसी बड़ी चीज की वजह से। एक को कि वह इंटेलेक्युअल बहुत बड़ा है। दूसरे को कि उसकी तनख्वाह पाँच हजार है। तीसरे को कि उसकी तख्ती चीफ कमिश्नर की है। जब भी बुलाया है, आदमी को नहीं—सकी तनख्वाह को नाम को रूतबे को बुलाया है।

स्त्री—और मैं उन्हें इसलिए बुलाती हुँ कि—

लड़का—पता नहीं किसलिए बुलाती हो पर बुलावा सिर्फ ऐसे ही लोगों को ही। अच्छा, तुम्हीं बताओं, किस लिए बुलाती हो?

अत: कहा जा सकता है कि अशोक के चरित्र में विद्रोह का भाव अपनी तमाम विद्रूपताओं के साथ प्रकट हुआ है।

4. आधुनिक विचारधारा का फैशनपरस्त युवक—इस नाटक में अशोक आधुनिक विचारधारा के फैशनपरस्त युवक के रूप में चित्रित है। वह पाश्चात्य संस्कृति में अंधानुकरण से भौतिकता से जुड़ा नवयुवक है। वह आधुनिकता के आवरण में अपने बड़ों की इज्जत करना भूल गया है तथा नित बदलते फैशनों को अपनाता है। वह शरीर से दुबला-पतला है किन्तु फैशन की तरफ उसमें विशिष्ट आकर्षण है। नाटककार ने उसकी वेशभूषा के बारे में लिखा है—

''पतलून के अन्दर दबी भड़कीली बुशर्ट धुल-धुलकर घिसी हुई।''

जब बिन्नी उससे शेव न बनाने का कारण पूछती है, तो वह इस प्रकार से कहता यथा—

''**बड़ी लड़की**—शेव करना छोड़ दिया है क्या तूने?

लड़का—(अपने चेहरे को छूता हुआ) मैं फ्रेंचकट रखने की सोच रहा हूँ। कैसी लगेगी चेहरे पर?

इतना ही नहीं वह अपनी फैशनपरस्ती में पत्रिकाओं से नये-नये फैशनों के बारे में जानकारी प्राप्त करता है।

5. बेरोजगार एवं दायित्वहीन युवक—अशोक एक बेरोजगार दायित्वबोधहीन युवक है। वह अपनी नौकरी को अपनी दायित्वहीनता के कारण छोड़ देता है। एयरफ्रीज में मिली नौकरी को वह अपनी अकर्मण्यता के कारण छोड़ देता हैं इसके अलावा वयस्क होने पर भी वह अपने घर के प्रति जरा भी चिन्तित नहीं है। वह विदेशी मैग्जीनों से तस्वीर काट-काटकर अपना खाली समय काट रहा है।

नाटक के प्रारम्भ में ही सावित्री अशोक की कारगुजारी पर प्रकाश डालते हुए कहती है—'और अशोक बाबू यह कमाई करते रहे हैं दिन भर। (तस्वीरें उठाकर देखती) एलिजाबेथ टेलर .... आड्रहेबर्न.... शैल मैम्लेन। जिन्दगी काट रहे हैं इन तस्वीरो के साथ।'' इस सन्दर्भ में डॉ. सुन्दर लाल कथूरिया का कथन है—

''वह अपनी इक्कीस वर्षीय आयु में ही, जब उसे अपने पैरों पर चलना चाहिए था, विरक्त होकर अथवा निरूपाय अवस्था में निकम्मा हो बैठता हैं उसकी सहानुभूति पिता महेन्द्रनाथ के प्रति शायद इसलिए है कि उन दोनों की प्रवृत्ति में कहीं गहरी समानता है। उसके क्रिया-कलापों में अभिनेत्रियों की तस्वीरें काटना, यौन-विषयक पुस्तकों को पढ़ने आदि में जहाँ यौवन के एक यथार्थ को अभिव्यक्ति मिलती है वहाँ अनेक यथार्थ निकम्मेपन की आड़ में दब भी जाते हैं।''

अत: निष्कर्षत कहा जा सकता है कि अशोक आज की युवा पीढ़ी का प्रतिनिधि है। चेहरे पर हँसी के साथ ही युवा पीढ़ी की बेचैनी, दु:ख, हैरानी, अस्वीकार, पलायन ओर आक्रोश भी व्यक्त होता है। अपने को बेकार और आवारा सिद्ध करता है। परिवार के तनाव, विद्रोह और उबाऊ सन्दर्भों के कारण अशोक के व्यक्तित्व में भी नकारात्मक तत्त्व आ गए हैं।

डॉ० जयदेव तनेजा ने अशोक के चरित्र की गुण-दोष की विवेचना करते हुए स्पष्ट लिखा है—''लड़के अशोक के चेहर की हँसी से झलकती कड़वाहट आज की युवा पीढ़ी की पीड़ा अस्वीकार, पलायन और आक्रोश तथा आन्तरिक तनाव को अपनी तेजावी से प्रकट करती हैं इक्कीस वर्षीय अशोक चलना शुरू करने से पहले ही विरक्त और निकम्मा होकर बैठ गया है। उसकी प्रच्छन्न सहानुभूति पिता के प्रति (क्योंकि शाय उन दोनों में ही गहरी समानता है) और माँ के प्रति प्रकट वितृष्ण एवं असहमति है। काम-काज और जीवन के यथार्थ से मुँह मोड़कर अभिनेत्रियों की तस्वीरों, यौन-विषयक पुस्तकों और वर्णा से रोमांस के बीच जिन्दगी बिता रहा है।''

11.12.3 बड़ी लड़की अथवा बिन्नी—इस नाटक में बड़ी लड़की अर्थात् बिन्नी की एवं महत्त्वपूर्ण भूमिका है। वह महेन्द्रनाथ एवं सावित्री की बड़ी लड़की तथा अशोक एवं किन्नी की बड़ी बहन है नाटककार ने उसका परिचय इस प्रकार दिया है—''उम्र बीस से ऊपर नहीं। भाव में परिस्थितियों से संघर्ष क अवसाद और उतावलापन। कभी-कभी उम्र से बढ़कर बड़प्पन। साड़ी माँ से साधारण। पूरे व्यक्तित्व में एक बिखराव।''

बिन्नी अपनी मर्जी से अपनी माँ के प्रेमी मनोज से शादी करने पर भी विवाहित जीवन की खुशियों से वंचित है। मनोज के साथ रहते हुए भी अलगाव-बोध से पीड़ित है सावित्री द्वारा पूछने पर वह स्पष्ट कहती कि, ''शादी से पहले मुझे लगता था कि मैं मनोज को अच्छी तरह जानती हूँ पर अब आकार लगने लगा है कि वह जानना बिल्कुल जानना नहीं था।''

बिन्नी के विषय में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसकी स्थिति नाटक की मूल समस्या का उद्घाटन करने में बहुत सहायक है। वह अपने परिवार की स्थिति को अपने संवादों एवं व्यवहार से स्पष्ट करती है। अप माता-पिता के आपसी सम्बन्धों के खोखलेपन और पारिवारिक परिवेश की कटुता को स्पष्ट करते हुए व पुरुष चार अर्थात जुनेजा को बताती है—

''आप शायद सोच भी नहीं सकते कि क्या-क्या होता रहा है यहाँ। डैडी का चीखते हुए ममा के कप तार-तार कर देना उनके मुँह पर पट्टी बाँधकर उन्हें बंद कमरे में पीटना .... खींचते हुए गुसलखाने में कमो पर ले जाकर ... (सिहरन) मैं तो बयान भी नहीं कर सकती कि कितने-कितने भयानक दृश्य देखे हैं इस घर मैंने।'' बिन्नी की चारित्रिक विशेषताएँ इस नाटक में निम्नलिखित रूप में उभर कर आई है—

1. आवारा एवं हताश युवती—बिन्नी के चरित्र में अपनी माँ सावित्री की भाँति ही आवारापन दिखाई देता है। यह आवारापन सम्भवत: उसके अन्दर अपने माता-पिता के आवारापन को देखकर ही उप है। वह अपनी माँ के प्रेमियों को प्रत्यक्ष रूप से घर में आता-जाता देखती थी। एक दिन स्वभावत: अपने घर आने वाले मनोज नामक युवक के प्रति वह भी आकर्षित हो जाती है और एक रात बिना घर वालों को बत वह मनोज के साथ भाग जाती है—एक नया घर बसाने। वह घर तो बसा लेती है किन्तु वहाँ खुश नहीं रह पा क्योंकि एक व्यक्ति से आजीवन सम्बद्ध हो जाना तो उसने सीखा ही नहीं था। उसकी माँ ही जब एक व्यक्ति सम्बन्ध न रख सकी तो वह कैसे रह पाती। और भागकर अपने पिता के घर आ गई। इस प्रकार उसके चरित्र आवारापन के साथ ही हताशा भी घर कर गई। उसकी निराशा का चित्रण निम्नलिखित संवाद से होता है—

"**स्त्री**—तू खुश है वहाँ पर?

बड़ी लड़की—(बचते स्वर में) हाँ ऽऽ बहुत खुश हूँ।

स्त्री—सचमुच खुश है?

बड़ी लड़की—और क्या ऐसे ही कह रही हूँ?

पुरुष एक—(बिल्कुल दूसरी तरफ मुँह किए) यह तो कोई जवाब नहीं है।

बड़ी लड़की—(तुनककर) तो जवाब क्या तभी होता अगर मैं कहती कि मैं खुश नहीं हूँ, बहुत दुखी हूँ?" घर के कुण्ठित और विषैले वातावरण से मुक्ति के लिए वह मनोज के साथ भाग जाती है, किन्तु अपने नये जीवन को स्वाभाविक नहीं बना पाती। यही बिन्नी का आवारापन है और इसी आवारापन के कारण अपने नये घर में दमघोटू वातावरण, अपरिचय, अजनबीपन से हताश एवं निराश है।

2. पारिवारिक-यन्त्रणाओं से पीड़ित—बिन्नी जिस परिवार में पली और पड़ी हुई है। वह इतना अनुशासनहीन एवं चरित्रहीन परिवार है कि बिन्नी को संस्कारागत आदर्श मिल नहीं पाते हैं। बिन्नी ने विघटनशील परिवार के विघटन को प्रत्यक्ष रूप से झेला है। पिता महेन्द्रनाथ के रूप में कभी दब्बूपन देखती है तो कभी अपने उसी पिता का राक्षसी रूप। माँ सावित्री की महत्वाकांक्षाओं से उसे वह आवारापन की शिक्षा-दीक्षा मिली है। अपने घर को वह चिड़ियाघर मानती है। वह अपने घर के दमघोटू एवं भयावह वातावरण का खुलाषा जुनेजा अंकल के सामने करती है—

"आप शायद सोच भी नहीं सकते कि क्या-क्या होता रहा है यहाँ। डैडी का चीखते हुए ममा के कपड़े तार-तार कर देना उनके मुँह पर पट्टी बाँधकर उन्हें बन्द कमरे में पीटना....खींचते हुए गुसलखाने में कमोड पर ले जाकर...(सिहरकर) मैं तो बयान भी नहीं कर सकती कि कितने-कितने भयानक दृश्य देखे हैं इस घर मैं मैंने।"

इतना ही नहीं घर में उससे छोटे अशोक और किन्नी भी उसका सम्मान नहीं करते हैं।

प्रेमी मनोज के संग भागकर नया घर बसाती है तो यहाँ भी पारिवारिक यातनाएँ उसका पीछा नहीं छोड़ती हैं। उसका दाम्पत्य जीवन सुखी नहीं है। वह मनोज को छोड़कर वापस उसी घर के विषाक्त वातावरण में आने के लिए मजबूर है। वह मानती है कि वह इस घर से कुछ ऐसी चीज या हवा ले गई है जो उसे सहज नहीं रहने देती है।

3. बिखराव भरा व्यक्तिव—पारिवारिक विघटन अजनबीपन कुण्ठा एवं अलगाव-बोध ने बिन्नी के व्यक्तित्व को कुचल कर रख दिया है। सम्पूर्ण नाटक में उसके चेहरे पर अवसाद तथा उतावलापन झलकता है। वह कभी युवाओं की तरह चंचल होकर मनोज के साथ घर से भाग जाती है और कभी प्रौढ़ों की तरह अपने परिवार के सदस्यों को शिक्षाप्रद सांत्वना देती है। अपने इस बिखराव को दूर करने अथवा उससे मुक्ति पाने के लिए बिन्नी कभी मनोज से लड़ पड़ती है। कभी उनसे दूर रहना चाहती है, कभी उसकी इच्छा के विरूद्ध नौकरी कर लेना चाहती हैं उसके मन में गुबार फट नहीं पाते, अपनी माँ से अपने इस बिखराव को वह इन शब्दों में व्यक्त करती है—

"एक गुबार सा है जो हर वक्त मेरे अन्दर भरा रहता है और मैं इंतज़ार में रहती हूँ जैसे कि कब कोई बहाना मिले जिससे बाहर निकल लूँ।...क्योंकि मुझे कहीं लगता कि .... कैसे बताऊँ क्या लगता है? वह

(मनोज) जितने विश्वास के साथ यह बात करता है, उससे...उससे मुझे अपने से एक अजब-सी चिढ़ लगती है। मन कहता है—मन करता है कि आस-पास की हर चीज को तोड-फोड डालूँ।

बिन्नी का यह बिखराव उसके व्यक्तित्व को अधूरा बना देता है। वह मनोज से सच्चा प्यार करके उसके साथ अजनबीपन महसूस करती है। उसके मन की यही अशान्ति उसके दु:खों को मूल कारण बनती है

4. पारिवारिक रिश्तों में संवदेनशीलता—बिन्नी के चरित्र का सबसे उज्जवल पक्ष यह है कि पारिवारिक रिश्तों में अत्यन्त संवेदनशील है। वह अपने माता-पिता, भाई-बहन एवं पति मनोज के साथ ग रूप से जुडी है। माता-पिता के घर का तनाव उसे खलता है। वह घर के दमघोटू वातावरण से भागी जरूर परन्तु उसे अपने परिवार के सभी सदस्यों से बहुत लगाव है। बिन्नी खुद अपने दाम्पत्य जीवन की एक रसत तनाव पूर्ण है। फिर भी अपने माता-पिता का तनाव कम करना चाहती है। वह अपनी माँ की सहेली ज बनकर उसके तनाव को कम करना चाहती है यथा—

"**बड़ी लड़की**—(उसके पीछे जाकर) ममा!

तुम तो आदी ही रोज-रोज ऐसी बातें सुनने की। कब तक इन्हें मन पर लाती रहोगी।

(उसकी तरफ आती) एक तुम्हीं करने वाली हो सब कुछ इस घर में। अगर तुम्हीं पिता के प्रति उसकी सहानुभूति है। वह अपने भाई-बहन को ममता एवं शिक्षा देती हैं परन्तु उसकी विडम्बना यह है कि अपने परिवार को तनाव एवं घुटन से मुक्ति दिलाने में कोई कारगर भूमिका नहीं निभा पाती है। वस्तुत: उस एक भूल ने उसको संघर्ष की जड़ बना दिया है।

अत: कहा जा सकता है कि पारिवारिक परिस्थितियों ने बिन्नी जैसी सुशिक्षित युवती को चंचल हठ आवारा कुण्ठित एवं बिखरे व्यक्तित्व की स्वामिनी बना दिया है। पारिवारिक यन्त्रणाओं से अभिशप्त इस यु के पूरे व्यक्तित्व में बिखराव एवं अधूरापन दिखाई देता है। परन्तु अपने इस बिखरे व्यतित्व में भी पारिवारिक रिश्तों में अत्यन्त संवेदनशील है। अपने आप टूटकर अपने परिवार को बचाए रखने की कोशि उसके चरित्र का उज्जवल पक्ष है।

11.12.4 सावित्री—सावित्री 'आधे-अधूरे' नाटक की प्रमुख एवं सशक्त पात्रा है। वह नाटक में प्रा से लेकर अन्त तक विद्यमान रहती है तथा नाटक की सभी घटनाओं के मूल में वहीं है। नाटक के अन्य स पात्र उससे सम्बन्धित है तथा फलभोक्त्री भी वहीं सिद्ध होती है। अत: निर्विवाद रूप से नाटक की नायिका उसके बहिरंग व्यक्तित्व का चित्रांकन नाटककार ने इस प्रकार से किया है—"उम्र चालीस को छूती। चेहरे यौवन की चमक और चाह फिर भी शेष। ब्लाऊज और साड़ी साधारण होते हुए भी सुरुचिपूर्ण। दूसरी स विशेष अवसर की।"

सावित्री इस नाटक की सबसे अधिक विवादास्पद एवं सशक्त पात्रा है। सावित्री का दोहरा व्यक्तित्व एक घर के भीतर और दूसरा बाहर। घर में उसे अपने पति व बच्चों की देखभाल, चिन्ता करनी हैं बाहर उस अपने बॉस से संबंध बनाए रखना तथा अपने बेटे की नौकरी के लिए पर-पुरुषों से संबंध रखना। लेकिन य उसके बेटे को पसंद है न पति को। आज का ज़माना सिफारिश और पैसों का है। सावित्री की त्रासदी ही य कि घर में दो पुरुषों के होने पर भी उसे ही बाहर के आदमियों से निपटना पड़ता है। सावित्री के निमंत्रण पर आए मेहमानों का बेटा मजाक उड़ाता है तो पति घर से गायब रहता है। वह तंग आकर एक दिन बेटे से देती है—'अगर उसे यह पसन्द नहीं तो वह आज से उसे लिए कोशिश करना बन्द कर देगी।' अगर बाप— को सावित्री का यह रूप पसंद नहीं तो वे उसकी नौकरी छुड़वाकर स्वयं जा सकते हैं। यह काम वे करना

चाहते और उसे ताने देने से भी नहीं चूकते। 'आधे-अधूरे' में नारी की इस मनोव्यथा का यथार्थ चित्रण हुआ है। आखिर अपने परिवार के लिए इतना खपकर सावित्री को क्या मिला? वही अपमान ताने व्यंग्य आदि। उसकी आदतें उन्हें पसंद नहीं थी पर वे फिर भी चुप थे क्योंकि उसी से घर का खर्चा चल रहा था।

कहा जाता है कि गृहलक्ष्मी से ही घर स्वर्ग बनता है। अगर वह उच्छृंखल हुई तो अच्छा खासा घर भी नरक बन जाता है। आधुनिक विचारों वाली शिक्षित एवं नौकरीपेशा नारी भी अपने घर को स्वर्ग बना सकती है, यदि वह खोखली एवं अर्थहीन महत्वाकांक्षा में न पड़कर अपने व्यक्तित्व को संयमित बनाए रखे। अगर वह झूठे दिखावे, अर्थहीन स्वाभिमान कोरी चपलता से दिग्भ्रमित हो जाए, तो भले ही वह तितली बन जाएगी पर गृहिणी कदापित नहीं बन सकती। 'आधे-अधूरे' नाटक में सावित्री एक ऐसी गृहिणी है जिसका भरा-पूरा परिवार तो है पर वह उस परिवार को घर नहीं बना पाती। वह दीन-हीन और आत्मसमर्पण वाली नारी न होकर अपने अहं और स्वाभिमान को सुरक्षित रखने वाली स्वावलम्बी स्त्री है। सारे परिवार के बोझ को ढोती वह अपनी मर्जी अपनी इच्छाओं को सब पर लादने की क्षमता रखती है। क्योंकि वह परिवार का आर्थिक केन्द्र बिन्दु है—अन्य सभी उस पर आश्रित है। आर्थिक रूप से परिवार की पोषिका होने के कारण वह अपनी उच्छखल महत्वाकाक्षाओं को जबर्दस्ती परिवार को थोपती और पूरे परिवार के विघटन का कारण बनती है। अत: नाटक में सावित्री की प्रमुख रूप से निम्नलिखित चारित्रिक विशेषताएँ उभर कर सामने आती है—

1. कर्त्तव्य बोध युक्त नारी—नाटक में महेन्द्रनाथ तो कर्त्तव्यपथ से विचलित है। परन्तु सावित्री नाटक में कर्त्तव्यपरायण नारी के रूप में दृष्टिगोचार होती है। सतपत्री कठोर परिश्रम करके उपने बेकार-बेगार पति महेन्द्रनाथ और अपने बाल-बच्चों का भरण-पोषण करती हैं नाटक के प्रारम्भ में ही वह लदी-थकीहारी घर में प्रवेश करती है। नाटककार का कहना है—"स्त्री (सावित्री) कई-कुछ सँभाले बाहर आती है। कई-कुछ में कुछ घर का है, कुछ दफ्तर का है, कुछ अपना। चेहरे पर दिन-भर के काम की थकान है और इतनी चीजों के साथ चलकर आने की उलझन। आकार सामान कुर्सी पर रखती हुई पूरे कमरे पर एक नजर डाल लेती है।" इस प्रकार एक ओर तो सावित्री परिवार के लिए अर्थार्जन करती है। तो दूसरी तरफ बाल-बच्चों की जिम्मेदारी-दायित्व को भी अपने दुर्बल कन्धों पर दृढ़ता से सँभाले हुए है। अपने पुत्र अशोक, पुत्री बिन्नी-किन्नी के विकास-सुख-सुविधा के लिए भी चिन्तित है। इस घर का कुछ बन जाए, इसलिए भी वह भरसक प्रयास करती हैं। इसी हेतु वह अपने बॉस सिंघानियाँ को घर पर आमन्त्रित करती है। और अपने बच्चों को भविष्य एक परिवार की आर्थिक दशा सुधारने के लिए अपने चरित्र को भी पतन की गर्त में गिरा देती है।

डॉ सुन्दर लाल कथरिया का कहना है—"सावित्री उस आधुनिक नारी का प्रतिनिधित्व करती है जिसका पति महेन्द्रनाथ निठल्ला है। फलत: वह परिवार के संचालन का बोझ ढ़ोती है। उसे अपने बेटे की नौकरी और बेटी के सुख की चिन्ता है। परिवार की आर्थिक अन्यवस्था और उसे उत्पन्न तनाव से वह दिनोंदिन कटु होती जाती है। परिवार के लिए दिन-रात जुटे रहकर भी वह उपेक्षा और तिरस्कार पाती है।

2. महत्त्वाकांक्षी आधुनिक नारी—'आधे-अधूरे' नाटक में सावित्री एक महत्त्वाकक्षी नारी के रूप में दृष्टिगोचर होती है। महेन्द्रनाथ सावित्री की महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने में असमर्थ है। अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति हेतु वह अन्य पुरुषों का अवलम्बन पाकर घर में विषैले वातावरण से मुक्त होने का प्रयत्न करती है। किन्तु उसके जीवन में आने वाले सभी पुरुष-जुनेजा, शिवजी, जगमोहन और मनोज-अपनी किसी-न-किसी दुर्बलता से अपूर्ण सिद्ध होते हैं। आगे का मार्ग बन्द पाकर जब वह अतीत में लौटकर एक नई जिन्दगी अपनाने के संकल्प से जाती है, तो वहाँ भी जगमोहन बच्चों के भविष्य की आड़ में अपना दामन छुड़ा लेता है। वह पुन: ढही हुए संकल्पों की रेत में लौट आती है। कितनी त्रासदायक बन जाती है जिन्दगी, जब व्यक्ति चाहकर अपनी परिस्थितियों से मुक्त न हो पाए, ज्ब अतीत और अविष्य वर्तमान के अंधेरे में खो चुके हो। अपूर्णता के इस

संसार में पूर्णता की अपेक्षा करना अपने साथ दूसरों के जीवन में विष घोलने के समान है। नाटक के अन्त में आने वाला जुनेजा सावित्री के जीवन की इसी वास्तविकता पर प्रकाश डालता है। कि चारों पुरुषों में से कोई भी पुरुष उसका पति होता तो भी उसकी निराशा का स्वरूप यही होता। जुनेजा के निम्न संवाद सावित्री के अवचेतन का प्रतिबिम्ब है—"क्योंकि तुम्हारे यहाँ जीने का मतलब रहा है...कितना कुछ एक साथ ओढ़कर जीना।" नाटककार का कहना है—"जब भी बुलाया है, आदमी को नहीं, उसकी तनख्वाह को, नाम एवं रूतबे को बुलाया है।" प्रारम्भ में महेन्द्रनाथ एक समृद्ध व्यापारी था, इसी हेतु सावित्री उससे विवाह करती है। महेन्द्रनाथ स्पष्ट कहता है—उन दिनों इस घर का खर्च बहुत अधिक था तथा सावित्री को खुश करने के लिए वह चार सौ रुपए महीना के किराए पर बड़ी-बड़ी कोठियाँ लेता है, किस्तों पर फ्रीज खरीदता है और आना-जाना भी टैक्सियों में होता तथा बच्चों को कॉन्वेट जैसे महँगे स्कूलों में पढ़ाया जाता है।" परन्तु अब सावित्री अपनी इच्छाओं की पूर्ति हेतु विपथगामिनी बन जाती है।

अत: कहा जा सकता है कि सावित्री उस आधुनिक नारी का प्रतिरूप है जो अपनी महत्तवाकांक्षाओं और इच्छाओं की पूर्ति हेतु पर-पुरुषों से अनैतिक संबंध बनाकर भारतीय नारी के आदर्श एवं एक गरिमा को ठेस पहुँचाती है तथा अपने परिवार के विघटन का कारण बनती है।

3. भौतिक सुख-सुविधा भौतिक भोगिनी नारी—सावित्री वास्तव में एक सुविधा भोगिनी नारी है। वह केवल अपनी सुविधाओं पर ध्यान देती है। वह यह भी नहीं सोचती कि उसकी भोगवादिता परिवार पर घुन लगा रही है। वह कामुक और सुविधाजीवी नारियों का ही प्रतिनिधित्व करती है। अपना पति उसे आधा—अधूरा लगता है क्यों? इसलिए कि वह उसमें अपना एक मादा, अपनी एक शख्सियत नहीं देखती। वह आदमी में कई चीजें एक साथ देखना चाहती है—पद भी व्यक्तित्व भी, वैभव भी और एक पूरा आदमी भी। सावित्री के साथ विवाह के समय महेन्द्रनाथ एक सफल एवं समृद्धशाली व्यापारी था और सावित्री की इच्छाएँ असीम, अनन्त और अपार थी लेकिन महेन्द्रनाथ की नासमझी और ऐय्याशी प्रवृत्ति ने सारे धन को लुटा दिया, जिसके कारण सावित्री की इच्छाओं पर तुषारापात हो गया। सावित्री को कठोर परिश्रम करके अब पूरे परिवार का पालन—पोषण करना पड़ता है और अपने सुखों के प्रति ललक के कारण ही वह जगमोहन के साथ घर छोड़ने के लिए तत्पर है।

सुप्रसिद्ध रंगशिल्पी **ओम शिवपुरी** का कहना है—"महेन्द्रनाथ सावित्री से बहुत प्रेम करता है। सावित्री भी उसे चाहती रही होगी लेकिन ब्याह के बाद महेन्द्रनाथ को बहुत निकट से जानने पर उसे उससे वितृष्णा होने लगी, क्योंकि जीवन में सावित्री की अपेक्षाएँ बहुमुखी और अनन्त है।" नाटक में पुरुष चार अर्थात् जुनेजा स्त्री की उच्च महत्त्वाकांक्षाओं और मृग तृष्णा और उसके अन्तर्विरोध को प्रकट करते हुए कहता है—

"**पुरुष चार**—असल बात इतनी है कि महेन्द्र की जगह इनमें से कोई भी आदमी होता तुम्हारी जिंदगी में तो साल-दो-साल बाद, तुम यही महसूस करती कि तुमने गलत आदमी से शादी कर ली है। उसकी जिंदगी में भी ऐसे ही कोई महेन्द्र कोई जुनेजा कोई शिवजीत या कोई जगमोहन होता जिसकी वजह से तुम यही सब सोचती यही सब महसूस करती। क्योंकि तुम्हारे लिए जीने का मतलब रहा है—कितना-कुछ एक साथ होकर कितना-कुछ एक साथ पाकर और कितना कुछ एक साथ ओढ़कर जीना। वह उतना-कुछ कभी तुम्हें किसी एक जगह न मिल पाता इसलिए जिस-किसी के साथ भी जिन्दगी शुरू करतीं, तुम हमेशा इतनी ही खाली इतनी ही बेचैन बनी रहती।

4. दाम्पत्य जीवन से असन्तुष्ट नारी—सावित्री अपने दाम्पत्य जीवन से असन्तुष्ट है। वह अपने पति महेन्द्रनाथ के निठल्लेपन, पराश्रित एवं दब्बूपन के कारण उसे पति रूप में पाकर सन्तुष्ट नहीं है। विवाह से पूर्व

महेद्रनाथ एक सफल और धनाढ्य व्यापारी था लेकिन उससे विवाह के बाद सारा पैसा ऐय्याशी में उड़ा दिया जिसके कारण परिवार का जीवन में सुखों के प्रति गहरी ललक थी और उसकी इच्छाएँ भी असीम और अनन्त थी। लेकिन अब उसकी इच्छाएँ पूरी नहीं हो सकती थी, वह महेन्द्रनाथ को आधा-अधूरा मानकर उसके लिए कभी भी पत्नी-प्रेम का समर्पण नहीं कर पाई। इतना ही नहीं क्षुब्ध हालत में तो वह अपने-आप को महेन्द्र की पत्नी मानने से भी इनकार करती है—

"मत कहिए मुझे महेन्द्र की पत्नी। महेन्द्र भी एक आदमी है, जिसके अपना घर-वार है, पत्नी है, यह बात महेन्द्र ने ब्याह क्या किया, आप लोगों की नजर में आप का ही कुछ आपसे छीन लिया। महेन्द्र अब पहले की तरह हँसता नहीं। महेन्द्र अब दोस्तों में बैठकर पहले की तरह खिलता नहीं। महेन्द्र अब वह पहले वाला महेन्द्र नहीं रह गया। और महेन्द्र ने जी जान से कोशिश कि वह वही बना रहे किसी तरह। कोई यह न कह सके जिससे कि वह पहले वाला महेन्द्र नहीं रह गया और उसके लिए महेन्द्र घर के अन्दर रात-दिन छटपटाता है। दीवारों से पटकता है। बच्चों को पीटता है। बीवी के घुटने तोड़ता है।"

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि सावित्री दाम्पत्य जीवन से कितनी असन्तुष्ट थी। विवाह के दो वर्ष के भीतर ही महेन्द्रनाथ सावित्री को एक पूरे आदमी का आधा-चौथाई से भी कम, एक लिजलिजा ओर चिपचिपा आदमी लगने लगता है और पूरे आदमी की तलाश में उसके सामने सबसे पहले आता है—महेन्द्र का मित्र जुनेजा, जो पैसे और दबदबे वाला एक काइयाँ व्यक्ति है। जुनेजा के साथ कोई मार्ग न मिल पाने के कारण उसकी दृष्टि क्रमशः शिवजीत, जगमोहन, मनोज एंव सिंघानिया जैसे पर—पुरुषों पर पड़ती है। वह उनके साथ अपने बाकी जीवन को बिताने की असफल कोशिश करती है।

5. विपथ गामिनी एवं अहंकारी महिला—सावित्री इस नाटक में एक ऐसी कामुक और विपथगामी आधुनिक महिला का प्रतिनिधित्व करती है जो अपनी सुविधाओं के मोह में यहाँ-से-वहाँ भटकती है किन्तु उसे हर पुरुष एक जैसा मिला जिसने उसे निचोड़ा, रस लिया और फिर निचुड़ी स्थिति में या तो उसकी लड़की को रात के अँधेरे में भगा ले गया या फिर उसे सहानुभूति के दो-चार शब्द कहकर दुत्कार दिया।

अपनी महत्त्वाकांक्षाओं और काल्पनिक पूरे पन की तलाश में वह भारतीय नारी के समस्त आदर्शों को सूली पर चढ़ाकार पाँच-पाँच पुरुषों से अनैतिक सम्बन्ध बनाती हैं ऊँचे पद तनख्वाह और व्यक्तित्व के लिए अपने पतिव्रत रूप को त्याग कर विपथगामिनी बनती हैं तथा अपने परिवार की घुटन-टूटन का कारण बनती है।

इसके साथ-साथ वह स्वावलम्बी एवं कमाऊ महिला है और उसकी पति निठल्ला, बेकार, बेगार है। जिसके कारण वह अहं भाव से युक्त हो गई है। वह चाहती है कि इस घर में जो कुछ भी हो वह उसी की इच्छा के अनुरूप हो। वह इतनी अहंकारी महिला है कि अपने पति महेन्द्रनाथ को भी पति स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। वह स्पष्ट कहती है—'मत कहिए मुझे महेन्द्र की पत्नी।' वह पग-पग पर महेन्द्र के गृहपतित्व को चुनौती देती है—

"**पुरुष एक**—पर बात तो मेरे ही घर की हो रही है।

स्त्री—तुम्हारा घर। हुँह।

पुरुष एक—तो मेरा घर नहीं है यह? कह दो नहीं है।

स्त्री—सचमुच तुम अपना घर समझते इसे, तो।"

वह अपने पति महेन्द्रनाथ के मैले पाजामें को इस प्रकार उठाती है जैसे मरा हुआ जानवर। वह महेन्द्रनाथ को पाजामें, चाय की जूठी प्यालियों आदि के लिए भी डाँटती है।

वह इतनी जिद्दी हठीली एवं अहंभाव से युक्त महिला है कि पुरुष चार (जुनेजा) के याद दिलाने उसके समक्ष अपनी हठी का प्रदर्शन करते हुए महेन्द्रनाथ को अपने ही पास रख लेने को कहती है। वह पुरु की इस साजिश के प्रति क्षुब्ध हो उठती है और कहती है—"आप जाइए और कोशिश करके उसे हमेशा लिए अपने पास रखिए। इस घर में आना और रहना सचमुच उसके हित में नहीं। और मुझे भी....मुझे भी अ पास उस मोहरे की बिल्कुल-बिल्कुल जरूरत नहीं है। जो न खुद चलता है और न किसी और को चलने दे है।

6. यन्त्रणाओं की शिकार—इस नाटक में सावित्री का इतना फ्लर्ट (आवारा) होना एक मनोवैज्ञानि कारण भी रखता है। यह ठीक है कि वह अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की मृग तृष्णा में वह पद, सम्मान, वैभव ए पूरे आदमी की तलाश में भटकी है। परन्तु महेन्द्रनाथ के व्यवहार, उसकी परमुखपेक्षिता, दब्बू प्रकृ निठल्लापन आदि की प्रतिक्रिया में वह मानसिक आघातों से पीड़ित हुई है तथा काल्पनिक पूरेपन की तलाश आवारा बनी है।

जीवन के हर मोड़ पर अपने पति की असफलताओं से क्षुब्ध सावित्री का नारीत्व विद्रोह करने लगता वह अपने पति के रूप में पूरे आदमी की तलाश की और यथोचित यंत्रणा झेलती है। महेन्द्रनाथ के व्यवहार ..... कई स्थलों पर स्पष्ट रूप से चित्रित किया हैं यथा—"फलाँ से तुम ठीक से बात क्यों नहीं करती? तु अपने को पढ़ी-लिखी कहती हो।.....तुम्हे तो लोगों के बीच न उनके बैठने की भी तमीज नहीं है....और ब महेन्द जो दोस्तों के बीच ..... मुस्कराता है, घर आकर एक दरिंदा बन जाता है।..... बोल, बो बोल चलेगी उस तरह कि नहीं जैसे ..... वह सब नहीं जो मैं कहता हूँ।" पर सावित्री फिर भी वैसे न चलती। वह सब कि नहीं मानती।

बड़ी लड़की बिन्नी के शब्दों में महेन्द्रनाथ का राक्षस रूप उभर कर सामने आता है। "आप शायद से भी नहीं सकते कि क्या-क्या होता रहा है यहाँ। डैडी का चीखते हुए ममा के कपड़े तार-तार कर देना.. उनके मुँह पर पट्टी बाँधकर उन्हें एक कमरे में पीटना.... खींचते हुए गुसलखाने के कमोड पर ले जाकर .. (सिहरकर) मैं तो बयान भी नहीं कर सकती कि कितने-कितने भयानक दृश्य देखे हैं इस घर में मैंने।

इस प्रकार सावित्री के चरित्र में आवारापन वर्तमान आर्थिक विसंगतियों, बढ़ती महत्त्वाकांक्षाओं और प के निठल्लेपन और पारिवारिक यन्त्रणाओं के कारण है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि सावित्री पूरे नाटक की केन्द्रीय पात्रा है। नाटक की समस्त कथावस्त उसके चारों तरफ घूमती है। नाटक की फलभोगिन भी वही है। अत: हम उसे नाटक की नायिका कह सकते है परिस्थितियों और महत्त्वाकांक्षाओं ने उसे भटकाया है। भटकाया ही नहीं छला पति भी है। कुल मिलाक सावित्री का चरित्र वर्तमान समाज में विवशतावंश नौकरी के बोझ से दबी मध्यवर्गीय नारी का प्रतिनिधित्व कर है। पति की आर्थिक असफलता घर के बोझ को पूर्णतया उस लाददेती है। घर की टूटती-बिखरती जिन्दगी ऊब कर पिछले बीस-बाईस सालों से अपनी कल्पना के एक पूरे आदमी की तलाश में इधर-उधर भागती है अपने मादे और अपनी शख्सियत वाले पूरे आदमी की तलाश में वह अधूरे आदमीयो से टकरा-टकरा क लौटती है और अपनी खीझ में चीखती-चिल्लाती, तार-तार होती है और उसी अधूरे पुरुष महेन्द्रनाथ के सा जीने के लिए मजबूर होती है।

सावित्री को 'आधे-अधूरे' नाटक में उस महत्त्वाकांक्षिणी आधुनिक नारी के रूप में प्रस्तुत किया गया जो पति की असमर्थता अथवा आर्थिक वैषम्य को उसका अधूरापन मानकर स्वयं अपने अधूरेपन को अन

पुरुषों के सम्बन्ध को पूर्ण होने का पूर्ण प्रयास करती है और वह पर-पुरुष आकर्षण उसके व्यक्तिव को ही तोड़कर रख देता है।

11.13 आधे-अधूरे : मूल्यांकन और आधुनिक जीवन के प्रश्न

आधुनिकता ने सामंतवाद से आगे जाकर एक नवीन दृष्टि का प्रतिपादन किया है—जिसे मोटे रूप में आधुनिक जीवन मूल्य कहा गया है। आधुनिक जीवन मूल्य से तात्पर्य ऐसी विचारप्रणाली व जीवन पद्धति से है जो समझ, समानता एवं विश्वबंधुत्व की बात करता हो। इस दृष्टि से जहाँ कहीं भी जींवत-पद्धति में असमानताएँ मिलने लगती है। वहाँ आधुनिक जीवन की विसंगतितीव्रगति से हमारे सामने दिखने लगती है! विसंगति, बिडम्बना, अन्तविरोध संत्रास जैसे पद आधुनिक जीवन की विसंगति ही है। ''आधे-अधूरे' नाटक आधुनिक जीवन विसंगति को केन्द्र में रख कर लिया गया नाटक है।

'आधे-अधूरे' की कथावस्तु के केन्द्र में नगरी-मध्यमवर्गीय परिवार व उसकी अतृप्त इच्छाएँ हैं। नाटक के केन्द्र में एक परिवार है। परिवार का प्रसार क्रमश: मध्यमवर्ग तक सिमट जाता है मध्यमवर्गीय-पारिवारिक विघटन की सारी समस्याएँ जो 'नई कहानी' के केन्द्र में थी, वह सब आधे-अधूरे में विस्तार-गहराई व तीव्रता से उठाई गई है। पारिवारिक विघटन नई कहानी के केन्द्र में था, आधे-अधूरे में वह विघटन और जटिल रूप धारण कर चुका है। यहाँ परिवार भी टूट रहा है लेकिन साथ लगाव भी है। प्रतिबद्धताएँ भी नहीं है, लेकिन मजबूरी भी है। यानी सामाजिक जीवन की जटिलता अपने अधूरेपन में व्यंग्यात्मक रूप से व्यक्त हुई है। सभी पात्र आधे-अधूरे हैं। अधूरेपन का एहसास व उसकी नियति आधुनिक जीवन समस्या है। अधूरेपन को व्यक्त करने के लिए नाटककार ने वर्ण्य विषय व पात्र चयन सब में प्रयोग किया है। सावित्री अधुरेपन का केन्द्रीय प्रतीक है। नाटक में अधूरेपन को व्यक्त करता संवाद देखिये—''पुरुष चार—असल बात इतनी ही है कि महेन्द्र की ज़गह इनमें से कोई भी आदमी होता तुम्हारी जिन्दगी में, तो साल-दो साल बाद, तुम यही महसूस करती कि तुमने गलत आदमी से शादी कर ली है।..... क्योंकि तुम्हारे लिए जीने का मतलब रहा है—कितना कुछ एक साथ होकर कितना-कुछ एक साथ पाकर और कितना-कुछ एक साथ ओढ़कर जीना। वह उतना-कुछ कभी तुम्हें किसी एक जगह न मिल पाता, इसलिए जिस-किसी के साथ भी जिंदगी शुरू करती, तु हमेशा इतनी ही खाली, इतनी ही बेचैन बनी रहतीं। ..... कह सकते हैं कि सावित्री का अधूरापन 'प्रक्षेपण' के माध्यम से व्यक्त किया गया है। सभी पात्र आधे-अधूरें हैं। इसलिए वे अपनी पूर्णता को दूसरों में खोजने का प्रयास कर रहा है।

11.14 आधे-अधूरे : चरित्र और समाज

किसी भी समाज की गति-परिवर्तन का संकेत उसके चरित्रों में माध्यम से मिलता है। चरित्र निर्माण की रात इसीलिए किसी भी समाज में काम्य होती है, क्योंकि उसके बिना न तो समाज उठ सकता है और न संस्कृति का संरक्षण ही हो सकता है। दूसरे शब्दों में चरित्र और समाज का संबंध अनिवार्य और परस्पर अन्योन्याश्रित है। इसी समझ के अनुसार साहित्य में चरित्रों की सृष्टि होती रही है। आदर्शवादी युग तक तो 'महनीय चरित्र' ही काम्य रहे लेकिन आधुनिकता के आगमन के पश्चात यथार्थवादी चरित्रों की सृष्टि पर बल दिया जाने लगा। यर्थाथवादी चरित्र अपने मूल रूप में 'आम आदमी' के करीब के चरित्र होते थे, जो प्राय: मनुष्य की मूल वृत्तियों से संचालित होते थे। क्रमश: इस प्रकार के चरित्र में भी क्रमश: दो वर्ग हो गये। एक प्रकार का चित्रण मुनष्य की संभावना और गतिशीलता को स्वीकार करता था तो दूसरे प्रकार का वर्ग मनुष्य के अवचेतन, मन, अतृप्ति यानी कुल मिलाकर सामाजिक दबाव तले जी रहे मनुष्य और उसकी

क्रिया-प्रतिक्रियाओं का ही चित्रण करता था। प्रथम प्रकार के वर्ग को प्रगतिशील या मार्क्सवादी पद्धति गया तो दूसरे प्रकार के वर्ग को अस्तित्ववादी, व्यक्तिवादी या मनोविश्लेषणवादी। समझ की दृष्टि से किया विश्लेषण ही इस संदर्भ में हमारी मदद कर सकता है क्योंकि ये वर्गीकरण स्थूल रूप से किए गये हैं। इ अतिरिक्त भी कई वर्गीकरण रहे हैं और कुछ ऐसे भी रहे हैं जिनमें परस्पर एक-दूसरे का मिश्रण भी हो गय नाटकीय चरित्र चित्रण विचारधारात्मक दबाव के बावजूद अपनी नाटकीय शर्तों की पूर्ति क्रम में अल स्वरूप प्राप्त कर लेता है। नाटकीय चरित्र-चित्रण में इसीलिए एक ओर जहाँ पात्र अपने व्यक्तिव प्रकटीकरण के लिए विचार का आश्रय लेता है वहीं दूसरी ओर नाटकीय भंगिमाओं का भी.....। आधे-अ नाटक की पात्र संख्या सीमित है। पात्रों में काले सूट वाला व्यक्ति, पुरुष एक, पुरुष दो, पुरुष तीन, पुरुष स्त्री (सावित्री), बड़ी लड़की, छोटी लड़की, लड़का इत्यादि पात्र ही है। इस नाटक का मुख्य पात्र कौन नाटक की प्रस्तावना में नाककार ने लिखा है—"नाट्क अंत तक फिर भी इतना ही अनिश्चित बना रहता यह निर्णय करना इतना ही कठिन होता है कि इसमें मुख्य भूमिका किसकी थी—मेरी, उस स्त्री परिस्थितियों की या तीनों के बीच से उठते हुए कुछ सवालों की?" स्पष्ट है यह नाटक परिस्थिति केन्द्रि पात्र केंद्रित नहीं। पात्र इस नाटक में केन्द्रित नहीं है, यह नाटककार के पात्र संयोजन से भी स्पष्ट हो जात पुरुष एक (महेन्द्रनाथ), पुरुष दो (सिंघानिया), पुरुष तीन (जुनेजा), पुरुष चार (जगमोहन) के नाम संबोधन है, यह व्यक्तिवहीनता का चरम हैं चरित्रों की प्रधानता की दृष्टि से बात करें तो सावित्री नाटक प्रधान पात्र ठहरती है क्योंकि अन्या सारे पात्र उसी की क्रिया-प्रतिक्रिया में विकसित होते हैं।

अधूरेपन, टूटन-विखराव को इस युग की नियति के रूप में नाटककार ने अपनी स्वीकारोक्ति दे द लेकिन उसके मूल कारणों की ओर संकेत करके उसने अपने लेखकीय दायित्व का निर्वहन भी कर दिया है

11.15 आधे-अधूरे और नाटकीय : रंगमंचीय संदर्भ

'आधे-अधूरे' नाटक अपने कथ्य की नवीनता एवं रंगमंचीय प्रयोग दोनों दृष्टियों से चर्चित व लोक हुआ था। हिन्दी नाटकीय परम्परा में एक ही व्यक्ति चार रोल करेगा। (फिल्मी पात्रों की तरह), यह परिक पहली बार मोहन राकेश ने प्रस्तुत की थी। आधे-अधूरे के बाद कुछ प्रयोगशील नाटकारों (सुरेन्द्र वर्मा जैसे इस प्रयोग को बखूबी निभाया। एक ही व्यक्ति कई रोल करेगा, यह तो फिल्मों में भी होता है, लेकिन ए व्यक्ति दूसरे के रोल क्यों करेगा? आधे-अधूरे में इस प्रश्न को उठाया गया हैं काले सूट वाला आदमी, एक, पुरुष दो, पुरुष तीन एवं पुरुष चार जैसे निर्देश इसलिए रखे गये हैं क्योंकि उनके नाम होने से भी फर्क पड़ने वाला नहीं था। क्योंकि व्यक्तिव की दृष्टि से उनमें कोई अन्तर नहीं है ..... सभी आधे-अधूरे

नाटककार ने प्रारम्भ में ही रंग-निर्देश व नाट्य निर्देश दे दिये हैं। पूरा नाटक एक कमरे को आधार करके मंचित हुआ है। इस संदर्भ में आवश्यक निर्देश नाटककार ने नाटक के प्रारम्भ में ही दिये हैं। इसी बीच-बीच में नाटककार रंगमंचीय निर्देश देते चलता है, जैसे रंग निर्देश का एक उदाहरण देखें—" अभिवादन के रूप में सिर हिलाता है जिसके साथ ही उसकी आकृति धीरे-धीरे धुंधलाकर कमरे में गु जाती है। उसके बाद कमरे के अलग-अलग कोने एक-एक करके आलोकित होते हैं और आलोक-व्यवस्था में मिल जाते हैं ....." इसी प्रकार नाटक के अंत में नाटककार द्वारा दिये गये रंग-नि देखें .... प्रकाश खंडित होकर स्त्री और बड़ी लड़की तक सीमित रह जाता है। स्त्री स्थिर आँखों से लड़की की तरफ देखती आहिस्ता से कुरसी पर बैठ जाती है। बड़ी लड़की एक बार उसकी तरफ देख फिर बाहर की तरफ। हल्का मातमी संगीत उभरता है, जिसके साथ उन दोनों पर भी प्रकाश मद्धिम पड़ने ल है। तभी, लगभग अंधेरे में लड़के की बांह थामे पुरुष एक की धुंधली आकृती अंदर आती दिखाई देती है।

लड़का—(जैसे बैठे गले से) देखकर डैडी, देखकर .....

उन दोनों के आगे बढ़ने के साथ संगीत

अधिक स्पष्ट और अंधेरा अधिक गहरा होता जाता है।

संदर्भित पुस्तकें

मोहन राकेश: आधे अधूरे — प्रकाशक राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली

मोहन राकेश का नारी संसार — डॉ० मीना पिपलापुरे

मोहन राकेश; व्यक्तित्व एवं कृतित्व — डॉ० सुषमा अग्रवाल

मोहन राकेश और उनके नाटक — गिरीश रस्तोगी

नाटककार मोहन राकेश (संवाद शिल्प) — मदनलाल

नाटक रंगमंच और मोहन राकेश — डॉ० सुरेन्द्र यादव

आधे अधूरे: समीक्षा — प्रो० राजेश शर्मा

मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक — डॉ० नेमिचन्द्र जैन

हिन्दी कहानी का एक अन्तरंग पहचान — डॉ० रामदरश मिश्र

कला क़ा जोखिम — निर्मल वर्मा

अपने नाटक के दायरे में मोहन राकेश — तिलकराज शर्मा

अज्ञेय और मोहन राकेश के उपन्यासों में यथार्थ की परिकल्पना — डॉ० रॉय जोसेफ

नाटककार मोहन राकेश — जीवन प्रकाश जोशी

नाटककार मोहन राकेश — सुन्दरलाल कथूलिया

नाटककार मोहन राकेश: कल्पना का यथार्थ — विष्णुकान्त शास्त्री

मोहन राकेश की रंगसृष्टि — डॉ० जगदीश शर्मा

मोहन राकेश व्यक्तित्व और कृतित्व — डॉ० रमेश कुमार जाधव

मोहन राकेश व्यक्तित्व और कृतित्व में उद्धृत — डॉ० घनानन्द एम० शर्मा

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी मोहन राकेश के विशेष संदर्भ में — डॉ० रीता कुमार

हिन्दी नाटक और नाटय समीक्षा — स० नरनारायण

मोहन राकेश के नाटक: एक मूल्यांकन — डॉ० प्रसून प्रसाद

मोहन राकेश और उनके नाटक — डॉ० गिरीश रस्तोगी

मोहन राकेश व्यक्तित्व और कृतित्व — डॉ० सुषमा अग्रवाल

मोहन राकेश के साहित्य का सामाजिक चित्रण — अर्जुनदेव तड़वी

मोहन राकेश: रंगशिल्प और प्रदर्शन — डॉ० जयदेव तनेजा

मोहन राकेश के नारी संसार — डॉ० श्रीमती मीना पिपलापुरे

मोहन राकेश के नाटक: एक मूल्यांकन — डॉ० प्रसून प्रसाद

मोहन राकेश का नाटय साहित्य — डॉ० पुष्पा बंसल

नाटक और यथार्थवाद — कमलिनी मेहता

नाटक रंगमंच और मोहन राकेश	— डॉ० सुरेन्द्र यादव
मोहन राकेश के नाटकों की समीक्षा	— प्रो० राजेश शर्मा
आधुनिक नाटकों में प्रयोगधर्मिता	— डॉ० सत्यवती त्रिपाठी
अपने नाटकों के दायरे में मोहन राकेश	— तिलकराज शर्मा
नाटककार मोहन राकेश	— सुन्दरलाल कथूरिया
आधुनिक नाटकों का मसीहा: मोहन राकेश	— डॉ० गोविन्द चातक
रंगशिल्पी: मोहन राकेश	— डॉ० नरनारायण राय
आधुनिकता और मोहन राकेश	— डॉ० उर्मिला मिश्र

बोध प्रश्न

विस्तृतउत्तरीय प्रश्न–

1. संवेदना की विविध परिभाषाओं को लिखकर उनकी विवेचना कीजिए।
2. मोहन राकेश के नाटक 'आधे अधूरे' में संवेदनाओं के विविध रूपों का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. मोहन राकेश के नाटक 'आधे अधूरे' की वस्तु योजना किस प्रकार की है?
2. मोहन राकेश के नाटक 'आधे अधूरे' के नाम की सार्थकता स्पष्ट कीजिए।
3. मोहन राकेश के नाटक 'आधे अधूरे' में पारिवारिक संबंधों के विघटन पर प्रकाश डाला गया है। इसको स्पष्ट कीजिए।
4. मोहन राकेश के नाटक 'आधे अधूरे' की संवाद योजना किस प्रकार की है?
5. देशकाल-वातावरण की दृष्टि से मोहन राकेश के नाटक 'आधे अधूरे' की समीक्षा कीजिए।

MA HINDI-104(H)

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणिः पष्यन्तु माकष्चिद् दुःख भाग्भवेत्।।

DIRECTORATE OF DISTANCE EDUCATION

Swami Vivekanand
SUBHARTI UNIVERSITY
Subhartipuram, NH-58, Delhi-Haridwar Bypass Road,
Meerut, Uttar Pradesh 250005
Phone : 0121-243 9043
Website : www.subhartidde.com, E-mail : ddesvsu@gmail.com